गांधी-साहित्य—७

मेरे समकालीन

अपने समय के राजनीतिज्ञों तथा सामान्य
लोक सेवकों के महात्मा गांधी
द्वारा लिखित संस्मरण

•

१९६०
सस्ता साहित्य मंडल-प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय,
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली

दूसरी बार : १९६०
मूल्य
पांच रुपये

मुद्रक
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
दिल्ली-६

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक गांधी-साहित्य का सातवां भाग है। इसमें गांधीजी की उन रचनाओं का संग्रह किया गया है, जिनमें उन्होंने अपने समय के बड़े-से-बड़े नेता से लेकर सामान्य जन-सेवक तक की सेवाओं का अत्यन्त मार्मिक रूप में स्मरण किया है। अपने बहुत-से सम्माननीय नेताओं के नामों और कार्यों से हम सब परिचित हैं; लेकिन इसी दुनिया में ऐसे भी लोग हैं, जो चुपचाप अपने सेवा-कार्य में संलग्न रहते हैं और जिनके नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। गांधीजी ने ऐसे दर्जनों मूक सेवकों को इस संग्रह के लेखों में वाणी प्रदान की है। जहां लोकमान्य तिलक, गोखले, मोतीलाल नेहरू आदि सुविख्यात नेताओं को उन्होंने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है, वहां निरक्षर वालीअम्मा, मोतीलाल दरजी, केलप्पन आदि दर्जनों लोक-सेवकों की महान् सेवाओं को भी बड़े गर्व और गौरव के साथ याद किया है। इस प्रकार उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि जिन्हें छोटा मानकर प्रायः उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है, वे वस्तुतः छोटे नहीं हैं और उनकी सेवाओं का भी उतना ही मूल्य है, जितना किसी भी महान नेता की सेवा का। इस दृष्टि से यह संग्रह अद्वितीय है।

पुस्तक का संकलन और संपादन हिन्दी के सुलेखक श्री विष्णु प्रभाकर ने किया है।

दूसरा संस्करण

इस संस्करण में बहुत-सी नई सामग्री जोड़ दी गई है। हम आशा करते हैं कि पाठकों को यह अधिकाधिक प्रेरणादायक सिद्ध होगा।

—मंत्री

संकेत-निर्देश

हि० न० हि० न० जी०	=	हिन्दी नवजीवन
प्रा० प्र०	=	प्रार्थना-प्रवचन
द० अ० स०	=	दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास
ह० से०	=	हरिजन सेवक
का० क०	=	बापू की कारावास-कहानी
म० डा०	=	महादेवभाई की डायरी
यं० इं०	=	यंग इंडिया
आ० आ० क०	=	आत्मकथा
य० म०	=	यरवदा-मंदिर से
दी० श्री०	=	दीनबंधु श्री एंड्रूज
इं० ओ०	=	इंडियन ओपीनियन
ह०	=	हरिजन

(इनके अतिरिक्त जिन अन्य साधनों से सामग्री इकट्ठी की गई है, उनका उल्लेख यथास्थान कर दिया गया है।)

आमुख

प्रसिद्ध गायक श्री दिलीपकुमार राय से बातचीत करते हुए सन् १९३४ में गांधीजी ने कहा था—"जीवन समस्त कलाओं से श्रेष्ठ है। मैं तो समझता हूं कि जो अच्छी तरह जीना जानता है वही सच्चा कलाकार है। उत्तम जीवन की भूमिका के बिना कला किस प्रकार चित्रित की जा सकती है। कला के मूल्य का आधार है जीवन को उन्नत बनाना। जीवन ही कला है।"[1] साहित्य को इस दृष्टि से कला से अलग नहीं किया जा सकता। जीवन से इतना अटूट संबंध हो जाने के बाद वह नितांत सरल और सुगम हो जाता है। कदाचित ऐसे ही साहित्य को दृष्टि में रखकर गांधीजी ने इन्हीं श्री राय से कहा था—"वही काव्य और वही साहित्य चिरंजीवी रहेगा, जिसे लोग सुगमता से पा सकेंगे, जिसे वे आसानी से पचा सकेंगे।" ऐसे साहित्य का सृजन वही कर सकता है, जिसने साहित्य के विषय से साक्षात्कार कर लिया है अर्थात् जो उसे जीता है। इसीको गांधीजी की भाषा में यों कह सकते हैं कि जो अच्छी तरह जीना जानता है वही साहित्यिक है। इस दृष्टि से वह एक ऊंचे साहित्यिक थे। निस्संदेह वह एक साहित्यिक के नाते आगे नहीं आये और न उन्होंने कभी कवि, कथाकार या आलोचक होने का दावा ही किया; परंतु फिर भी जहांतक जीवनी-साहित्य, आत्मकथा, शब्द-चित्र और संस्मरण आदि का संबंध है उनकी पूंजी सहज ही उन्हें प्रथम श्रेणी के लेखकों में ला बैठाती है।

उनकी आत्मकथा (अथवा सत्य के प्रयोग) एक अपूर्व ग्रंथ है। वह सभी दृष्टियों से इस क्षेत्र में स्थापित सभी परंपराओं को खंड-खंड करनेवाली क्रांतिकारी पुस्तक है। उनके घोर-से-घोर विरोधी भी उसकी महानता को मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं।

वस्तुत: गांधीजी ने सच्चे अर्थों में 'आत्मकथा' लिखी है। जीवन में यदि कुछ गोपनीय रह जाता है तो आत्मकथा अधूरी है। सत्य और अहिंसा के परीक्षण करनेवाला वैज्ञानिक अधूरी आत्मकथा नहीं लिख सकता। जिस प्रकार उन्होंने अपना विश्लेषण करते समय सत्य को नहीं छोड़ा है उसी तरह दूसरों के बारे में लिखते समय उन्होंने अहिंसा को अपना आधार बनाया है, इसलिए उनके साहित्य में जहां उनकी पारदर्शिनी दृष्टि का चमत्कार है वहां वह मानव के सहज सौंदर्य सहानुभूति से भी आप्लावित है।

---

[1] हिन्दी नवजीवन, १० फरवरी, १९२४

जब कभी उन्होंने किसीके बारे में लिखने के लिए कलम उठाई है अपनी सरल, सुबोध और सुगठित भाषा में उस वर्ण्य व्यक्ति का बड़ा ही सहानुभूतिपूर्ण चित्र उतारकर रख दिया है।

वह कभी लिखने के लिए ही किसीका जीवनवृत्त या संस्मरण लिखने बैठे हों, यह तो उनके लिए संभव नहीं था; परंतु अपने बहुधंधी सार्वजनिक जीवन में उन्हें असंख्य छोटे और बड़े व्यक्तियों के संपर्क में आना पड़ा था। केवल भारत ही नहीं, दक्षिण अफ्रीका में भी अनेकानेक देशी और विदेशी व्यक्तियों से उनका संबंध रहा था। बहुतों से वह संबंध अति प्रगाढ़ और आत्मीयता से छलकता हुआ था। बहुतों के साथ उन्होंने अपने संघर्षमय जीवन के अनेक वर्ष बिताये थे। कुछके साथ वह कुछ ही दिन रहे थे। उनमें अनेक उनसे बड़े थे, जिनसे उन्होंने बहुत-कुछ सीखा था। बहुत-से उनसे प्रेरणा लेते थे और उन्हें अपना आराध्यदेव मानते थे। बहुत-से उनके विरोधी भी थे, जिनसे उन्हें टक्कर लेनी पड़ती थी। ऐसे भी लोग थे जिनसे उनका कोई विशेष संबंध तो नहीं था, पर किन्हीं विशेष कारणों से गांधीजी को उन व्यक्तियों में रुचि थी। इनसब व्यक्तियों में जाति, लिंग, वर्ण का कोई भेद नहीं था। उनमें राजनीति के धुरंधर पंडित और साधारण स्वयं-सेवक, धर्माचार्य और श्रद्धालु भक्त, सम्राट और सेवक, पूंजीपति और मजदूर, विद्रोही और प्रतिक्रियावादी सभी थे। सभीके बारे में उन्होंने समान भाव और समान रूप से लिखा है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, लिखने के ये अवसर कभी पूर्व-योजना के अनुसार नहीं आये। उस बहुधंधी व्यस्त जीवन में न जाने कब किसपर लिखना पड़ जाय, यह कोई नहीं जानता था। फिर भी ऐसे अवसर बहुत आते थे और साधारणतया उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है:

१. गांधीजी अपने सहयोगियों, समाज के मूक सेवकों या किसी रूप में प्रख्यात व्यक्तियों की मृत्यु पर समवेदना और श्रद्धांजलि के रूप में लिखा करते थे।
२. उनके सहकर्मियों और सहयोगियों पर आक्षेप होते थे तब उनका निराकरण और समाधान करने के लिए उन्हें लिखना पड़ता था।
३. राष्ट्रीय महासभा के सभापति-पद के लिए चुने जानेवाले व्यक्ति के बारे में चुनाव से पूर्व या पश्चात् वह कभी-कभी लिखते थे।
४. अपने आंदोलनों में भाग लेनेवालों और उनके विरोधियों के विषय में उन आंदोलनों के दौरान में वह लिखते थे।
५. 'आत्मकथा' और 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' आदि पुस्तकों में तत्संबंधी व्यक्तियों का वर्णन आया है।

६. अनेक व्यक्तियों के जन्म-दिन या जयंती आदि के अवसर पर पत्रों को संदेश और शुभ कामना के रूप में उन्होंने लिखा है।
७. कभी-कभी विशुद्ध संपादकीय कर्तव्य को निबाहने के लिए लिखना पड़ता था।
८. निजी पत्रों में व्यक्तियों की चर्चा आ जाती थी।

यदि उनके साहित्य का काल-क्रम से अध्ययन किया जाय तो एक बात ज्ञात होगी कि शुरू में वह व्यक्तियों के बारे में अधिक लिखते थे, परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया यह लेखन कम होता गया। जबसे उन्होंने 'हरिजन' पत्रों का प्रकाशन किया तबसे तो हरिजन-सेवकों को छोड़कर और किसी-के बारे में वह उन पत्रों में नहीं लिखते थे। इन पत्रों को छोड़कर पुस्तकादि लिखने का समय अब उनके पास नहीं रहा था। फिर भी इस सम्बन्ध में गांधीजी के एक गुण की बात विशेष उल्लेखनीय है। वह संपर्क में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति से, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, विरोधी हो या सहयोगी, अधिक-से-अधिक आत्मीयता स्थापित करने की चेष्टा करते थे। वह उसकी मानव-सुलभ भावनाओं को छूकर उससे बातें करते थे। सबसे पहले वह मानव थे और दूसरों को भी मानव समझते थे। और यह सब था अहिंसा के कारण। इस दृष्टि से उनके संस्मरण अध्ययन की वस्तु हैं।

प्रस्तुत संग्रह 'मेरे समकालीन' में गांधीजी द्वारा लिखे गये इसी प्रकार के संस्मरण—शब्द-चित्र और लेख—संकलित किये गए हैं। यह संकलन इस दृष्टि से नई चीज है। अबतक गांधीजी के लेखों और भाषणों के अनेका-नेक संग्रह विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित हुए हैं। परन्तु उन सबका विषय गांधीजी के विचारों और मान्यताओं से सम्बन्ध रखता है। जिन असंख्य व्यक्तियों के संपर्क में वह आये उनके बारे में गांधीजी के क्या विचार थे, यह जानने की अभी तक किसीने चेष्टा नहीं की। इस संकलन द्वारा उसी अभाव को दूर करने का प्रयत्न किया गया है।

जैसे वह सरल और सशक्त भाषा लिखने में लासानी थे वैसे ही वह शब्द-चित्र खींचने में भी बहुत कुशल थे। एक तो अपने जीवन के प्रति निर्दिष्ट वैज्ञानिक दृष्टिकोण (सत्य) के कारण, दूसरे विभिन्न विचार और व्यव-हार के इतने अधिक व्यक्तियों के संपर्क में आने के तथा मानवता (अहिंसा) में अपनी आस्था के कारण उनकी परख बड़ी सही और खरी हो गई थी, और जब दृष्टि पारदर्शी हो जाती है तो वर्णन स्वत: ही सजीव और मार्मिक हो जाता है।

सन् १९२९ में पं० जवाहरलाल नेहरू के लिए उन्होंने जो कुछ लिखा था वह शब्दों में एक अपूर्व चित्र है—"बहादुरी में कोई उनसे बढ़ नहीं सकता

और देशप्रेम में उनसे आगे कौन जा सकता है ? कुछ लोग कहते हैं कि वह जल्दबाज और अधीर हैं। यह तो इस समय एक गुण है। फिर जहां उनमें एक वीर योद्धा की तेजी और अधीरता है वहां एक राजनीतिज्ञ का विवेक भी है।...वह स्फटिक मणि की भांति पवित्र हैं, उनकी सत्यशीलता संदेह से परे है। वह अहिंसक और अनिन्दनीय योद्धा हैं। राष्ट्र उनके हाथ में सुरक्षित है।"

दक्षिण अफ्रीका के श्री थम्बी नायडू का चित्र देखिये : "उनकी बुद्धि भी बड़ी तीव्र थी। नवीन प्रश्नों को वह बड़ी फुर्ती के साथ समझ लेते थे। उनकी हाजिर-जवाबी आश्चर्यजनक थी। वह भारत कभी नहीं आये थे, फिर भी उसपर उनका अगाध प्रेम था। स्वदेशाभिमान उनकी नस-नस में भरा हुआ था। उनकी दृढ़ता चेहरे पर ही चित्रित थी। उनका शरीर बड़ा मजबूत और कसा हुआ था। मेहनत से कभी थकते ही न थे। कुरसी पर बैठकर नेतापन करना हो तो उस पद की भी शोभा बढ़ा दें, पर साथ ही हरकारे का काम भी उतना ही स्वाभाविक रीति से वह कर सकते थे। सिर पर बोझा उठाकर बाजार से निकलने में थम्बी नायडू ज़रा भी न शरमाते थे। मेहनत के समय न रात देखते, न दिन। कौम के लिए अपने सर्वस्व की आहुति देने के लिए हर किसीके साथ प्रतिस्पर्धा कर सकते थे।"

पर इन शब्द-चित्रों से कोई यह न समझ ले कि गांधीजी विशेषणों का ही प्रयोग करना जानते थे। वैसे वह जब विशेषणों का प्रयोग करते थे तो दिल खोलकर करते थे। कुमारी श्लेजीन, नारणदास गांधी, मगनलाल गांधी, महादेव देसाई आदि के रेखा-चित्र इस बात के प्रमाण हैं। परन्तु किसी भी व्यक्ति की दुर्बलता उनसे छिपी नहीं रहती थी और अवसर आने पर वह उसी स्पष्टता से उसे प्रकट कर देते थे, जिस प्रकार उसके गुणों पर प्रकाश डालते थे। सत्य का पुजारी व्यक्तित्व का अधूरा चित्रण कर ही नहीं सकता। ऊपर जिन थम्बी नायडू का शब्द-चित्र दिया गया है, उन्हींके बारे में उसी चित्र में गांधीजी ने आगे लिखा है—"अगर थम्बी नायडू हद से ज्यादा साहसी न होते और उनमें क्रोध न होता तो आज वह वीर पुरुष ट्रान्सवाल में काछलिया की अनुपस्थिति में आसानी से कौम का नेतृत्व ग्रहण कर सकता था। ट्रान्सवाल के युद्ध के अन्त तक उनके क्रोध का कोई विपरीत परिणाम नहीं हुआ था, बल्कि तबतक उनके अमूल्य गुण जवाहिरों के समान चमक रहे थे, पर बाद में मैंने देखा कि उनका क्रोध और साहस प्रबल शत्रु साबित हुए और उन्होंने उनके गुणों को छिपा दिया...।"

सरोजिनी नायडू का चित्र उन्होंने एक ही वाक्य में उतार दिया हैं— "सरोजिनी नायडू काम तो बहुत बढ़िया कर लेती हैं, मगर सच्ची संस्कृति

की कीमत देकर।"

जिन महादेवभाई के लिए वह स्वप्न में भी अधीर रहते थे, उनके बारे में भी उन्होंने लिखा है :

"महादेव की मैं भाट की तरह स्तुति करता हूं मगर मेरा मन उसकी शिकायत भी करता है।"

वस्तुतः किसी भी व्यक्ति का ठीक-ठीक विश्लेषण करने में उन्हें अद्भुत कुशलता प्राप्त थी। कम-से-कम और नपे-तुले सार्थक शब्दों में वह वर्ण्य व्यक्ति के अन्दर और बाहर का चित्र कागज पर उतारकर रख देते थे।

"सर फिरोजशाह तो मुझे हिमालय जैसे मालूम हुए, लोकमान्य समुद्र की तरह। गोखले गंगा की तरह। उसमें मैं नहा सकता था। हिमालय पर चढ़ना मुश्किल है, समुद्र में डूबने का भय रहता है; पर गंगा की गोदी में खेल सकते हैं, उसमें डोंगी पर चढ़कर तैर सकते हैं।

"शिष्य होना परम पवित्र, पर व्यक्तिगत भाव है। मैंने १८८८ में दादाभाई के चरणों में अपनेको समर्पित किया, पर मेरे आदर्श से वह बहुत दूर थे। मैं उनके पुत्र के स्थान पर हो सकता था, उनका शागिर्द नहीं हो सकता था। शिष्य का दर्जा पुत्र से ऊंचा है। शिष्य, पुत्र रूप से दूसरा जन्म ग्रहण करता है। शिष्य होना अपनी स्वकीय प्रेरणा से समर्पित करना है।... जस्टिस रानडे से मुझे भय लगता था। उनके सामने मुझे बयान करने का भी साहस नहीं होता था। बदरुद्दीन तैयबजी पिता की तरह प्रतीत हुए। उन्होंने मुझे सलाह दी कि फिरोजशाह मेहता और रानडे के परामर्श से काम करो। सर फिरोजशाह तो हमारे संरक्षक बन गये। इसलिए उनकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य थी। जो कुछ वह कहते, मैं चुपचाप स्वीकार करता। बम्बई के उस शेर ने मुझे आज्ञापालन का मर्म सिखाया। उन्होंने मुझे अपना शार्गिद नहीं बनाया। उन्होंने आजमाइश भी नहीं की।

"जिस समय मैं उनसे (लोकमान्य तिलक से) मिला वह, अपने साथियों से घिरे बैठे थे। उन्होंने मेरी बातें सुनीं और कहा, 'आपका भाषण सार्वजनिक सभा में होना जरूरी है। पर आप जानते हैं कि यहां दलबन्दी है। इससे ऐसा सभापति चाहिए जो किसी दल-विशेष का न हो। यदि इसके लिए आप डाक्टर भाण्डारकर से मिलें तो उत्तम हो।' मैंने उनकी सलाह स्वीकार की और लौट आया। सिवा इसके कि स्नेहमय मिलाप के भाव प्रदर्शित करके उन्होंने मेरी घबराहट दूर की, नहीं तो लोकमान्य का उस समय मुझपर कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा।... डाक्टर भाण्डारकर ने मेरा उसी तरह स्वागत किया जिस तरह गुरु शिष्य का करता है। उनके चेहरे से विद्वत्ता टपक रही थी। मेरे हृदय में श्रद्धा का ज्वार उमड़ आया,

पर गुरु-भक्ति का भाव फिर भी न भरा। वह हृदय-सिंहासन उस समय भी खाली रह गया। मुझे अनेक धीर-वीर मिले, पर राजा की पदवी तक कोई न पहुंच सका।

"पर जिस समय मैं श्रीयुत गोखले से मिलने गया, बातें एकदम बदल गई।...यह मिलन ठीक उसी प्रकार हुआ था जैसे दो विछोही मित्रों या माता और पुत्र का होता है। उनकी नम्र आकृति देखकर मेरा हृदय शान्त हुआ। दक्षिण अफ्रीका तथा मेरे सम्बन्ध में उन्होंने जिस प्रकार पूछताछ की उससे मेरा हृदय श्रद्धा से भर गया। उनसे विदा होते समय मैंने अपने दिल में कहा—'बस,मेरे मन का आदमी मिल गया।'... १६०१ में दूसरी बार दक्षिण अफ्रीका से लौटा। इस बार मेरी घनिष्ठता और भी प्रगाढ़ हो गई। उन्होंने अपने हाथों में मेरा हाथ लेकर पूछना शुरू किया—'किस तरह रहते हो? क्या कपड़े पहनते हो? भोजन कैसा होता है?' मेरी माता भी इतनी तत्पर नहीं थी। मेरे और उनके बीच कोई अन्तर नहीं था। यह चक्षु-राग था, अर्थात् प्रथम दर्शन से ही हृदय में प्रगाढ़ प्रेम का अंकुर जम गया था।"

इस उद्धरण में गांधीजी ने भारत के तत्कालीन नेताओं का जो तुलनात्मक चित्रण उपस्थित किया है वह उनकी पारदर्शिनी दृष्टि, उनकी विश्लेषण शक्ति, उनकी तीव्र और प्रखर अनुभूति को स्पष्ट करता है। गोखले के चित्र में कितनी आत्मीयता है। वह उनके अपने मानवता से छलकते हुए हृदय की झांकी है। श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपने जीवन-चरित में गांधीजी के विचारों की अच्छी-खासी आलोचना की है; पर सबकुछ कहकर उन्होंने लिखा है, "लेकिन वह अपने भारत को अच्छी तरह जानते हैं।" इसी तरह और लोगों को भी उनसे मतभेद हो सकता है, पर वे मानेंगे कि गांधीजी व्यक्ति को पहचानते थे। गोखले से उनका बहुत-सी बातों में मतभेद था; परन्तु उन्हींके शब्दों में "पर इससे हम लोगों में किसी तरह का अन्तर नहीं आ सका।" आ ही नहीं सकता था, क्योंकि अहिंसा का पुजारी प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता। और प्रेम की शर्त है मित्रता, दासता नहीं।

लोकमान्य तिलक से उनके मतभेद की बात सब जानते हैं। उनके जीवन-काल में और मृत्यु के बाद गांधीजी ने उन मतभेदों को कभी कम करके बताने या भुलाने की चेष्टा नहीं की, पर इसी कारण वह लोकमान्य का सही मूल्यांकन करने में नहीं झिझके। उनकी मृत्यु पर उन्होंने लिखा—

"लोकमान्य बालगंगाधर तिलक अब संसार में नहीं हैं। यह विश्वास करना कठिन मालूम होता है कि वह संसार से उठ गये। हम लोगों के समय

में ऐसा दूसरा कोई नहीं जिसका जनता पर लोकमान्य जैसा प्रभाव हो। हजारों देशवासियों की उनपर जो भक्ति और श्रद्धा थी वह अपूर्व थी। यह अक्षरशः सत्य है कि वह जनता के आराध्य देव थे, प्रतिमा थे, उनके वचन हजारों आदमियों के लिए नियम और कानून-से थे। पुरुषों में पुरुष-सिंह संसार से उठ गया। केशरी की घोर गर्जना विलीन हो गई।"

अनुभूति की तीव्रता और वास्तविकता का और भी सुंदर चित्रण उनके संस्मरणों में हुआ है। घटनाओं और वार्तालाप के द्वारा उन्होंने वर्ण्य व्यक्ति की बाहरी और आंतरिक सुंदरता-कुरूपता की रेखाओं को इस प्रकार उभार दिया है कि इसके पूर्ण परिपाक के साथ-साथ व्यक्ति का संपूर्ण चित्र हृदय पर पत्थर की लीक बन जाता है। कस्तूरबा गांधी, वालासुंदरम्, देशबंधु-दास, घोषालबाबू तथा वासंती देवी आदि के संस्मरण इस दृष्टि से बहुत ही सुंदर बने हैं :

"मैं घोषालबाबू के पास गया। उन्होंने मुझे नीचे से ऊपर तक देखा। कुछ मुस्कराये और बोले, 'मेरे पास कारकुन का काम है। करोगे?'

"मैंने उत्तर दिया—'जरूर करूंगा। अपने बसभर सबकुछ करने के लिए मैं आपके पास आया हूं।'

" 'नवयुवक, सच्चा सेवा-भाव इसीको कहते हैं।'

"कुछ स्वयंसेवक उनके पास खड़े थे। उनकी ओर मुखातिब होकर कहा—'देखते हो, इस नवयुवक ने क्या कहा?'

"फिर मेरी ओर देखकर कहा, 'तो लो यह चिट्ठियों का ढेर...देखते हो न कि सैकड़ों आदमी मुझसे मिलने आया करते हैं। अब मैं उनसे मिलूं या जो लोग फालतू चिट्ठियां लिखा करते हैं उन्हें उत्तर दूं। इनमें बहुतेरी तो फिजूल होंगी, पर तुम सबको पढ़ जाना। जिनकी पहुंच लिखना जरूरी है उनकी पहुंच लिख देना और जिनके उत्तर के लिए मुझसे पूछना हो पूछ लेना।'

"उनके इस विश्वास से मुझे बड़ी खुशी हुई। श्री घोषाल मुझे पहचानते न थे।...मेरा इतिहास जानने के बाद तो कारकुन का काम देने में उन्हें ज़रा शर्म मालूम हुई, पर मैंने उन्हें निश्चिंत कर दिया—'कहां मैं और कहां आप!...यह काम सौंपकर मुझपर तो आपने एहसान ही किया है; क्योंकि मुझे आगे चलकर कांग्रेस में काम करना है।'

"घोषालबाबू बोले, 'सच पूछो तो यही सच्ची मनोवृत्ति है, परंतु आज-कल के नवयुवक ऐसा नहीं मानते। पर मैं तो कांग्रेस को उसके जन्म से जानता हूं। उसकी स्थापना करने में मि० ह्यूम के साथ मेरा भी हाथ था।'

"हम दोनों में खासा संबंध हो गया। दोपहर के खाने के समय वह मुझे

साथ रखते। घोषालबाबू के बटन भी 'बेरा' लगाता। यह देखकर 'बेरा' का काम खुद मैंने लिया। मुझे वह अच्छा लगता। बड़े-बूढ़ों की ओर मेरा बड़ा आदर रहता था। जब वह मेरे मनोभावों से परिचित हो गये तब अपना निजी सेवा का सारा काम मुझे करने देते थे। बटन लगवाते हुए मुंह पिचकाकर मुझसे कहते, 'देखो न, कांग्रेस के सेवक को बटन लगाने तक की फुरसत नहीं मिलती, क्योंकि उस समय भी वह काम में लगे रहते हैं।' इस भोलेपन पर मुझे मन में हँसी तो आई; परंतु ऐसी सेवा के लिए मन में अरुचि बिल्कुल न हुई।"

वासंतोदेवी का देशबन्धु की मृत्यु के बाद, जो चित्र गांधीजी ने खींचा है, वह बहुत ही मानवीय, बहुत ही करुण और बहुत ही यथार्थ है :

"वैधव्य के बाद पहली मुलाकात उनके दामाद के घर हुई। उनके आस-पास बहुतेरी बहनें बैठी थीं। पूर्वाश्रम में तो जब मैं उनके कमरे में जाता तो खुद वही सामने आतीं और मुझे बुलातीं। वैधव्य में मुझे क्या बुलातीं। पुतली की तरह स्तम्भित बैठी अनेक बहनों में से मुझे उन्हें पहचानना था। एक मिनिट तक तो मैं खोजता ही रहा। मांग में सिंदूर, ललाट पर कुंकुम मुंह में पान, हाथ में चूड़ियां और साड़ी पर लैस, हँस-मुख चेहरा इनमें से एक भी चिह्न मैं न देखूं तो वासन्तीदेवी को किस तरह पहचानूं? जहां मैंने अनुमान किया था कि वह होंगी वहां जाकर बैठ गया और गौर से मुख-मुद्रा देखी। देखना असह्य हो गया। छाती को पत्थर बनाकर आश्वासन देना तो दूर ही रहा। उनके मुख पर सदा शोभित हास्य आज कहां था? मैंने उन्हें सांत्वना देने, रिझाने और बातचीत कराने की अनेक कोशिशें कीं। बहुत समय के बाद मुझे कुछ सफलता मिली। देवी ज़रा हँसी। मुझे हिम्मत हुई और मैं बोला, 'आप रो नहीं सकतीं। आप रोओगी तो सब लोग रोवेंगे। मोना (बड़ी लड़की) को बड़ी मुश्किल से चुपकी रखा है। देवी (छोटी लड़की) की हालत तो आप जानती ही हैं। सुजाता (पुत्रवधू) फूट-फूटकर रोती थी, सो बड़े प्रयास से शांत हुई है। आप दया रखियेगा। आपसे अब बहुत काम लेना है।'

"वीरांगना ने दृढ़तापूर्वक जवाब दिया—'मैं नहीं रोऊंगी। मुझे रोना आता ही नहीं।"

"मैं इसका मर्म समझा, मुझे संतोष हुआ। रोने से दुःख का भार हल्का हो जाता है। इस विधवा बहन को तो भार हल्का नहीं करना था, उठाना था। फिर रोती कैसे! अब मैं कैसे कह सकता हूं—'लो चलो, हम भाई-बहन पेट भर रो लें और दुःख कम कर लें।'

"वासंतीदेवी ने अबतक किसी के देखते, आंसू की एक बूंद तक नहीं गिराई है। फिर भी उनके चेहरे पर तेज तो आ ही नहीं रहा है। उनकी मुखाकृति ऐसी हो गई है कि मानो भारी बीमारी से उठी हों। यह हालत देखकर मैंने उनसे निवेदन किया कि थोड़ा समय बाहर निकलकर हवा खाने चलिये। मेरे साथ मोटर में बैठीं; पर बोलने क्यों लगीं। मैंने कितनी ही बातें चलाईं—वह सुनती रहीं; पर खुद उसमें बरायनाम शरीक हुईं। हवाखोरी की तो, पर पछताईं। सारी रात नींद न आई। 'जो बात मेरे पति को अतिशय प्रिय थी वह आज इस अभागिनी ने की। यह क्या शोक है।' ऐसे विचारों में रात हो गई।

... ...

"वैधव्य प्यारा लगता है, फिर भी असह्य मालूम होता है। सुधन्वा खौलते हुए तेल के कड़ाह में भटकता था और मुझ जैसे दूर रहकर देखने-वाले उसके दुःख की कल्पना करके कांपते थे। सती स्त्रियो, अपने दुःख को तुम संभालकर रखना। वह दुःख नहीं, सुख है। तुम्हारा नाम लेकर बहुतेरे पार उतर गये हैं और उतरेंगे। बासंतीदेवी की जय हो!" (पृष्ठ ५५७)

भावना की अतिरंजना ने इस करुण चित्र को कितना सशक्त बना दिया है। लेकिन जहां उन्होंने अपने युग के महापुरुषों पर लिखा, वहां लुटा-वन, फकीरी और चार निडर युवक जैसे अनेक साधारण व्यक्तियों को भी नहीं छोड़ा है। ये कुछ बानगी के चित्र हैं। पुस्तक ऐसे चित्रों से भरी है। ये चित्र किसी उद्घोषित साहित्यिक के द्वारा नहीं लिखे गए; बल्कि एक ऐसे मानव द्वारा लिखे गये हैं जिसका समस्त जीवन 'जीने की कला' के, सत्य के प्रयोग करने में बीता था, जिसने जीना सीखते-सीखते जिलाना (अहिंसा को) सीख लिया था, जो सबसे पहले और सबसे पीछे मात्र मनुष्य था और ऐसा मनुष्य ही मनुष्य को नहीं पहचानेगा तो कौन पहचानेगा।

चित्र इतने ही नहीं हैं। प्रयत्न करने पर जितनी सामग्री मिल सकी वह इस पुस्तक में दे दी गई है, पर हम जानते हैं कि अभी और शेष है। अपने पाठकों से हमारी प्रार्थना है कि यदि वे ऐसी किसी सामग्री के बारे में जानते हों तो सूचना देने की कृपा करें।

इस पुस्तक के संकलन में जिन मान्य व प्रिय बंधुओं ने मुझे सहायता दी है, उनका मैं हृदय से आभारी हूं। डा० युद्धवीर सिंह और जैन पुस्त-कालय, दिल्ली का मैं विशेष रूप से आभारी हूं। 'नवजीवन' के अनेक अलभ्य अंक उनके पास न मिल जाते तो संग्रह एकदम अधूरा रह जाता।

पो० बॉ० ११६७, दिल्ली —**विष्णु प्रभाकर**

विषय-सूची

मेरे समकालीन

: १ :

हकीम अजमल खां

हकीमसाहब अजमलखां के स्वर्गवास से देश का एक सबसे सच्चा सेवक उठ गया। हकीमसाहब की विभूतियां अनेक थीं। वह महज कामिल हकीम ही नहीं थे जो गरीबों और धनियों, सबके रोगों की दवा करता है। वह थे एक दरबारी देशभक्त, यानी अगर्चे कि उनका वक्त राजों-महाराजों के साथ में बीतता था, मगर थे वह पक्के प्रजावादी। वह बहुत बड़े मुसलमान थे और उतने ही बड़े हिन्दुस्तानी थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों से ही वह एक-सा प्रेम करते थे। बदले में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही एक समान उनसे मुहब्बत रखते थे, उनकी इज्जत करते थे। हिन्दू-मुसलमान-एकता पर वह जान देते थे। हमारे झगड़ों के कारण उनके अन्तिम दिन कुछ दुःख-जनक हो गये थे, मगर अपने देश और देश-बन्धुओं में उनका विश्वास कभी नष्ट नहीं हुआ। उनका विचार था कि आखिर दोनों सम्प्रदायों को मेल करना ही पड़ेगा। यह अटल विश्वास लेकर उन्होंने एकता के लिए प्रयत्न करना कभी नहीं छोड़ा। हालांकि उन्हें सोचने में कुछ समय लगा, लेकिन अन्त में वह असहयोग आन्दोलन में कूद ही पड़े, अपनी प्रियतम और सबसे बड़ी कृति तिब्बी कॉलेज को खतरे में डालते वह झिझके नहीं। इस कॉलेज से उनका इतना प्रबल अनुराग था, जिसका अन्दाजा सिर्फ वे ही लगा सकते हैं जो हकीमजी को भलीभांति जानते थे। हकीमजी के स्वर्गवास से मैंने न सिर्फ एक बुद्धिमान और दृढ़ साथी ही खोया है, बल्कि एक ऐसा मित्र खोया है, जिसपर मैं आड़े अवसरों पर भरोसा कर सकता था। हिन्दू-मुसलिम एकता के बारे में वह हमेशा ही मेरे रहबर थे। उनकी निर्णय-शक्ति, गम्भीरता और मनुष्य-प्रकृति का ज्ञान ऐसे थे कि वह बहुत करके सही फैसला

ही किया करते थे। ऐसा आदमी कभी मरता नहीं है। यद्यपि उनका शरीर अब नहीं रहा, मगर उनकी भावना तो हमारे साथ बराबर रहेगी और वह अब भी हमें अपना कर्तव्य पूरा करने को बुला रही है। जबतक हम सच्ची हिन्दू-मुसलिम एकता पैदा नहीं कर लेते, उनकी याद बनाये रखने के लिए हमारा बनाया कोई स्मारक पूरा हुआ नहीं कहा जा सकता। परमात्मा ऐसा करें कि जो काम हम उनके जीते-जी नहीं कर सके, वह उनकी मौत से करना सीखें।

हकीमजी कोरे स्वप्नदृष्टा ही नहीं थे। उन्हें विश्वास था कि मेरा स्वप्न एक दिन पूरा होगा ही। जिस तरह तिब्बी कॉलेज के द्वारा उनका देशी चिकित्सा का स्वप्न फला, उसी तरह अपना राजनैतिक स्वप्न भी उन्होंने जामिया मिलिया के जरिये पूरा करने की कोशिश की। जबकि जामिया मरणासन्न हो रही थी, उस समय हकीमसाहब ने प्रायः अकेले ही उसे अलीगढ़ से दिल्ली लाने का सारा भार उठाया। मगर जामिया को हटाने से खर्च भी बढ़ा। तबसे वह अपनेको जामिया की आर्थिक स्थिरता के लिए खास तौर पर जिम्मेवार मानने लगे थे। उसके लिए धन जमा करने में सबसे मुख्य मनुष्य वह ही थे, चाहे वह अपने ही पास से दें या अपने दोस्तों से चन्दे दिलवायें। इस समय जो स्मारक देश तुरन्त ही बना सकता है, और जिसका बनाया जाना अनिवार्य है, वह है जामिया मिलिया की आर्थिक स्थिति को पक्की कर देना। (हि० न०, ५.१.२८)

... ...

एक जमाना था, शायद सन् '१५ की साल में, जब मैं दिल्ली आया था, हकीमसाहब से मिला और डाक्टर अंसारी से। मुझसे कहा गया कि हमारे दिल्ली के बादशाह अंग्रेज नहीं हैं, बल्कि ये हकीमसाहब हैं। डाक्टर अंसारी तो बड़े बुजुर्ग थे, बहुत बड़े सर्जन थे, वैद्य थे। वह भी हकीमसाहब को जानते थे, उनके लिए उनके दिल में बहुत कद्र थी। हकीमसाहब भी मुसलमान थे, लेकिन वे तो बहुत बड़े विद्वान् थे, हकीम थे। यूनानी हकीम थे; लेकिन आयुर्वेद का उन्होंने कुछ अभ्यास किया था। उनके वहां हजारों मुसलमान आते थे और हजारों गरीब हिन्दू भी आते थे। साहूकार, धनिक मुसलमान और हिन्दू भी आते थे। एक दिन का एक हजार रुपया उनको

देते थे। जहांतक मैं हकीमसाहब को पहचानता था, उन्हें रुपये की नहीं पड़ी थी, लेकिन सबकी खिदमत की खातिर उनका पेशा था। वह तो बादशाह-जैसे थे। आखिर में उनके बाप-दादा तो चीन में रहते थे, चीन के मुसलमान थे, लेकिन बड़े शरीफ थे। जितने हिन्दू लोग मेरे पास आये, उनसे पूछा कि आपके सरदार यहां कौन हैं ? श्रद्धानन्दजी ? श्रद्धानन्दजी यहां बड़ा काम करते थे। लेकिन नहीं, दिल्ली के सरदार तो हकीमसाहब थे। क्यों थे ? क्योंकि उन्होंने हिन्दू-मुसलमान सबकी ही सेवा की। यह सन् '१५ के साल की बात मैंने कही। लेकिन बाद में मेरा ताल्लुक उनसे बहुत बढ़ गया और उनको और पहचाना। (प्रा० प्र०, १३.६.४७)

... ...

कल हकीम अजमल खां साहब की वार्षिक तिथि थी। वह हिन्दुस्तान के हिन्दू, मुसलमान, सिख, क्रिस्टी, पारसी, यहूदी सबके प्रिय थे। वह पक्के मुसलमान थे, मगर वह इस खूबसूरत देश के रहनेवाले सब लोगों की समान सेवा करते थे। उनकी मेहनत की सबसे बढ़िया यादगार दिल्ली का मशहूर तिब्बी कॉलेज और अस्पताल था। वहांपर हर श्रेणी के विद्यार्थी पढ़ते थे और वहां यूनानी, आयुर्वेदिक और पश्चिमी डाक्टरी सब सिखाई जाती थी। साम्प्रदायिकता के जहर के कारण यह संस्था भी, जिसमें किसी तरह साम्प्रदायिकता को स्थान न था, बन्द हो गई है। मेरी समझ में इसका कारण इतना ही हो सकता है कि इस कालेज को बनानेवाले हकीमसाहब मुसलमान थे, फिर वे चाहे कितने ही महान् और भले क्यों न रहे हों, और भले ही उन्होंने सबका मान सम्पादन क्यों न किया हो। उस स्वर्गवासी देशभक्त की स्मृति अगर हिन्दू-मुस्लिम फिसाद को दफन नहीं कर सकती तो कम-से-कम इस कालेज को तो नया जीवन दे ही दे।

(प्रा० प्र०, २६.१२.४७)

: २ :

सोराबजी शापुरजी अडाजनिया

नवीन बस्तीवाला कानून भी सत्याग्रह में शामिल कर लिया गया। ...इस कानून में एक यह भी धारा थी कि ट्रांसवाल में आनेवाले नवीन आदमी को यूरोप की किसी भी एक भाषा का ज्ञान होना जरूरी है। इसलिए कमेटी ने किसी ऐसे ही आदमी को ट्रांसवाल में लाने को सोचा, जो अंग्रेजी जानता हो, पर पहले कभी ट्रांसवाल में न रहा हो। कितने ही भारतीय उम्मीदवार खड़े हुए; पर कमेटी ने उनमें से सोराबजी शापुरजी अडाजनिया की प्रार्थना को ही बतौर कसौटी (टेस्ट केस) के मान्य किया।

सोराबजी पारसी थे। नाम से ही स्पष्ट है। सारे दक्षिण अफ्रीका में पारसियों की जन-संख्या सौ से ज्यादा नहीं होगी। पारसियों के विषय में दक्षिण अफ्रीका में भी मेरा वही मत था जो मैंने भारतवर्ष में प्रकट किया है। संसार भर में एक लाख से ज्यादा पारसी नहीं होंगे; परन्तु इतनी छोटी-सी जाति अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा कर रही है, अपने धर्म पर दृढ़ है और उदारता में संसार की एक भी जाति उसकी बराबरी नहीं कर सकती। इस जाति की उच्चता के लिए इतना ही प्रमाण काफी होगा। अनुभव से ज्ञात हुआ कि सोराबजी उसमें भी रत्न थे। जब वह लड़ाई में शामिल हुए तब मैं उनको वैसे ही मामूली तौर पर जानता था। लड़ाई में शामिल होने के लिए उन्होंने पत्र-व्यवहार किया था और उससे मेरा खयाल भी अच्छा हो गया था। मैं पारसी लोगों के गुणों का तो पुजारी हूं, परन्तु एक कौम की हैसियत से उनमें जो खामियां हैं उनसे मैं न तो अपरिचित था और न अब ही हूं। इसलिए मेरे दिल में यह सन्देह जरूर मौजूद था कि शायद सोराबजी परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सकेंगे। पर मेरा यह नियम था कि सामनेवाला मनुष्य जब इसके विपरीत बात कर रहा हो तब ऐसे शक पर अधिक ध्यान नहीं देना चाहिए। इसलिए मैंने कमेटी से यह सिफारिश की कि सोराबजी अपने पत्र में जो दृढ़ता जाहिर कर रहे हैं उसपर हमें विश्वास कर लेना चाहिए। फल यह हुआ कि सोराबजी प्रथम श्रेणी के सत्याग्रही साबित हुए। लम्बी-से-लम्बी कैद भोगनेवाले सत्याग्रहियों में वह भी एक थे।

इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने तो सत्याग्रह का इतना गहरा अध्ययन कर लिया था कि उसके विषय में वह जो कुछ भी कहते, सबको सुनना पड़ता। उनकी सलाह में हमेशा दृढ़ता, विवेक, उदारता, शान्ति आदि गुण प्रकट होते। विचार कायम करने में वह जल्दी तो कदापि नहीं करते थे और एक बार विचार कायम कर लेने पर वह कभी उसे बदलते भी नहीं थे। जितने अंशों में उनमें पारसीपन था, और वह उनमें ठूंस-ठूंसकर भरा हुआ था, उतना ही भारतीयपन भी था। संकीर्ण जाति-अभिमान जैसी वस्तु तो उनमें किसी दिन भी नहीं पाई गई। लड़ाई खतम होने पर डा० मेहता ने अच्छे सत्याग्रहियों में से किसीको इंग्लैड भेजकर बैरिस्टर बनाने के लिए एक छात्रवृत्ति दी थी। उसके लिए योग्य छात्र चुनने का काम मुझपर ही रखा गया था। दो-तीन सुयोग्य भारतीय थे। पर समस्त मित्र-मंडल को, दृढ़ता तथा स्थिरता में सोराबजी के मुकाबले में खड़ा होने योग्य, कोई नहीं मिला, इसलिए उन्हींको चुना गया। ऐसे एक भारतीय को इंग्लैंड भेजने में मुख्य उद्देश्य यही था कि वह लौटकर दक्षिण अफ्रीका में मेरे बाद मेरा स्थान ग्रहण कर जाति की सेवा कर सके। कौम का आशीर्वाद और सम्मान लेकर सोराबजी इंग्लैंड पहुंचे। बैरिस्टर हुए। गोखले से तो उनका परिचय दक्षिण अफ्रीका में ही हो चुका था। पर इंग्लैंड जाने पर उनका सम्बन्ध और भी दृढ़ हो गया। सोराबजी ने उनके मन को हर लिया। गोखले नें उनसे यह आग्रह भी किया कि जब कभी वह भारत में आयें तब 'भारत-सेवक-समिति' के सभ्य जरूर होवें। विद्यार्थी वर्ग में वह बड़े प्रिय हो गये थे। प्रत्येक मनुष्य के दुःख में वह भाग लेते। इंग्लैंड के न तो आडम्बर की उनपर जरा भी छाप पड़ी और न वहां के ऐशो-आराम की। वह जब इंग्लैंड गये तब उनकी उम्र तीस साल से ऊपर थी। उनका अंग्रेजी का अध्ययन ऊंचे दर्जे का न था। व्याकरण वगैरह सब भूलभाल गये थे। पर मनुष्य के उद्योग के सामने ये कठिनाइयां कब खड़ी रह सकी हैं? शुद्ध विद्यार्थी-जीवन व्यतीतकर, सोराबजी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते गये। मेरे जमाने की बैरिस्टरी की परीक्षा आजकल की परीक्षा की तुलना में कुछ आसान थी। इसलिए आजकल के बैरिस्टरों को अधिक अभ्यास करना पड़ता है, पर सोराबजी पीछे नहीं हटे। इंग्लैंड में जब एम्ब्युलैन्स कोर की

स्थापना हुई तब उसका आरम्भ करनेवालों में वह भी थे और आखिर तक उसमें रहे। इस दल को भी सत्याग्रह करना पड़ा था। उसमें से कई फिसल गये थे; पर फिर भी जो अटल रहे, उनमें सोराबजी अग्रगण्य थे। यहांपर मुझे यह भी कह देना चाहिए कि इस दल को सत्याग्रह में भी विजय ही मिली थी।

इंग्लैंड में बैरिस्टर होकर सोराबजी जोहान्सबर्ग गये। वहांपर उन्होंने सेवा और वकालत दोनों साथ-ही-साथ शुरू कर दीं। दक्षिण अफ्रीका से मुझे जो पत्र मिले उनमें सोराबजी की तारीफ सभी करते थे। वह अब भी वैसे ही सादा मिजाज हैं, जैसे पहले थे, आडम्बर जरा भी नहीं है। छोटे-से बड़े तक सबसे हिल-मिलकर रहते हैं। मालूम होता है, परमात्मा जितना दयालु है, उतना ही शायद निठुर भी है। सोराबजी को तीव्र क्षय ने ग्रसा और कौम का नवीन प्रेम सम्पादन कर उसे दुःख में रोती-हुई छोड़कर वह चल बसे। इस तरह परमात्मा ने कौम के दो पुरुष-रत्न छीन लिये—काछलिया[1] और सोराबजी !

पसन्दगी ही करनी हो तो मैं इन दो में से किसे प्रथम पद दूं ? पर मैं तो इस तरह की पसन्दगी ही नहीं कर सकता। दोनों अपने-अपने क्षेत्र में अप्रतिम थे। काछलिया शुद्ध मुसलमान और उतने ही शुद्ध भारतीय भी थे, उसी प्रकार सोराबजी भी शुद्ध पारसी और साथ ही उतने ही शुद्ध भारतीय थे।

यही सोराबजी पहले-पहल सरकार को नोटिस देकर केवल 'टेस्ट' अर्थात् कसौटी के लिए ट्रांसवाल आये। सरकार इसके लिए जरा भी तैयार नहीं थी। इसलिए वह एकाएक यही निश्चय नहीं कर सकी कि सोराबजी के साथ क्या करना चाहिए। सोराबजी तो जाहिरा तौर पर सरहद लांघकर ट्रांसवाल में आ धमके। परवाने जांचनेवाले सरकारी अधिकारी उनको जानते थे। सोराबजी ने कहा—"मैं केवल इसी हेतु से ट्रांसवाल में प्रवेश कर रहा हूं कि देखूं, सरकार मेरा क्या करती है। यदि आप मेरी अंग्रेजी की परीक्षा लेना चाहें तो सवाल कीजिये। और अगर गिरफ्तार करना

[1]परिचय पृष्ठ ५० पर

हो तो यह खड़ा हूं, गिरफ्तार कर लीजिये।" अधिकारी ने कहा, "मुझे यह मालूम है कि आप अंग्रेजी जानते हैं। इसलिए परीक्षा तो कुछ लेना-लिवाना है नहीं और न आपको गिरफ्तार करने के लिए मेरे पास कोई हुक्म ही है। इसलिए जहां जाना हो, आप सुखपूर्वक जाइये। यदि आपको गिरफ्तार करना आवश्यक मालूम हुआ तो आप जहां कहीं जायंगे, सरकार स्वयं आपको गिरफ्तार कर लेगी।"

इस तरह सोराबजी तो अकल्पित रूप से और अचानक जोहान्सबर्ग तक आ पहुंचे। हम सबने उनका बड़े हर्ष के साथ स्वागत किया। किसी-को यह आशा तक नहीं थी कि सरकार सोराबजी को ट्रांसवाल के सरहदी स्टेशन वाक्सरस्ट से जरा भी आगे बढ़ने देगी।

सरकार की गफलत के कारण कहिये या जान-बूझकर निश्चित की हुई उसकी पहली नीति के अनुसार कहिये, सोराबजी जोहान्सबर्ग तक आ पहुंचे। इधर न तो स्थानीय अधिकारी को इस विषय में कुछ खयाल था कि सोराबजी के जैसे मामले में क्या करना चाहिए और न ऊपर से ही उसे कोई सूचना मिली थी। सोराबजी के इस तरह एकाएक जोहान्सबर्ग पहुंच जाने से कौम का उत्साह खूब बढ़ गया। कितने ही युवक तो यही समझ गये कि सरकार हार गई और शीघ्र ही उसे सुलह भी करनी होगी। पर यह स्वप्न अधिक देर तक न टिका। शीघ्र ही उन्हें इस बात को ठीक विप-रीत सिद्ध होते हुए देखना पड़ा; बल्कि उन्होंने तो यह भी देख लिया कि सुलह होने से पहले शायद अनेक युवकों को अपना बलिदान देना होगा।

सोराबजी ने अपने पहुंचते ही आने की खबर वहां के पुलिस सुपरिं-टेंडेंट को देकर लिखा—"नवीन बस्तीवाले कानून के अनुसार मैं अपनेको ट्रांसवाल में रहने का हकदार मानता हूं।" इसका कारण बताते हुए उन्होंने अपना अंग्रेजी भाषा का ज्ञान लिखाया। यह भी लिखा कि यदि अधिकारी उनकी अंग्रेजी की परीक्षा लेना चाहें तो उसके लिए भी वह तैयार हैं। इस पत्र का कोई उत्तर न मिला। पर इसके कई दिन बाद उन्हें एक समन मिला। मामला अदालत में पेश हुआ। न्यायालय भारतीय दर्शकों से खचाखच भर गया था। मामला शुरू होने से पहले न्यायालय में आये हुए भारतीयों को वहीं अहाते में एकत्र कर उनकी एक सभा की गई, जिसमें

सोराबजी ने एक जोशीला भाषण दिया। भाषण के अन्त में उन्होंने यह प्रतिज्ञा की—"पूरी जीत होने तक जितनी बार जेल में जाना होगा, मैं जाने को तैयार हूं और जितने भी संकट आयेंगे उन सबको झेलने को तैयार हूं।" अबतक इतना समय गुजर चुका था कि मैं सोराबजी को अच्छी तरह जानने लग गया था। मैंने अपने मन में यह भी समझ लिया था कि अवश्य ही सोराबजी एक शुद्ध रत्न सिद्ध होंगे। मुकदमा शुरू हुआ। मैं वकील की हैसियत से खड़ा हुआ। समन में कितने ही दोष थे। उन्हें दिखाकर मैंने सोराबजी पर से समन उठा लेने के लिए अदालत से प्रार्थना की। सरकारी वकील ने अपनी दलीलें पेश कीं; पर अदालत ने मेरी दलीलों को स्वीकार कर समन हटा लिया। कौम मारे हर्ष के पागल हो गई। सच पूछा जाय तो उसके इस तरह पागल होने के लिए कारण भी था। दूसरा समन निकालकर फौरन ही सोराबजी पर पुनः मुकदमा चलाने की हिम्मत तो सरकार को किस तरह हो सकती थी? और हुआ भी यही। इसलिए सोराबजी सार्वजनिक कामों में लग गये।

पर यह छुटकारा हमेशा के लिए नहीं था।....कौम ने सरकार की खामोशी का अंत देखने के लिए एक ऐसा नवीन काम कर डाला जिससे उसे अपनी खामोशी अलग रखकर सोराबजी पर फिर मुकदमा चलाना पड़ा। (द० अ० स० १९२५)

: ३ :

माधव श्रीहरि अणे

ऊर्ध्वं बाहुर्विरौम्येष: नैव कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च सधर्म: किं न सेव्यते॥

"मैं ऊंचा हाथ करके पुकारता हूं; पर मेरी कोई सुनता नहीं। धर्म में ही अर्थ और काम समाया हुआ है, ऐसे सरल धर्म का लोग क्यों सेवन नहीं करते?"

बापूजी अणे पिछले शनिवार को दिल्ली में कुछ मिनट के लिए मेरे पास आ गये थे। हम साथ-साथ काम कर रहे हों या देखने में विरोधी दिशा

में जा रहे हों, बापूजी अणे मेरे प्रति हमेशा प्रेम-भाव रखते हैं, इसलिए जब कभी उन्हें समय मिलता है, राम-राम कर जाते हैं, विचारों का विनिमय कर जाते हैं और कभी-कभी तो उनके पास श्लोकों का जो भण्डार भरा पड़ा है उसमें से कुछ बानगी भी दे जाते हैं। दिल्ली में जब वह मुझसे मिलने आये तब कांग्रेस में से मेरे एकदम निकल जाने का उन्होंने कुछ विरोध-सा किया, मगर दरअसल तो उन्होंने मुझे इसपर बधाई ही दी। "कांग्रेस को या किसीको भी अब आपको नाराज नहीं करना चाहिए। आप तो अपने रास्ते जायं। आपने अंग्रेजों के प्रति जो लिखा है, वह मैंने देखा है। वे लोग सुननेवाले नहीं, पर आपको इससे क्या पड़ी है? आपका काम तो जिसको आप धर्म मानते हैं, वह सबको सुनाने का ही है। देखो न, अड़ी के समय कांगेस ने ही आपकी न सुनी। स्वयं व्यास की किसीने न सुनी तो किसी दूसरे की तो बात ही क्या है! महाभारत जैसा ग्रंथ लिखकर अन्त में उन्होंने एक श्लोक लिखा है, जो 'भारत-सावित्री' के नाम से प्रख्यात है।" यह कह-कर ऊपर लिखा श्लोक मुझे सुनाया। यह श्लोक सुनाकर उन्होंने मेरी श्रद्धा को दृढ़ किया और बताया कि मैंने जो मार्ग पसन्द किया है, वह दुर्गम है। (ह० से०, १३.७.४०)

: ४ :

अन्नपूर्णा देवी

सन् १९२१ में बैजवाड़ा की बात है। स्त्रियों की एक बहुत बड़ी सभा में मैंने सिर्फ एक लड़की को खादी पहनी हुई पाया, जो सभा का प्रबन्ध कर रही थी, शान्ति रखती थी और फुर्ती और निश्चयता से इधर-उधर घूमती थी। जहांतक मुझे याद है, उसीने पहले-पहल अपने सभी कीमती गहने, चूड़ियां और सोने की एक भारी जंजीर दी। जबकि वह अपने सब गहने दे रही थी, मैंने पूछा, "क्या तुमने अपने मां-बाप से इजाजत ले ली है?" उसने कहा, "मेरे मां-बाप मेरे किसी काम में दखल नहीं देते और मैं जो चाहती हूं मुझे करने देते हैं।" अन्नपूर्णा देवी अंगरेजी तेजी-से बोलती थी। उसने कलकत्ता के बेथून कालेज में शिक्षा पाई थी। वह स्त्रियों की उस

बड़ी भीड़ में चन्दे के लिए चली गई और गहने और रुपये लाई। तबसे बराबर, इस आन्दोलन से उसने सम्बन्ध रखा और सच पूछो तो इसमें अपनेको उत्सर्ग कर दिया। कोकोनाड़ा में वह स्त्री स्वयं-सेविकाओं की सेनापति थी और उस समय उसके काम की कितनों ने ही बड़ी तारीफ की है। दुर्भाग्य से तब भी उसका स्वास्थ्य बिल्कुल अच्छा न था। उसका विवाह श्रीयुत मगुन्नी बापीनीडु बी० एस० सी० से हुआ था। कोयम्बाटूर में मुझे उसकी मृत्यु के कई दिनों बाद सहसा तार मिला कि वह कूच कर गई। और अब श्रीयुत नीडु का पत्र आया है, जिसमें से कुछ उतारे में नीचे दे रहा हूं :

"आखिर जिसका डर था, वही हुआ। यह मेरा दुर्भाग्य है कि मेरे पहले पत्र में ही आपकी प्रिय सेविका और मेरी जीवन संगिनी अन्नपूर्णा का दुखद मृत्यु-संवाद आपके पास जाय। मुझे उसकी सेवा करने, उसे अपने स्वास्थ्य का ख्याल रखने और हिम्मत बनाये रखने की आपकी आज्ञाओं का हमने अक्षरशः पालन किया। जो कुछ कि आदमी से हो सकता था मैंने किया, मगर होनी होकर रही।

"आपके असहयोग आन्दोलन के नष्ट किये हुओं में से वह एक थी। उसने देश को अपना सर्वस्व दे दिया था—अपने जवाहिरात दिये, मेरी दी हुई विवाह की अंगूठी भी दी—विवाह की भेंटें दी, अच्छे-से-अच्छे कपड़े दिये, पढ़ना लिखना छोड़ा, स्वास्थ्य दिया और अन्त में प्राण तक दे दिया।

"आपमें अटल विश्वास होने से ही उसने आपके 'स्वास्थ्य विषे सामान्य ज्ञान' को आंख मूंद कर पाला। आपके बतलाये बेहिसाब फलाहार को उसने छः महीने चलाया, जिससे उसका शरीर जो टूटा सो टूटा, फिर नहीं जुड़ा।"

"मैं आपपर इल्जाम लगाने की क्रूरता नहीं करूंगा। मगर सच्ची बात तो कहनी ही पड़ेगी। उसने असहयोग का प्रचार-कार्य करने में अपने स्वास्थ्य की परवा नहीं की और तब चेती जबकि खेती सूख गई थी। आपने लिखा था कि 'मैं जानता हूं, तुम खादी का काम खूब उत्साह से करोगी।' हां, उसने खूब उत्साह से खादी का काम किया। मेरे अमरीका से लौटने पर उसने अपनी पहली प्रार्थना मेरे पैरों पर गिरकर यह की कि

'खद्दर पहना करो।' उसने आजीवन खद्दर पहनने का व्रत लिया था और उसे पूरा कर दिखाया। मोटी खद्दर की साड़ियों से जब उसके मांसरहित, सिर्फ हाड़ और चाम के शरीर में फोड़े हो गये, तब भी उसने खद्दर नहीं छोड़ा और उसका यह सौभाग्य है कि वह खद्दर के ही कफन में जलाई भी गई। शायद वह परलोक में भी खद्दर का प्रचार करने को अत्यन्त उत्सुक थी।

"अमरीका जाते समय उसने मुझसे यही कहा था कि 'मुझे भूल जाना, मगर देश को न भूलना।' एक बार वह कहती थी कि, 'अगर इस बीमारी से उठ खड़ा होना चाहती हूं तो सिर्फ़ देश की सेवा की खातिर। पति की सेवा की खातिर नहीं।' इसी अभिलाषा के कारण वह कई महीनों तक जीती रही, जब कि हम सबने आशा छोड़ दी थी। अन्त तक वह डाक्टर से झगड़ती रही, 'मैं नहीं मरूंगी, हां।' वह मरने को जीती रही और देश के लिए जीने को ही मरी।

"उसकी कुछ किताबों और पत्रों को हम छापने का इरादा करते हैं।

"हमारी तो नन्हीं-सी झांसी ही हमारा एकमात्र आशा, भरोसा और सान्त्वना है। उसे आशा थी कि इसके जन्म से ही वह अच्छी हो जायगी। हां, उसके स्वास्थ्य में सदा के लिए परिवर्तन हुआ, वह चली गई।

"अगले २३ अक्तूबर को उसका श्राद्ध है, जबकि उसके स्मरण में उसके लेख और पत्र पढ़े जायंगे। वह स्त्रियों के लिए एक राष्ट्रीय संस्था खोलना चाहती थी। उसे पूरा करने के लिए एक स्मारक समिति बनाई जायगी। क्या हम आपका नाम उसमें शामिल करें? कृपा कर अपना आशीर्वाद और अनुमति २० तारीख तक जरूर दे देंगे।

"आपको ऐसी सच्ची सेविका की हानि हुई है। मैंने ऐसी आदर्श जीवन-संगिनी खोई है। मेरा अच्छा आधा अंग तो दूसरे निराश, दुखी और कम-जोर अंग को, जो उसकी कमी कभी भी पूरी नहीं कर सकता, छोड़कर चला गया है।"

यह सच है कि मैंने अनेक भक्त अनुयायी खोये हैं। मुझे हिन्दुस्तान में जो अनेक लड़कियों को अपनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उनमें से किसी-के खो जाने का-सा दुःख हो रहा है। और उनमें सबसे अच्छी लड़कियों में से वह थी। उसका विश्वास अटल रहा और इनाम या तारीफ की उम्मेद

बिना उसने काम किया। अन्नपूर्णा देवी ने अपने पति पर पवित्रता और एकनिष्ठ भक्ति से जो नम्र मगर अधिकारपूर्ण प्रभाव पाया था, वह प्रभाव कई पत्नियां प्राप्त करें तो क्या अच्छा हो। मैं उनके मीठे आक्षेप को समझता हूं कि अन्नपूर्णा देवी ने मातृभूमि की सेवा में अपना शरीर गला दिया। मुझे इसमें जरा भी शक नहीं है कि अगर हिन्दुस्तान को एक बार और पवित्र और स्वतन्त्र बनना है, जैसा कि लाखों आदमी आज भी मानते हैं कि वह प्राचीन काल में था तो, यह जरूरी है कि कितने ही नवयुवक नव-युवतियों को इस भली स्त्री का अनुकरण करना पड़ेगा, और हिन्दुस्तान के लिए फर्ज अदा करने में शहीद होना पड़ेगा।

ऊपर के उतारे में लिखित समिति का सदस्य मैं नहीं बन सका। क्योंकि मेरे पास कई काम हैं, और मैं सैकड़ों समितियों का बोझ उठा नहीं सकता। मेरा विश्वास इसमें कभी नहीं रहा है कि समितियों के सदस्य शोभा के लिए या सिर्फ नाम लिखाने के लिए हम बनें। इसमें कोई शक नहीं कि अन्नपूर्णा देवी जैसी बहादुर और पवित्र देशभक्त की यादगार बनाये रखने के लिए स्थानिक समिति बननी चाहिए। मगर सबसे अच्छी यादगार बनानी तो उनके योग्य पति के लिए यह है कि वह अपनी पत्नी के रास्ते चलें, और अपनी भूली हुई संगिनी को देशकार्य में ही पाकर उसकी याद बनाये रखें, क्योंकि उन्हींके कथनानुसार अन्नपूर्णा देवी ने इसी काम में अपने-आपको भुला दिया, खो दिया था। (हि० न० १०. ११. २७)

... ...

दस ग्यारह वर्ष की बात है। आंध्र देश में एक लड़की थी। विवाह उसका हो चुका था। मैं उन दिनों भी प्रवास कर रहा था। उस दिन एक थियेटर हाल में महिलाओं की सभा थी। सभा के अन्त में उन बहनों से मैंने धन के लिए अपील की। सबसे पहले उसी लड़की ने आभूषण-दान का वहां श्रीगणेश किया। श्रीमती अन्नपूर्णा देवी के शरीर पर—उस लड़की का यही नाम था—साधारण से ही गहने थे। फिर भी उसके गले का हार काफी कीमती था। असली सोने की वह एक भारी लम्बी जंजीर थी। उसके अन्य आभूषणों की क्या चर्चा करूं! हा! इस असार संसार में आज वह देवी नहीं है। उसकी अमर कहानी ही रह गई है। पर अपने उस प्रण को तो

उसने बड़ी वीरता से निभाया, कि वह मरते दम तक कभी जेवर का नाम न लेगी। सचमुच अन्नपूर्णा ने फिर कोई जेवर छुआ तक नहीं। वह एक श्रीमन्त घराने की लाड़ली लड़की थी। माता-पिता चाहते तो उसका सारा शरीर सोने व रत्नों से मढ़वा सकते थे। लेकिन वह स्वर्गीय देवी तो अपने वचन की सच्ची थी। मरते मर गई, पर जेवर का नाम न लिया। यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि अन्नपूर्णा देवी ने अपना सर्वस्व देकर कुछ गंवाया नहीं। जितना दिया, उसका सौ-गुना उसे मिला। (ह० से०, २. २. ३४)

: ५ :

डॉ० मुख्तार अहमद अंसारी

आगामी वर्ष के लिए डा० अंसारी का महासभा के अध्यक्ष-स्थान के लिए चुनाव होना प्रायः निश्चित-सा है। राष्ट्रीय क्षितिज पर इस चुनाव में आपत्ति करनेवाला कोई नहीं है। डा० अंसारी जितने अच्छे मुसलमान हैं, उतने ही अच्छे भारतीय भी हैं। उनमें धर्मोन्माद की तो किसीने शंका ही नहीं की है। वर्षों तक वह एक साथ महासभा के सहमन्त्री रहे हैं। हाल ही में एकता के लिए किये गए उनके प्रयत्नों को तो सब कोई जानते हैं और सच्ची बात तो यह है कि अगर बेलगांव में मैं, कानपुर में श्रीमती सरोजिनी नायडू और गोहाटी में श्रीयुत श्रीनिवास आयंगार मार्ग में न आते तो इनमें से किसी भी अधिवेशन के अध्यक्ष डा० अंसारी ही चुने जाते; क्योंकि जब ये चुनाव हो रहे थे तब उनका नाम प्रत्येक आदमी की जबान पर था; परन्तु कुछ खास कारणों से डा० अंसारी का हक आगे बढ़ा दिया गया और ज्ञात होता है कि विधि ने उनके चुनाव को इसीलिए आगे ढकेल दिया था कि वे ऐसे मौके पर आवें जब देश को उनकी सबसे अधिक जरूरत हो। अगर हिन्दू-मुस्लिम एकता की कोई योजना दोनों पक्षों को ग्रहण करने योग्य मालूम हो तो निःसंदेह डा० अंसारी ही उसे महासभा के द्वारा कर ले जा सकते हैं।...अकेली यही बात (सर्वसम्मति से और हृदय से एक मुसलमान को अपना अध्यक्ष चुनना) हिन्दुओं की ओर से इस बात

का साफ प्रमाण होगा कि हिन्दू एकता को दिल से चाहते हैं, और राष्ट्रीय विचारोंवाले मुसलमानों में डा० अंसारी की अपेक्षा साधारणतया मुसलमान जनता में अधिक आदृत कोई नहीं है। इसलिए मेरे खयाल से तो यही अच्छा है कि अगले साल के लिए डा० अंसारी ही राष्ट्रीय महासभा के कर्णधार हों; क्योंकि केवल किसी योजना को मंजूर कर लेना ही हमारे लिए काफी नहीं है। दोनों पक्षों द्वारा उसे मंजूर कराने की बनिस्बत उसे कार्य में परिणत करना शायद कहीं अधिक जरूरी है। और यदि हम मान लें कि दोनों पक्षों का समाधान करनेवाली एक योजना मंजूर हो भी गई तो उसपर अमल करते समय बराबर सावधानी की आवश्यकता होगी। डा० अंसारी ही ऐसे काम के लिए सबसे अधिक योग्य पुरुष हैं। इसलिए मैं आशा करता हूं कि सभी प्रान्त एकमत से डा० अंसारी के नाम को ही उस सर्वोच्च सम्मान के लिए सूचित करेंगे जो कि राष्ट्रीय महासभा के अधीन है। (हि. न., २१. ७. २७)

... ...

'हरिजन' में उन सब महान् पुरुषों की मृत्यु पर, जो इस संसार से सिधार जाते हैं, साधारणतया मैं लिखता नहीं हूं। 'हरिजन' एक विशेष प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखनेवाला पत्र है। आम तौर पर उन्हीं व्यक्तियों के स्वर्गवास के विषय में इसमें लिखा जाता है जिनका कि हरिजन-कार्य के साथ विशेष रूप से सम्बन्ध होता है। श्री कमला नेहरू के स्वर्गवास पर मैंने 'हरिजन' में जो नहीं लिखा उसमें मुझे खास तौर पर अपने ऊपर पाबंदी लगानी पड़ी। ऐसा करके मैंने करीब-करीब अपने साथ जुल्म किया। मगर डॉ० अंसारी के स्वर्गवास पर मुझे कोई ऐसा आत्मनिग्रह करने की जरूरत नहीं। कारण यह है कि वह निस्संदेह हकीम अजमल खां की तरह ही हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के एक प्रतिरूप थे। कड़ी-से-कड़ी परीक्षा के समय भी वह अपने विश्वास से कभी डिगे नहीं। वह एक पक्के मुसलमान थे। हजरत मुहम्मद साहब की जिन लोगों ने जरूरत के वक्त मदद की थी, वह उनके वंशज थे और उन्हें इस बात का गर्व था। इस्लाम के प्रति उनमें जो दृढ़ता थी और उसका उन्हें जो प्रगाढ़ ज्ञान था उस दृढ़ता और उस ज्ञान ने ही उन्हें हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य में विश्वास करनेवाला बना दिया था। अगर यह कहा जाय

कि जितने उनके मुसलमान मित्र थे उतने ही हिन्दू मित्र थे तो इसमें को अत्युक्ति न होगी। सारे हिन्दुस्तान के काबिल-से-काबिल डॉक्टरों में उनका नाम लिया जाता था। किसी भी कौम का गरीब आदमी उनसे सलाह लेने जाय, उसके लिए बेरोकटोक उनका दरवाजा खुला रहता था। उन्होंने राजा-महाराजाओं और अमीर घरानों से जो कमाया वह अपने जरूरतमंद दोस्तों में दोनों हाथों से खर्च किया। कोई उनसे कुछ मांगने गया तो कभी ऐसा नहीं हुआ कि वह उनकी जेब खाली किये बगैर लौटा हो। और उन्होंने जो दिया उसका कभी हिसाब नहीं रखा। सैकड़ों पुरुषों और स्त्रियों के लिए वह एक भारी सहारा थे। मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि सच-मुच वह अनेक लोगों को रोते-बिलखते छोड़ गये हैं। उनकी पत्नी बेगम साहिबा तो ज्ञानपरायणा हैं,यद्यपि वह हमेशा बीमार-सी रहती हैं। वह इतनी बहादुर हैं और इस्लाम पर उनकी इतनी ऊंची श्रद्धा है कि उन्होंने अपने प्रिय पति की मृत्यु पर एक आंसू भी नहीं गिराया। पर जिन अनेक व्यक्तियों की मैं याद करता हूं वे ज्ञानी या फिलॉसफर नहीं हैं। ईश्वर में तो उनका विश्वास हवाई है, पर डॉ० अंसारी में उनका विश्वास जीवित विश्वास था। इसमें उनका कोई कसूर नहीं। डॉक्टरसाहब की मित्रता के उनके पास ऐसे अनेक प्रमाण थे कि ईश्वर ने जब उन्हें छोड़ दिया तब डॉक्टरसाहब ने उन्हें सहायता पहुंचाई। पर उन्हें यह क्या मालूम था कि डॉक्टरसाहब भी उनकी मदद तभी तक कर सके, जबतक कि सिरजनहार ने उन्हें ऐसा करने दिया। जिस काम को वह जीवित अवस्था में पूरा नहीं कर सके, ईश्वर करे, वह उनकी मृत्यु के बाद पूरा हो जाय। (ह० से०, १६. ५. ३६)

: ६ :

ख्वाजा अब्दुल मजीद

ख्वाजा अब्दुल मजीद आज मुझसे मीठा झगड़ा करने के लिए आये थे। वह अलीगढ़ यूनिवर्सिटी के ट्रस्टी हैं। उनके पास काफी बड़ी जायदाद है, फिर भी उनका मन तो फकीर है। मैं जब वहां जाता था उन्हींके यहां खाना खाता था। उस जमाने में स्वामी सत्यदेव (परिव्राजक) मेरे साथ रहते

थे। उन्होंने हिमालय की यात्रा की थी। ईश्वर ने आज उनकी आंखें छीन ली हैं। उस समय वह बहुत काम करनेवाले थे। उन्होंने मुझसे कहा, "मैं तेरे साथ भ्रमण करूंगा, पर तू मुसलमानों के साथ खाता है तो मैं तो नहीं खाऊंगा।" यह सुनकर ख्वाजासाहब ने कहा, "अगर उनका धर्म ऐसा कहता है तो मैं उनके लिए अलग इन्तजाम करूंगा।" ख्वाजासाहब के दिल में यह नहीं आया कि यह स्वामी गांधी के साथ आया है तो क्यों नहीं मेरे यहां खाया। पुराने दिन फिर वापस आयेंगे, जब हिन्दू-मुसलमानों के दिलों में एकता थी। ख्वाजासाहब अब भी राष्ट्रीय मुसलमानों के प्रेसीडेंट हैं। दूसरे भी जो राष्ट्रीय भावनावाले मुसलमान लड़के उन दिनों में अलीगढ़ से निकले थे वे आज जामिया के अच्छे-अच्छे विद्यार्थी और काम करनेवाले बने हुए हैं। यह सब सहारा के रेगिस्तान में द्वीप समान हैं। ख्वाजासाहब ऐसे हैं कि उनको कोई मार डालेगा तो भी उनके मुंह से बद्दुआ न निकलेगी। ऐसे लोग भले ही थोड़े हों, पर हमें तो अपनापन कायम रखना ही चाहिए। (प्रा० प्र०, ६. ४. ४७)

... ...

आप लोग देख रहे हैं कि मेरी दाहिनी ओर ख्वाजासाहब बैठे हुए हैं। इनके बारे में एक बार मैं आपको पहले सुना चुका हूं कि किस प्रकार मैं स्वामी सत्यदेव के साथ इनके घर पहुंचा था और सत्यदेवजी मुसलमान के हाथ का पानी तक नहीं पी सकते थे। लेकिन तब भी ख्वाजासाहब ने बुरा नहीं माना और उदार स्वागत किया। उस समय यह अलीगढ़ यूनिवर्सिटी के ट्रस्टी थे। बाद में असहयोग आन्दोलन में शरीक होने के लिए इन्होंने ट्रस्टीपन छोड़ दिया। जहांतक मुझे याद है, जब मैं वहां गया तब वहां लीग की मीटिंग हो रही थी। मैंने वहां पूछा था कि यहां भी कोई सत्याग्रही मिलेगा या नहीं? मौ० मुहम्मदअली और मौ० शौकतअली तब नजरबन्द थे और उनके कैद होने के बारे में वहां सब मायूस हो रहे थे। तब ख्वाजासाहब ने मुझसे कहा था कि आपको ढाई सत्याग्रही मिल सकते हैं। उनमें एक तो थे श्वेब कुरेशी, जो काफी प्रख्यात और बहादुर जवान थे। दूसरे साहब भी जो वहां मौजूद थे, पक्के सत्याग्रही थे। एक बार लोगों ने उन्हें मारा और उनके हाथ में दो जगह चोटें आईं, तब भी वह शांत रहे

और ताकत होने पर भी मार सहन की; लेकिन जवाब में हमला नहीं किया। इन दोनों का परिचय कराने के बाद ख्वाजासाहब ने कहा था कि आधा सत्याग्रही मैं हूं। और तबसे ख्वाजासाहब मेरे सगे भाई की तरह बनकर रहे हैं। (प्रा० प्र०, १२. ६. ४७)

: ७ :

शेख अब्दुल्ला

(काश्मीर में) शेख अब्दुला साहब हैं। 'शेरे-काश्मीर' उसको कहते हैं, याने बाघ हैं, सिंह हैं। वह बड़ा तगड़ा है। आपने उसका चित्र तो देखा ही होगा। मैं तो उसको पहचानता भी हूं। उसकी बेगम को भी पहचानता हूं। बेगम तो आज यहां पड़ी है। एक आदमी से जितना हो सकता है वह वह कर रहे हैं। वह कोई लड़नेवाले तो हैं नहीं। यों तो काश्मीर में तगड़े मुसलमान पड़े हैं, तगड़े हिंदू भी पड़े हैं, राजपूत और सिख भी पड़े हैं। तो उसने तय कर लिया है कि जितना हो सकता हैं वह करूंगा। वह तो मुसलमान है। काश्मीर में मुसलमानों की बड़ी आबादी है। यहां से तो ये लोग बंदूक लेकर जाते हैं, लेकिन वहां के मुसलमान क्या करें और क्या न करें। माना कि हम तो यहां जाहिल बन गये हैं, यहां कहो या पाकिस्तान में कहो, कोई पागलपन बाकी नहीं रखा है। क्या वहां वे लोग भी जाहिल बन जायं और जिनको काटना है उनको काटें, औरतों को काटें, बच्चों को काटें, लड़ते रहें और इस बुरे हाल से मरें ? यह हाल काश्मीर का हो तो पं० जवाहरलाल नेहरू और मंत्रिमंडल के सभी सदस्यों ने सोचा कि कुछ-न-कुछ तो किया जाय तो इतने आदमी भेज दिये। वे क्या करें ? इतना ही करें कि आखिरी दम तक लड़ते-लड़ते मर जायं। जो लड़नेवाले या शस्त्रधारी होते हैं उनका यही काम होता है कि आगे बढ़ते हैं और हमला करनेवालों को रोक लेते हैं। वे मर जाते हैं, लेकिन पीछे तो कभी हटते नहीं हैं। इसका क्या परिणाम होगा, वह तो ईश्वर ही जानता है। लेकिन पुरुषार्थ करना तो हमारा काम है। वह हम करें। तो इन १५०० आदमियों ने पुरुषार्थ किया। लेकिन कब, जब वे श्रीनगर के बचाने में सारे-के-सारे कट जाते हैं। पीछे श्रीनगर

के साथ काश्मीर भी बच जायगा। इसके बाद क्या होगा ?

यही होगा न, कि काश्मीरियों का होगा। शेख अब्दुल्ला जो कहते हैं वह तो मैं संपूर्णतया मानता हूं कि काश्मीर काश्मीरियों का है, महाराजा का नहीं। लेकिन महाराजा ने इतना तो कर लिया है कि उन्होंने शेख अब्दुल्ला को सबकुछ दे दिया और कह दिया है कि तुमको जो कुछ करना है सो करो। काश्मीर को बचाना है तो बचाओ। आखिर महाराजा तो काश्मीर को बचा नहीं सकते। अगर काश्मीर को कोई बचा सकता है तो वहां जो मुसलमान हैं, काश्मीरी पंडित हैं, राजपूत हैं और सिख हैं, वे ही बचा सकते हैं। उन सबके साथ शेख अब्दुल्ला की मोहब्बत है, दोस्ती है। हो सकता है कि शेख अब्दुल्ला काश्मीर का बचाव करते-करते मर जाते हैं, उनकी जो बेगम है वह मर जाती है, उनकी लड़की भी मर जाती है और आखिर में काश्मीर में जितनी औरतें पड़ी हैं, वे सब मर जाती हैं तो एक भी बूंद पानी मेरी आंखों में से आनेवाला नहीं है। अगर लड़ाई होना ही हमारे नसीब में है तो लड़ाई होगी। दोनों को ही लड़ना है या किस-किस के बीच होगी, यह तो भगवान ही जानता है। हमलावारों की पीठ पर अगर पाकिस्तान का बल नहीं है या पाकिस्तान का उसमें कोई उत्तेजन नहीं है, तो वे वहां कैसे टिक सकते हैं, यह मैं नहीं जानता। लेकिन माना कि पाकिस्तान की उत्तेजना नहीं है, तो नहीं होगी। जब काश्मीर के लोग लड़ते-लड़ते सब मर जायंगे तो काश्मीर में कौन रह जायगा ? शेख अब्दुल्ला भी चले गये, क्योंकि उनका सिंहपन, बाघपन तो इसीमें है कि वे लड़ते-लड़ते मर जाते हैं और मरते दम तक उन्होंने काश्मीर को बचाया, वहां के मुसलमानों को तो बचाया ही, उसके साथ वहां के सिख और हिंदुओं को भी। वह ठेठ मुसलमान हैं। उनकी बीबी भी नमाज पढ़ती है। उन्होंने मधुर कंठ से मुझे 'ओज अबिल्ला' सुनाया था। मैं तो उनके घर पर भी गया हूं। वह मानते हैं कि जो हिंदू और सिख यहां हैं वे पहले मरें और मुसलमान पीछे, यह हो नहीं सकता। वहां हिंदू और सिख की तादाद कम है, तो भी क्या हुआ। अगर शेख अब्दुल्ला ऐसे हैं और उनका असर मुसलमानों पर है तो हमारा सबका क्षेम है। (प्रा० प्र०, २९.१०.४७)

आपने यह भी देख लिया होगा कि शेख अब्दुला साहब भी यहां आ गये हैं। जितने काश्मीर के लोग हैं वे तो सब उनको 'शेरे-काश्मीर' कहते हैं। और वह है भी ऐसा ही। बहुत काम उन्होंने कर लिया है और सबसे आला दर्जे का काम तो उन्होंने यह किया कि काश्मीर में जितने हिंदू, मुसलमान और सिख रहते हैं उन सबको अपने साथ ले लिया है। तादाद में तो मुसलमान बहुत अधिक हैं और हिंदू और सिख तो मुट्ठी भर हैं, ऐसा हम कह सकते हैं, लेकिन तो भी उनको अपने साथ लेकर वह चलते हैं। वह खुश न रहें ऐसा कोई काम वह नहीं करते। पीछे हमने देखा कि वह यहां आते हुए जम्मू भी चले गए थे। जम्मू में हिंदुओं की तरफ से ज्यादतियां हुई हैं और काफी ज्यादतियां हुई हैं। उनका पूरा-पूरा बयान तो हमारे अखबारों में नहीं आया। महाराजा साहब भी वहां चले गये थे और उनके नये प्रधान मंत्री भी। तब वहां दो प्रधान मंत्री हैं क्या, या कुछ और हैं, मजाक में मैं उनसे पूछ रहा था। उन्होंने कहा कि मुझको भी यह पता नहीं, मगर इतना तो है कि मैं वहां का इंतजाम कर रहा हूं, दो हों या एक हो। तो वह भी जम्मू में चले गये थे। जम्मू में जो कुछ हुआ, वह महाराजा ने करवाया या उनके जो नये प्रधान मंत्री हैं उन्होंने करवाया, इसका तो मुझको पता नहीं; लेकिन वहां हुआ और हमारे लिए यह बड़ी शर्मनाक बात है कि हम ऐसा करें। शेख अब्दुल्ला ने यह सब देखकर भी अपना दिमाग बिगड़ने नहीं दिया और जम्मू में जो हिंदू पड़े हैं उन्होंने भी उनका साथ दिया।

(प्रा० प्र०, २७.११.४७)

: ८ :

डॉ० भीमराव अम्बेडकर

डा० अम्बेडकर के प्रति और अछूतों का उद्धार करने की उनकी इच्छा के प्रति मेरा सद्भाव और उनकी होशियारी के प्रति आदर होने के बावजूद मुझे कहना चाहिए कि वह इस मामले में बड़ी भयंकर भूल कर रहे हैं। उन्हें कड़वे अनुभवों में से गुजरना पड़ा है, शायद इस कारण अभी उनकी विवेक-बुद्धि इस चीज को नहीं समझ पा रही है। ऐसे शब्द कहते हुए मुझे

दुःख होता है। मगर यह न कहूं तो प्राणों से प्यारे इन 'अछूतों' के हितों के प्रति मैं वफादार नहीं रह सकता। सारी दुनिया के राज्य के लिए भी मैं उनके हकों की कुरबानी नहीं करूंगा। डा० अम्बेडकर तमाम हिंदुस्तान के 'अछूतों' की तरफ से बोलने का दावा करते हैं, मगर उनका यह दावा सही नहीं है, यह बात मैं पूरी जिम्मेदारी के साथ कहता हूं। उनके कहने के अनुसार तो हिंदू-समाज में फूट पड़ जायगी। इसे शांति से देखते रहना मेरे लिए संभव नहीं है। (१३.११.३१ को लंदन में अल्पमत समिति की आखिरी बैठक में किये गए भाषण से)

... ...

बातें उसने बहुत मीठी कीं। उसमें सिद्धांत तो नहीं है, मगर ये सारी बातें सीधे ढंग से कीं। उसने यह भी कहा कि मुझे राजनैतिक सत्ता चाहिए थी सो मिल गई। अब मुझे तो राष्ट्रीय काम करना है। अब मैं आपके काम में रोड़े नहीं अटकाऊंगा। एम० सी० राजा यहां से जाकर आर्डिनेंस बिल का समर्थन करें, वैसा मुझसे नहीं हो सकता। मैंने तो अपने आदमियों से कह दिया—अब तुम मुझसे इस काम में बहुत आशा न रखना। अब मुझे अपनी शक्ति देश के काम में खर्च करनी होगी। मगर आप बाहर निकलकर देश का काम शुरू करें तब हो। योंही कुछ नहीं हो जायगा।

अपने बारे में कहा—कहा जाता है कि सरकार मुझे रुपया देती है। मेरे जैसा भिखारी कोई नहीं। तीन साल से मेरी कुछ भी कमाई नहीं। यह काम करते हुए मुझे अपना रुपया खर्च करना पड़ता है और मेरे मुकदमों का काम कम होता है। सार्वजनिक काम के लिए समय भी जाता है और रुपया भी खर्च होता है। थोड़े-थोड़े मुकदमे मिलते हैं, उनसे अपना गुजर चलाता हूं। आज भी सावंतवाड़ी में एक मुकदमा है। वहां जाते हुए रास्ते में उतर गया हूं। (म० डा०, भाग २, १७.१०.३२)

... ...

इसमें (अम्बेडकर में) त्यागशक्ति है। कुरबानी करने की शक्ति है। यह दावानल तो सुलगेगा ही। हम हिन्दू यदि सच्चे होंगे तो यरवदा समझौते की तो स्वर्णभस्म बना सकेंगे, नहीं तो चार करोड़ अस्पृश्य सारे हिन्दुस्तान का भक्षण कर जायंगे। (म० डा०, भाग २, ३.१२.३२)

गत मई मास (सन् १९३६) में लाहौर के 'जात-पांत-तोड़क मंडल' का वार्षिक अधिवेशन होनेवाला था और डा० अम्बेडकर उसके सभापति चुने गये थे। लेकिन डा० अम्बेडकर ने उसके लिए जो भाषण तैयार किया वह स्वागत-समिति को अस्वीकार्य प्रतीत हुआ, जिसके कारण वह अधिवेशन ही नहीं किया गया। यह बात विचारणीय है कि स्वागत-समिति का अपने चुने हुए सभापति को इसलिए अस्वीकार कर देना कहांतक उचित कि उनका भाषण उसे आपत्तिजनक मालूम पड़ा। जाति-प्रथा और हिन्दू-शास्त्रों के विषय में डा० अम्बेडकर के जो विचार हैं उन्हें तो समिति पहले से ही जानती थी। यह भी उसे मालूम था कि वह हिन्दू-धर्म छोड़ने का बिलकुल स्पष्ट निर्णय कर चुके हैं। डा० अम्बेडकर ने जैसा भाषण तैयार किया उससे कम की उनसे उम्मीद ही नहीं की जा सकती थी। लेकिन समिति ने, ऐसा मालूम पड़ता है, एक ऐसे व्यक्ति के मौलिक विचार सुनने से जनता को वंचित कर दिया, जिसने कि समाज में अपना एक अद्वितीय स्थान बना लिया है। भविष्य में वह कोई भी बाना क्यों न धारण करें, मगर डा० अम्बेडकर ऐसे आदमी नहीं हैं जो अपनेको भूल जाने देंगे।

डा० अम्बेडकर स्वागत-समिति से यों हार जानेवाले नहीं थे। उसके इन्कार कर देने पर, उसके जवाब में उन्होंने उस भाषण को अपने ही खर्चे से प्रकाशित किया है। उन्होंने आठ आने उसकी कीमत रखी है; लेकिन मैं उनसे कहूंगा कि वह उसे घटाकर दो आना या कम-से-कम चार आना कर दें तो ठीक होगा।

यह भाषण ऐसा है कि कोई सुधारक इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। रूढ़िचुस्त लोग भी इसे पढ़कर लाभ ही उठायेंगे। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए कि भाषण में ऐतराज करने लायक कोई बात नहीं है। इसे तो पढ़ना ही इसलिए चाहिए, क्योंकि इसमें गहरे ऐतराज़ की गुंजाइश है। डा० अम्बेडकर तो हिन्दू-धर्म के लिए मानों एक चुनौती हैं। हिन्दू की तरह पलने और एक जबरदस्त हिन्दू द्वारा शिक्षित किये जाने पर भी, सवर्ण कहे जानेवाले हिन्दुओं द्वारा अपने और अपनी जातिवालों के साथ होनेवाले व्यवहार से वह इतने निराश हो गये हैं कि वह न केवल उन्हें, बल्कि उस धर्म को भी छोड़ने का विचार कर रहे हैं जो उनकी तथा और सबकी संयुक्त

विरासत है। उस धर्म को मानने का दावा करनेवाले एक भाग के कारण सारे धर्म से ही वह निराश हो गये हैं।

लेकिन इसमें अचरज की कोई बात नहीं है; क्योंकि किसी प्रथा या संस्था का निर्णय कोई उसके प्रतिनिधियों के व्यवहार से ही तो कर सकता है। अलावा इसके, डा० अम्बेडकर को मालूम पड़ा है कि सवर्ण हिन्दुओं के विशाल बहुमत ने अपने उन सहधर्मियों के साथ, जिन्हें उन्होंने अस्पृश्य शुमार किया है, न केवल निर्दयता या अमानुषिकता का ही व्यवहार किया है, बल्कि अपने व्यवहार का आधार भी अपने शास्त्रों के आदेश को बनाया है और जब उन्होंने शास्त्रों को देखना शुरू किया तो उन्हें मालूम पड़ा कि सचमुच उनमें अस्पृश्यता और उसके लगाये जानेवाले तमाम अर्थों की काफी गुंजाइश है। शास्त्रों के अध्याय और श्लोक उद्धृत कर-करके उन्होंने तिहेरा दोषारोप किया है: (१) उनमें निर्दय व्यवहार करने का आदेश है, (२) ऐसा व्यवहार करनेवालों के व्यवहार का धृष्टतापूर्वक समर्थन किया गया है, और (३) परिणामस्वरूप यह अनुसंधान किया गया है कि यह समर्थन शास्त्र-विहित है।

ऐसा कोई भी हिन्दू, जो अपने धर्म को अपने प्राणों से अधिक प्यारा समझता है, इस दोषारोप की गम्भीरता की उपेक्षा नहीं कर सकता, और फिर इस तरह निराश होनेवाले अकेले डा० अम्बेडकर ही नहीं हैं। वह तो उनमें के एक ऐसे व्यक्तिमात्र हैं जो इस बात के प्रतिपादन में कोई समझौता नहीं करना चाहते और ऐसे लोगों में वह सबसे योग्य हैं। निश्चय ही इन लोगों में वह अत्यन्त जिद्दी स्वभाव के हैं। ईश्वर की कृपा समझो जो बड़े नेताओं में ऐसे विचार के वही अकेले हैं और अभी भी वह एक बहुत छोटे अल्पमत के ही प्रतिनिधि हैं। मगर जो कुछ वह कहते हैं, कम या ज्यादा जोश के साथ वही बातें दलित जातियों के और नेता भी कहते हैं। फर्क सिर्फ इतना है कि दूसरे—जैसे, रावबहादुर एम० सी० राजा और दीवानबहादुर श्रीनिवासन्—हिन्दू-धर्म छोड़ने की धमकी नहीं देते, पर उसीमें इतनी गुंजाइश देखते हैं कि जिससे हरिजनों के विशाल जन-समूह को जो शर्मनाक कष्ट भोगना पड़ रहा है उसकी क्षति-पूर्ति हो जायगी।

पर उनके अनेक नेता हिन्दू-धर्म को नहीं छोड़ते, इसी बात से हम डॉ०

अम्बेडकर के कथन की उपेक्षा नहीं कर सकते। सवर्णों को अपने विश्वास और आचरण में सुधार करना ही पड़ेगा। इसके अलावा सवर्णों में जो लोग अपने ज्ञान और अनुभव के आधार पर शास्त्रों की प्रामाणिक व्याख्या कर सकें उन्हें शास्त्रों के यथार्थ आशय का स्पष्टीकरण करना होगा। डॉ० अम्बेडकर के दोषारोप से जो प्रश्न उठते हैं, वे ये हैं :

(१) शास्त्र क्या है?

(२) आज जो-कुछ छपा हुआ मिलता है वह सभी क्या शास्त्रों का अभिन्न भाग है, या उनके किसी भाग को अप्रामाणिक क्षेपक मानकर छोड़ देना चाहिए?

(३) इस तरह काट-छांटकर जिस अंश को हम स्वीकार करें वह अस्पृश्यता, जाति-प्रथा, दर्जे की समानता, सहभोज और अंतर्जातीय विवाहों के सम्बन्ध में क्या कहता है? इन सब प्रश्नों की अपने निबन्ध में डॉ० अम्बेडकर ने योग्यतापूर्वक छानबीन की है। (ह० से०, ११.७.३६)

... ...

...अम्बेडकरसाहब से तो दूसरी आशा ही नहीं थी। वह मेरा हमेशा विरोधी रहा है। वह मुझे मार भी डाले तो मुझे अफसोस न होगा। (का० क०, २०. ६. ४२)

: ६ :

बी अम्मा

"गुरुवार को सुबह बी-अम्मा का देहान्त हुआ। अन्तिम समय जिन-जिन लोगों को उनके दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ उनमें श्रीमती सरोजिनी नायडू तथा मैं था।

डा० अंसारी आखिरी वक्त तक मौजूद थे। दोनों भाई उनके नजदीक थे। शरीरान्त के समय 'अल्लाह' का नाम-स्मरण हो रहा था। बी अम्मा ने पहले से ही यह इच्छा प्रदर्शित की थी कि सूफी कब्रस्तान में मेरा दफन किया जाय। शोक-पीड़ित जनों में अनेक हिन्दू भी थे और कितने ही लोगों को जनाजे को हाथ लगाने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था। सहानु-

भूति-सूचक संदेशों की वृष्टि चारों ओर से हो रही है।"

(हि० न०, १६-११-२४)

... ...

यह मानना मुश्किल है कि बी अम्मा का देहान्त हो गया है। बी अम्मा की उस राजसी मूर्ति को या सार्वजनिक सभाओं में उनकी बुलन्द आवाज को कौन नहीं जानता। बुढ़ापा होते हुए भी उनमें एक नवयुवक की शक्ति थी। खिलाफत और स्वराज्य के लिए उन्होंने अथक यात्राएं कीं। इस्लाम की कट्टर अनुयायिनी होते हुए भी उन्होंने देख लिया था कि इस्लाम का कार्य, जहांतक मनुष्य के बस की बात है, भारत की आजादी पर आधारित है। इसी निश्चय के साथ उन्होंने यह भी महसूस कर लिया था कि हिन्दुस्तान की आजादी हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य और खादी के बिना असम्भव है। इसलिए वह अविराम एकता का प्रचार करती थीं। यह उनके लिए एक अटल सिद्धांत हो गया था। उन्होंने अपने तमाम विदेशी और मिल के कपड़ों का परित्याग कर दिया था और खादी इस्तेमाल करती थीं। मौलाना मुहम्मद अली मुझसे कहते हैं कि बी अम्मा ने उन्हें यह हुक्म दे रक्खा था कि मेरे जनाजे पर सिवा खादी के और कुछ न होना चाहिए। जब-जब मुझे उनके बिछौने के नजदीक जाने का सौभाग्य प्राप्त होता तब-तब वह स्वराज्य और एकता की बातें पूछतीं। उनके बाद ही प्रायः वह खुदाताला से दुआ करतीं—"या खुदा हिन्दुओं और मुसलमानों को ऐसी अक्ल बख्श कि जिससे यह एकता की जरूरत को समझे और रहम करके स्वराज्य देखने के लिए मुझे जिंदा रहने दे।" इस बहादुर और भद्र आत्मा की यादगार को बनाये रखने की सबसे अच्छी रीति यही है कि हम सर्व-सामान्य कार्यों के प्रति उनके उत्साह और उमंग का अनुरंण करें। हिन्दू-धर्म भी बिना स्वराज्य के उतना संकट में है जितना कि इस्लाम। परमात्मा करे कि हिन्दुओं और मुसलमानों को इस प्रारम्भिक बात की क़दर करने की बी अम्मा जैसी बुद्धि दे। परमात्मा उनकी आत्मा को शान्ति और अलीभाइयों को उनके सौंपे कार्य को जारी रखने की शक्ति दे।

बी अम्मा की मृत्यु की रात के उस गंभीर और प्रभावकारी दृश्य का वर्णन किये बिना नहीं रह सकता। उस समय मुझे उनके पास ही रहने का

सद्भाग्य प्राप्त हुआ था। यह सुनते ही कि अब वह अपने जीवन की अन्तिम सांस ले रही हैं मैं और सरोजिनी देवी वहां दौड़ गये। उनके कुटुम्ब के कितने ही लोग आसपास जमा थे। उनके डाक्टर और हितचिन्तक डा० अंसारी भी मौजूद थे। वहां रोने की आवाज नहीं सुनाई देती थी, अलबत्ते मौलाना मुहम्मदअली के गालों पर से आंसू जरूर टपक रहे थे। बड़े भाई ने बड़ी कठिनाई से अपने शोकावेग को रोक रखा था। हां, उनके चेहरे पर एक असाधारण गंभीरता अलबत्ते थी। सब लोग अल्ला का नामोच्चार कर रहे थे। एक सज्जन अंत समय की प्रार्थना गा रहे थे। 'कामरेड प्रेस' बी अम्मा के कमरे के इतने पास है कि आवाज सुनाई दे सकती है। परंतु एक मिनिट के लिए भी वहां के काम में गड़बड़ नहीं हुई और न मौलाना ने ही अपने संपादकीय कर्तव्यों में रुकावट आने दी। और सार्वजनिक काम तो कोई भी मुल्तवी नहीं किया गया। मौलाना शौकतअली ने तो सपने तक में न सोचा था कि मैं अपना रामजस कालेज जाना मुल्तवी करूंगा। वे एक सच्चे सिपाही की तरह मुजफ्फरनगर के हिन्दुओं को दिये गए निश्चित समय पर उनसे मिले हालांकि बी अम्मा की मृत्यु के बाद उन्हें तुरन्त ही वहां से चला जाना पड़ा था। यह सब जैसा कि होना चाहिए था वैसा ही हुआ। जन्म और मरण, ये दो भिन्न-भिन्न दिशाएं नहीं हैं, बल्कि एक ही दिशा के दो भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। न मृत्यु से दुखी होने की जरूरत है न जन्म से खुशी मनाने की। (हि० न०, २३. ११. २४)

: १० :

राजकुमारी अमृतकौर

आज मैं सोचता हूं और यह समझने की बात है कि एक क्रिस्टी बहन —उसे आप जानते हैं—राजकुमारी अमृतकौर, वह तो हैल्थ मिनिस्टर (स्वास्थ्य-मंत्री) है, जितने लोग कैम्पों में पड़े हैं, हिन्दू मुसलमान सबके लिए वह कुछ करना चाहती है। मगर उसे किसीका सहारा न मिले तो वह क्या कर सकती है ? वह पक्षपात तो कर नहीं सकती। जो कुछ हो सकता है सबके लिए करती है। वह थोड़ी क्रिस्टी भी है, थोड़ी मुसलमान

भी है, थोड़ी हिन्दू भी, इसलिए उसके सामने सब धर्म एक समान हैं। वह चली गई और उसके साथ लड़कियां भी गईं, वे सब तो सेवा के लिए गई थीं। सेवा में डर क्या? लेकिन उन्होंने मुझको सुनाया कि वहां जो हिन्दू, सिख पड़े हैं वे कहते हैं कि खबरदार, तुम मुसलमानों की सेवा करने के लिए जाती हो तो यहां से भागना होगा। जब मैंने यह सुना तो हँस दिया। वह कहने की बात थी, कुछ करना थोड़े ही था। (प्रा० प्र० २७.६.४७)

: ११ :

अरविन्द घोष

अरविन्दबाबू के बारे में मैं कुछ कहने में असमर्थ हूं।...इतना तो अवश्य कबूल करना पड़ेगा कि अरविन्दबाबू की छाया के नीचे रहनेवाले दोसौ आदमियों में से ऐसे लोग हैं जिनके जीवन में उनके सहवास के कारण बड़े परिवर्तन हुए हैं। प्रत्येक अपने-अपने स्वभाव के अनुसार अनुकरण करता है। (२८-५-३५ को बोरसद से लिखे एक पत्र से)

... ...

अरविन्द का आश्रम क्या चीज है यह भी तो आपको जानना चाहिए। यों तो वहां लोगों की एक धारा चल रही है। वहां हमेशा काफी लोग जाते हैं। उनके काफी भक्त हैं, हिन्दू क्या, मुसलमान क्या, किसीके लिए वहां घृणा तो है ही नहीं। सर अकबर हैदरी, अब तो वह मर गये, प्रतिवर्ष वहां जाते थे, उसका तो मैं गवाह हूं। श्रीअरविन्द तो दीनभक्त हैं, किसीसे मिलते नहीं हैं। ऊपर से उनका दर्शन हुआ तो हुआ, नहीं हुआ तो नहीं, लेकिन लोग जानते थे। उनके पास यह रहते हैं। इनके दिल में भी कोई घृणा नहीं है। तो इतना तो हम सीख लें कि हमारे दिल में क्यों घृणा होनी चाहिए। (प्रा० प्र०, २६. १०. ४७)

: १२ :

लार्ड अर्विन

आज अर्विन पर हॉर्निमैन का लेख हैं। इसने उसे चालाक मौकापरस्त बताया है।

[**"यह चालाक अवसरवादी है। अपनी असंगतताओं तथा सिद्धांतों और नीति के परिवर्तनों को सच्चेपन के आग्रह और सचाई के दंभी स्वांग के मोटे पर्दे के नीचे ढंकना चाहता है।**

"वह एक बार साइमन कमीशन के हिमायती के रूप में खड़ा हुआ, फिर नरम दलवालों का विरोध देखकर झुक गया। एक बार उसने सविनय भंग की लड़ाई को लाठी और आर्डिनेंस से कुचलने की कोशिश की। बाद में कांग्रेस का जोर देखा तो झुक गया। उसकी सचाई की बातों से अरुचि होती है। अब ये बन्द हो जायं तो ही अच्छा। अगर वह गोलमेज परिषद को फिर जिंदा करा दे तो जरूर उसकी सचाई के बारे में विचार किया जायगा।"]।

मैं इस विचार का नहीं। इस आदमी में सचाई है, इस अर्थ में कि उसमें उखाड़-पछाड़ नहीं, दावपेंच नहीं। वह सीधी-सादी बात करनेवाला है। साइमन के समय उसे वह बात अच्छी नहीं लगती थी, मगर उसने विचार कर लिया कि अनुदार दल के नाते जो नीति अपना ली गई है उसके खिलाफ न जाया जाय। उसके खरेपन की भी हद है और वह हद यह है कि ब्रिटिश साम्राज्य अखण्ड रहे। उसे खतरा हो तो वह वचन-भंग का भी विरोध नहीं करेगा। वह ब्रिटिश साम्राज्य को ईश्वर की एक अद्भुत कृति माननेवाला है—जैसा कि हरेक अनुदार दलवाला मानता है—और उसी दृष्टि से वह सब चीजों को देखता है। मगर वह खतरा हो या न हो इससे क्या सरोकार? हमारा तो वास्ता इस बात से है कि हमें जो चाहिए वह मिलता है या नहीं। (म० डा०, भाग १, १९.७.३२)

: १३ :

अली-बन्धु

(मौलाना शौकतअली और मुहम्मदअली)

शौकतअली सरल और मिलनसार आदमी हैं, पर कट्टर हैं और किसीका उन्हें भय या दबाव नहीं है। (यं० इं०, २३.६.२०)

... ...

मौ० शौकतअली तो बड़े-से-बड़े शूरवीरों में से एक हैं। उनमें बलिदान की अद्भुत योग्यता है और उसी तरह खुदा के मामूली-से-मामूली जीव को चाहने की उनकी प्रेम-शक्ति भी अजीब है। वह खुद इस्लाम पर फिदा हैं, पर दूसरे धर्मों से वह घृणा नहीं करते। मौ० मुहम्मदअली इनका दूसरा शरीर है। मौ० मुहम्मदअली में मैंने बड़े भाई के प्रति जितनी अनन्य निष्ठा देखी है उतनी कहीं नहीं देखी। उनकी बुद्धि ने यह बात तय कर ली है कि हिंदू-मुसलमान एकता के सिवा हिंदुस्तान के छुटकारे का कोई रास्ता नहीं। उनका 'पैन इस्लामवाद' हिन्दू विरोधी नहीं है। इस्लाम भीतर और बाहर से शुद्ध हो जाय और बाहर के हर किस्म के हमलों से संगठित होकर टक्करें ले सके ऐसी स्थिति देखने की तीव्र आकांक्षा पर कोई कैसे आपत्ति कर सकता है? कोकोनाडा के उनके भाषण का एक हिस्सा बहुत ही आपत्तिजनक बताकर मुझे दिखाया गया था। मैंने मौलाना का ध्यान उसपर खींचा। उन्होंने उसी दम स्वीकार किया कि हां, वास्तव में यह भूल हुई। कुछ दोस्तों ने मुझे सूचना दी है कि मौ० शौकतअली के खिलाफत परिषद्वाले भाषण में कितनी ही बातें आपत्तिजनक हैं। यह भाषण मेरे पास है, परन्तु उसे पढ़ने का मुझे समय नहीं मिल पाया। यह मैं जरूर जानता हूं कि यदि उसमें सचमुच कोई ऐसी बात होगी जिससे किसीका दिल दुखी हो तो मौ० शौकतअली ऐसे लोगों में पहले व्यक्ति हैं जो उसको ठीक करने के लिए तैयार रहते हैं।

यह बात नहीं कि अलीभाई दोषों से खाली हों। मैं खुद भी दोषों से भरपूर हूं। इससे इन भाइयों की दोस्ती की खोज करने और उसकी कीमत समझने में हिचकिचाता नहीं। अगर उनके अंदर कुछ ऐब हैं तो उनसे ज्यादा

गुण भी हैं और मैं उनके ऐबों के रहते हुए भी उन्हें चाहता हूं।

यदि हममें से बहुतेरे लोग पूर्णता को पहुंचे हुए होते तो हमारे अंदर झगड़े होते ही क्यों? पर हम सब अपूर्ण प्राणी हैं और इसीसे हम सबको एक-दूसरे की अनुकूल बातें खोजकर और ईश्वर पर भरोसा रखकर ध्येय के लिए मरना चाहिए। (हि० न०, १.६.२४)

... ...

जिस समय खेड़ा का आंदोलन जारी था, उसी समय यूरोप का महा-समर भी चल रहा था। उसके सिलसिले में वायसराय ने दिल्ली में नेताओं को बुलवाया था। मुझे भी उसमें हाजिर रहने का आग्रह किया था। मैं यह पहले ही लिख चुका हूं कि लार्ड चेम्सफोर्ड के साथ मेरा मैत्री-सम्बन्ध था।

मैंने आमंत्रण मंजूर किया और दिल्ली गया; किन्तु इस सभा में शामिल होने में मुझे एक संकोच था। इसका मुख्य कारण यह था कि उसमें अलीभाइयों, लोकमान्य तथा दूसरे नेताओं को नहीं बुलाया गया था। उस समय अलीभाई जेल में थे। उनसे एक-दो बार ही मिला था। सुना उनके बारे में बहुत-कुछ था। उनके सेवा-भाव, बहादुरी की स्तुति सभी किया करते थे। हकीमसाहब के साथ भी मेरा परिचय नहीं हुआ था। स्व० आचार्य रुद्र और दीनबंधु एंड्रूज के मुंह से उनकी बहुत प्रशंसा सुनी थी। कलकत्तावाले मुस्लिम लीग के अधिवेशन में श्वेब कुरेशी और बैरिस्टर ख्वाजा से मेरी मुलाकात हुई थी। डाक्टर अंसारी और डाक्टर अब्दुर्रहमान से भी परिचय हो चुका था। भले मुसलमानों की सोहबत मैं ढूंढ़ता था और उनमें जो पवित्र तथा देशभक्त समझे जाते थे उनके सम्पर्क में आकर उनकी भावनाएं जानने की मुझे तीव्र इच्छा रहती थी। इसलिए मुझे वे अपने समाज में जहां-कहीं ले जाते, मैं बिना कोई खींच-तान कराये ही चला जाता था। यह तो मैं दक्षिण अफ्रीका में ही समझ चुका था कि हिंदुस्तान के हिंदू-मुसलमानों में सच्चा मित्राचार नहीं है। दोनों के मन-मुटाव को मिटाने का एक भी मौका मैं योंही जाने नहीं देता था। झूठी खुशामद करके या स्वत्व गंवाकर किसीको खुश करना मैं जानता ही नहीं था; किंतु मैं वहीं से यह भी समझता आया था कि मेरी अहिंसा की कसौटी

और उसका विशाल प्रयोग इस ऐक्य के सिलसिले में ही होनेवाला है। अब भी मेरी राय कायम है। प्रतिक्षण मेरी कसौटी ईश्वर कर रहा है। मेरा प्रयोग आज भी जारी है।

इन विचारों को साथ लेकर मैं बम्बई के बन्दर पर उतरा था। इसलिए इन भाइयों का मिलाप मुझे अच्छा लगा। हमारा स्नेह बढ़ता गया। हमारा परिचय होने के बाद तुरन्त ही सरकार ने अलीभाइयों को जीते-जी ही दफन कर दिया था। मौलाना मुहम्मदअली को जब-जब इजाजत मिलती, वह मुझे बैतूल जेल से या छिंदवाड़ा जेल से लंबे-लंबे पत्र लिखा करते थे। मैंने उनसे मिलने जाने की प्रार्थना सरकार से की, मगर उसकी इजाजत न मिली।

अली-भाइयों के जेल जाने के बाद मुस्लिम-लीग की सभा में मुझे मुसलमान भाई ले गये थे। वहां मुझसे बोलने के लिए कहा गया था। मैं बोला। अली-भाइयों को छुड़ाने का धर्म मुसलमानों को समझाया।

इसके बाद वे मुझे अलीगढ़ कालेज में भी ले गये थे। वहां मैंने मुसलमानों को देश के लिए फकीरी लेने का न्यौता दिया था।

अली-भाइयों को छुड़ाने के लिए मैंने सरकार के साथ पत्र-व्यवहार चलाया। इस सिलसिले में इन भाइयों की खिलाफत-सम्बन्धी हलचल का अध्ययन किया। मुसलमानों के साथ भी चर्चा की। मुझे लगा कि अगर मैं मुसलमानों का सच्चा मित्र बनना चाहूं तो मुझे अली-भाइयों को छुड़ाने में और खिलाफत का प्रश्न न्यायपूर्वक हल करने में पूरी मदद करनी चाहिए। खिलाफत का प्रश्न मेरे लिए सहल था। उसके स्वतंत्र गुण-दोष तो मुझे देखने भी नहीं थे। मुझे ऐसा लगा कि उस सम्बन्ध में मुसलमानों की मांग नीत-विरुद्ध न हो तो मुझे उसमें मदद देनी चाहिए। धर्म के प्रश्न में श्रद्धा सर्वोपरि होती है। सबकी श्रद्धा एक ही वस्तु के बारे में एक ही-सी हो तो फिर जगत् में एक ही धर्म हो सकता है। खिलाफत-सम्बन्धी मांग मुझे नीति-विरुद्ध नहीं जान पड़ी। इतना ही नहीं, बल्कि यही मांग इंग्लैंड के प्रधान मन्त्री लॉयड जार्ज ने स्वीकार की थी, इसलिए मुझे तो उनसे अपने वचन का पालन कराने भर का ही प्रयत्न करना था। वचन ऐसे स्पष्ट शब्दों में थे कि मर्यादित गुण-दोष की परीक्षा मुझे महज अपनी अन्तरात्मा को

प्रसन्न करने की ही खातिर करनी थी। (आ० १९२७)

... ...

यरवदा-जेल से मौलाना शौकतअली के नाम एक समुद्री तार द्वारा मुझे मौलाना मुहम्मदअली के प्रति अपनी श्रद्धांजली भेंट करने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। किन्तु आज जब मैं 'यंग इण्डिया' का सम्पादन शुरू कर रहा हूं तो सार्वजनिक रूप से यह कहे बिना नहीं रह सकता कि मौलाना मुहम्मदअली के रूप में मैंने ऐसे व्यक्ति को खोया है, जिनको मैं अपना भाई और मित्र कहता था। और राष्ट्र ने एक निडर देशभक्त खोया है। हमारे विाचरों में अन्तर रहा, किन्तु जो प्यार मत-भेदों को सहन नहीं कर सकता, वह खोखला होता है। (यं० इं०, १९. २. ३१)

... ...

उन्हें (मौ० शौकतअली को) उर्दू कवियों के बढ़िया वचन जबानी याद हैं। जब वे ये वचन सुनाते थे और उस जमाने में जो बातें करते थे, उस वक्त भी वह ईमानदार थे। आज भी ईमानदार हैं। मुझे कभी ऐसा नहीं लगा कि वह झूठ बोलते या धोखा देते थे। आज वह मानते हैं कि हिन्दू विश्वासपात्र नहीं हैं और उनके साथ लड़ लेने में ही कौम का भला है। यह मनोदशा बुरी है। मगर कौम की सेवा उनके दिल में है, उनका कोई स्वार्थी हेतु नहीं है। ऐसे ईमानदार आदमी बहुत मौजूद हैं।
(म० डा०, भाग १, ४. ७. ३२)

... ...

स्व० मौलाना शौकतअली के स्मारक के बारे में मैंने कई तजवीजें पढ़ी हैं। ज्योंही मुझे मौलाना की मृत्यु के बारे में मालूम हुआ, जिसकी कि अभी बिल्कुल ही आशा नहीं थी, मैंने कुछ मुसलमान मित्रों को उनके साथ अपने अंतस्तल की समवेदना प्रकट करते हुए लिखा। उनमें से एक मित्र ने लिखा है :

"...मैं यह जानता हूं कि मौ० शौकतअली अपने खास ढंग से सच्चा हिन्दू-मुस्लिम समझौता कराने के लिए सचमुच चिन्तित थे। स्वर्ग में उनकी आत्मा को यह जानकर कि उनका एक जीवन-उद्देश्य आखिरकार पूरा हो गया, जितनी शांति मिलेगी उतनी किसी दूसरे काम से नहीं। ऐसे भी लोग हो सकते हैं, जिन्हें कि इसमें संदेह हो, लेकिन मौलाना को और उनका

दिमाग किस तरह काम करता था इसको अच्छी तरह जानकर, जैसा कि मैं उन्हें जानता था, मैं भरोसे के साथ इस बात की ताईद कर सकता हूं।'

कभी-कभी जो वह जोश में आकर खिलाफ बोल जाते थे, उसके बावजूद मौलाना के दिल में एकता और शांति के लिए वही तमन्ना थी जिसके लिए कि वह खिलाफत के दिनों में बड़े मोहक ढंग से बोलते व काम करते थे। मुझे इसमें कोई शक नहीं कि उनकी यादगार में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही कौमों का एकता के लिए हुआ संयुक्त निश्चय ही सबसे सच्चा स्मारक होगा। खाली कागजी एकता का निश्चय नहीं; बल्कि दिली एकता का, जिसका आधार शक और बेऐतबारी नहीं, बल्कि आपस का विश्वास होगा। कोई दूसरी एकता हमें नहीं चाहिए और इस एकता के बिना हिन्दुस्तान के लिए सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती।
(ह० से०, १७. १२. ३८)

... ...

आप लोगों ने जो इतनी शांति रखी इसके लिए आपको धन्यवाद है। पहले इतनी शांति नहीं हुआ करती थी। इससे साफ है कि पिछले तीन दिन जो हुआ उससे हमने धर्म नहीं खोया है। यदि आदमी शांति से न रहे, कभी अपने विचारों को भीतर से न देखे, जीवन भर दौड़-दंगल में ही रहे और हर वक्त गरम बना रहे तो वह उस शक्ति को पैदा नहीं कर सकता, जिसे शौकतअलीसाहब 'ठंठी ताकत' कहा करते थे। मुहम्मदअलीसाहब भी कहते थे कि हमें अंग्रेजों से लड़कर स्वराज्य लेना है और हमारी लड़ाई होगी तकली की तोपों से और कुकुड़ियों के गोलों से। वह तो जितना विद्वान था, उतना ही कल्पनाएं दौड़नेवाला था। (प्रा० प्र०, ५. ४. ४७)

: १४ :

हाजी वजीर अली

हाजी वजीर आधे मलायी कहे जा सकते हैं। उनके पिता भारतीय मुसलमान थे और माता मलायी थीं। उनकी मादरी जबान को डच कह सकते हैं; पर उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा भी यहांतक प्राप्त कर ली थी कि वह

अंग्रेजी और डच दोनों अच्छी तरह बोल सकते थे। अंग्रेजी में भाषण करते वक्त उन्हें कहीं भी ठहरना नहीं पड़ता था। अखबारों में पत्र वगैरह लिखने की आदत भी उन्होंने डाल ली थी। ट्रान्सवाल ब्रिटिश एशोसियेशन के वह मेम्बर थे और बहुत दिन से सार्वजनिक हलचलों में भाग लेते आये थे। हिन्दुस्तानी भी अच्छी तरह बोल सकते थे। एक मलायी महिला के साथ उनका विवाह हुआ था और उससे उनकी प्रजा का बड़ा विस्तार था।

(द० अ० स०, पृष्ठ १७१)

: १५ :

सी० पी० रामस्वामी अय्यर

मैंने अखबारों में सर सी० पी० रामस्वामी का ऐलान देखा। वह बड़े विद्वान व्यक्ति हैं। ऐनी बेसेंट के शिष्य रहे हैं। जब मैं हरिजन-यात्रा में था तब उनके निमंत्रण पर उनके यहां त्रावनकोर में मेहमान बनकर गया था। लड़ने नहीं, पर मिलकर काम करने को गया था। उनसे यह बात सुनकर अच्छी नहीं लगती। अगर अखबार में गलती हो तो वह मुझे माफ करें, सही हो तो मेरी बात पर गौर करें। उन्होंने कहा है कि पन्द्रह अगस्त से जब हिन्दुस्तान स्वतन्त्र होगा तब त्रावनकोर आजाद हो जायगा। और उनकी वह आजादी ऐसा है कि आज से ही त्रावनकोर की स्टेट कांग्रेस के लिए सभाबंदी कर दी गई है! खबर यहांतक है कि सी० पी० रामस्वामी ने उन लोगों को त्रावनकोर छोड़कर चले जाने के लिए कहा है, जो त्रावनकोर की स्वतन्त्रता की मुखालफत में हों। और यह आज्ञा वह सज्जन दे रहे हैं जो खुद त्रावनकोर के नहीं, बल्कि मद्रास के रहनेवाले हैं! वह किस तरह ऐसा कहते हैं!

ब्रिटिश राज्य में आज तक त्रावनकोर को अंग्रेज शाहंशाही को सलामी देनी पड़ती थी तो अब हिन्दुस्तान के प्रजातन्त्र संघ में वह मनमानी कैसे कर सकता है? वह अब हमारा राज्य है यानी भारत के प्रजाकीय राज्य को उसे (त्रावनकोर को) अपना ही राज्य समझना चाहिए। मैंने बताया है कि प्रजाकीय राज में राजा और मेहतर की कीमत एक-सी रहनेवाली है। मनुष्य के नाते दोनों की कीमत एक ही रहेगी; पर दोनों की बुद्धिमत्ता

में भेद हो सकता है। अगर त्रावनकोर के महाराजा के पास बड़ी अकल है तो उन्हें उसे लोगों की सेवा में लगाना चाहिए। अगर प्रजा को कुचलने में वह अपनी बुद्धि दौड़ाते हैं तो उनकी वह अकल फिजूल की है। अपनी सारी रैयत को कुचलकर और मार डालकर क्या त्रावनकोर-नरेश निरी जमीन-पर राज करेंगे? (प्रा० प्र०, १३. ६. ४७)

... ...

कल मैंने त्रावनकोर के दीवान सर सी० पी० रामस्वामी की बात आप लोगों को सुनाई थी। आजकल तो तार और रेडियो का जमाना है। उनके कानों तक मेरी वह बात पहुंच गई और उन्होंने एक लंबा-चौड़ा तार मेरे पास भेज दिया है। उन्होंने बहुत-से खुलासे किये हैं, पर त्रावनकोर कांग्रेस-कमेटी को सभा करने और जुलूस निकालने की इजाजत नहीं दी है। उसके बारे में वह कुछ नहीं बोले हैं। इसमें मुझे बुराई नजर आती है। यह लक्षण अच्छे नहीं हैं। वह कहते हैं कि त्रावनकोर तो सदा से आजाद रहा है।

सर सी० पी० रामस्वामी तो मेरे दोस्त रहे हैं, सब बात सही, लेकिन मेरा लड़का ही क्यों न हो, सही बात कहने से मैं क्यों रुकूं? हिन्दुस्तान जब आजाद होता है तब अगर वे यही कहते हैं कि त्रावनकोर आजाद है तो इसका मतलब यह है कि वे आजाद हिन्द से लड़ना चाहते हैं।

मैं तो उनसे कहूंगा कि आप तख्त पर से नीचे उतरिये और त्रावन-कोर के लोगों के खादिम बनकर रहिये। जब अंग्रेजों ने आपसे एक बार राज्य छीन लिया और कुछ पैसे लेकर तथा अपनी रैयत को कुचलने का आपको अधिकार देकर वह राज आपको लौटा दिया तो उसमें इतनी फख्र की बात क्या थी? फख्र की बात तब है जब आप जनता को अपना मालिक मानें। वैसे तो हिन्दुस्तान गिरा नहीं है और अगर वह अपनी परेशानी में पड़ा है तो यह शराफत की बात नहीं है कि आप जो आदमी गिर पड़ा है उसको ऊपर से लात धर दें। हिन्दुस्तान के एक-चौथाई और तीन-चौथाई ऐसे दो टुकड़े होते हैं तो उन टुकड़ों की बात से आपका कोई सम्बन्ध नहीं। आप शरीफ बनें और समझें। (प्रा० प्र०, १४. ६. ४७)

... ...

आज फिर मेरे पास त्रावनकोर के दीवान सर रामस्वामी का लम्बा-

चौड़ा तार आया है, जिसमें मुझे समझाने की कोशिश की गई है कि उनके साथ वहां के ईसाई आदि भी हैं। पर ऐसे तार से मुझे बुरा लगता है। कड़वी चीज को मीठी बनाने से वह मीठी नहीं बन जाती। मूल से ही इनकी बात बुरी है। 'आ जाओ, हम तो आजाद हैं।' 'आप किससे आजाद हैं ?' रैयत से ? लोग इस तरह भारत से आजाद होकर करेंगे क्या ? आप इस तरह घुमा-फिराकर बात न करें। सीधी बात करें कि हिन्दुस्तान के साथ हम हैं, तब ही आप अपने राजा के प्रति सच्चे वफादार हैं, नहीं तो बेवफा हैं। (प्रा० प्र०, १७. ६. ४७)

... ...

सर सी० पी० कहते हैं कि गांधी और कांग्रेस सरहद्दी सूबे को तो आजादी देने को तैयार हैं, परन्तु त्रावनकोर को नहीं। इतना बड़ा विद्वान होकर भी वह कितनी गलत बात करता है। यदि त्रावनकोर अलग हुआ तो हैदराबाद, काश्मीर और इन्दौर आदि सब अलग हो जायंगे। इस तरह से तो हिन्दुस्तान के अनेक टुकड़े हो जायंगे। इसके अलावा फ्रांटियर के खान हिन्दुस्तान से पृथक् नहीं होना चाहते। वे कहते हैं कि हम पाकिस्तान में नहीं जायंगे। तब फिर क्या वे हिन्दुस्तान में हिन्दुओं की गुलामी करेंगे ? उनपर कांग्रेस से पैसा खाने का इल्जाम लगाया जाता है। कांग्रेस यदि इस तरह से किसीको पैसा देकर अपनी तरफ करे तो वह अबतक जिन्दा नहीं रहती। बादशाह खान ने हमें विश्वास दिलाया है कि हिन्दुस्तान पहले अपना विधान बना ले। इस दौरान में वह किसी फैसले पर पहुंच जायंगे। मगर रामस्वामी जो कहते हैं वह बिल्कुल गलत है। फ्रांटियर में वहां रहने-वाली प्रजा की आवाज है, जबकि त्रावनकोर में तो एक राजा और उसका सचिव ही सारी प्रजा की तरफ से बोल रहा है।

आज की हालत में राजा और प्रजा दोनों का एक हक है, यह मेरा दावा है। फ्रांटियर की मिसाल देकर सर सी० पी० लोगों की आंखों में धूल नहीं झोंक सकते। इस तरह से न तो धर्म रहता है और न कर्म रहता है। मैं तो रामस्वामी से यही कहूंगा कि सही चीज यही है कि त्रावनकोर राज्य विधान-परिषद् में आ जाय। (प्रा० प्र०, २४. ६. ४७)

मुझसे यह पूछा गया है कि दक्षिण भारत में तो हरिजनों के लिए इतना काम हो गया और तामिलनाड तथा आंध्र के सब बड़े-बड़े मन्दिर हरिजनों के लिए खोल दिये गए, परन्तु युक्तप्रांत का क्या हुआ ? युक्तप्रान्त में हरिद्वार पड़ा है। क्या हरिद्वार के मन्दिरों में अछूत जा सकते हैं ? दक्षिण भारत की त्रावनकोर रियासत में तो बहुत पहले से ही यह सब हो गया था। वहां के दीवान सर सी० पी० रामस्वामी अय्यर आज तो हमसे बिगड़े हुए हैं, और बिगड़े हुए हैं भी या नहीं, यह आज तो मैं नहीं जानता। मगर तब उन्होंने वहां के महाराजा को समझाकर सबसे बहुत पहले ही कानून द्वारा अपनी रियासत में अछूतपन को मिटा दिया था। युक्तप्रांत में हरिद्वार के अलावा काशी विश्वनाथ भी है, जहां गंगाजी में स्नान करने से मोक्ष मिलता बताया जाता है। वहां के मन्दिरों में हरिजन जा सकते हैं, ऐसा मैं नहीं कह सकता; परन्तु मैं तो यही कहूंगा कि जहां हरिजन नहीं जा सकते वे मन्दिर नापाक हैं। (प्रा० प्र०, १९.७.४७)

: १६ :

जनरल यू आंग-सांग

ब्रह्मदेश भी हिन्दुस्तान की तरह आजाद हो रहा है। वहां के नेता जनरल यू आंग-सांग ने आधुनिक बर्मा को जन्म दिया और उसे आजादी के दरवाजे पर लाकर छोड़ दिया। वह सत्याग्रही नहीं था तो उससे क्या हुआ ? वह एक बहादुर लड़ाका था और उसीके फलस्वरूप आज बर्मा आजाद होने जा रहा है। एक सशस्त्र गिरोह ने उनको और उनके चार अन्य साथियों को कत्ल कर दिया, यह कोई छोटी बात नहीं है। हम चाहे उनसे कितनी ही दूर हों, मगर हमारे लिए यह बड़े रंज की बात है। अगर ऐसी घटनाएं होती रहीं तो दुनिया का क्या हाल होगा ? हत्यारे सचमुच लुटेरे थे, ऐसा मुझे नहीं लगता। मैं बर्मा में काफी रहा हूं। रंगून और मांडले आदि स्थान सब मेरे देखे हुए हैं। वहां बुद्ध-धर्म चलता है। बर्मा के लोग अधिकांश बुद्ध-धर्म को मानते हैं। जहां बुद्ध-धर्म प्रचलित हैं वहां ऐसा खून-खच्चर क्यों ? इन हत्याओं में लुटेरूपन नहीं, बल्कि उनके पीछे

कुछ पार्टीबाजी रही है। इस तरह की लड़ाइयों ने दुनिया का सत्यानाश कर दिया है। इस तरह से तो जो हमारे मुखालिफ हैं वे आकर हमारा खून करने लगें तो कैसे काम चलेगा। बर्मा जब आजादी के दरवाजे में दाखिल हो गया है तब ऐसा होना बहुत दुःखदायी बात है। हम ऐसे जाहिल क्यों बन जाते हैं?

मुझे आशा है कि हिन्दुस्तान इससे सबक लेगा; क्योंकि वह न केवल बर्मा के लिए, बल्कि सारे एशिया और संसार के लिए एक दुःखद घटना हुई है। हम सब यह प्रार्थना करें कि हे भगवान, बर्मा के जो लोग हैं वे हमारी ही तरह से आजादी के लिए तड़प रहे हैं, उनको तू इस दुःख में सांत्वना दे और मृत व्यक्तियों के परिवारों को शोक सहन करने की शक्ति दे! जिन लोगों ने खून किया है उनके दिलों की भी तबदीली कर।

(प्रा० प्र०, २०.७.४७)

: १७ :

मौलाना अबुल कलाम आजाद

कांग्रेस में अनेक विचारक पड़े हुए हैं। मौलाना स्वयं एक महान् विचारक हैं। वह तीव्र बुद्धि के हैं। उनका अध्ययन विस्तृत है। अरबी, फारसी के अध्ययन में उनके जोड़ का विद्वान मिलना कठिन है। अनुभव ने उन्हें सिखाया है कि अहिंसा से ही हिन्दुस्तान आजाद होगा।

(ह० से०, १०. ८. ४०)

: १८ :

श्रीनिवास आयंगर

श्री श्रीनिवास आयंगर के आगामी कांग्रेस के लिए सभापति चुने जाने की बात पहले से ही पक्की थी। कांग्रेस कमेटियां एक कट्टर स्वराजी को ही चुनने के लिए बाध्य थीं। श्रीनिवास आयंगर एक लड़ैये हैं और साथ-ही-साथ वह आदर्शवादी भी हैं। वह बेसब्र हैं और उनका बेसब्री से भरा हुआ

जोश उनको प्रायः बड़े गहरे में ले उतारता है, जहां कि मामूली आदमी की गति नहीं। वह किसी काम में बिना दुबारा सोचे ही कूद पड़ते हैं। ऐसे उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर उनका चुना जाना ऐसे संकट के अवसर पर हुआ है कि जैसा उससे पहले कभी न आया होगा। लेकिन श्री आयंगर को अपने में तथा अपनी शक्ति में विश्वास है। यह बात सर्वविदित है कि अपने में विश्वास रखनेवालों की ईश्वर सहायता करता हैं। हम आशा करें कि ईश्वर श्री आयंगर की सहायता करेगा। श्री आयंगर को उस तमाम मदद की आवश्यकता है, जो कि कांग्रेसवाले उन्हें दे सकते हों। हमने निष्क्रिय भक्ति की विद्या तो सीख ली है, लेकिन अब समय आ पहुंचा है, जबकि हमको सक्रिय भक्ति दिखाना सीखना चाहिए। अगर कांग्रेसवाले अपनी नीति और अपने प्रस्तावों का, जिनके स्वीकृत किये जाने में उनका हाथ रहता है, पालन करेंगे तो श्री आयंगर का काम कठिन होते हुए भी आसान बन जायगा। जिस संस्था को उन्नति करना है, उसके सदस्यों को कम-से-कम इतना तो करना ही चाहिए। मैं श्री आयंगर को उस बड़ी प्रतिष्ठा के लिए बधाई देता हूं, जो कि उनको मिली है और मैं उन असाधारण कठिनाइयों पर उनके साथ अपनी सहानुभूति प्रकट करता हूं, जो कि उनके सामने हैं। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि वह उन्हें उन कठिनाइयों पर विजय पाने की बुद्धि और बल दे। (हि० न०, १६.६.२६)

: १९ :

एस० रंगास्वामी आयंगर

'हिन्दू' के भूतपूर्व संपादक श्री एस० रंगास्वामी आयंगर की मृत्यु हो गई है। उनके कुटुम्ब तथा 'हिन्दू' के कर्मचारियों के साथ जो समवेदना प्रकट की जा चुकी है, उसमें मैं भी आदरपूर्वक शरीक होता हूं। उनकी मृत्यु श्री कस्तूरी रंगा आयंगर की मृत्यु के कुछ ही बाद होने से संपादक-संसार की भारी क्षति हुई है। (हि० न०, २८.१०.२६)

: २० :

मीर आलम

एक शख्स मीर आलम था। सरहदी गांधी के मुल्क का। जैसे ये पहाड़ के-से हैं, वह उनसे भी ऊंचा था। पहले वह मेरा मित्र था। पर पठान तो भोले ही होते हैं। इसी कारण वे बादशाह हैं। उसको किसीने बहका दिया कि गांधी ने पन्द्रह हजार पौंड जनरल स्मट्स से ले लिये हैं और कौम को बेच डाला है। बस, एक दिन वह मीर आलम मेरा दुश्मन बनकर आया। उसके हाथ में बड़ी-सी लाठी थी और उसपर सीसे की मूठ लगी थी। उसने ठीक मेरी गर्दन पर वह लाठी मारी। मैं गिर पड़ा। नीचे पत्थर का फर्श था। मेरे दांत टूट गये। ईश्वर को मंजूर था, इसलिए मैं बच गया। मीर आलम को दो-तीन अंग्रेजों ने, जो उस रास्ते से जा रहे थे, पकड़ लिया; लेकिन मैंने उसे यह कहकर छुड़वा दिया कि वह बेचारा दूसरे के धोखे में आ गया कि मैं लालची हूं और इसपर फौजी पठान का खून खौल उठे और वह मारने को उतारू हो जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इस तरह से मीर आलम को मैंने कैद कर लिया। वह मेरा पक्का दोस्त बन गया। (प्रा० प्र०, ३१.५.४७)

: २१ :

अरुणा आसफ अली

श्रीमती अरुणा मेरी लड़की है, क्या हुआ कि उन्होंने मेरे घर में जन्म नहीं लिया या कि वह विद्रोही बन गई हैं। जब वह छिपकर रहती थीं तब भी मैं कई बार उनसे मिला हूं। मैंने उनकी बहादुरी, नये-नये रास्ते खोजने की शक्ति और गहरे देश-प्रेम की सराहना की है। पर मेरी सराहना इससे आगे नहीं बढ़ी। मैंने उनके छिपकर काम करने को पसन्द नहीं किया।

(ह० से०, ६.३.४६)

: २२ :

डॉ० मुहम्मद इक़बाल

इक़बाल ने कहा—**"मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर करना।"** इक़बाल ने ऐसा कहा, उस वक्त वह लंदन में रहता था। वह बड़ा कवि था। उस वक्त वह गोलमेज कांफ्रेंस में आया हुआ था। वहां उसके लिए सबने एक खाना किया तो मुझको भी बुलाया गया। मैं चला गया। उसने कहा कि मैं तो ब्राह्मण हूं। क्यों ब्राह्मण हूं? क्योंकि मेरे बाप-दादे ब्राह्मण थे। कहां के? काश्मीर के। मैं तो काश्मीर का हूं। ब्राह्मण हूं और अब मैं इस्लाम में आया हूं। अभी नहीं, बहुत पीछे हम इस्लाम में आये। तो भी हममें ब्राह्मण का खून पड़ा है और इस्लाम का तमद्दुन (संस्कृति) हमारे में पड़ा है। तो इक़बाल ने कहा—**"मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर करना।"** पीछे उसने दूसरा-तीसरा भी लिखा है। वह दूसरी बात है। इक़बाल तो चले गये, लेकिन हम इतना तो सीख लें कि हमको हमारा धर्म नहीं सिखाता है कि हम किसीसे बैर करें। इसलिए मैं कहूंगा कि हम इन्सान बनें। इन्सान बनें तो हम हिन्दुस्तान को ऊंचा ले जाते हैं।

(प्रा० प्र०, ३०.६.४७)

: २३ :

जयकृष्ण इन्द्रजी

'नवजीवन' के एक पाठक खबर देते हैं :

"गुजरात के प्रसिद्ध वनस्पतिशास्त्र-भक्त श्री जयकृष्ण इन्द्रजी का ता० ३ को कच्छ में देहान्त हो गया। वह अपने पीछे एक विधवा छोड़ गये हैं। उनका कोई उत्तराधिकारी नहीं है।"

पोरबंदर में श्री जयकृष्ण से मेरा परिचय हुआ था और उसी समय अपने विषय में सर्वोपरि बनने की उनकी दृढ़ इच्छा और वैसी ही उनकी सादगी देखकर मैं आश्चर्यचकित बना था। वनस्पतियों की खोज में वह

पर्वतीय प्रदेशों में कई बार घूमे थे और अपने विशाल अनुभव के फलस्वरूप एक सुन्दर पुस्तक भी लिख गये हैं। अपने घर ही में उन्होंने अनेक प्रकार की वनस्पतियों का एक संग्रहालय बना रखा था, जिसे हर मिलनेवाले को वह अभिमान के साथ बताया करते थे। उन्हें वनस्पति की शोध-खोज के सिवा और कोई बात ही नहीं सूझती थी। अपनी इस धुन में वह इस लोक और परलोक का श्रेय देखते थे। यही वजह थी कि मैं उन्हें एक आदर्श विद्यार्थी मानता था। कच्छ की यात्रा में मैं फिर उनसे मिला था। वहां भी उनपर वही धुन सवार थी। नये-नये पौधे लगाने का शौक बुढ़ापे में घटने के बदले और भी बढ़ गया था। इस तरह अपने विषय में अनन्य भक्ति रखनेवाले मनुष्य दुर्लभ हैं। श्री जयकृष्ण इन्द्रजी इनमें से एक थे। वह तो अपने कर्तव्य का पालन करते हुए निबटकर गये हैं, इसलिए उनकी आत्मा शान्त ही है। आइये, हम सब उनकी एकाग्रता और उनके आत्म-विश्वास का अनुकरण करें। (हि० न०, २६.१२.२६)

: २४ :

इमामसाहब

गिरफ्तार किये गए लोगों में हमारे इमामसाहब भी थे। उनकी कैद का आरंभ चार दिन से हुआ था। वह फेरी में पकड़े गये। उनका शरीर ऐसा नाजुक था कि लोग उन्हें जेल जाते हुए देखकर हँसते थे। कई लोग आकर मुझसे कहते—"भाई, इमामसाहब को इसमें शामिल न करो तो अच्छा हो। वह कौम को लज्जित करेंगे।" मैंने इस चेतावनी पर जरा भी ध्यान नहीं दिया। इमामसाहब की शक्ति की नाप-जोख करनेवाला मैं कौन होता हूं? यह सब सत्य है कि इमामसाहब कभी नंगे पैर नहीं चलते थे। शौकीन थे। उनकी स्त्री मलायी महिला थी। घर बड़ा सजा हुआ रखते और बिना घोड़ा-गाड़ी लिये कहीं न जाते। पर उनके दिल को कौन जानता था? यही इमामसाहब चार दिन की सजा भुगतकर फिर जेल में गये। वहां एक आदर्श कैदी की तरह रहे। पसीने की कमाई खाते, और उन्हीं नित्य नये पकवान खाने की आदत रखनेवाले इमामसाहब ने मक्का के

आटे की लपसी पीकर खुदा का एहसान माना! वह हारे तो जरा भी नहीं। हां, उन्होंने सादगी जरूर अख्तियार कर ली। कैदी बनकर पत्थर फोड़े, झाड़ू बुहारी की और अन्य कैदियों की बराबरी में एक कतार में खड़े रहे। अन्त में फिनिक्स में पानी भरा और छापाखाने में कंपोजिंग तक किया। फिनिक्स आश्रम में रहनेवालों के लिए कंपोजिंग सीख लेना अनिवार्य कर्तव्य था। उसे इमामसाहब ने पूरा किया। आजकल भारतवर्ष में भी वह अपना हिस्सा दे रहे हैं; पर ऐसे तो कई लोग जेल में शुद्ध हो गये।

(द० अ० स०, १९२५)

... ...

इमामसाहब का अकेला ही मुसलमान कुटुम्ब अनन्य भक्ति से आश्रम में बसा। उन्होंने मृत्यु से हमारे और मुसलमानों के बीच न टूटनेवाली गांठ बांध दी है। इमामसाहब अपने-आपको इस्लाम का प्रतिनिधि मानते थे और इसी रूप में आश्रम में आये। (य० म०, ३०.५.३२)

: २५ :

उर्मिला देवी

बंगाल में आज यह आग किसने सुलगाई? श्रीमती बसन्ती देवी और उर्मिला देवी ने। वे खुद गली-गली खादी बेचती फिरीं। यह उनकी गिरफ्तारी का प्रभाव है, जो बंगाल का ध्यान इस तरफ गया। देशबन्धुदास के प्रचण्ड आत्मत्याग ने भी ऐसा चमत्कार नहीं दिखाया। मेरे पास एक पत्र वहां से आया है। उससे यही मालूम होता है। यह बात गलत नहीं हो सकती; क्योंकि स्त्री क्या है, वह साक्षात त्यागमूर्ति है। जब कोई स्त्री किसी काम में जी-जान से लग जाती है तो वह पहाड़ को भी हिला देती है। हमने अपनी स्त्रियों का बड़ा दुरुपयोग किया है। जहांतक हो सके हमने उनकी ओर ध्यान नहीं दिया। लेकिन परमात्मन् तुझे धन्यवाद! यह चरखा उनके जीवन को बदल रहा है। जरा सरकार हमारे रहे-सहे नेताओं को जेल का सौभाग्य प्राप्त करा दे, फिर देखिये कि भारत की देवियां किस तरह मैदान में आती हैं और पुरुषों के अधूरे काम को अपने हाथों में लेकर

उनसे भी अधिक अच्छाई और खूबी के साथ उनका संचालन करती हैं!
(हि० न०, २५.१२.२१)

: २६ :

सी० एफ० एंड्रूज

श्री एंड्रूज का स्वयंनिर्णित कार्य है कि उनसे जो कुछ भी बन पड़े वह सेवा करना और फिर उसे भूल जाना। उनकी सेवा का रूप अक्सर शांति स्थापित करना होता है। अभी उन्होंने उड़ीसा में दुखी और पीड़ित मनुष्यों और ढोरों के बीच और बम्बई के कष्ट-पीड़ित मिल-मजदूरों के सम्बन्ध में अपना काम पूरा किया ही न था कि उन्हें दक्षिण अफ्रीका में जाकर वहां के भारतीयों की, जो कष्ट में पड़े हुए हैं, मदद करने की आवश्यकता महसूस होने लगी है। लेकिन वह वहां केवल भारतीयों की ही मदद न करेंगे, यूरोपियनों की भी सहायता करेंगे। उनमें न द्वेष है, न क्रोध। वह हिन्दुस्तानियों के प्रति दया दिखाने को नहीं कहते हैं। वह तो सिर्फ न्याय ही चाहते हैं। श्री एंड्रूज दक्षिण अफ्रीका के लिए कोई नये नहीं हैं। दक्षिण अफ्रीका के राजनीतिज्ञ उन्हें जानते हैं और वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि वह यूरोपियनों के भी उतने ही मित्र हैं जितने कि हिन्दुस्तानियों के। भारतीयों का प्रश्न बड़ी विकट समस्या हो गया है। दक्षिण अफ्रीका में रहनेवाले भारतीयों के लिए तो वह जीवन-मरण का प्रश्न है। ऐसे विकट प्रसंग पर श्री एंड्रूज के उनके पास होने से उन्हें बड़ी शांति मिलेगी। पहले जिस प्रकार इन भले मित्र के प्रयत्नों का अच्छा फल हुआ है, उसी प्रकार इस समय भी उनका प्रयत्न सफल हो। (हि० न०, १२.११.२५)

... ...

यूनियन सरकार के भारतीयों के खिलाफ कानून बनाने के बिल का चाहे कुछ भी परिणाम क्यों न आवे, इस प्रश्न को हल करने में निःसन्देह श्री एंड्रूज का हिस्सा सबसे बढ़कर ही रहेगा। उनका श्रमहीन उत्साह, उनकी नित्य सावधानी और सुशील समझाने की शक्ति ने हमें सफलता की आशा दिलाई है। वह स्वयं यद्यपि आरम्भ में बड़े निराश थे; परन्तु अब उन्हें

आशा बंधी है कि वह बिल, संभव है, कम-से-कम इस बैठक के लिए तो मुलतवी रहे। वह शांति के साथ पत्र-सम्पादकों से और सार्वजनिक कार्य-कर्ताओं से मुलाकात कर रहे हैं। वह पादरियों की सहानुभूति प्राप्त कर रहे हैं और इस नये कानून का उनसे जोरदार शब्दों में विरोध करा रहे हैं। इस प्रकार उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के यूरोपियनों की राय को, जो इस कानून के पक्ष में थी, हिला दिया है। इस प्रश्न का उनका अध्ययन गहरा होने के कारण दक्षिण अफ्रीका के कुछ नेताओं को संतोषकारक रीति से वह यह समझा सके हैं कि उस कानून से स्मट्स-गांधी-समझौते का स्पष्ट भंग होता है। उन्होंने बिखरी हुई भारतीय शक्तियों को भी उस बल पर आक्रमण करने के लिए इकट्ठा किया है। इस प्रकार श्री एंड्रूज ने भारत की और मनुष्य-समाज की सेवा में बड़ी अच्छी वृद्धि की है। अंग्रेज और भारतीयों के संबंध को मधुर बनाने के लिए जितना प्रयत्न श्री एंड्रूज ने किया है उतना आज किसी भी जीवित अंग्रेज ने नहीं किया है। उनकी एक आशा इन दोनों राष्ट्रों के लोगों को एक ऐसे अभेद्य बन्धन में बांध देना है, जिसका आधार परस्पर का आदर और स्वतंत्रता हो। उनका यह स्वप्न सच्चा हो।

(हि० न०, ४.२.२६)

... ...

कविवर, श्रद्धानंदजी और श्री सुशील रुद्र को मैं एंड्रूज की 'त्रिमूर्ति' मानता था। दक्षिण अफ्रीका में वह इन तीनों की स्तुति करते हुए थकते नहीं थे दक्षिण अफ्रीका में हमारे स्नेह-सम्मेलन की बहुत-सी स्मृतियों में यह सदा मेरी आंखों के सामने नाचा करती है कि तीन महापुरुषों के नाम तो उनके हृदय में और होठों पर रहते ही थे । सुशील रुद्र के परिचय में भी एंड्रूज ने मेरे बच्चों को ला दिया था। रुद्र के पास कोई आश्रम नहीं था, उनका अपना घर ही था; परंतु उस घर का कब्जा उन्होंने मेरे इस परिवार को दे दिया था। उनके बाल-बच्चे इनके साथ एक ही दिन में इतने हिल-मिल गये थे कि कि ये फिनिक्स को भूल गये। (आ० १९२४)

... ...

एंड्रूज को ले लो। यह बात नहीं कि दिल-ही-दिल में एंड्रूज भी यह न मानते हों कि अंग्रेजी राज्य ने इस देश का कुछ-न-कुछ भला ही किया

है। (म० डा०, भाग २, १.१.३३)

... ...

यहां आने पर मेरे जी में जो सबसे प्रबल भावनाएं उठ रहीं हैं वे दीनबंधु के विषय में हैं। शायद आप लोग न जानते होंगे कि कल सुबह गाड़ी से उतरते ही कलकत्ता में पहला काम मैंने यह किया कि उनसे अस्पताल में जाकर मिला। गुरुदेव विश्वकवि हैं, पर दीनबंधु में भी कवि की-सी भावना और प्रकृति है। वह आज यहां होते तो उन्हें कितनी खुशी होती और गुरुदेव के साथ इस मुलाकात के अवसर पर एक-एक शब्द, एक-एक संकेत और एक-एक हरकत का वह किस तरह रसपान करते और उन्हें अपने स्मृति-भंडार में जमा करते। किंतु ईश्वर की इच्छा और ही थी। आज वह कलकत्ता में रोगशैय्या पर पड़े हैं—पूरी तरह बोल भी नहीं सकते। मैं चाहता हूं कि आप सब लोग मेरी इस प्रार्थना में शामिल हों कि भगवान् उन्हें जल्दी ही हमें वापस दे दें और हर हालत में उनकी आत्मा को शांति प्रदान करें।

(ह० से०, ३०.३.४०)

... ...

चार्ली एंड्रूज को जितना मैं जानता था उससे अधिक शायद और कोई नहीं जानता। गुरुदेव तो उनके लिए गुरु-तुल्य थे। पर हम जब दक्षिण अफ्रीका में एक-दूसरे से मिले तो भाई-भाई की तरह मिले और अन्त तक वैसे ही बने रहे। हम दोनों में कोई भेद नहीं था। हमारा संबंध एक हिंदुस्तानी और एक अंग्रेज के बीच मित्रता का नहीं, बल्कि सत्य के दो जिज्ञासुओं और सेवकों के बीच न टूटनेवाला एक प्रेम-बंधन था। लेकिन यहां मैं एंड्रूज के संस्मरण नहीं लिख रहा हूं, जो कि बहुत पवित्र हैं।

ऐसे समय, जब कि एंड्रूज की स्मृति ताजी है, भारतीयों और अंग्रेजों का ध्यान मैं उस पवित्र विरासत की ओर आकर्षिकत करता हूं जिसे वह छोड़ गये हैं। इंगलैण्ड के प्रति किसी भी अंग्रेज देशभक्त से कम प्रेम उनके हृदय में नहीं था। इसी प्रकार किसी भारतीय के देश-प्रेम से कम प्रेम भारत के प्रति उनके हृदय में नहीं था। उन्होंने अपनी रुग्ण-शैय्या से, जिसपर वह सदा के लिए सो गये, यह कहा था—"मोहन, स्वराज आ रहा है।" यदि अंग्रेज और भारतीय दोनों मिलकर चाहें तो वह जरूर आ सकता है।

वर्तमान शासकों और जिनकी राय वजनदार मानी जाती है ऐसे अंग्रेजों के लिए एंड्रूज कोई अजनबी नहीं थे। इसी प्रकार राजनीति से दिलचस्पी रखनेवाला कोई भारतीय ऐसा नहीं जो उन्हें न जानता हो। इस समय मैं अंग्रेजों के उन बुरे कारनामों को याद नहीं करना चाहता, जो उन्होंने किये हैं। उन्हें हम भूल जा सकते हैं, पर एंड्रूज ने, जो वीरता-पूर्ण प्रयत्न किये हैं, उन्हें जबतक इंगलैण्ड और भारत जीवित हैं, भुलाया नहीं जा सकता। अगर हम एंड्रूज से स्नेह करते हैं तो हम अपने हृदय में उन अंग्रेजों के प्रति घृणा का भाव न आने देंगे जिनमें से एंड्रूज महान् और सर्वोत्तम थे। भले अंग्रेजों और भले भारतीयों के लिए यह संभव है कि वे एक-दूसरे से मिलें और तबतक अलग न हों जबतक कि दोनों के लिए संतोषजनक रास्ता न ढूंढ़ निकलें। एंड्रूज जो काम छोड़ गये हैं, वह पूरा करने के योग्य है। जब मैं एंड्रूज के दयापूर्ण चेहरे और उनके उन अगणित प्रेमपूर्ण प्रयत्नों की याद करता हूं, जो भारत को संसार के राष्ट्रों के बीच स्वतन्त्र पद पाने के लिए उन्होंने किये तो मेरे मन में यही विचार रहा है। (ह० से०, १३.४.४०)

... ...

सी० एफ० एंड्रूज की मृत्यु के रूप में न केवल भारत ने, बल्कि मानवता ने अपनी एक सच्ची सन्तान और सेवक को खो दिया। फिर भी उनकी मृत्यु-पीड़ा से छुटकारा और संसार में जिस मिशन को लेकर वह आये थे, उसकी पूर्ति ही कही जायगी। वह उन हजारों लोगों के हृदय में जीवित रहेंगे, जिन्होंने उनकी रचनाओं को पढ़कर या उनके वैयक्तिक संपर्क में आकर कुछ भी लाभ उठाया है। मेरी राय में तो चार्ली एंड्रूज महान् और सर्वोत्तम अंग्रेजों में से एक थे और चूंकि वह इंगलैण्ड की एक अच्छी संतान थे, भारत की भी अच्छी संतान हुए। जो कुछ उन्होंने यहां किया, सब मानवता और प्रभु ईसामसीह के लिए ही। अबतक मुझे सी० एफ० एंड्रूज से उत्तम मनुष्य या ईसाई नहीं मिला है। भारत ने उन्हें 'दीनबंधु' की उपाधि दी, जिसके वह सभी तरह के दीन-दलितों के सच्चे मित्र होने के कारण पूर्ण अधिकारी थे। (दी० अ०, पृष्ठ १०२)

... ...

जैसा सदा होता है, इस स्मारक के लिए भी अपने-आप ही चन्दा नहीं

आयेगा। उसके लिए संगठन की जरूरत पड़ेगी। सबसे वांछनीय तो यह है कि दीनबन्धु के बहुसंख्यक भक्तों को यह काम खुद ऊपर उठा लेना चाहिए। इसलिए यह प्रकाशित करते हुए आनन्द होता है कि आगरा में यह काम वहां के छात्र करने जा रहे हैं। इससे अच्छा और क्या हो सकता है? उन्हें इस संग्रह के लिए, जो आखिरकार एक छोटी-सी रकम है, सर्वत्र संगठन करना चाहिए। चार्ली एंड्रूज बहुत ऊंचे दर्जे के शिक्षाशास्त्री थे। शिक्षाशास्त्री के रूप में ही वह अपने मित्र और प्रधान प्रिंसिपल रुद्र की मदद करने आये थे। अपने अन्तिम गृह के रूप में उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की एक शिक्षण-संस्था को चुना था। उसके निर्माण के लिए उन्होंने अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया। अगर एंड्रूज के घनिष्ठ संपर्क का खयाल छोड़ दिया जाय तो भी शांतिनिकेतन खुद छात्र-संसार की भक्ति पाने के योग्य है। इसलिए मैं आशा करता हूं कि हिन्दुस्तान के छात्र चंदा इकट्ठा करने के काम में अग्र भाग लेंगे। इनके बाद दीन जनों की बारी आती है, जिन्होंने कि एंड्रूज की सेवाओं से विशेष रूप से फायदा उठाया है। यदि यह पांच लाख, हजारों छात्रों और दीन जनों की भेंटों से पूरा हो जाय तो बहुत बड़ी, बहुत उचित, बात होगी, बनिस्बत इसके कि दीनबन्धु के कुछ ऐसे खास धनी मित्रों के दान से उसकी पूर्ति कर ली जाय, जो उनके निकट सम्पर्क में आये थे और जिन्हें उनके महत्व की पूरी जानकारी थी।

(ह० से०, १५.६.४०)

... ...

आज एंड्रूज साहब की सातवीं पुण्य-तिथि है। उनके गुणों को हमें याद करना चाहिए। उनका जीवन बहुत सादा था। हम दोनों घने मित्र रहे हैं। उनकी चमड़ी गोरी थी, लेकिन वह इतने सादे थे और देहातियों से मिलते-जुलते थे कि वह अंग्रेज हैं, ऐसा पहचानना कठिन हो जाता था। उनको कपड़े पहनने का भी शऊर न था। मोटे से बदन पर ढीली-ढाली धोती किसी तरह लपेट लेते थे। उनको ऊपर के दिखावे से काम न था। उनका दिल सोने का था। (प्रा० प्र०, ५.४.४७)

: २७ :

वैद्यनाथ ऐयर

मदुरा के एक सनातनी सज्जन ने शिकायत करते हुए मुझे लिखा था कि वहां सुप्रसिद्ध मीनाक्षी-मन्दिर जिस तरीके से खोला गया वह ठीक नहीं था। मैंने उस शिकायत को श्री वैद्यनाथ ऐयर के पास भेज दिया था और एक दूसरे मित्र को भी उसके बारे में लिखा था। उन सज्जन ने मेरे पास उक्त शिकायत का स्पष्ट प्रतिवाद भेजा और अपने पत्र में उन्होंने यह भी लिखा कि सनातनियों ने श्री वैद्यनाथ ऐयर को इतना ज्यादा सताया है कि उनका हृदय विदीर्ण हो गया है। इसपर मैंने उन्हें एक लम्बा तार भेजा कि उन्हें सतानेवाले उनके बारे में चाहे जो कहें या करें, उन्हें उसपर ध्यान नहीं देना चाहिए। एक धार्मिक सुधारक के रूप में उन्हें तो पूरी अनासक्ति से काम करना चाहिए और अत्याचारों तथा बुरी-से-बुरी स्थिति में भी स्थिरचित्त रहना चाहिए। मेरे तार का उन्होंने आश्वासनप्रद उत्तर दिया, "भगवती मीनाक्षी की कृपा और आपके आशीर्वाद से स्वाभाविक शांति प्राप्त कर ली है। काम जारी है। आशा है कि दूसरे बड़े-बड़े मंदिर भी जल्दी ही खुल जायंगे। आपका स्नेह और मूक आशीर्वाद मुझे बड़े-से-बड़ा सहारा दे रहे हैं।" यह उत्तर इस महान् सुधारक के अनुरूप ही है। अस्पृश्यता-निवारण प्रवृत्ति के अत्यंत विनम्र और मूक कार्यकर्ताओं में से श्री वैद्यऐयर हैं। वे एक ईश्वरभीरु मनुष्य हैं।

दिल्ली के श्री ब्रजकृष्ण चांदीवाला ने, जो दक्षिण की तीर्थ-यात्रा करने गये थे, अपने मदुरा के अनुभव को इस प्रकार लिखा है:

"...श्री वैद्यनाथ ऐयर के घर पर मैंने अनुभव किया कि उनके जैसे सुधारकों को मन्दिर-प्रवेश के कारण कैसे-कैसे कष्ट उठाने पड़ रहे हैं। मैंने अगर खुद अपनी आंखों न देखा होता कि श्री वैद्यनाथ ऐयर पर कैसी-कैसी बीत रही है तो कभी विश्वास नहीं कर सकता था कि मनुष्य-स्वभाव इतना नीचे उतर सकता है, जैसा कि मैंने मदुरा में देखा। उनके प्रति सनातनियों का बर्ताव अत्यन्त अनुचित रहा है। विरोधियों ने यह भी एक तरीका अख्त्यार किया है कि वैद्यनाथ ऐयर के बारे में झूठी बातों का

प्रचार किया जाय; किंतु वह तथा उनकी पत्नी दोनों ही इन तमाम अत्याचारों को बहादुरी से बर्दाश्त कर रहे हैं।" (ह० से०, २३.१२.३९)

: २८ :

कबीन

कबीन नामक एक व्यक्ति जोहान्सबर्ग में रहनेवाले चीनी लोगों के अगुवा भी थे। ज़ोहान्सबर्ग में उनकी संख्या कोई तीन-चारसौ होगी। वे सभी व्यापार या छोटी-मोटी खेती का काम करते थे। भारत कृषि-प्रधान देश है। पर मेरा यह विश्वास है कि चीनी लोगों ने खेती को जितना बढ़ाया है उतना हम लोगों ने नहीं। अमरीका आदि देशों में जो प्रगति हुई है वह आधुनिक है और उसका तो वर्णन ही नहीं हो सकता। उसी प्रकार पश्चिमी खेती को मैं अभी प्रयोगावस्था में मानता हूं। पर चीन तो हमारे ही जैसा प्राचीन देश है और वहां प्राचीन काल से ही खेती में तरक्की की गई है। इसलिए चीन और भारत की तुलना करें तो हमें उससे कुछ शिक्षा मिल सकती है। जोहान्सबर्ग के चीनियों की खेती देखकर और उनकी बातें सुनकर तो मुझे यही मालूम हुआ कि चीनियों का ज्ञान और उद्योग भी हम लोगों से बहुत बढ़कर है। जिस जमीन को हम ऊसर समझकर छोड़ देते हैं, उसमें वे अपने खेती के सूक्ष्म ज्ञान के कारण बीज बोकर अच्छी फसल पैदा कर सकते हैं। यह उद्यमशील और चतुर कौम भी उस खूनी कानून की श्रेणी में आती थी। इसलिए उसने भी भारतीयों के साथ युद्ध में शामिल होना उचित समझा। फिर भी शुरू से आखिर तक दोनों कौमों का हरेक व्यवहार अलग-अलग होता था। दोनों अपनी-अपनी संस्थाओं के द्वारा झगड़ रही थीं। इसका शुभ फल यह होता है कि जबतक दोनों जातियां अपने निश्चय पर दृढ़ रहती हैं तबतक तो दोनों को फायदा होता है; पर आगे चलकर यदि एक फिसल भी जाय तो इससे दूसरी जाति को कोई हानि की सम्भावना नहीं रहती। वह गिरती तो हरगिज नहीं। आखिर बहुत-से चीनी तो फिसल गये; क्योंकि उनके नेता ने उन्हें धोखा दिया। नेता कानून के वश तो नहीं हुए; पर एक दिन किसी

ने आकर मुझसे कहा कि वे बिना हिसाब-किताब समझाये ही कहीं भाग गये। नेता के चले जाने के बाद अनुयायियों का दृढ़ रहना तो हमेशा मुश्किल ही पाया गया है। फिर नेता में किसी मलिनता के पाये जाने पर तो निराशा दूनी बढ़ जाती है। पर जिस समय पकड़ा-धकड़ी शुरू हुई उस समय तो चीनी लोगों में बड़ा जोश फैला हुआ था। उनमें से शायद ही किसीने परवाने लिये हों, इसीलिए भारतीय नेताओं के साथ चीनियों के कर्त्ता-धर्त्ता मि० कवीन भी पकड़े गये। इसमें शक नहीं कि कुछ समय तक तो उन्होंने बहुत अच्छी तरह काम किया था। (दि० अ० स० १९२५)

: २९ :

अहमद मुहम्मद काछलिया

भारतीयों के भाषण शुरू हुए। इस प्रकार के, और सच पूछा जाय तो इस इतिहास के नायक का परिचय तो मुझे अभी देना ही बाकी है। जो वक्ता खड़े हुए उनमें स्वर्गीय अहमद मुहम्मद काछलिया भी थे। उन्हें तो मैं एक मवक्किल और दुभाषिये की हैसियत से जानता था। वह अभीतक किसी आन्दोलन में आगे होकर भाग नहीं लेते थे। उनका अंग्रेजी भाषा का ज्ञान कामचलाऊ था। पर अनुभव से उन्होंने उसे यहांतक बढ़ा लिया कि जब वह अंग्रेज वकीलों के यहां अपने मित्रों को ले जाते तब दुभाषिये का काम वह स्वयं ही करते थे। वैसे उनका पेशा दुभाषिये का नहीं था। यह काम तो वह बतौर मित्र के ही करते थे। पहले वह कपड़े की फेरी लगाते थे। बाद में उन्होंने अपने भाई के साझे में छोटे पैमाने पर व्यापार शुरू किया। वह सूरती मेमन थे। उनका जन्म सूरत जिले में हुआ था। सूरती मेमनों में उनकी खासी प्रतिष्ठा थी। गुजराती का ज्ञान भी मामूली ही था। हां अनुभव से उन्होंने उसे खूब बढ़ा लिया था। पर उनकी बुद्धि इतनी तेज थी कि वह चाहे जिस बात को बड़ी आसानी से समझ लेते थे। मामलों की उलझन इस प्रकार स्पष्ट करते कि मैं तो कई बार चकित हो जाता। वकीलों के साथ कानूनी दलीलें करने में भी जरा न हिचकते थे। उनकी कई दलीलें तो ऐसी होतीं कि वकीलों को भी विचार करना पड़ता।

बहादुरी और एकनिष्ठा में उनसे बढ़कर आदमी न तो दक्षिण अफ्रीका में मिला और न भारत में। कौम के लिए उन्होंने अपने सर्वस्व की आहुति दे दी थी। उनके साथ जितनी बार मुझे काम पड़ा, उन सब प्रसंगों पर मैंने उन्हें एकवचनी ही पाया। स्वयं चुस्त मुसलमान थे। सूरती मेमन-मस्जिद के मुतवल्लियों में वह भी एक थे। पर साथ ही वह हिन्दू और मुसलमानों के लिए समदर्शी थे। मुझे ऐसा एक भी प्रसंग याद नहीं आता जब उन्होंने धर्मांध बनकर हिंदुओं के खिलाफ किसी बात की खींचातानी की हो। वह बिलकुल निडर और निष्पक्ष थे। इसलिए मौके पर हिन्दुओं और मुसलमानों को भी उनका दोष दिखाते समय उन्हें जरा भी संकोच न होता था। उनकी सादगी और निरभिमानता अनुकरणीय थी। उनके साथ मेरा जो बरसों का सम्बन्ध रहा, उससे मुझे यह दृढ़ विश्वास हो चुका है कि स्वर्गीय अहमद मुहम्मद काछलिया जैसा पुरुष कौम को फिर मिलना कठिन है।

प्रिटोरिया की सभा में बोलनेवालों में एक पुरुष यह भी थे। उन्होंने बहुत ही छोटा भाषण दिया। वह बोले—"इस खूनी कानून को हरेक हिन्दुस्तानी जानता है। उसका अर्थ हम सब जानते हैं। मि० हास्किन का भाषण मैंने खूब ध्यान लगाकर सुना। आपने भी सुना। मुझपर तो उसका परिणाम यही हुआ है कि मैं अपनी प्रतिज्ञा पर और भी दृढ़ हो गया हूं। ट्रांसवाल सरकार की ताकत को हम जानते हैं; पर इस खूनी कानून से और अधिक किस बात का डर सरकार हमें बता सकती है? जेल भेजेगी, जायदाद बेच देगी, हमें देश से बाहर निकाल देगी—फांसी पर लटका देगी। यह सब हम बरदाश्त कर सकते हैं।" मैं देखता था कि यह सब बोलते हुए अहमद मुहम्मद काछलिया बड़े उत्तेजित होते जा रहे थे। उनका चेहरा लाल हो रहा था। सिर और गर्दन की रगें जोश के मारे बाहर निकल आई थीं। बदन कांप रहा था। आपने दाहिने हाथ की उंगलियां गर्दन पर रखकर वह गरजे—"मैं खुदा की कसम खाकर कहता हूं कि मैं कत्ल हो जाऊंगा; पर इस कानून के आगे कभी अपना सर नहीं झुकाऊंगा और मैं चाहता हूं कि यह सभा भी यही निश्चय करे।" यह कहकर वह बैठ गये। जब उन्होंने गर्दन पर हाथ रखा तब मंच पर बैठे हुए कितने ही

लोगों के मुंह पर मुस्कराहट दिखाई दी। मुझे याद है कि मैं भी उन्हींमें से था। जितने जोर के साथ काछलिया सेठ ने ये शब्द कहे थे उतना जोर अपनी कृति में वह दिखा सकेंगे या नहीं, इस बात में मुझे जरा सन्देह था। पर जब-जब वह सन्देहवाली बात मुझे याद आती है तो आज यह लिखते समय भी मुझे अपने ऊपर लज्जा मालूम होती है। इस महान् युद्ध में जिन बहुत-से आदमियों ने अपनी प्रतिज्ञा का अक्षरश: पालन किया था, काछलिया सेठ उनमें अग्रगण्य थे। मैंने कभी उन्हें अपना रंग पलटते हुए नहीं देखा।

सभा ने तो इस भाषण का करतल-ध्वनि से स्वागत किया। मेरी अपेक्षा अन्य सभासद उन्हें इस समय बहुत अधिक जानते थे, क्योंकि उनमें से अधिकांश को इस 'गुदड़ी के लाल' से व्यक्तिगत परिचय भी था। वह जानते थे कि काछलिया जो करना चाहते हैं, वही करते हैं और कहते हैं उसे अवश्य ही पूरा करते हैं। और भी कई जोशीले भाषण हुए। काछलिया सेठ के भाषण को उनमें से इसीलिए छांट लिया कि उनकी बाद की कृति से उनका यह भाषण भविष्यवाणी साबित हुआ। जोशीले भाषणों के देनेवाले सभी अन्त तक नहीं टिक सके। इस पुरुष-सिंह की मृत्यु अपने देश-भाइयों की सेवा करते-करते ही सन् १९१८ में अर्थात् इस युद्ध (दक्षिण अफ्रीका का) के खतम होने के चार साल बाद हुई।

उनका एक और स्मरण है। उसे और कहीं नहीं दिया जा सकता, इसलिए यहींपर लिख देता हूं। टॉल्स्टॉय फार्म में सत्याग्रहियों के कुटुम्ब रहते थे। वहां आपने अपने पुत्रों को भी बतौर उदाहरण के तथा सादगी और जाति-सेवा का पाठ पढ़ने के लिए रक्खा था और इसीको देखकर अन्य मुसलमान माता-पिताओं ने भी अपने बच्चे इस फार्म पर भेजे थे। जवान काछलिया का नाम अली था। उम्र दस-बारह साल की होगी। अली नम्र चपल, सत्यवादी और सरल लड़का था। लड़ाई के बाद, पर काछलिया सेठ के पहले, उसे भी फरिश्ते खुदा के दरबार में ले गये; पर मुझे विश्वास है कि यदि वह भी जीता रहता तो अपने पिता की कीर्ति को और भी पल्लवित करता।

कई भारतीय व्यापारियों को अपने व्यापार के लिए गोरे व्यापारियों की कोठियों पर अवलंबित रहना पड़ता था। वे लाखों रुपयों का माल बिना किसी प्रकार की रहन के केवल भारतीय व्यापारियों के विश्वास पर दे दिया करते हैं। सचमुच, भारतीय व्यापार की प्रामाणिकता का यह एक सुन्दर नमूना है कि वे वहां पर इतना विश्वास संपादन कर सके हैं। काछलिया सेठ के साथ भी कई अंग्रेजी फर्मों का इसी प्रकार का लेन-देन का संबंध था। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से, किसी प्रकार सरकार की ओर से इशारा मिलते ही, ये व्यापारी काछलिया सेठ से अपनी वे सब मुद्राएं मांगने लगे, जो उनकी तरफ लेना निकलती थी। उन्होंने तो काछलिया सेठ को बुलवाकर यहांतक कहा कि 'यदि आप इस युद्ध से अपनेको अलग रखें तब तो आपको उन मुद्राओं के लिए कुछ भी जल्दी करनेकी आवश्यकता नहीं है। अगर आप यह न करें तो हमें यह भय हमेशा रहेगा कि सरकार आपको न जाने किस वक्त पकड़ ले और यदि ऐसा ही हुआ तो फिर हमारी मुद्राओं का क्या होगा? इसलिए यदि इस युद्ध में से अपना हाथ हटा लेना आपके लिए किसी प्रकार असंभव हो तो हमारी मुद्राएं आपको इसी समय लौटा देनी चाहिए।' इस वीर पुरुष ने उत्तर दिया—"युद्ध तो मेरी व्यक्तिगत वस्तु है। मेरे व्यापार के साथ उसका कोई संबंध नहीं है। अपने धर्म, अपनी जाति के सम्मान और स्वयं मेरे स्वाभिमान की रक्षा के लिए यह युद्ध छिड़ा हुआ है। आपने मुझे केवल विश्वास पर जो माल दिया है, उसके लिए मैं आपका जरूर एहसानमन्द हूं। पर इसलिए मैं न तो उस कर्ज को और न अपने व्यापार को ही सर्वोपरि स्थान दे सकता हूं। आपके पैसे मेरे लिए सोने की मुहरें हैं। अगर मैं जिंदा रहा तो अपने-आपको बेंचकर भी आपके पैसे लौटा दूंगा। पर मान लीजिये कि मेरा और कुछ हो गया तो उस हालत में आप यह विश्वास रखें कि मेरा माल और तमाम उगाही आपके हाथों में ही है। आज तक आपने मेरा विश्वास किया है। मैं चाहता हूं कि आगे के लिए भी आप इसी प्रकार मेरा विश्वास करें।" यह दलील बिलकुल ठीक थी। काछलिया की दृढ़ता को देखते हुए गोरों को उनपर और भी विश्वास होना चाहिए था। पर बात यह थी कि इस समय उन लोगों पर इसका कोई असर नहीं हो सकता था। हम सोए हुए आदमी को तो जगा सकते हैं, पर

सोने का ढोंग करनेवाले को नहीं। यही हाल उन गोरे व्यापारियों का भी हुआ। वे तो काछलिया सेठ को दबाना चाहते थे, उनकी लेन-देन थोड़े ही डूबनेवाली थी!

मेरे दफ्तर में लेनदारों की एक मीटिंग हुई। मैंने उन्हें साफ-साफ शब्दों में कह दिया कि आप इस समय जो काछलिया सेठ को दबाना चाहते हैं उसमें व्यापार-नीति नहीं, राजनैतिक चाल है। व्यापारियों को यह काम शोभा नहीं देता। पर वे तो और चिढ़ गये। काछलिया सेठ के माल और उगाही दोनों की फेहरिस्त मेरे पास थी। उसे मैंने उन व्यापारियों को दिखाया। यह भी सिद्ध कर दिखाया कि उससे उन्हें अपना पूरा धन मिल सकता है और कहा—"इतने पर भी यदि आप इस तमाम व्यापार को किसी दूसरे आदमी के हाथ बेच देना चाहते हों तो काछलिया सेठ अपना तमाम माल और उगाही खरीदार को सौंपने के लिए भी तैयार हैं। यदि यह भी आपको स्वीकार न हो तो दूकान में जितना भी माल है, उसे मूल कीमत में आप ले लें। केवल माल से यदि काम न चले तो उसके बदले में उगाही में से जिसे पसंद करें ले लें।" पाठक सोच सकते हैं कि गोरे व्यापारी यदि इस प्रस्ताव को मंजूर कर लेते तो उनकी कोई हानि नहीं होती। (और कई मवक्किलों के संकट-समय में मैंने उनके कर्ज की व्यवस्था की थी) पर इस समय व्यापारी न्याय न चाहते थे। काछलिया नहीं झुके और वह दिवालिया देनदार साबित हुए।

पर यह दिवालियापन उनके लिए कलंक-रूप नहीं, बल्कि भूषण था। इससे कौम में उनकी इज्जत कहीं बढ़ गई और उनकी दृढ़ता और बहादुरी पर सबने उनको बधाई दी। यह वीरता तो अलौकिक है। सामान्य मनुष्य उसको भली-भांति नहीं समझ सकते। सामान्य मनुष्य तो यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि दिवालियापन एक बुराई और बदनामी के बदले सम्मान और आदर की वस्तु किस तरह हो सकती है। पर काछलिया को यही बात स्वाभाविक मालूम हुई। कई व्यापारियों ने केवल इसी भय के कारण खूनी कानून के सामने सिर झुका लिया कि कहीं उनका दिवाला न निकल जाय। काछलिया भी यदि चाहते तो इस नादारी से छूट सकते थे। युद्ध से विमुख होकर तो वह अवश्य ही ऐसा कर सकते थे। पर इस समय में कुछ और ही

कहना चाहता हूं। कई भारतीय काछलिया के मित्र थे, जो उनको इस संकट-समय में कर्ज दे सकते थे। पर यदि वह इस तरह अपने व्यापार को बचा लेते तो उनकी बहादुरी में धब्बा नहीं लग जाता? कैद की जोखिम तो उनकी भांति दूसरे सत्याग्रहियों के लिए भी थी। इसलिए यह तो उनसे हरगिज नहीं हो सकता था कि वह सत्याग्रहियों से पैसे लेकर गोरे व्यापारियों का ऋण अदा कर दें। पर सत्याग्रही व्यापारियों के समान ही अन्य भारतीय भी उनके मित्र थे, जिन्होंने खूनी कानून के सामने सिर झुका दिया था, और मैं जानता हूं कि उनकी सहायता भी काछलिया सेठ को मिल सकती थी। जहांतक मुझे याद है, एक-दो मित्रों ने इस विषय में कहलाया भी था। पर उनकी सहायता लेने का अर्थ तो यही न होता कि हमने इस बात को स्वीकार कर लिया कि खूनी कानून को मानने ही में बुद्धिमानी है। इसलिए हम दोनों इसी निश्चय पर पहुंचे कि उनकी सहायता हमें कदापि स्वीकार नहीं करनी चाहिए। फिर हम दोनों ने यह भी सोचा कि यदि काछलिया अपनेको नादार कहलायेंगे तो उनकी नादारी दूसरों के लिए ढाल का काम देगी; क्योंकि अगर सौ में पूरी सौ नहीं तो निन्यानवे फीसदी नादारियों में लेनदार को नुकसान उठाना पड़ता है। अगर उनके लेने में से पचास फीसदी भी मिल जाते हैं तो भी वे खुश होते हैं। जब पिचहत्तर फीसदी मिल जायं तब तो वे उसीको पूरे सौ ही मान लेते हैं; क्योंकि दक्षिण अफ्रीका में प्रतिशत ६।) नहीं; बल्कि फी सैकड़ा २५) मुनाफा लिया जाता है। इसलिए अपनी लेन में से फी सैकड़ा ७५) मिलने तक तो वे उसे घाटे का व्यवहार नहीं मानते; किन्तु नादारी में पूरा-का-पूरा तो शायद ही कभी मिलता है। इसलिए कभी कोई लेनदार यह नहीं चाहता कि उसका कर्जदार दिवालिया हो जाय।

इसलिए काछलिया का उदाहरण दिखाकर गोरे लोग दूसरे व्यापारियों को धमकी नहीं दे सकते थे। और हुआ भी ऐसा ही। गोरे चाहते थे कि काछलिया को युद्ध से अपना हाथ हटा लेने के लिए मजबूर करें और यदि काछलिया इसे मंजूर न करें तो उनसे पूरे सौ-के-सौ वसूल करें। पर इन दो में से उनका एक भी हेतु सिद्ध न हुआ। इसका तो उलटे एक विपरीत ही परिणाम हुआ। एक प्रतिष्ठित भारतीय को इस तरह नादारी का स्वागत

करते हुए देखकर गोरे व्यापारी चकित हो गये और हमेशा के लिए शांत हो गये। परन्तु इधर एक साल के अन्दर ही काछलिया के माल में से ही गोरे व्यापारियों को पूरे सौ-के-सौ मिल गये। दक्षिण अफ्रीका में दिवालिया देनदार से लेनदार को पूरे सौ-के-सौ मिल जाना अपनी जानकरी में मेरा पहला ही अनुभव था। युद्ध शुरू हो गया था; पर फिर भी इससे गोरे व्यापारियों में काछलिया का सम्मान बेहद बढ़ गया। आगे चलकर युद्ध-काल में उन्हीं व्यापारियों ने काछलिया को मनमाना माल देने के लिए अपनी तत्परता दिखाई। पर काछलिया का बल तो दिन-ब-दिन बढ़ता ही जा रहा था। युद्ध के रहस्य को भी वह भली-भांति समझ चुके थे। और यह तो कौन कह सकता था कि युद्ध शुरू होने के बाद वह कितने रोज चलेगा। इसलिए नादारी के बाद हमने तो यही निश्चय कर लिया कि लम्बे-चौड़े व्यापार की झंझट में पड़ना ही नहीं। उन्होंने भी निश्चय कर लिया कि अब, जबतक युद्ध समाप्त नहीं होता, उतना ही व्यापार किया जाय कि जिससे एक गरीब मनुष्य अपना निर्वाह कर सके, इससे ज्यादा नहीं। इसलिए गोरों ने जो वचन दिया, उसका उपयोग उन्होंने नहीं किया। काछलिया सेठ के जीवन की जिन घटनाओं का वर्णन मैं कर चुका हूं, वे कमेटी की मीटिंग के बाद हुई हों सो बात नहीं; पर मैंने उन्हें यहांपर इसलिए लिख देना ठीक समझा कि उनको कहीं एक ही बार दे देना योग्य होगा। अगर तारीख-वार देखा जाय तो दूसरा युद्ध शुरू होने पर कितने ही समय बाद काछलिया अध्यक्ष हुए और नादार होने के पहले, इसके बाद और भी कितना ही समय बीत गया। (द० अ० स० १९२५)

: ३० :

अलबर्ट कार्टराइट

अलबर्ट कार्टराइट ('ट्रांसवाल लीडर' के संपादक) बड़े चतुर और अतिशय उदार हृदय सज्जन थे। वह अपने अग्रलेखों तक में अक्सर भारतीयों का ही पक्ष लिया करते। मेरे और उनके बीच गहरा स्नेह-संबंध हो गया था और मेरे जेल जाने के बाद वह जनरल स्मटस से भी मिले थे।

जनरल स्मट्स ने उन्हें संधिकर्ता स्वीकार किया तब मि० कार्टराइट कौम के अगुओं से मिले। पर उन्होंने यही उत्तर दिया कि हम लोग कानून की बारीकियों को नहीं जानते। गांधी जेल में हैं। जबतक वह छोड़ नहीं दिये जाते इस विषय में कोई सलाह-मशविरा करना हम अनुचित समझते हैं। हम सुलह तो चाहते हैं; पर यदि हमारे आदमियों को बिना छोड़े ही सरकार सुलह करना चाहती हो तो गांधी जानें। आप गांधी से मिलें। वह जो कहेगा, हम सब मंजूर करेंगे। इसपर अलबर्ट कार्टराइट मुझसे मिलने के लिए आये। साथ ही जनरल स्मट्स का बनाया अथवा पसंद किया हुआ समझौते का मसविदा भी लाये थे। उसकी भाषा गोल-माल थी। वह मुझे पसंद नहीं आई। फिर भी एक जगह कुछ दुरुस्ती करने पर मैं उस पर दस्तखत करने के लिए तैयार हो गया। पर मैंने कहा कि बाहरवाले यदि इसे मान लें तो भी मैं इसपर तबतक दस्तखत नहीं कर सकता जबतक जेल के साथियों की आज्ञा अथवा सम्मति भी मैं प्राप्त नहीं कर लेता। समझौते का सार इस प्रकार था: "भारतीय स्वेच्छापूर्वक अपने परवाने बदलवा लें। उनपर कानून का कोई अधिकार न होगा। नवीन परवाना भारतीयों की सलाह से सरकार बनावे और यदि इसे भारतीय स्वेच्छापूर्वक ले लें तब तो खूनी कानून रद हो ही जायगा और स्वेच्छापूर्वक लिये गए नवीन परवानों को कानून, करार देने के लिए सरकार एक नया कानून बना लेगी।" खूनी कानून को रद करने की बात इस मसविदे में स्पष्ट नहीं लिखी गई थी। उसे स्पष्ट करने के लिए मैंने अपनी समझ के अनुसार एक सुधार की सूचना की। पर अलबर्ट कार्टराइट ने उसे पसन्द नहीं किया। उन्होंने कहा, "जनरल स्मट्स का यह आखिरी मसविदा है। स्वयं मैंने भी इसे पसंद किया है। और यह तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि अगर आप सब परवाने ले लें तब तो यह खूनी कानून रद हुआ ही समझिये।" मैंने कहा, "समझौता हो या न हो, लेकिन आपकी इस सहानुभूति और समझौते की कोशिश के लिए हम आपके सदा के लिए अनुग्रहीत होंगे। मैं एक भी अनावश्यक फेरफार करना नहीं चाहता। जिस भाषा से सरकार की प्रतिष्ठा की रक्षा होती हो उसका मैं ख्वामख्वाह विरोध नहीं करूंगा। पर जहां अर्थ के विषय में स्वयं मुझे शंका है वहां तो मुझे अवश्य

ही कुछ स्पष्टीकरण की सूचना करनी चाहिए और अंत में यदि समझौता करना ही है तो दोनों पक्षों को कुछ परिवर्तन करने का अधिकार जरूर ही होना चाहिए। जनरल स्मट्स पिस्तौल दिखाकर उसके बल पर कोई समझौता हमसे मंजूर कराने की व्यर्थ की कोशिश न करें। खूनी कानून-रूपी एक पिस्तौल तो पहले ही से हमारे सामने है। अब इस दूसरे पिस्तौल का असर हमपर और क्या हो सकता है?" मि० कार्टराइट इसके उत्तर में कुछ न कह सके। उन्होंने यह मंजूर किया कि मैं आपका बताया यह परिवर्तन जनरल स्मट्स के सामने पेश कर दूंगा। मैंने अपने साथियों से भी मशविरा किया। भाषा तो उन्हें भी पसंद नहीं आई; पर यदि उतने परिवर्तन के साथ जनरल स्मट्स समझौता करते हों तो हम भी उसे मंजूर कर लें यह बात उन्हें पसंद थी। बाहर से जो लोग आये थे, वे भी अगुआओं का यह संदेश लाये कि यदि उचित समझौता हो रहा हो तो कर लेना चाहिए। हमारी सम्मति की राह न देखी जाय। इस मसविदे पर मैंने मि० कबीन और थंबी नायडू के भी दस्तखत लिये और तीनों दस्तखतोंवाला मसविदा कार्टराइट को सौंप दिया।

दूसरे या तीसरे दिन जोहान्सबर्ग का पुलिस सुपरिन्टेंडेंट आया और मुझे जनरल स्मट्स के पास ले गया। उनकी मेरी बहुत-सी बातें हुईं। उन्होंने मुझसे यह भी कहा कि मि० कार्टराइट के साथ मैंने चर्चा की थी। मेरे जेल जाने पर कौम दृढ़ रही, इसके लिए उन्होंने मुझे मुबारकबाद दिया और कहा—"आप लोगों के विषय में मेरा कोई व्यक्तिगत दुर्भाव नहीं हैं। आप जानते ही हैं कि मैं एक बैरिस्टर हूं। मेरे साथ कितने ही भारतीय पढ़े भी हैं। मुझे तो यहां केवल अपना कर्तव्य-पालन करना है। गोरे लोग इस कानून को चाहते हैं। आप यह भी स्वीकार करेंगे कि उनमें भी अधिकांश बोअर नहीं, अंग्रेज ही हैं। आपने जो सुधार किया उसे मैं मंजूर करता हूं। जनरल बोथा के साथ भी मैं बातचीत कर चुका हूं और मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि यदि आपमें से अधिकांश लोग परवाने ले लेंगे तो एशियाटिक एक्ट को रद्द कर दूंगा। स्वेच्छापूर्वक लिये जानेवाले परवाने को मंजूर करनेवाले कानून का मसविदा तैयार करने पर उसकी एक नकल आपके पास नोट के लिए भेजूंगा। मैं नहीं चाहता कि यह

आंदोलन फिर से जागे। आपके भावों का मैं सम्मान करता हूं।"

(द० अ० स० १६२५)

: ३१ :

राजासाहब कालाकांकर

राजासाहब कालाकांकर २० सितम्बर को असमय ही स्वर्ग सिधार गये। वह एक महान् हरिजन-सेवक थे। लगभग एक साल से बीमार थे। मैं पिछली बार जब कलकत्ता गया तो मैं उन्हें मुश्किल से पहचान सका। वहां वह अपना इलाज करा रहे थे। राजासाहब संयुक्त प्रांत के एक अत्यन्त उदारहृदय ताल्लुकेदार थे। उनके विषय में निस्संदेह यह कहा जा सकता है कि उन्होंने यथाशक्ति अपना जीवन अपनी प्रजा के लिए बिताया। बड़ी सादी रहन-सहन थी। लोगों से खूब दिल खोलकर मिलते थे। हरिजनों पर उनका उतना ही प्रेम था, जितना दूसरी जातियों पर। अपने प्रत्यक्ष आचरण के दृष्टांत से वह अपनी रियासत से सवर्ण हिंदुओं से अस्पृश्यता छुड़वाने और हरिजनों को भी वही सब अधिकार दिलवाने का प्रयत्न करते रहते थे, जो उनकी सवर्ण प्रजा को प्राप्त थे। राज्य के प्रबंधाधीन तमाम विद्यालय, कुएं और मंदिर उन्होंने हरिजनों के लिये खोल दिये थे। हमें आशा है कि रानीसाहिबा तथा कालाकांकर के अन्य राज-कुटुम्बी स्व० राजासाहब की स्मृति को अजर-अमर बनाये रखने के लिए उनकी उस प्रेमपूर्ण उदारता का सदैव अनुसरण करते रहेंगे।

(ह० से०, २६.१०.३१)

: ३२ :

हर्बर्ट किचन

हर्बर्ट किचन एक शुद्ध-हृदय अंग्रेज थे। वह बिजली का काम-काज करते थे। बोअर-युद्ध में उन्होंने हमारे साथ काम किया। कुछ समय तक वह 'इंडियन ओपीनियन' के संपादक भी रहे थे। उन्होंने मृत्यु-समय तक ब्रह्मचर्य का पालन किया था (द० अ० स० १६२५)

: ३३ :

जे० सी० कुमारप्पा

ब्रिटेन और भारत के परस्पर देन (राष्ट्रीय ऋण) के सम्बन्ध में जांच करने के लिए महासमिति (ऑल इण्डिया कांग्रेस कमेटी) ने जो समिति नियत की थी, उसकी रिपोर्ट विशेषकर वर्तमान अवसर पर एक अत्यन्त महत्व का लेख है। राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) का कोई भी सेवक उसकी एक प्रति रक्खे बिना न रहेगा। श्री बहादुरजी, भूलाभाई देसाई, खुशालशाह और श्री कुमारप्पा अपने इस प्रेम के परिश्रम के लिए राष्ट्र के साभार अभिनन्दन के अधिकारी हैं। समिति के संचालक श्री कुमारप्पा गुजरात विद्यापीठ के अध्यापक हैं, इसलिए उनके लिए इसमें कुछ विशेष त्याग नहीं है। वह तो राष्ट्र-सेवक की तरह नामांकित हैं, इसलिए उनका समय और श्रम तो राष्ट्रीय महासभा के चरणों में अर्पित हो ही चुका है। वह इस विशिष्ट कार्य के लिए पसंद किये गए, इसका कारण है उनका अर्थशास्त्र का सजग ज्ञान और संशोधन कार्य के प्रति उनकी लगन। रिपोर्ट के लेखकों का यह परिचय मैंने इसलिए दिया है कि विदेशी पाठक जान सकें कि यह रिपोर्ट उथले राजनीतिज्ञों का लिखा हुआ लेख नहीं, वरन् जो लोग प्रचुर प्रतिष्ठावाले हैं और जो धांधलीबाज उपदेशक नहीं, वरन् स्वयं जिस विषय के ज्ञाता हैं, उसीपर लिखनेवाले और अपने शब्दों को तौल-तौलकर व्यवहार में लानेवालों की यह कृति है। (हि० न०, ६.८.३१)

: ३४ :

आचार्य जे० बी० कृपलानी

मुजफ्फरपुर में उस समय आचार्य कृपलानी भी रहते थे। उन्हें मैं पहचानता था। जब मैं हैदराबाद गया था, उनके महात्याग की, उनके जीवन की और उनके द्रव्य से चलनेवाले आश्रम की बात डाक्टर चोइथराम के मुख से सुनी थी। वह मुजफ्फरपुर कॉलेज में प्रोफेसर थे; पर उस समय वहां से मुक्त हो बैठे थे। मैंने उन्हें तार दिया। ट्रेन मुजफ्फरपुर आधी रात

को पहुंचती थी। वह अपने शिष्य-मंडल को लेकर स्टेशन आ पहुंचे थे; परन्तु उनके घर-बार कुछ न था। वह अध्यापक मलकानी के यहां रहते थे। मुझे उनके यहां ले गये। मलकानी भी वहां कालेज में प्रोफेसर थे और उस जमाने में सरकारी कालेज के प्रोफेसर का मुझे अपने यहां ठहराना एक असाधारण बात थी।

कृपलानीजी ने बिहार की और उसमें तिरहुत-विभाग की दीन-दशा का वर्णन किया और मुझे अपने काम की कठिनाई का अन्दाज बताया। कृपलानीजी ने बिहारियों के साथ गाढ़ा सम्बन्ध कर लिया था। उन्होंने मेरे काम की बात वहां के लोगों से कर रखी थी। (आ०, १९२७)

... ...

यह तो हुआ बिहारी-संघ। इनका मुख्य काम था लोगों के बयान लिखना। इसमें अध्यापक कृपलानी भला बिना शामिल हुए कैसे रह सकते थे? सिन्धी होते हुए भी वह बिहारी से भी अधिक बिहारी हो गये थे। मैंने ऐसे थोड़े सेवकों को देखा है जो जिस प्रांत में जाते हैं वहीं के लोगों में दूध-शक्कर की तरह घुल-मिल जाते हैं और किसीको यह नहीं मालूम होने देते कि वे गैर प्रान्त के हैं। कृपलानी इनमें एक हैं। उनके जिम्मे मुख्य काम था द्वारपाल का। दर्शन करनेवालों से मुझे बचा लेने में ही उन्होंने उस समय अपने जीवन की सार्थकता मान ली थी। किसीको हँसी-दिल्लगी से और किसीको अहिंसक धमकी देकर वह मेरे पास आने से रोकते थे। रात को अपनी अध्यापकी शुरू करते और तमाम साथियों को हँसा मारते और यदि कोई डरपोक आदमी वहां पहुंच जाता तो उसका हौसला बढ़ाते।
(आ०, १९२७)

: ३५ :

वेंकटकृष्णय्या

छः वर्ष के बाद आज आप लोगों से मिलकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ है। आपको मालूम है कि पिछले दौरे के अवसर पर मेरा स्वास्थ्य बहुत गरि गया था और उसे सुधारने के लिए ही मैं आपके मैसूर राज्य में आया

था। इससे स्वभावतः उन दिनों की स्मृतियां मेरे लिए अत्यन्त सुखद हैं। श्रीमान् महाराजासाहब, दीवान और अन्य अफसरों से लेकर मैसूर की प्रजा तक के प्रगाढ़ प्रेम का मैंने अनुभव किया था। अब आप लोग अच्छी तरह समझ सकते हैं कि आपके बीच आज पुनः आने से मुझे कितनी अधिक खुशी न हुई होगी। मैसूर के पितामह स्व० श्री वेंकटकृष्णय्या के चित्र का मेरे हाथ से उद्घाटन कराके आपने मेरा आन्तरिक आनन्द और भी बढ़ा दिया है। चित्रकार को उसकी कला-कुशलता पर मैं बधाई देता हूं। बड़ा ही सुन्दर और यथार्थ चित्रण किया है। कदाचित् आप सब यह न जानते होंगे कि उस दिवंगत महर्षि के सत्संग का आनन्द-लाभ मुझे उन दिनों कितना अधिक प्राप्त हुआ था। मैं उनके अनेक सद्गुणों से काफी परिचित हो गया था। मैंने तभी जान लिया था कि आप लोगों के हृदयों में उनके लिए एक खास स्थान है। मुझे विश्वास है कि उनके अनेक गुणों का बखान करते की आप मुझसे आशा न करते होंगे। आप तो यहां के निवासी ही ठहरे, इससे आपको मेरी अपेक्षा उनके गुणों का अधिक पता होगा। मैं तो केवल यही आशा करता हूं कि स्व० वेंकटकृष्णय्या के जिन गुणों का हम लोग आज आदर कर रहे हैं, उन्हें हम स्वयं अपने जीवन में उतारने की चेष्टा करेंगे। इस आत्म-प्रशंसा से सदा बचना ही अच्छा कि चलो, उस महान् आत्मा के चित्र का उद्घाटन गांधी के हाथ से करा दिया और उनकी स्मृति में एक अच्छा उत्सव भी हमने मना लिया! (ह० से०, १९.१.३४)

: ३६ :

तात्यासाहब केळकर

दोस्तों ने मुझसे कई बार पूछा कि तात्यासाहब केळकर जैसे महान देशभक्त की मृत्यु का उल्लेख क्यों नहीं किया, खासकर इसलिए कि वह मेरे राजनैतिक विरोधी थे और इससे भी ज्यादा इसलिए कि महाराष्ट्र के एक दल के लोगों में मेरे बारे में बहुत बड़ी गलतफहमी है। इन कारणों ने मुझे अपील नहीं किया, हालांकि मेरे टीकाकारों के मुताबिक इन्हीं कारणों को मुझे तात्यासाहब की मृत्यु का उल्लेख करने के लिए प्रेरित करना

चाहिए था।

मृत्यु जैसी बड़ी भारी घटना का साधारण नियम के अनुसार उल्लेख कर देना मैं बहुत अनुचित मानता हूं। लेकिन देर हो जाने पर भी अपने पुराने-से-पुराने दोस्त हरिभाऊ पाठक के आग्रह के कारण अब मुझे ऐसा करना चाहिए।

यह बात मैं एकदम स्वीकार कर लूंगा कि अगर महत्त्वपूर्ण जन्मों और मृत्युओं का उल्लेख करना 'हरिजन' के लिए साधारण नियम होता तो तात्यासाहब की मृत्यु का सबसे पहले उल्लेख किया जाना चाहिए। लेकिन 'हरिजन' पत्रों को ध्यान से पढ़नेवाले पाठकों ने देखा होगा कि 'हरिजन' ने ऐसे किसी नियम को नहीं माना है। इस तरह की घटनाओं का उल्लेख करना मेरे अवकाश और किसी समय की धुन पर निर्भर रहा है। पिछले कुछ अर्से से तो मैं नियम से अखबार भी नहीं पढ़ सका हूं।

इसके खिलाफ कोई कुछ भी कहे, लेकिन मेरे राजनैतिक विरोधी होते हुए भी तात्यासाहब को मैंने हमेशा अपना दोस्त माना था, जिनकी टीका से मुझे लाभ होता था। स्व० लोकमान्य के माने हुए अनुयायी के नाते मैं उन्हें जानता था और उनकी इज्जत करता था। मेरे खयाल में सन् १९१९ में अखिल भारत कांग्रेस कमेटी की एक बैठक में मैंने यह सिफारिश की थी कि कांग्रेस का एक विधान तैयार किया जाय और कहा था कि अगर लोकमान्य, तात्यासाहब को और देशबंधु श्री निशीथ सेन को मदद के लिए मुझे दे दें तो मैं विधान तैयार करके कांग्रेस के सामने पेश करने की जिम्मेदारी लेता हूं। अपने साथ काम करनेवाले इन दोनों सज्जनों की प्रशंसा में मुझे यह कहना चाहिए कि हालांकि मैंने समय पर विधान का अपना मसविदा उनके सामने पेश कर दिया, लेकिन उन्होंने कभी उसमें रुकावट नहीं डाली। विधान के मसविदे पर विचार करने के लिए जो कमेटी बैठी, उसमें तात्यासाहब ने हमेशा ऐसी टीका की, जिससे उसे सुधारने-संवारने में मदद मिली। इसके अलावा, मेरे सुझाव पर ही तात्यासाहब को हमेशा कांग्रेस वर्किंग कमेटी का सदस्य बनाया जाता था। मुझे ऐसा एक भी मौका याद नहीं आता, जब उनकी टीका—हालांकि वह कभी-कभी कड़वी होती थी—रचनात्मक न हुई हो। वह निडर थे, लेकिन सभ्य और मित्रता-भरे थे।

मुझे बहुत पहले यह मालूम हो चुका था कि वह मराठी के बड़े विद्वान लेखक थे। मुझे इस बात का अफसोस रहा है कि मराठी के तात्यासाहब और स्व० हरिनारायण आप्टे जैसे आधुनिक लेखकों की बुद्धि का अमृत-पान करने के लिए मराठी का काफी अध्ययन करने का मुझे कभी समय नहीं मिला। हिन्दुस्तानी आकाश के श्री नरसोपंत चिन्तामन केळकर जैसे चमकीले तारे के अस्त की उपेक्षा करना मेरे लिए असभ्य और अशोभन बात होगी। (ह० से०, ४.१.४८)

: ३७ :

केळकर (आइस डाक्टर)

डा० तळवळकर एक विचित्र प्राणी को लेकर आये। वह महाराष्ट्री हैं। उनको हिन्दुस्तान नहीं जानता। पर मेरे ही जैसे 'चक्रम' हैं, यह मैंने उन्हें देखते ही जान लिया। वह अपना इलाज मुझपर आजमाने के लिए आये थे। बम्बई के ग्रैंड मेडिकल कॉलेज में पढ़ते थे। पर उन्होंने द्वारका की छाप——उपाधि——प्राप्त न की थी। मुझे बाद में मालूम हुआ कि वह सज्जन ब्रह्मसमाजी हैं। उनका नाम है केळकर। बड़े स्वतन्त्र मिजाज के आदमी हैं। बरफ के उपचार के बड़े हिमायती हैं।

मेरी बीमारी की बात सुनकर जब वह अपने बरफ के उपचार मुझ-पर आजमाने के लिए आये तबसे हमने उन्हें 'आइस डाक्टर' की उपाधि दे रखी है। अपनी राय के बारे में वह बड़े आग्रही हैं। डिग्रीधारी डाक्टरों की अपेक्षा उन्होंने कई अच्छे आविष्कार किये हैं, ऐसा उन्हें विश्वास। वह अपना यह विश्वास मुझमें उत्पन्न नहीं कर सके, यह उनके और मेरे दोनों के लिए दुःख की बात है। मैं उनके उपचारों को एक हद तक तो मानता हूं; पर मेरा खयाल है कि उन्होंने कितने ही अनुमान बांधने में कुछ जल्दबाजी की है। उनके आविष्कार सच्चे हों या गलत, मैंने तो उन्हें उनके उपचार का प्रयोग अपने शरीर पर करने दिया। बाह्य उपचारों से अच्छा होना मुझे पसन्द था। फिर ये तो बरफ अर्थात् पानी के उपचार थे। उन्होंने मेरे सारे शरीर पर बरफ मलना शुरू किया। यद्यपि इसका फल

मुझपर उतना नहीं हुआ, जितना कि वह मानते थे, तथापि जो मैं रोज मृत्यु की राह देखता पड़ा रहता था सो अब नहीं रहा। मुझे जीने की आशा बंधने लगी। कुछ उत्साह भी मालूम होने लगा। मन के उत्साह के साथ-साथ शरीर में भी कुछ ताजगी मालूम होने लगी। खुराक भी थोड़ी बढ़ी। रोज पांच-दस मिनट टहलने लगा। "अगर आप अंडे का रस पियें तो आपके शरीर में इससे भी अधिक शक्ति आ जायगी, इसका मैं आपको विश्वास दिला सकता हूं, और अंडा तो दूध के ही समान निर्दोष वस्तु होती है। वह मांस तो हरगिज नहीं कहा जा सकता। फिर यह भी नियम नहीं है कि प्रत्येक अंडे से बच्चे पैदा होते ही हों। मैं साबित कर सकता हूं कि ऐसे निर्जीव अंडे सेये जाते हैं जिनमें से बच्चे पैदा नहीं होते।"—उन्होंने कहा। पर ऐसे निर्जीव अंडे लेने को भी मैं तो राजी न हुआ। फिर भी मेरी गाड़ी कुछ आगे चली और मैं आस-पास के कामों में थोड़ी-बहुत दिलचस्पी लेने लगा। (आ०, १९२७)

: ३८ :

केलप्पन

श्री केलप्पन मेरी राय में भारतवर्ष के अच्छे-से-अच्छे मूक सेवकों में से एक हैं। उन्हें कभी भी प्रतिष्ठित पद मिल सकता था। मलाबार के वह प्रसिद्ध लोक-सेवक हैं; परन्तु वह जानबूझकर 'दूरित' और 'अस्पृश्य' लोगों की सेवा में कूद पड़े हैं। वाईकोम के सत्याग्रह के समय मुझे उनके साथ काम करने का आनंद और सम्मान प्राप्त हुआ था। उसके पहले लंबे समय से और उसके बाद से उन्होंने दलित वर्ग की उन्नति में अपना जीवन लगाया है। जनता जानती है कि लम्बे समय तक राह देखने के बाद गुरुवायूर का मंदिर हरिजनों के लिए खुलवाने के प्रयत्न में उन्होंने प्राणार्पण करने का अटल निश्चय कर लिया था। (म० डा०, ५.११.३२)

: ३९ :

हरमन कैलेनबेक

मि० कैलेनबेक का टॉल्स्टॉय फार्म पर और सो भी हमारे जैसा रहना एक आश्चर्यजनक वस्तु थी। गोखले सामान्य बातों से आकर्षित होनेवाले पुरुष नहीं थे। कैलेनबेक के जीवन में यह महान परिवर्तन देखकर वह भी अत्यन्त आश्चर्य-चकित हो गये थे। मि० कैलेनबेक ने कभी धूप-जाड़ा नहीं सहा था, न किसी प्रकार की मुसीबत पहले उठाई थी। अर्थात् स्वच्छन्द जीवन को उन्होंने अपना धर्म बना लिया था। संसार के आनंदों का उप-भोग लेने में उन्होंने किसी प्रकार की कसर नहीं रहने दी थी। धन से जितनी भी चीजें खरीदी जा सकती हैं उन सबको प्राप्त करने के लिए उन्होंने कभी कुछ उठा नहीं रखा था।

ऐसे पुरुष का फार्म पर रहना, वहीं खाना-पीना, फार्मवासियों के जीवन के साथ अपनेको पूर्णतया मिला देना, कोई ऐसी-वैसी बात नहीं थी। भार-तीयों को इस बात पर बड़ा आश्चर्य और आनन्द भी हुआ। कितने ही गोरों ने तो उन्हें मूर्ख या पागल ही समझ लिया, कितनों के दिलों में उनकी त्याग-शक्ति के कारण उनके प्रति आदर बढ़ गया। कैलनबेक ने अपने त्याग पर न तो कभी पश्चात्ताप किया और न उन्हें वह दुःख-रूप मालूम हुआ। अपने वैभव से उन्हें जितना आनन्द प्राप्त हुआ था, उतना ही, बल्कि उससे भी अधिक, आनन्द वह अपने त्याग से पा रहे थे। सादगी से होनेवाले सुखों का वर्णन करते-करते वह तल्लीन हो जाते, यहां तक कि कई बार तो उनके श्रोताओं को भी इस सुख का आस्वाद करने की इच्छा हो जाती। छोटे-से लेकर बड़े तक सबके साथ वह इस तरह प्रेमपूर्वक हिल-मिल जाते कि उनका छोटे-से-छोटा वियोग भी सबके लिए असह्य हो जाता। फल-पौधों का उन्हें बड़ा शौक था, इसलिए बागवान का काम उन्होंने अपने अधीन रखा था और प्रतिदिन सुबह बालकों और बड़ों से उनकी कांट-छांट रक्षा वगैरह का काम लेते। मेहनत पूरी लेते, पर साथ ही उनका चेहरा इतना हँसमुख और स्वभाव ऐसा आनन्दमय था कि उनके साथ काम करते हुए सबको बड़ा आनन्द होता था। जब-जब कभी रात के दो बजे से उठकर

टॉल्स्टाय फार्म से कोई टोली जोहान्सबर्ग को पैदल जाती तो कैनलबेक बराबर उसके साथ पाये जाते।

उनके साथ धार्मिक संवाद हमेशा होते रहते थे। मेरे नजदीक अहिंसा, सत्य इत्यादि यमों को छोड़कर तो और कौन-सी बात हो सकती थी? सर्पादि जानवरों को मारना भी पाप है, इस विचार से जिस तरह दूसरे यूरोपियन मित्रों को आघात पहुंचा, ठीक उसी तरह पहले-पहल मि० कैलनबेक को भी पहुंचा; पर अन्त में तात्विक दृष्टि से उन्होंने इस सिद्धांत को कबूल कर लिया। हम लोगों के साथ सम्बन्ध होते ही इस बात को तो उन्होंने पहले ही मान लिया था कि जिस बात को बुद्धि स्वीकार करे उसपर अमल करना भी योग्य और उचित है। इसी कारण वह अपने जीवन में बड़े-से-बड़े परिवर्तन बिना किसी प्रकार के संकोच के एक क्षण में कर सकते थे।

अब तो, चूंकि सर्पादि को मारना अयोग्य पाया गया, इसलिए मि० कैनलबेक को उनकी मित्रता भी संपादन करने की इच्छा होने लगी। पहले-पहल तो उन्होंने भिन्न-भिन्न जाति के सांपों की पहचान जानने के लिए सांपों से सम्बन्ध रखनेवाली किताबें इकट्ठी कीं। उनसे उनको पता चला कि सभी सर्प जहरीले नहीं होते; बल्कि कितने ही तो खेती की फसल की रक्षा भी करते रहते हैं। हम सबको उन्होंने सर्पों की पहचान बताई और अन्त में एक जबरदस्त अजगर को उन्होंने पाला, जो फार्म में ही उन्हें मिल गया था। उसे वह रोज अपने हाथों से खिलाते थे। एक दिन नम्रतापूर्वक मैंने मि० कैलनबेक से कहा, "यद्यपि आपका भाव तो शुद्ध है तथापि अजगर शायद इसे समझ न सकता होगा; क्योंकि आपका प्रेम भय से मिश्रित है। इसको छोड़कर उसके साथ इस तरह क्रीड़ा करने की आपकी मेरी या किसीकी शक्ति नहीं है, और हम तो उसी हिम्मत को प्राप्त करना चाहते हैं। इसलिए इस सर्प के पालन में सद्भाव तो देखता हूं; पर अहिंसा नहीं देख सकता। हमारा कार्य तो ऐसा हो कि जिसे यह अजगर भी पहचान सके। यह तो हमारा हमेशा का अनुभव है कि प्राणिमात्र केवल भय और प्रीति इन दो ही बातों को समझते हैं। आप इस सर्प को जहरीला तो मानते ही नहीं। केवल इसका स्वभाव आदि जानने भर के लिए आपने इसे कद

कर रखा है। यह तो स्वच्छन्द हुआ। मित्रता में तो इसके लिए भी स्थान नहीं है।"

मि० कैलनबेक मेरी दलील को समझ गये; पर उनको यह इच्छा नहीं हुई कि अजगर को जल्दी छोड़ दें। मैंने किसी प्रकार का दबाव तो डाला ही नहीं। सर्प के बर्ताव में मैं भी दिलचस्पी ले रहा था। बच्चों को तो खूब आनन्द आ रहा था। सबसे कह दिया था कि उसे कोई सतावे नहीं; पर वह कैदी स्वयं ही अपनी राह ढूंढ़ रहा था। पिंजड़े का दरवाजा खुला रह गया या शायद उसीने उसे किसी तरह खोल लिया—परमात्मा जाने क्या हुआ—दो-चार दिन के अन्दर ही, एक दिन सुबह जब मि० कैलनबेक अपने कैदी को देखने के लिए गये तो उन्होंने पिंजड़े को खाली पाया। वह और मैं दोनों खुश हुए; पर इस प्रयोग के कारण सर्प हमेशा के लिए हमारी बातचीत का विषय हो गया। मि० कैलनबेक एक गरीब जर्मन को हमारे फार्म पर लाये थे। वह गरीब भी था और पंगु भी। उसकी जांघ इतनी टेढ़ी हो गई थी कि वह बिना लकड़ी के चल ही नहीं सकता था; पर वह बड़ा हिम्मतवर था। शिक्षित भी था, इसलिए सूक्ष्म बातों में भी बड़ी दिलचस्पी लेता था। फार्म पर वह भी भारतीयों का साथी बनकर सबसे हिलमिल-कर रहता था। उसने तो निर्भयता पूर्वक सर्पों के साथ खेलना तक शुरू कर दिया। छोटे-छोटे सर्पों को वह अपने हाथ में ले आता और अपनी हथेली पर उन्हें खिलाता था। कौन कह सकता है कि फार्म अधिक दिन तक चला होता तो इस जर्मन के प्रयोग का क्या परिणाम होता। इसका नाम आल्बर्ट था।

इस प्रयोग के कारण यद्यपि सांप का डर तो कम हो गया था तथापि कोई यह न समझ ले कि फार्म के अन्दर किसीको सांप का भय ही नहीं रहा अथवा सांप को मारने की सबको मनाई थी। हिंसा-अहिंसा और पाप का ज्ञान प्राप्त कर लेना एक बात है और उसके अनुसार आचरण करना दूसरी बात। जिसके दिल में सांप का डर है और जो प्राण-त्याग करने के लिए तैयार नहीं है, वह संकट के समय में सांप को कभी नहीं छोड़ेगा। मुझे याद है कि ऐसा ही एक किस्सा फार्म पर हुआ था। पाठकों ने यह तो स्वयं ही अंदाज से जान लिया होगा कि फार्म पर सर्पों का उपद्रव खूब रहा

होगा; क्योंकि हम लोग वहां गये उससे पहले वहां कोई बस्ती नहीं थी; बल्कि कितने ही समय से वह निर्जन ही था। एक दिन मि० कैलनबेक के कमरे में अचानक ऐसी जगह एक सांप दिखाई दिया, जहां से उसे भगाना या पकड़ना भी करीब-करीब असंभव था। पहले-पहल फार्म के एक विद्यार्थी ने उसे देखा। उसने मुझे बुलाया और पूछा—अब क्या करना चाहिए? उसे मारने की आज्ञा भी उसने चाही। वह बिना इजाजत भी सांप को मार सकता था; परन्तु साधारणतया क्या विद्यार्थी और क्या दूसरे, मुझसे बिना पूछे ऐसी कोई बात नहीं करते थे। इस सांप को मारने की इजाजत देना मैंने अपना धर्म समझा और आज्ञा दे भी दी। यह लिखते समय भी मुझे यह नहीं मालूम होता कि मैंने वह आज्ञा देने में कोई गलती की। सांप को हाथ में पकड़ने जितनी अथवा अन्य किसी प्रकार से फार्मवासियों को निर्भय कर देने जितनी शक्ति न तो मुझमें तब थी और न आज तक उसे प्राप्त कर सका हूं। (द० अ० स०, १९२५)

... ...

वॉकसरस्ट के लोगों ने दो दिन पहले ही सभा की थी। उसमें अनेक प्रकार का डर बताया गया था। कितनों ही ने तो यह कहा था कि यदि भारतीय ट्रांसवाल में प्रवेश करेंगे तो हम उनपर गोलियां चला देंगे। इस सभा में मि० कैलनबेक गोरों को समझाने के लिए गये थे; पर उनकी बात कोई सुनना ही नहीं चाहता था। कई तो उन्हें मारने के लिए उठ खड़े हो गये। मि० कैलनबेक स्वयं कसरती जवान हैं। सैंडों से उन्होंने कसरत सीखी थी। उनको यों डराना मुश्किल था। एक गोरे ने उन्हें द्वन्द्व-युद्ध के लिए आह्वान किया। कैलनबेक ने कहा, "मैंने शांति-धर्म को स्वीकार किया है। इसलिए आपकी इच्छा की पूर्ति करने में मैं असमर्थ हूं। पर मुझपर जिसे प्रहार करना हो, वह सुख-पूर्वक करे। मैं तो इस सभा में बोलता ही रहूंगा। आपने इसमें सभी गोरों को निमन्त्रित किया है। मैं आपको यह सुनाने के लिए आया हूं कि आपकी तरह सभी गोरे निर्दोष मनुष्यों को मारने के लिए तैयार नहीं हैं। एक ऐसा गोरा है, जो आपसे कह देना चाहता है कि आप भारतीयों पर जिन बातों का आरोप करते हैं, वे असत्य हैं। आप जो सोच रहे हैं वह भारतीय नहीं चाहते। उन्होंने तो आपके राज्य की आवश्यकता

है और न वे आपके साथ लड़ना चाहते हैं। वह तो शुद्ध न्याय के लिए पुकार उठा रहे हैं। ट्रांसवाल में हमेशा रहने के हेतु से वे प्रवेश नहीं कर रहे हैं, बल्कि उनपर जो अन्यायपूर्ण कर लादा गया है उसके खिलाफ सक्रिय पुकार उठाने के उद्देश्य से वे यह कर रहे हैं। वे बहादुर हैं, हुल्लड़बाज नहीं। वे आपके साथ लड़ेंगे नहीं, पर यदि आप उनपर गोलियां चलाएंगे तो उनको सहकर भी वे इसी तरह आगे बढ़ते जायंगे। आपकी बन्दूकों या बल्लम के डर से पीछे पैर नहीं हटाएंगे। वे तो स्वयं दुःख सहकर आपके हृदय को पिघला देनेवाले लोग हैं। बस यही कहने के लिए मैं यहां आया हूं। यह कहकर मैंने तो आपकी सेवा ही की है। आप सावधान हो जाइये और अन्याय से बचिये।" इतना कहकर मि० कैलनबेक शांत हो गये। गोरे कुछ शरमा गये। वह द्वन्द्व युद्ध करनेवाला कसरती जवान तो अब उनका मित्र हो गया। (द० अ० स०, १९२५)

... ...

हरमन कैलनबेक से मेरा परिचय युद्ध के पहले ही हुआ था। वह जर्मन हैं और यदि जर्मन-अंग्रेजों का युद्ध न होता तो वह आज भारत में होते। उनका हृदय विशाल है। वह बेहद भोले हैं। उनकी भावनाएं बड़ी तीव्र हैं। वह शिल्प का धन्धा करते हैं। ऐसा एक भी काम नहीं कि जिसे करते हुए उन्होंने ना की हो। जब मैंने जोहान्सबर्ग से अपना घरबार उठा लिया तब हम दोनों एक साथ ही रहते थे। मेरा खर्चा भी वही उठाते थे। घर तो खुद उन्हींका था। खाने वगैरह का खर्च देने की बात जब मैं उठाता तब वह बहुत चिढ़कर कहते कि उन्हें फिजूल-खर्ची से बचानेवाला तो मैं ही था और मुझे मना करते। उनके इस कथन में कुछ सार अवश्य था। पर गोरों के साथ मेरा जो व्यक्तिगत संबंध था, उसका वर्णन यहां नहीं किया जा सकता। गोखले दक्षिण अफ्रीका आये तब जोहान्सबर्ग में कैलनबेक के बंगाल में ही ठहराये गए थे। गोखले इस मकान से बड़े प्रसन्न हुए। उनको पहुंचाने के लिए कैलनबेक जंजीवार तक मेरे साथ आये थे। पोलक के साथ वह भी गिरफ्तार हो गये थे और जेल की सैर कर आये थे। अन्त में जब दक्षिण अफ्रीका छोड़कर गोखले से विलायत में मिलकर मैं भारत लौट रहा था तब कैलनबेक भी साथ में थे। पर लड़ाई के कारण उन्हें भारत आने की

आज्ञा नहीं मिली। अन्य जर्मनों के साथ इन्हें भी नजरबन्द रखा गया था। महायुद्ध के समाप्त होते ही वह फिर जोहान्सबर्ग चले गए हैं और उन्होंने अपना धंधा शुरू कर दिया है। जोहान्सबर्ग में सत्याग्रही कैदियों के कुटुंबों को एक साथ रखने का विचार जब हुआ तब मि० कैलनबेक ने अपना ११०० बीघे का खेत कौम को योंही बिना किराया लिये सौंप दिया।

(द० अ० स०, १९२५)

... ...

मेरी उनकी (मि० कैलनबेक की) मुलाकात अनायास हो गई थी। मि० खान के वह मित्र थे। मि० खान ने देखा कि उनके अंदर गहरा वैराग्य भाव था। इसलिए मेरा खयाल है कि उन्होंने उनसे मेरी मुलाकत कराई। जिन दिनों उनसे मेरा परिचय हुआ उन दिनों के उनके शौक और शाह-खर्ची को देखकर मैं चौंक उठा था; परन्तु पहली ही मुलाकात में मुझसे उन्होंने धर्म के विषय में प्रश्न किया। उसमें बुद्ध भगवान की बात सहज ही निकल पड़ी। तबसे हमारा संपर्क बढ़ता गया, वह इस हद-तक कि उनके मन में यह निश्चय हो गया कि जो काम में करूं वह उन्हें भी अवश्य करना चाहिए। वह अकेले के लिए मकान-खर्च के अलावा लगभग १२००) रुपये मासिक खर्च करते थे। यहां से अन्त को ठेठ इतनी सादगी पर आ गये कि उनका मासिक खर्च १२०) रुपये हो गया। मेरे घर-बार बिखेर देने और जेल से आने के बाद तो हम दोनों एक साथ रहने लगे थे। उस समय हम दोनों अपना जीवन अपेक्षाकृत बहुत कड़ाई के साथ बिता रहे थे।

दूध के संबंध में जब मेरा उनसे वार्तालाप हुआ तब हम शामिल रहते थे। एक बार मि० कैलनबेक ने कहा, "जब हम दूध में इतने दोष बताते हैं तो फिर छोड़ क्यों न दें ? वह अनिवार्य तो है ही नहीं।" उनकी इस राय को सुनकर मुझे बड़ा आनंद और आश्चर्य हुआ। मैंने तुरन्त उनकी बात का स्वागत किया और हम दोनों ने टॉल्स्टाय-फार्म में उसी क्षण दूध का त्याग कर दिया। यह बात १९१२ की है। (आ०, १९२७)

... ...

१९१४ ई० में जब सत्याग्रह-संग्राम का अन्त हुआ तब गोखले की इच्छा से मैंने इंग्लैंड होकर देश आने का विचार किया था। इसलिए जुलाई महीने

में कस्तूरबाई, कैलनबेक और मैं, तीनों विलायत के लिए रवाना हुए। सत्याग्रह-संग्राम के दिनों में मैंने रेल में तीसरे दर्जे में सफर शुरू कर दिया था। इस कारण जहाज में भी तीसरे दर्जे के ही टिकट खरीदे, परन्तु इस तीसरे दर्जे में और हमारे तीसरे दर्जे में बहुत अंतर है। हमारे यहां तो सोने-बैठने की जगह भी मुश्किल से मिलती है और सफाई की बात ही क्या पूछना! किंतु इसके विपरीत यहां के जहाजों में जगह काफी रहती थी और सफाई का भी अच्छा खयाल रखा जाता था। कंपनी ने हमारे लिए कुछ और भी सुविधाएं कर दी थीं। कोई हमको दिक न करने पाये, इस खयाल से एक पाखाने में ताला लगाकर उसकी ताली हमें सौंप दी गई थी और हम फलहारी थे, इसलिए हमको ताजे और सूखे फल देने की आज्ञा भी जहाज के खजांची को दे दी गई थी। मामूली तौर पर तीसरे दर्जे के यात्रियों को फल कम ही मिलते हैं और मेवा तो कतई नहीं मिलती। पर इस सुविधा की बदौलत हम लोग समुद्र पर बहुत शांति से दस दिन बिता सके।

इस यात्रा के कितने ही संस्मरण जानने योग्य हैं। मि० कैलनबेक को दूरबीनों का बड़ा शौक था। दो-एक कीमती दूरबीनें उन्होंने अपने साथ रखी थीं। इसके विषय में रोज हमारी आपस में बहस होती। मैं उन्हें यह जांचने की कोशिश करता कि यह हमारे आदर्श के और जिस सादगी को हम पहुंचना चाहते हैं उसके अनुकूल नहीं हैं। एक रोज तो हम दोनों में इस विषय पर गरमागरम बहस हो गई। हम दोनों अपनी कैबिन की खिड़की के पास खड़े थे।

मैंने कहा—"आपके और मेरे बीच ऐसे झगड़े होने से तो क्या यह बेहतर नहीं है कि इस दूरबीन को समुद्र में फेंक दें और इसकी चर्चा ही न करें?"

मि० कैलनबेक ने तुरन्त उत्तर दिना—"जरूर, इस झगड़े की जड़ को फेंक ही दीजिये।"

मैंने कहा—"देखो, मैं फेंके देता हूं!"

उन्होंने बे-रोक उत्तर दिया—"मैं सचमुच कहता हूं, फेंक दीजिये।"

और, मैंने दूरबीन फेंक दी। उसका दाम कोई सात पौंड था; परंतु उसकी कीमत उसके दाम की अपेक्षा मि० कैलनबेक के उसके प्रति मोह में

थी। फिर भी मि० कैलनबेक ने अपने मन को कभी इस बात का दुःख न होने दिया। उनके मेरे बीच तो ऐसी कितनी ही बातें हुआ करती थीं। यह तो उसका एक नमूना पाठकों को दिखाया। (आ०, १६२७)

... ...

कैलनबेक मुझसे कहा करता था कि तुम इतनी तेजी से आगे बढ़ रहे हो कि आखिर तुम्हें सब छोड़ देंगे, वे तुम्हारे साथ आगे बढ़ नहीं सकेंगे। मैंने कहा कि तुम भी छोड़ दोगे? तो कहने लगा, "मैं कैसे छोड़ सकता हूं। हम तो एक जान दो शरीर जैसे हैं और मैंने तुमको अपनी गरज के लिए ढूंढ़ा है, तुमने मुझे नहीं ढूंढ़ा। मैं तो तुम्हें कभी नहीं छोड़ सकता।" मगर अब तो वह भी छूट गया है। उसके विचार भी मुझसे अलग पड़ गये हैं। यहूदियों के बारे में उसका इतना पक्षपात है कि क्या कहना! वह मानता है कि जर्मनी यहूदियों का दुश्मन है और जर्मनी से लड़नेवाले अंग्रेजों के साथ में लड़ रहा हूं। उसका वह समर्थन नहीं कर पाया। जब वह यहां आया था तब मैंने उसे बहुत समझाया था कि क्यों मैंने यहूदियों को हिंसा से भरे हुए कहा है। आज तो वे हिंसा को ही अपने हृदय में पोषण दे रहे हैं। मन में हिंसा रहे तो बाहर की अहिंसा का कोई अर्थ नहीं रहता। वह मेरी बात कुछ समझा भी सही। मैंने उसे इस आशय का एक खुला पत्र यहूदियों को लिखने को कहा था। उसने लिखा भी, मगर उसे ऐसा लगता था कि इस बारे में उसकी कौन सुनेगा। इसलिए अखबारों में भेजा नहीं। मैंने कहा, "भले न सुने, तुम अपना धर्म पूरा करो। भले ही फिलस्तीन में जाकर लड़ो और मर जाओ, यह मैं सहन करूंगा, मगर आज जैसे यहूदियों का चल रहा है वह असह्य है। हृदय में हिंसा है तो बाहर इससे उल्टा बताने में कोई अर्थ नहीं।" (का० क० १६.६.४२)

: ४० :

कोट्स

दूसरे दिन एक बजे मैं मि० बेकर के प्रार्थना-समाज में गया। वहां कुमारी हैरिस, कुमारी गेब, मि० कोट्स आदि से परिचय हुआ। सबने

घुटने टेककर प्रार्थना की। मैंने भी उनका अनुकरण किया। प्रार्थना में जिसका जो मन चाहता, ईश्वर से मांगता। दिन शांति के साथ बीते, ईश्वर हमारे हृदय के द्वार खोलो, इत्यादि प्रार्थना होती। उस दिन मेरे लिए भी प्रार्थना की गई। 'हमारे साथ जो यह नया भाई आया है, उसे तू राह दिखाना। तूने जो शांति हमें प्रदान की है, वह इसे भी देना। जिस ईसामसीह ने हमें मुक्त किया है, वह इसे भी मुक्त करे। यह सब हम ईसामसीह के नाम पर मांगते हैं।' इस प्रार्थना में भजन-कीर्तन न होते। किसी विशेष बात की याचना ईश्वर से करके अपने-अपने घर चले जाते। यह समय सबके दोपहर के भोजन का होता था, इसलिए सब इस तरह प्रार्थना करके भोजन करने चले जाते। प्रार्थना में पांच मिनट से अधिक समय न लगता।

कुमारी हैरिस और कुमारी गेब की अवस्था प्रौढ़ थी। मि० कोट्स क्वेकर थे। ये दोनों महिलाएं साथ रहतीं। उन्होंने मुझे हर रविवार को चार बजे चाय पीने के लिए अपने यहां आमंत्रित किया। मि० कोट्स जब मिलते तब हर रविवार को उन्हें मैं अपना साप्ताहिक धार्मिक रोजनामचा सुनाता। मैंने कौन-कौनसी पुस्तकें पढ़ीं, उनका असर मेरे दिल पर हुआ, इसकी चर्चा होती। ये कुमारिकाएं अपने मीठे अनुभव सुनातीं और अपने को मिली परम-शांति की बातें करतीं।

मि० कोट्स एक शुद्ध भाववाले कट्टर युवक क्वेकर थे। उनसे मेरा घनिष्ठ संबंध हो गया। हम बहुत बार साथ घूमने भी जाते। वह मुझे दूसरे भाइयों के यहां ले जाते।

कोट्स ने मुझे किताबों से लाद दिया। ज्यों-ज्यों वह मुझे पहचानते जाते त्यों-त्यों जो पुस्तकें उन्हें ठीक मालूम होतीं, मुझे पढ़ने के लिए देते। मैंने भी केवल श्रद्धा के वशीभूत होकर उन्हे पढ़ना मंजूर किया। इन पुस्तकों पर हम चर्चा भी करते।

ऐसी पुस्तकें मैंने १८९३ में बहुत पढ़ीं। अब सबके नाम मुझे याद नहीं रहे हैं। कुछ ये थीं—सिटी टेंपलवाले डा० पारकर की टीका, पियर्सन की 'मेनी इनफॉलिबल प्रूफ्स', बटलर कृत 'एनेलॉजी' इत्यादि। कितनी ही बातें समझ में न आतीं, कितनी ही पसंद आतीं, कितनी ही न आतीं। यह सब कोट्स से कहता। 'मेनी इनफॉलिबल प्रूफ्स' के मानी हैं 'बहुत-से दृढ़ प्रमाण',

अर्थात् बाइबिल में रचयिता ने जिस धर्म का अनुभव किया उसके प्रमाण। इस पुस्तक का असर मुझपर बिलकुल न हुआ। पारकर की टीका नीति-वर्द्धक मानी जा सकती है; परंतु वह उन लोगों की सहायता नहीं कर सकती जिन्हें ईसाई-धर्म की प्रचलित धारणाओं पर संदेह है। बटलर की 'एनेलाजी' बहुत क्लिष्ट और गंभीर मालूम हुई। उसे पांच-सात बार पढ़ना चाहिए। वह नास्तिक को आस्तिक बनाने के लिए लिखी गई मालूम हुई। उसमें ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए जो युक्तियां दी गई हैं, उनसे मुझे लाभ न हुआ; क्योंकि यह मेरी नास्तिकता का युग न था! और जो युक्तियां ईसामसीह के अद्वितीय अवतार के संबंध में अथवा उसके मनुष्य और ईश्वर के बीच संधि-कर्त्ता होने के विषय में दी गई थीं, उनकी भी छाप मेरे दिल पर न पड़ी।

पर कोट्स पीछे हटनेवाले आदमी न थे। उनके स्नेह की सीमा न थी। उन्होंने मेरे गले में वैष्णव की कंठी देखी। उन्हें यह वहम मालूम हुआ और देखकर दुःख हुआ। "यह अंध-विश्वास तुम जैसों को शोभा नहीं देता। लाओ, तोड़ दूं।"

"यह कंठी तोड़ी नहीं जा सकती। माताजी की प्रसादी है।"

"पर इसपर तुम्हारा विश्वास है?"

"मैं इसका गूढ़ार्थ नहीं जानता। यह भी नहीं भासित होता कि यदि इसे न पहनूं तो कोई अनिष्ट हो जायगा; परन्तु जो माला मुझे माताजी ने प्रेम-पूर्वक पहनाई है, जिसे पहनाने में उसने मेरा श्रेय माना, उसे मैं बिना प्रयोजन नहीं निकाल सकता। समय पाकर जीर्ण होकर जब वह अपने-आप टूट जायगी तब दूसरी मंगाकर पहनने का लोभ मुझे न रहेगा; पर इसे नहीं तोड़ सकता।"

कोट्स मेरी इस दलील की कद्र न कर सके; क्योंकि उन्हें तो मेरे धर्म के प्रति ही अनास्था थी। वह तो मुझे अज्ञान-कूप से उबारने की आशा रखते थे। वह मुझे यह बताना चाहते थे कि अन्य धर्मों में थोड़ा-बहुत सत्यांश भले ही हो; परन्तु पूर्ण सत्य-रूप ईसाई-धर्म को स्वीकार किये बिना मोक्ष नहीं मिल सकता और ईसामसीह की मध्यस्थता के बिना पाप-प्रक्षालन नहीं हो सकता तथा पुण्य-कर्म सारे निरर्थक है। कोट्स ने जिस

प्रकार पुस्तकों से परिचय कराया उसी प्रकार उन ईसाईयों से भी कराया, जिन्हें वह कट्टर समझते थे। इनमें एक प्लीमथ ब्रदर्स का भी परिवार था।

'प्लीमथ ब्रदरन्' नामक एक ईसाई-सम्प्रदाय है। कोट्स के कराये बहुतेरे परिचय मुझे अच्छे मालूम हुए। ऐसा जान पड़ा कि वे लोग ईश्वर-भीरु थे; परन्तु इस परिवारवालों ने मेरे सामने यह दलील पेश की—"हमारे धर्म की खूबी ही तुम नहीं समझ सकते। तुम्हारी बातों से हम देखते हैं कि तुम हमेशा बात-बात में अपनी भूलों का विचार करते हो, हमेशा उन्हें सुधारना पड़ता है, न सुधरें तो उनके लिए प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इस क्रियाकांड से तुम्हें मुक्ति कब मिल सकती है? तुमको शांति तो मिल ही नहीं सकती। हम पापी हैं, यह तो आप कबूल ही करते हैं। अब देखो हमारे धर्म-मन्तव्य की परिपूर्णता। वह कहता है, मनुष्य का प्रयत्न व्यर्थ है। फिर भी उसे मुक्ति की तो जरूरत है ही। ऐसी दशा में पाप का बोझ उसके सिर से उतरेगा किस तरह? इसकी तरकीब यह कि हम उसे ईसामसीह पर ढो देते हैं; क्योंकि वह तो ईश्वर का एकमात्र निष्पाप पुत्र है। उसका वरदान है कि जो मुझे मानता है वह सब पापों से छूट जाता है। ईश्वर की यह अगाध उदारता है। ईसामसीह की इस मुक्ति-योजना को हमने स्वीकार किया है, इसलिए हमारे पाप हमें नहीं लगते। पाप तो मनुष्य से होते ही हैं। इस जगत् में बिना पाप के कोई कैसे रह सकता है? इसलिए ईसामसीह ने सारे संसार के पापों का प्रायश्चित एकबारगी कर लिया। उसके इस बलिदान पर जिसकी श्रद्धा हो वही शांति प्राप्त कर सकता है। कहां तुम्हारी शांति और कहां हमारी शांति!"

यह दलील मुझे बिल्कुल न जंची। मैंने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—"यदि सर्वमान्य ईसाई-धर्म यही हो, जैसा कि आपने बयान किया है तो इससे मेरा काम नहीं चल सकता। मैं पाप के परिणाम से मुक्ति नहीं चाहता। मैं तो पाप-प्रवृत्ति से, पाप-कर्म से मुक्ति चाहता हूं। जबतक वह न मिलेगी, मेरी अशांति मुझे प्रिय लगेगी।

प्लीमथ ब्रदर ने उत्तर दिया—"मैं तुमको निश्चय से कहता हूं कि तुम्हारा यह प्रयत्न व्यर्थ है। मेरी बात पर फिर से विचार करना।"

और इन महाशय ने जैसा कहा था वैसा ही कर भी दिखाया—जान-

बूझकर बुरा काम कर दिखाया।

परन्तु तमाम ईसाइयों की मान्यता ऐसी नहीं होती, यह बात तो मैं इनसे परिचय होने के पहले भी जान चुका था। कोट्स खुद पाप-भीरु थे। उनका हृदय निर्मल था, वह हृदय-बुद्धि की संभावना पर विश्वास रखते थे। वह बहनें भी इसी विचार की थीं। जो-जो पुस्तकें मेरे हाथ आईं उनमें कितनी ही भक्तिपूर्ण थीं, इसलिए प्लीमथ ब्रदर्स के परिचय से कोट्स को जो चिन्ता हुई थी उसे मैंने दूर कर दिया और उन्हें विश्वास दिलाया कि प्लीमथ ब्रदर की अनुचित धारणा के आधार पर मैं सारे ईसाई-धर्म के खिलाफ अपनी राय न बना लूंगा। मेरी कठिनाइयां तो बाइबिल तथा उसके रूढ़ अर्थ के सम्बन्ध में थीं। (आ०, १९२७)

: ४१ :

मणिलाल कोठारी

हरिजन-आन्दोलन इतनी तेजी से शुरू हुआ उसके पहले से ही मणिलाल कोठारी को मैं जानता था और जबसे मेरा उनसे परिचय हुआ तभी मैंने यह देख लिया था कि उनमें छूत-छात की ज़रा भी गन्ध नहीं थी। हरिजनों की सहायता करते हुए जो जोखिम उठानी चाहिए, उसे उठाने को वह हमेशा तैयार रहते थे। अगर यह कहा जाय कि अच्छे कामों के लिए पैसा इकट्ठा करने की उनमें अद्वितीय शक्ति थी तो इनमें कोई अतिशयोक्ति नहीं। उनमें यों तो बहुत-सी शक्तियां थीं, किन्तु पारमार्थिक कार्यों के लिए धन-संग्रह करने की उनमें जो शक्ति थी, उसके लिए तो लोग हमेशा ही उन्हें याद करेंगे। हरिजन-कार्य के लिए उन्होंने काफी पैसा इकट्ठा किया था और हिम्मत के साथ मुझसे कहा था कि अगर मैं अच्छा हो जाऊं तो जितना पैसा आपको चाहिए उतना ला दूंगा। पैसा इकट्ठा करा देने के लिए जहां-तहां से उनके पास मांगें आती ही रहती थीं। मणिलाल तीव्र लगन के आदमी थे। कोई भी पारमार्थिक काम हो, वह उन्हें अपनी तरफ खींच सकता था। सेवा करने का उनका लोभ उन्हें चाहे जिस जोखिम में उतार सकता था। उनकी कमी उनके कुटुंब को तो खटकेगी ही हरिजनों को भी

खटकेगी, पर दूसरे अनेक सेवा-क्षेत्रों में उनके अभाव की बहुत समय तक याद रहेगी, इसमें सन्देह नहीं।

ईश्वर उनकी आत्मा को शांति प्रदान करे। (ह० से०, २३.१०.३७)

: ४२ :

धर्मानन्द कौसम्बी

[बौद्ध विद्वान श्री कौसम्बी की मृत्यु का समाचार देते हुए गांधीजी ने कहा :]

शायद आपने उनका नाम नहीं सुना होगा। इसलिए शायद आप दुःख मानना नहीं चाहेंगे। वैसे किसी मृत्यु पर हमें दुःख मानना चाहिए भी नहीं; लेकिन इन्सान का स्वभाव है कि वह अपने स्नेही या पूज्य के मरने पर दुःख मानता ही है। हम लोग ऐसे बने हैं कि जो अपने काम की डुग्गी पिटवाता फिरता है और राज्य-कारण में उछालें भरता है, उसको तो हम आसमान पर चढ़ा देते हैं; लेकिन मूक काम करनेवालों को नहीं पूछते।

कौसम्बीजी ऐसे ही एक मूक कार्यकर्त्ता थे। उनका जन्म गोवा में हुआ था। जन्म से वह हिन्दू थे, पर उनको ऐसा विश्वास बैठ गया था कि बौद्ध धर्म में अहिंसा, शील आदि जितने बढ़े-चढ़े हैं, उतने दूसरे धर्म में, वेद-धर्म में भी नहीं हैं। इसलिए उन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार किया और बौद्ध शास्त्रों के अध्ययन में लग गये और उसमें इतने बड़े विद्वान् हो गये कि शायद ही हिन्दुस्तान में उनकी बराबरी का और कोई हो। उन्होंने गुजरात विद्यापीठ व काशी विद्यापीठ में पाली भाषा पढ़ाई और अपनी अगाध विद्वत्ता का ज्ञान-दान किया था।

उन्होंने मेरे पास १०००) भेज दिये, जो किसीने उनको दिये थे। उन्होंने मुझको लिखा था कि किसीको पाली पढ़ने के लिए लंका भेज देना। लेकिन मैंने उनसे पूछा कि क्या लंका जाकर पढ़ने से किसीको बौद्ध धर्म प्राप्त हो जायगा ? मैंने तो दुनिया में बौद्धों से कहा है कि आपको अगर बौद्ध धर्म जानना है तो आप उसके जन्म-स्थान भारत में ही उसे पायेंगे। जहांपर वेद-धर्म से वह निकला है, वहीं आपको उसे खोजना है और

शंकराचार्य जैसे अद्वितीय विद्वान, जो प्रच्छन्नबुद्ध कहलाये, उनके ग्रन्थों को भी आप समझेंगे तब बौद्धधर्म का गूढ़ रहस्य आप जान पायेंगे।

लेकिन कौसंबीजी की विद्वत्ता से मैं अपनी तुलना नहीं कर सकता। मैं तो इंग्लैंड में भोज खाकर बना हुआ बैरिस्टर हूं। मेरे पास संस्कृत का ज्ञान जरा-सा है। अगर आज मैं महात्मा बना हूं तो इसलिए नहीं कि अंग्रेजी का बैरिस्टर हूं, पर इसलिए कि मैंने सेवा की है और वह सेवा सत्य और अहिंसा के द्वारा की है। इस सत्य और अहिंसा की पूजा में जो थोड़ी-सी सफलता मुझे मिलती चली गई उसी के कारण आज मेरी थोड़ी-बहुत पूछ है।

कौसंबीजी की समझ में यह समा गया कि अब यह शरीर अधिक काम करने के योग्य नहीं रहा है तो उन्होंने अनशन करके प्राण-त्याग करने की ठानी। टंडनजी के कहने पर मैंने उनका अनशन उनकी (कौसंबीजी की) अनिच्छा से तुड़वाया; पर उनका हाजमा बहुत खराब हो चुका था और कुछ भी खुराक ले ही नहीं सकते थे। तब दुबारा सेवाग्राम में चालीस दिन तक केवल जल पर ही रहकर उन्होंने शरीरान्त किया। बीमारी में नाम-मात्र की सेवा और औषधि भी नहीं ली। जन्मस्थान गोवा में जाने का मोह भी उन्होंने तजा और अपने पुत्र आदि को अपने पास न आने की आज्ञा दी। मृत्यु के बाद के लिए कह गये कि 'मेरा कोई स्मारक न बनाया जाय।' शरीर को जलाने या दफनाने में जो सस्ता पड़े वह किया जाय और इस तरह उन्होंने बुद्ध का नाम रटते-रटते अंतिम गहरी निद्रा ली, जो हरेक जन्मवाले को कभी-न-कभी लेनी ही है। मृत्यु हरेक का परम मित्र है, वह अपने कर्म के मुताबिक आवेगा ही। भले ही कोई यह बता दे कि अमुक का जन्म अमुक समय होगा, पर मौत कब आवेगी यह कोई भी आज तक नहीं बता पाया है। (प्रा० प्र० ५.६.४७)

... ...

प्रोफेसर कोसंबी बड़े विद्वान थे और पाली भाषा में अग्रगण्य माने जाते थे। वह अभी-अभी सेवा-ग्राम-आश्रम में चल बसे। उनके बारे में वहां के संचालक बलवंतसिंह का पत्र है, जिसमें कहा गया है कि ऐसी मृत्यु आज तक मैंने नहीं देखी। यह तो बिल्कुल ऐसी हुई जैसी कबीरजी ने बताई हैं :

दास कबीर जतन सों ओढ़ी,
ज्यों-की-त्यों धर दीनी चदरिया।

इस तरह हम सभी लोग मृत्यु की मैत्री साध लें तो हिन्दुस्तान का भला ही होनेवाला है। (प्रा० प्र०, ८.६.४७)

: ४३ :

सरदार खडगसिंह

जेल की चहारदीवारी से बाहर अपने बीच सरदार खडगसिंह को पुन: राष्ट्रीय काम करते हुए देखकर प्रत्येक देशभक्त को आनन्द होगा। अपने दुर्दमनीय स्वभाव और छुटकारा पाने के लिए अधिकारियों के सामने अपना सिर झुकाने से इन्कार करने के कारण अपने देशभाइयों के हृदय में उन्होंने बहुत ऊंचा स्थान प्राप्त कर लिया है। परमात्मा से प्रार्थना है कि इस स्वाधीनता के युद्ध में वह वर्षों तक देश की सेवा करें।

(हि० न०, २३.६.२७)

: ४४ :

डा० एन० बी० खरे

पिछले सप्ताह डा० खरे और उनकी हरिजन-सेवक-समिति ने मेरे प्रवास के कार्य-क्रम के सम्बन्ध में बड़ी ही सुन्दर व्यवस्था की थी। डाक्टर खेर को स्वेच्छा से काम करनेवाले अनेक सुयोग्य साथियों की सहायता न मिलती तो यह कार्यक्रम पूरा नहीं हो सकता था। डाक्टरसाहब ने, हृदय की पुरानी व्याधि से पीड़ित होते हुए भी, इन कठिन दिनों में परिश्रम करने में कोई कसर उठा नहीं रखी और अपने साथियों से भी उन्होंने खूब काम लिया। नागपुर की विराट् सभा में बिजली की सैकड़ों बत्तियां लगाने और ऊंचा पक्का मंच तैयार करने में जो खर्चा पड़ा वह कुछ सज्जनों ने आपस में ही इकट्ठा करके दे दिया था। दान की थैलियों में से इस खर्चे के लिए एक पैसा भी नहीं निकाला गया। उन दिनों श्री गणपत राव टिकेकर

का मकान, जहां मैं ठहरा हुआ था, एक तरह से धर्मशाला बन गया था। टिकेकर-बन्धुओं ने हमारे बड़े दल को तथा दूसरे कार्यों के सम्बन्ध में आये हुए अन्य लोगों को आराम और सुविधाएं पहुंचाने में परिश्रम तथा खर्च में जरा भी कमी नहीं रखी। मैंने देखा कि नागपुर और आस-पास के गांवों में मेरे दौरे को सफल बनाने में कांग्रेसवालों एवं अन्य दूसरे लोगों ने पूरा सहयोग दिया। इसमें सन्देह ही नहीं कि उन सबके सहयोग से मेरा यह दौरा सफल हुआ। डाक्टर खरे और उनके साथियों ने इस अवसर पर जो असीम परिश्रम किया इसके लिए मैं उन्हें धन्यवाद देता हूं। इस महान् शुद्धि-कार्य में जो परिश्रम और सावधानी उन्होंने दिखाई, वह आवश्यक ही थी।

(ह० से०, २४.११.३३)

: ४५ :

नारायण मोरेश्वर खरे

हाल ही में स्थापित हुए सत्याग्रह आश्रम के लिए एक अच्छा संगीत-शिक्षक देने को जब मैंने स्वर्गीय मगनलाल गांधी को पं० विष्णु दिगम्बर के पास भेजा तो पंडित विष्णु दिगम्बर जी समझ गये कि मैं किस तरह का आदमी चाहता हूं। पंडित खरे का उन्होंने जो चुनाव किया वह ठीक ही निकला, क्योंकि जिस काम के लिए उन्हें लाया गया उसे उन्होंने इतनी अच्छी तरह किया, जिससे अच्छी तरह और किसीने न किया होता। उनकी मृत्यु से जो स्थान खाली हुआ है, वह शायद खाली ही बना रहेगा; क्योंकि जिन्होंने कला को अपनाया है, उनमें ऐसे बहुत कम हैं, जिन्होंने उसमें पड़कर भी अपने जीवन को शुद्ध और निर्दोष बनाये रखा हो। बल्कि हम लोगों में किसी कदर यह भावना-सी जम गई है कि कला का व्यक्तिगत जीवन की शुद्धता से कोई सरोकार नहीं है। लेकिन अपने सारे अनुभव के आधार पर मैं कह सकता हूं कि इससे असत्य और कोई बात नहीं हो सकती। ज्यों-ज्यों मैं अपने पार्थिव जीवन के अन्त पर आ रहा हूं, मैं यह कह सकता हूं कि जीवन की शुद्धता ही सबसे ऊंची और सच्ची कला है। कृत्रिम आवाज से सुन्दर संगीत पैदा करने की कला तो बहुत लोग हासिल कर सकते हैं, लेकिन

शुद्ध जीवन की एकरसता से उस संगीत को पैदा करने की कला विरले ही प्राप्त करते हैं। पंडित खरे उन्हीं विरले व्यक्तियों में से थे, जिन्होंने सम्पूर्णता के साथ उस कला को प्राप्त किया है। ऐसा कोई अवसर नहीं हुआ जबकि उनके जीवन की शुद्धता के बारे में मुझे जरा-सा भी सन्देह हुआ हो।

पंडितजी ने संगीत में गुजरात का जो रस पैदा किया है, उससे गुजरात को बराबर जारी रखना चाहिए। मैं आशा करता हूं कि उनके दोनों बच्चे उन्हींके योग्य साबित होंगे और उनकी वीर पत्नी अपने त्यागमय जीवन के द्वारा भारतीय विधवा का आदर्श उपस्थित करेंगी, इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है। रही पंडितजी की बात, सो यह तो ठीक है कि अपने जीवन के मध्यकाल में ही उनकी मृत्यु हो गई है, लेकिन उनकी मौत ऐसी मौत है कि हरेक उसके लिए ईर्षा करेगा; क्योंकि इस पुण्य में काम करते हुए उनकी मृत्यु हुई है और अपनी मृत्यु का ज्ञान हो जाने के कारण राम-नाम का उच्चारण करते हुए तथा उसी पवित्र नाम की ध्वनि श्रवण करते हुए उनका अवसान हुआ है। ईश्वर करे कि गुजरात उनके मृदु स्मरण को सुरक्षित रखे! (ह० से० १६.२.३८)

... ...

तार माना जा सकने जैसा नहीं है। जब तुमने बीमारी की बात कही थी तब मन में कुछ खटका हुआ था; लेकिन तुरन्त ही उनकी उपेक्षा कर दी और यह मानकर बैठ गया कि उनका कुछ बिगड़ेगा नहीं। दूसरे पंडितजी का मिलना अशक्य समझता हूं। संगीत और श्रेष्ठ नीति का मेल कहां ढूंढूंगा? (मृत्यु पर दिया गया तार)

: ४६ :

खान अब्दुल गफ्फार खां

खान अब्दुल गफ्फार खां के सम्पर्क में आने की अभिलाषा तो मुझे हमेशा रही है, लेकिन गत वर्ष के आखिरी महीनों से पहले मुझे कभी ऐसा अवसर नहीं मिला कि मैं कुछ समय तक उनके साथ रहता। परन्तु हजारी-बाग जेल से छूटने के बाद, सौभाग्यवश शीघ्र ही, न केवल खान अब्दुल गफ्फार

खां, बल्कि उनके भाई डा० खानसाहब भी मेरे पास आ गये। भाग्य की बात है कि २७ दिसम्बर तक सीमाप्रान्त में उनका प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया और कांग्रेस के आदेश के अनुसार वह आज्ञा भंग कर नहीं सकते थे। अतः उन्होंने वर्धा में सेठ जमनालाल बजाज का आतिथ्य स्वीकार कर लिया। इस प्रकार मुझे इन भाइयों के घनिष्ठ सम्पर्क में आने का मौका मिल गया। जितना-जितना मैं उन्हें जानता गया, उतना ही अधिक मैं उनकी ओर आकर्षित होने लगा। उनकी पारदर्शी सचाई, स्पष्टवादिता और हद दर्जे की सादगी का मुझपर बहुत प्रभाव पड़ा। साथ ही मैंने यह भी देखा कि सत्य और अहिंसा में केवल नीति के तौर पर नहीं, वरन् ध्येय के रूप में उनका विश्वास हो गया है। छोटे भाई खान अब्दुल गफ्फार खां तो मुझे गहरी धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत प्रतीत हुए; परंतु उनके विचार संकीर्ण नहीं हैं। मुझे तो वह विश्वप्रेमी मालूम पड़े। उनमें यदि कुछ राजनीतिकता है तो उसका आधार उनका धर्म है। और डाक्टर-साहब की तो कोई राजनीति है ही नहीं। ('दो खुदाई खिदमतगार' की भूमिका)

... ...

खुदाई खिदमतगार चाहे जैसे हों, या अन्त में वे चाहे जैसे साबित हों, पर उनके नेता के बारे में तो, जिसे वह बादशाह खान कहकर खुश होते हैं, कोई सन्देह नहीं हो सकता। वह तो असंदिग्ध रूप से ईश्वर-भीरु पुरुष हैं। उसकी प्रतिक्षण की अखण्ड उपस्थिति में उनकी परम श्रद्धा है और वह बखूबी जानते हैं कि उनका आंदोलन तभी प्रगति करेगा जब ईश्वर की वैसी इच्छा होगी। ईश्वर के इस कार्य में अपनी सारी आत्मा को उंडेलकर, परिणाम की वह बहुत ज्यादा फिक्र नहीं करते। उनके लिए तो यह महसूस करना ही काफी है कि अहिंसा को उसके पूरे रूप में स्वीकार किये बगैर पठानों की मुक्ति नहीं। इस बात में वह कोई गौरव अनुभव नहीं करते कि पठान अच्छे लड़ाका हैं। वह उनकी बहादुरी की तो कद्र करते हैं, लेकिन उनका ऐसा खयाल है कि बहुत ज्यादा प्रशंसा से उसे बिगाड़ दिया गया है। अपने पठानों को वह समाज के गुंडों के रूप में नहीं देखना चाहते। उनका यह विश्वास है कि पठानों को अज्ञान में रखकर उनसे अपनी स्वार्थ-

सिद्धि की गई है। वह पठानों को और अधिक वीर बनाना चाहते हैं और चाहते हैं कि उनकी वीरता के साथ सच्चे ज्ञान का भी समावेश हो जाय। उनका खयाल है कि ऐसा केवल अहिंसा के द्वारा ही हो सकता है।

और चूंकि खानसाहब अहिंसा में विश्वास करते हैं, इसलिए उन्होंने चाहा कि खुदाई खिदमतगारों के बीच जितने अधिक समय तक मैं रह सकूं उतने अधिक समय तक रहूं। मुझे तो वहां आने के लिए किसी प्रलोभन की जरूरत नहीं थी; क्योंकि मैं तो खुद ही उनसे परिचय प्राप्त करने के लिए उत्सुक था और उनके दिलों तक पहुंचना चाहता था। अब भी मैं ऐसा कर सकता हूं या नहीं, यह मैं नहीं जानता। बहरहाल, मैंने प्रयत्न तो किया ही है।

लेकिन यह बताने से पहले कि यह मैंने किस तरह और किस हद तक किया, मुझे एक शब्द खानसाहब की मेजबानी के बारे में भी जरूर कह देना चाहिए। इस सारे दौरे में उन्हें इस बात की बड़ी ही फिक्र रही कि मुझे जितनी भी सुविधा पहुंचाई जा सकती हो उतनी पहुंचाई जाय। मुझे किसी किस्म की दिक्कत या कमी न होने देने के लिए उन्होंने कोई बात उठा नहीं रखी। मेरी सभी जरूरतों का वह पहले से ही अन्दाज लगा लेते थे, और उन्होंने जो कुछ किया उसमें कोई दिखावा नहीं था; बल्कि उनके लिए वह सब बिल्कुल स्वाभाविक था। उन्होंने जो कुछ किया, सब दिल से किया। फरेब या बनावट तो उनमें है ही नहीं। दिखावे से तो वह बिलकुल दूर हैं। इसलिए वह जो भी देख-भाल रखते वह न तो अखरती और न उससे मेरे काम में कोई रुकावट ही पड़ती। यही कारण है कि तक्षशिला में जब हम एक दूसरे से जुदा हुए तो हमारी आंखें भर आईं। जुदाई मुश्किल थी, और इसी आशा में हम एक दूसरे से विदा हुए कि शायद अगले मार्च में ही हम फिर मिलेंगे। सीमाप्रांत मेरे लिए ऐसी जगह बना रहना आवश्यक है, जहां मैं अक्सर जाता रहूं; क्योंकि शेष भारत सच्ची अहिंसा का प्रदर्शन करने में चाहे असफल रहे, सीमाप्रांत से यह आशा करने की काफी गुंजाइश है कि वह इस अग्नि-परीक्षा में खरा उतरेगा। इसका कारण स्पष्ट है। वह यह कि बादशाह खान के अनुयायी, जिनकी संख्या एक लाख से अधिक बताई जाती है, उनकी आज्ञा का स्वेच्छापूर्वक पालन करते हैं। उनके

कहने पर वे चलते हैं। जहां उन्होंने कुछ कहा नहीं कि तुरन्त उसपर अमल होता है। पर खुदाई खिदमतगारों की उनमें जो श्रद्धा है उसके होते हुए भी खुदाई खिदमतगार रचनात्मक अहिंसा की परीक्षा में पूरे उतरेंगे या नहीं, यह अभी देखने की ही बात है।

खानसाहब और मैं यह शुरू में ही तय कर चुके थे कि विभिन्न केन्द्रों में तमाम खुदाई खिदमतगारों के सामने भाषण करने के बजाय मुझे उनके नेताओं तक ही मर्यादा बना लेनी चाहिए। इससे मेरी शक्ति का क्षय नहीं होगा और उसका अधिक-से-अधिक बुद्धिमत्ता-पूर्ण उपयोग होगा। हुआ भी यही। पांच हफ्ते के अन्दर हम सारे केन्द्रों में हो आये और हरेक केन्द्र में कोई एक घण्टा या उससे कुछ अधिक समय तक बात-चीत की। खान-साहब मेरे बहुत योग्य और विश्वस्त दुभाषिये साबित हुए। मैंने जो कुछ कहा उसमें उनका विश्वास था, इसलिए मेरी बातों का उल्था अपनी जबान में करने में उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी। वह एक जन्मजात वक्ता हैं और बड़े शानदार और प्रभावकारी ढंग से बोलते हैं।

(ह० से० १६. ११.३८)

... ...

मिस म्यूरियल लेस्टर, जिनके यहां गोलमेज कानफ्रेंस के समय ईस्ट-एण्ड (लन्दन) में बैठा रहा था और जो यह लिखते समय सीमाप्रांत में हैं, बादशाह खान से मिलकर उनके बारे में इस प्रकार लिखती हैं :

"अब मैं खान अब्दुल गफ्फार खां को पहचानने लगी हूं। मुझे ऐसा लगता है कि जहांतक अद्भुत व्यक्तियों से मिलने का सवाल है, अपने जीवन में ऐसा सम्मान और कहीं मिलने की कोई संभावना नहीं है। वह तो नये टेस्टामेंट की सुजनता के साथ पुराने टेस्टामेंट के राजा ही हैं। कितने ऊंचे संत हैं वह ! आपको धन्यवाद है कि आपके द्वारा हमें उनके परिचय में आना संभव हुआ।

"कल वह हमें उत्तमंजई ले जा रहे हैं। मीरा को फिर से देखने में बड़ा आनन्द आयगा।"

मैं अगर यह समझता कि यह एक असंतुलित मस्तिष्क की अतिश-योक्ति है तो मैं व्यक्तिगत रूप से की गई इस प्रशंसा को कभी प्रकाशित

न करता। यह तो सच है कि म्यूरियल लेस्टर जिन लोगों से मिलती हैं उनकी अच्छाइयों पर ही झट उनका ध्यान जाता है। लेकिन यह कोई बुरी बात नहीं; बल्कि एक सद्गुण है। बुराइयों से खाली तो कोई नहीं है, यहां-तक कि ईश्वर से डरकर चलनेवाले संत पुरुष भी नहीं बचे हैं! वे संत इसलिए नहीं हैं कि उनमें कोई बुराई नहीं है, बल्कि इसलिए हैं कि वह अपनी बुराइयों को जानते हैं, उनसे बचना चाहते हैं, उन्हें छिपाते नहीं और उनसे मुक्त होकर अच्छे बनने के लिए हमेशा तैयार रहते हैं। ऐसे ही खान-साहब हैं, जो खुदाई खिदमतगार कहलाने में फख्र समझते हैं। वह एक श्रद्धालु मुसलमान हैं, जो रोजे व नमाज में कभी नहीं चूकते। कुरान की उनकी व्याख्या इतनी उदार है कि उससे उदार व्याख्या मैं और नहीं जानता। खुदाई खिदमतगारों में कताई वगैरह जारी करने के लिए मैंने उन्हें अपना एक आदमी देने के लिए कहा था, जिसका उन्हें चुनाव करना था। इसके लिए उन्होंने जान-बूझकर मीराबेन को चुना। अभी हाल तक वह उन्हींके मकान में रहती भी थीं और अब उनके घर से लगे हुए मकान में रह रही हैं, जहां वह अपना कताई-वर्ग चलाती हैं। वह मुझे प्रायः रोज पत्र लिखती हैं। मुझे यह कहते हुए प्रसन्नता होती है कि जिन लोगों से वह प्रेम करती हैं उनकी आलोचना करने से कभी नहीं चूकतीं। फिर भी उनके पत्रों में इस श्रेष्ठ फकीर के बारे में ऐसे ही भाव प्रदर्शित किये गए थे, जैसे म्यूरियल लेस्टर ने अपनी पहली मुलाकात में व्यस्त किये हैं। इतने पर भी अंग्रेज अधिकारी उनका कोई उपयोग नहीं करते। वे तो उनसे डरते हैं और उनमें अविश्वास करते हैं। इस अविश्वास से अगर प्रगति में कोई रुका-वट न पड़ती और भारत तथा इंग्लैंड और इसलिए सारे संसार को हानि न होती तो मैं अविश्वास की कोई परवा न करता (ह० से०, २८.१.३९)

... ...

जहां हर तरफ 'शुद्ध अहिंसा' की होली जल रही हैं, वहां खानसाहब की जीती-जागती अहिंसा कायम है। यह बात हमारे लिए चिराग जैसी रोशन है। खानसाहब का निवेदन[1] मनन करने के काबिल है। खानसाहब

[1] द्वितीय महायुद्ध में सहयोग के प्रश्न को लेकर खानसाहब कांग्रेस से अलग हो गये थे।
—संपादक

को शोभा भी यही देता है। खानसाहब पठान हैं। पठान तो तलवार-बंदूक साथ लेकर पैदा हुए हैं, ऐसा कहा जा सकता है।

रौलट एक्ट की लड़ाई के जमाने में जब खुदाई खिदमतगार आमादा हुए तब खानसाहब ने उनके हथियार छुड़वा दिये। सरकार के साथ तो लड़ना ही था; लेकिन खानसाहब ने अहिंसा का सच्चा तजुरबा दूसरी जगह पाया। पठानों में बदला लेने का कानून ऐसा सख्त है कि अगर एक खान्दान में खून हो गया हो तो उसका बदला खून से ही लेकर छुटकारा होता है। एक बार खून का बदला लिया तो फिर खून का बदला लेना होता है। इस तरह पीढ़ी-दर-पीढ़ी खून का बदला खून से लेने का कहीं अंत ही नहीं आता था। यह भी हिंसा की हद और हिंसा का दिवाला था; क्योंकि इस तरह खून का बदला लेते-लेते खान्दान बरबाद हो जाते थे। खानसाहब ने पठानों की ऐसी बरबादी देखी और अहिंसा में उनकी बेहतरी पाई। उन्होंने सोचा कि अगर मैं पठान लोगों को समझा सकूं कि हम को न सिर्फ खून का बदला नहीं लेना है; बल्कि खून को भूल जाना है तो एक दूसरे से बदला बंद हो जायगा, हम जीवित रह सकेंगे और जीवन को सफल भी बना सकेंगे। यह नकद का सौदा है। उनके अनुयायियों ने उसपर अमल किया। अब ऐसे खुदाई खिदमतदार पाये जाते हैं, जो खून का बदला लेना भूल गये हैं। यह शक्तिशाली की अहिंसा या सच्ची अहिंसा कही जा सकती है।

अगर खानसाहब कांग्रेस में रहते तो उनकी जिंदगी का काम खाक में मिल जाता। वह पठानों से किस मुंह से कहते कि 'तुम लड़ाई में भरती हो जाओ? वह बदला न लेने का कानून अब रद हुआ समझो!' ऐसी भाषा पठान समझ ही नहीं सकते। वह तो तुरंत यही जवाब देते कि जर्मनी अपना बदला ले रहा है, इंगलैंड मुकाबिला कर रहा है, यह हार जायगा तो खुद लड़ाई की तैयारी करेगा। इसलिए इस लड़ाई में और हमारे खून का बदला खून से लेने में रत्ती भर भी फर्क नहीं। ऐसी दलीलों के सामने खानसाहब की जबान बन्द हो जाती। इसलिए उन्होंने अपना ही काम जारी रखना पसंद करके कांग्रेस से निकल जाने का फैसला किया। खान-साहब को अहिंसा का संदेश पहुंचाने में कहांतक सफलता हुई है, वह मैं

नहीं जानता। इतना ही जानता हूं कि खानसाहब की श्रद्धा दिमागी नहीं, केवल दिल से निकली हुई है, इसलिए वह हमेशा कायम है। अब कबतक उनके चेले उनकी तालीम में लगे रहेंगे, यह खुद खानसाहब भी नहीं कह सकते और न इसकी उनको परवा है। उनको तो अपना कर्त्तव्य पूरा करना है। परिणाम खुदा पर छोड़ दिया है। उनकी अहिंसा का आधार कुरान शरीफ है। खानसाहब पक्के मुसलमान हैं। वह मेरे साथ लगभग एक साल तक रहे। बावजूद बीमार होने के, उन्होंने न कभी नमाज कज़ा की, न रोजा। खानसाहब के दिल में दूसरे मजहबों के प्रति पूरा आदर है। उन्होंने गीता का भी थोड़ा अभ्यास किया है। वह हमेशा बहुत कम पढ़ते हैं; लेकिन जो पढ़ते या सुनते हैं वह अगर अमल में लाने के योग्य हो तो उसपर अमल करने में उन्हें देर नहीं लगती। वह लंबी-चौड़ी दलीलों में नहीं पड़ते। जरा समझा और तुरंत 'हां' या 'ना' कह सकते हैं। अगर खानसाहब को स्पष्ट सफलता हासिल हुई तो उससे बहुत सारी उलझनें सुलझ सकती हैं। आज तो कुछ नहीं कहा जा सकता। चाक पर मिट्टी है, मटका उतरेगा या गागर, इस बात को खुदा ही ज्यादा अच्छी तरह जानता है।

(ह० से०, २०.७.४०)

... ...

'एसोसिएटेड प्रेस' ने बादशाह खान के विषय में नीचे लिखा संवाद प्रचारित किया है :

"सीमाप्रांत की प्रांतीय कांग्रेस-कमेटी ने निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया है :

'देश के कई समाचार-पत्रों में पठानों के निर्विवाद नेता खान अब्दुल गफ्फार खां के विरुद्ध और खुदाई खिदमतगार आंदोलन के विरुद्ध जो प्रचार किया जा रहा है, उसके बारे में हम जनता को सावधान करना चाहते हैं। कुछ इस ढंग का इशारा किया गया है कि सीमाप्रांत के कार्यकर्त्ताओं के बीच फूट पड़ गई है और दलबंदियों ने उनके बीच अपनी मनहूस शक्ल दिखानी शुरू की है। अभी तक एक भी खुदाई खिदमतगार ने त्यागपत्र नहीं दिया है। वे सब खान अब्दुल गफ्फार खां के नेतृत्व में एक अभेद्य दल की नाईं संगठित हैं। उनके दरमियान दलबंदी की सब बातें

सर्वथा निर्मूल हैं। फूट की ये सब दंतकथाएं कुछ ऐसे स्वार्थी और पदलोलुप व्यक्तियों के दिमाग की उपज है, जो समझते हैं कि इस तरह वे अपना उल्लू सीधा कर सकेंगे। इस सब प्रचार के पीछे सरकार की प्रेरणा तो है ही परंतु सीमाप्रांत की जनता में इन लोगों का कोई साथी नहीं है। वहां का हरेक राष्ट्रवादी बखूबी समझता है कि पदग्रहण की बात तो दूर रही, आज भारत में अंग्रेज सरकार के साथ हमें कोई मतलब ही नहीं हो सकता। हिन्दुस्तान के अन्य भागों में पार्लामेंटरी कार्यक्रम के लिए चाहे जो आकर्षण हो, सीमाप्रांत में तो उसके लिए कतई स्थान नहीं।

'खान अब्दुल गफ्फार खां ने देहातों में आंतरिक सुव्यवस्था और अन्न-वस्त्र के स्वावलंबन के बारे में जो शांत, पारमार्थिक रचनात्मक कार्य किया है, उसने वहां की जनता में और खास तौर पर गरीब जनता में उनकी लोकप्रियता और भी बढ़ा दी है। वह सरहद के आसपासवाले कबीलों में सुलह और शांति के संदेश को पहुंचाने का स्वप्न देख रहे हैं।

'आनेवाले संकट के समय में जनता की सच्ची सेवा करनेवाली एक शांत और अहिंसक सेना की तैयारी करने में उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी है। करोड़ों रुपये खर्च करके जो काम करने में सरकार असफल रही है, उसे वह जनता की शुद्ध ऐच्छिक सहायता द्वारा करने का प्रयत्न कर सहानुभूति और सहयोग के अधिकारी हैं। हम आशा करते हैं कि सीमा प्रांत की जनता उनके आह्वान का ठीक-ठीक जवाब देगी और देश के सब सच्चे हितैषी समाचार-पत्र और पत्रकार तमाम पूर्वाग्रहों को छोड़कर उनके इस कार्य में रस लेंगे।' "

सीमाप्रान्तीय समिति ने यह प्रस्ताव पास करके और विज्ञप्ति के रूप में इसे प्रचारित करके ठीक ही किया है; परन्तु बादशाह खान की कीर्ति सीमाप्रांत की प्रांतीय समिति के इस प्रस्ताव की अपेक्षा कहीं अधिक सबल आधार पर अवलंबित है। उनकी कीर्ति का आधार चौथाई सदी से भी अधिक काल तक की हुई उनकी निःस्वार्थ जनसेवा और उसके फलस्वरूप प्राप्त उनकी लोकप्रियता है। अपने निंदकों की सब कुचेष्टाओं के बावजूद खानसाहब अबतक की सभी अग्नि-परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए हैं। मुझे इसमें जरा भी शक नहीं कि आगे चलकर जब फिर परीक्षा का समय आवेगा तो

वह पहले की भांति ही अपनी लोकप्रियता का प्रमाण देंगे।

(ह० से०, ५. ७.४२)

... ...

बादशाह खान मेरे दोस्त हैं। मौलाना आजाद तथा जवाहरलाल के महल छोड़कर मेरी झोंपड़ी में आकर टिकते हैं। यहां गोश्त नहीं मांगते। मेरे साथ ही रोटी-फल लेते हैं। वह पूरे फकीर हैं। उनके भाई डा० खान-साहब बिना उनकी मदद के काम नहीं चला सकते। हम उन्हें सीमांत गांधी कहते हैं; पर वहां गांधी को ही कोई नहीं जानता तो सीमांत गांधी को कौन जाने? वहां तो यह बादशाह कहलाते हैं और जिस झोंपड़ी में जाइये, वहां पठान अपने इस बादशाह पर खुश हो जाते हैं।

ऐसे बादशाह के इलाके में जनमत-संग्रह करने की बात तय कर दी गई है और वह भी तब जब पठान का खून अभी ठंडा नहीं हुआ है, जिसका कि खून सदा गरम ही रहता आया है, और बादशाह ने अपनी जिंदगी उस खून को ठंडा करने में खपा रखी है। (प्रा० प्र०, ११.६.४७)

... ...

पठान तलवारबाज होता है। कोई पठान ऐसा नहीं होता जो तलवार और बंदूक चलाना न जानता हो। पीढ़ी-दर-पीढ़ी पठान खून का बदला लेता रहा है। पर बादशाह खान ने देखा कि हथियारों की बहादुरी से भी ज्यादा बुलंदी, मरकर स्वरक्षा करने में है। बादशाह खान का खयाल था कि पठान लोग यह ऊंची बहादुरी अपना लें और एक होकर सबकी खिदमत करें; पर यह ख्वाब पूरा होने से पहले वहां यह जनमत-संग्रह का झगड़ा फैल गया।

कुछ कहेंगे कि हम पाकिस्तान के साथ रहेंगे, कोई कहेंगे कि कांग्रेस के साथ रहेंगे, और कांग्रेस तो आज बदनाम है कि वह हिंदुओं की हो गई। इस बात पर पठान अलग-अलग होंगे और ऐसी यादवस्थली मचेगी कि जिसका दबाना दुश्वार होगा। वे आपस में कट मरेंगे। बादशाह खान चाहते हैं कि किसी तरह से जनमत-संग्रह की बला से छूटकर पठान आजाद रहें। वे खुद अपने कानून बनायें और एक रहें, फिर चाहे वे पाकिस्तान में रहें चाहे हिंदुस्तान में मिलें। वे कहते हैं कि हमारे पास पैसा नहीं है। हम तो मिस्कीन

आदमी हैं। हम स्वतन्त्र राष्ट्र बनाना नहीं चाहते, पर किसमें मिलेंगे। इसके बारे में आपसी झगड़ा मिट जाने के बाद ही हम निश्चय करेंगे।

(प्र० प्र०, १७.६.४७)

... ...

लोगों की आंखें आज सरहदी सूबे में होनेवाले जन-मत की तरफ लगी हुई हैं, क्योंकि सरहदी सूबा कानूनन कांग्रेस का रहा है और आज भी है। बादशाह खान और उनके साथियों से कहा जाता है कि पाकिस्तान या हिंदुस्तान का आज गलत अर्थ हो गया है—हिंदुस्तान का हिंदू और पाकिस्तान का मुसलमान। बादशाह खान इस कठिनाई में से कैसे निकलें? कांग्रेस ने वचन दिया है कि डा० खानसाहब की सीधी देख-रेख के नीचे सरहदी सूबे में जनमत लिया जायगा। वह तो नियत तारीख पर ही होगा। खुदाई खिदमतगार मत नहीं देंगे। सो मुस्लिम लीग को सीधी जीत मिलेगी और खुदाई खिदमतगारों को अपनी आत्मा की आवाज के खिलाफ काम नहीं करना पड़ेगा, बशर्ते कि उनकी आत्मा की आवाज है, ऐसा माना जाय। ऐसा करने में क्या जन-मत की शर्तों का भंग होता है? वही खुदाई खिदमतगार, जिन्होंने बहादुरी से ब्रिटिश सरकार का सामना किया, अब हार से डरनेवाले नहीं हैं। हार होगी, यह पक्की तरह जानते हुए अलग-अलग दल रोज चुनाव में हिस्सा लेते हैं। जब एक दल चुनाव में हिस्सा नहीं लेता तब भी तो हार निश्चित ही होती है।

पठानिस्तान की नई मांग पेश करने के लिए बादशाह खान को ताना दिया जाता है। कांग्रेस की वजारत बनने से पहले भी, जहांतक मैं जानता हूं, बादशाह खान के सिर पर यही धुन सवार थी कि अपने घर में पठानों को पूरी आजादी हो। बादशाह खान एक अलग स्टेट बनाना नहीं चाहते। अगर वह अपने घर में अपना विधान बना सकें तो वह खुशी से दो में से एक संघ को कबूल कर लेंगे। मुझे तो समझ में नहीं आता कि पठानिस्तान की इस मांग के सामने किसीको क्या उज्र हो सकता है। हां पठानों को पाठ सिखाना हो और उन्हें किसी-न-किसी तरह झुकाना ही हो तो बात अलग है। बादशाह खान पर एक बड़ा इल्जाम यह लगाया जा रहा है कि वह अफगानिस्तान के हाथों में खेल रहे हैं। मैं समझता हूं कि वह कभी किसी

तरह की धोखेबाजी कर ही नहीं सकते। वह सरहदी सूबे को अफगानिस्तान में जज्ब होने नहीं देंगे।

उनके दोस्त होने के नाते मैं मानता हूं कि उनमें एक ही कमी है। वह बहुत ही शक्की हैं, खासकर अंग्रेजों के काम और नीयत पर वह हमेशा शुबहा करते हैं। मैं सबसे कहूंगा कि वह उनकी इस कमजोरी को, जो कि खास उन्हीं में नहीं है, नजरअन्दाज कर दें। यह जरूर है कि इतने बड़े नेता के लिए यह शोभा नहीं देता। अगर्चे मैंने उसको एक कमजोरी कहा है और जो एक तरह से ठीक ही है, मगर दूसरी प्रकार से इसको एक खूबी मानना चाहिए; क्योंकि वह चाहें भी तो अपने विचारों को छिपा नहीं सकते।

(प्रा० प्र०, ३०.६.४७)

: ४७ :

आदमजी मियां खान

यदि मैं देश जाऊं तो फिर कांग्रेस का और शिक्षा-मंडल के काम का कौन जिम्मा ले? दो साथियों पर नजर गई: आदमजी मियां खान और पारसी रुस्तमजी। व्यापारी-वर्ग में से बहुतेरे काम करनेवाले ऊपर उठ आये थे; पर उनमें प्रथम पंक्ति में आने योग्य यही दो सज्जन ऐसे थे जो मन्त्री का काम नियमित रूप से कर सकते थे और जो दक्षिण अफ्रीका में जन्मे भारतवासियों का मन हरण कर सकते थे। मंत्री के लिए मामूली अंग्रेजी जानना तो आवश्यक था ही। मैंने इनमें से स्वर्गीय आदमजी मियां खान को मंत्री-पद देने की सिफारिश की और वह स्वीकृत हुई। अनुभव से यह पसंदगी बहुत ही अच्छी साबित हुई। अपनी उद्योगशीलता, उदारता, मिठास और विवेक के द्वारा सेठ आदमजी मियां खान ने अपना काम संतोषजनक रीति से किया और सबको विश्वास हो गया कि मंत्री का काम करने के लिए वकील बैरिस्टर की अथवा पदवीधारी बड़े अंग्रेजीदां की जरूरत न थी।

(आ० १९२७)

: ४८ :

गंगाबहन

हम कह सकते हैं कि गंगाबहन ने जीकर आश्रम को सुशोभित किया और मरकर भी आश्रम को सुशोभित किया।

(बड़ी गंगाबहन को भेजा पत्र)

... ...

गंगाबहन की मृत्यु के समाचार जानकर हम सबको दुःख हुआ। मुझे खुशी है कि उन्होंने अमर श्रद्धा के साथ जीना जाना और मरना जाना। तोतारामजी आनन्द में है, इसमें आश्चर्य नहीं।

(आश्रम को दिया गया तार)

... ...

देखो, इस निरक्षर स्त्री को! इसकी मौत कैसी है! दोनों ने आश्रम को सुशोभित किया। तोतारामजी गिरमिटिया थे। वहां फीजी के किसी गिरमिटिये की लड़की से शादी की होगी, इसलिए दोनों गिरमिटिये ही कहलायेंगे। मगर दोनों ने कैसी जिन्दगी गुजारी! (म० डा०, ६. ५. ३२)

... ...

गंगादेवी का चेहरा अब भी मेरी आंखों के सामने फिरा करता है, उनकी बोली की भनक मेरे कानों में पड़ती है। उनके स्मरणों की याद करते अब भी मैं थका नहीं। उनके जीवन से हम सबको और बहनों को खासतौर से बहुत सबक सीखने हैं। वह लगभग निरक्षर होने पर भी ज्ञानी थीं। हवा, पानी बदलने के लिए जाने लायक होने पर भी स्वेच्छा से जाने से अन्त तक इन्कार करती रहनेवाली वह अकेली ही थीं। जो बच्चे उन्हें मिले, उनकी संभाल उन्होंने अपने बच्चे मानकर की। उन्होंने किसी दिन किसीके साथ तकरार की हो या किसीपर खफा हुई हों, इसकी जानकारी मुझे नहीं है। उनको जीने का उल्लास न था, मरने का भय न था। उन्होंने हँसते हुए मृत्यु को गले लगाया। उन्होंने मरने की कला हस्तगत कर ली थी। जैसे जीने की कला है, वैसे ही मरने की भी कला है।

(य० म०, ३०. ५. ३२)

: ४६ :

लाला गंगाराम

. एक मित्र के पत्र से मुझे स्यालकोट के लाला गंगाराम के स्वर्गवास की खबर मिली है। वह साठ वर्ष की अवस्था में गत ४ नवम्बर को एकाएक दिल की धड़कन बंद होने से परलोक सिधार गये। सन् १९१९ में लाहौर में स्वर्गीय रामभजदत्त चौधरी के मकान पर उनसे मिलने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वह एक हरिजन-कार्यकर्त्ता थे। हरिजन-सेवा के अर्थ उन्होंने अपना जीवन अर्पण कर दिया था। उन्होंने हरिजनों की नई बस्तियां बसवाई थीं। हरिजन-कार्य को निश्चय ही उनके निधन से हानि पहुंची है। स्वर्गीय लाला गंगाराम के कुटुम्ब तथा उनके प्यारे हरिजनों के प्रति मैं समवेदना करता हूं। (ह० से०, ८. १२. ३३)

: ५० :

सर गंगाराम

मृत्यु ने सर श्री गंगाराम को क्या उठाया, हमारे बीच से एक सुयोग्य और व्यवहारदक्ष खेतीशास्त्र के जानकार को, एक महान दाता को और विधवाओं के बन्धु को, उठा लिया। सर गंगाराम यों तो वयोवृद्ध थे; किन्तु उनमें उत्साह युवकों का-सा था। उनकी आशावादिता भी उतनी ही प्रबल थी जितना कि उनका अपने विचारों का आग्रह। इधर मुझे उनसे निकट का सम्बन्ध प्राप्त करने का सुअवसर मिला था और यद्यपि हम अनेक बातों में एक-दूसरे से भिन्न मत ही रखते थे तथापि मैंने देखा कि वह एक सच्चे सुधारक और महान कार्यकर्त्ता थे। और यद्यपि उनके अनुभव और वयोमान के कारण मैंने उनके विचारों से बार-बार आदरपूर्वक, किन्तु दृढ़ विरोध प्रकट किया तथापि मेरे प्रति, जिसे वह अपनी तुलना में कल का युवक समझते थे, उनका प्रेम तो बढ़ता ही जाता था। साथ-ही-साथ भारत की दरिद्रता के विषय में उनके कुछ विचित्र विचारों से मेरा विरोध भी। वह मेरे साथ लम्बे वाद-विवाद करने के लिए इतने उत्सुक थे तथा मुझे अपने

विचारों का कायल कर देने की उन्हें इतनी दृढ़ आशा थी कि उन्होंने उनके अपने खर्चे से मुझे इंगलैंड चलने तक के लिए आग्रह किया और मेरे दिमाग से सब पागलपन की बातों को निकाल देने का विश्वास दिलाया। यद्यपि मैं उनकी इस बात को कबूल नहीं कर सका और यद्यपि उन्होंने तो उसे सच्चे दिल से ही पेश किया था, तथापि उनके इंगलैंड जाने से पहले उनसे मिलकर उन्हें चरखे का, जिसे वह केवल जला देने योग्य ही समझते थे, कायल कर देने का मैंने वचन दिया था। अतः पाठक अनुमान कर सकते हैं कि उनकी अकस्मात् मृत्यु की यह वार्ता सुनकर मुझे कितना दुःख हुआ होगा। पर यह तो ऐसी मृत्यु है, जिसे हम सब अपने लिए चाहेंगे; क्योंकि वह इंगलैंड किसी आमोद-प्रमोद के लिए नहीं गये थे; बल्कि ऐसे कार्य के लिए गये थे, जिसे वह अपना अत्यन्त जरूरी कर्तव्य समझते थे। इसलिए वह तो कर्तव्य-क्षेत्र ही में मर गये। भारत को हर तरह से इस बात का अभिमान है कि सर गंगाराम के समान पुरुष उसके विख्यात सपूतों में से एक है। दिवंगत सुधारक के कुटुम्बी जनों को मैं अपने धन्यवाद और समवेदना साथ-साथ भेजता हूं। (हि० न०, २१. ७. २७)

: ५१ :

कस्तूरबा गांधी

मैं जानता था कि बहनों को जेल[1] भेजने का काम बहुत खतरनाक था। फिनिक्स में रहनेवाली अधिकतर बहनें मेरी रिश्तेदार थीं, वे सिर्फ मेरे लिहाज के कारण ही जेल जाने का विचार करें और फिर ऐन मौके पर घबराकर या जेल में जाने के बाद उकताकर माफी वगैरह मांग लें तो मुझे सदमा पहुंचे। साथ ही, इसकी वजह से लड़ाई के एकदम कमजोर पड़ जाने का डर भी था। मैंने तय किया था कि मैं अपनी पत्नी को तो हरगिज नहीं ललचाऊंगा। वह इन्कार भी नहीं कर सकती थीं और 'हां' कह दें तो उस 'हां' की भी कितनी कीमत की जाय, सो मैं कह नहीं सकता था। ऐसे जोखिम के काम में स्त्री स्वयं जो निश्चय करे, पुरुष को वही मान लेना

[1] दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के सम्बन्ध में।

चाहिए और कुछ भी न करे तो पति को उसके बारे में तनिक भी दुखी नहीं होना चाहिए, इतना मैं समझता था। इसलिए मैंने उनके साथ कुछ भी बात न करने का इरादा कर रखा था। दूसरी बहनों से मैंने चर्चा की। वे जेल-यात्रा के लिए तैयार हुईं। उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया कि वह हर तरह का दुःख सहकर भी अपनी जेल-यात्रा पूरी करेंगी। मेरी पत्नी ने भी इन सब बातों का सार जान लिया और मुझसे कहा—

"मुझसे इस बात की चर्चा नहीं करते, इसका मुझे दुःख है। मुझमें ऐसी क्या खामी है कि मैं जेल नहीं जा सकती। मुझे भी उसी रास्ते जाना है, जिस रास्ते जाने की सलाह आप इन बहनों को दे रहे हैं।"

मैंने कहा, "मैं तुम्हें दुःख पहुंचा ही नहीं सकता। इसमें अविश्वास की भी कोई बात नहीं। मुझे तो तुम्हारे जाने से खुशी ही होगी; लेकिन तुम मेरे कहने पर गई हो, इसका तो आभास तक मुझे अच्छा नहीं लगेगा। ऐसे काम सबको अपनी-अपनी हिम्मत से ही करने चाहिए। मैं कहूं और मेरी बात रखने के लिए तुम सहज ही चली जाओ और बाद में अदालत के सामने खड़ी होते ही कांप उठो और हार जाओ या जेल के दुःख से ऊब उठो तो इसे मैं अपना दोष तो नहीं मानूंगा, लेकिन सोचो कि मेरा क्या हाल होगा। मैं तुमको किस तरह रख सकूंगा और दुनिया के सामने किस तरह खड़ा रह सकूंगा। बस, इस भय के कारण ही मैंने तुम्हें ललचाया नहीं।"

मुझे जवाब मिला, "मैं हारकर छूट आऊं तो मुझे मत रखना। मेरे बच्चे तक सह सकें, आप सब सहन कर सकें और अकेली मैं ही न सह सकूं, ऐसा आप सोचते कैसे हैं ? मुझे इस लड़ाई में शामिल होना ही होगा।"

मैंने जवाब दिया, "तो मुझे तुमको शामिल करना ही होगा। मेरी शर्त तुम जानती ही हो। मेरे स्वभाव से भी तुम परिचित हो। अब भी विचार करना हो तो फिर विचार कर लेना और भली-भांति सोचने के बाद तुम्हें यह लगे कि शामिल नहीं होना है तो समझना कि तुम इसके लिए आजाद हो। साथ ही, यह भी समझ लो कि निश्चय बदलने में अभी शरम की कोई बात नहीं है।"

मुझे जवाब मिला, "मुझे विचार-विचार कुछ नहीं करना है। मेरा निश्चय ही है।" (द० अ० स०, १६२५)

जिन दिनों मेरा विवाह हुआ, छोटे-छोटे निबंध—पैसे-पैसे या पाई-पाई के, सो याद नहीं पड़ता—छपा करते। इनमें दाम्पत्य प्रेम, मितव्ययता, बाल-विवाह इत्यादि विषयों की चर्चा रहा करती। इनमें से कोई-कोई निबन्ध मेरे हाथ पड़ता और उसे मैं पढ़ जाता। शुरू से यह मेरी आदत रही कि जो बात पढ़ने में अच्छी नहीं लगती उसे भूल जाता और जो अच्छी लगती उसके अनुसार आचरण करता। यह पढ़ा कि एक-पत्नी-व्रत का पालन करना पति का धर्म है। बस, यह मेरे हृदय में अंकित हो गया। सत्य की लगन तो थी ही। इसलिए पत्नी को धोखा या भुलावा देने का तो अवसर ही न था। और यह भी समझ चुका था कि दूसरी स्त्री से सम्बन्ध जोड़ना पाप है। फिर कोमल वय में एक-पत्नी-व्रत के भंग होने की सम्भावना भी कम रहती है।

परन्तु इन सद्विचारों का एक बुरा परिणाम निकला। 'यदि मैं एक-पत्नी-व्रत का पालन करता हूं तो मेरी पत्नी को भी एक-पति-व्रत का पालन करना चाहिए।' इस विचार से मैं असहिष्णु-ईर्ष्यालु पति बन गया। फिर 'पालन करना चाहिए' में से 'पालन करवाना चाहिए' इस विचार तक जा पहुंचा और यदि पालन करवाना हो तो फिर मुझे पत्नी की चौकीदारी करनी चाहिए। पत्नी की पवित्रता पर तो संदेह करने का कोई कारण न था; परन्तु ईर्ष्या कहीं कारण देखने जाती है? मैंने कहा, "पत्नी हमेशा कहां-कहां जाती है, यह जानना मेरे लिए जरूरी है। मेरी इजाजत लिये बिना वह कहीं नहीं जा सकती।" मेरा यह भाव मेरे और उनके बीच दुःखद झगड़े का मूल बन बैठा। बिना इजाजत के कहीं न जा पाना तो एक तरह की कैद ही हो गई; परन्तु कस्तूरबाई ऐसी मिट्टी की न बनी थीं, जो ऐसी कैद को बरदाश्त करतीं। जहां जी चाहे, मुझसे बिना पूछे जरूर चली जातीं। ज्यों-ज्यों मैं उन्हें दबाता त्यों-त्यों वह अधिक आजादी लेतीं और त्यों-ही-त्यों मैं बिगड़ता। इस कारण हम बाल-दंपती में अबोला रहना एक मामूली बात हो गई। कस्तूरबाई जो आजादी लिया करतीं उसे मैं बिलकुल निर्दोष मानता हूं। एक बालिका, जिसके मन में कोई बात नहीं है, देव-दर्शन को जाने के लिए अथवा किसीसे मिलने जाने के लिए क्यों ऐसा दबाव सहन करने लगी? 'यदि मैं उसपर दबाव रखूं तो फिर वह मुझपर क्यों

न रखे ?' पर यह बात तो अब समझ में आती है। उस समय तो मुझे पति-देव की सत्ता सिद्ध करनी थी।

इससे पाठक यह न समझें कि हमारे इस गार्हस्थ्य-जीवन में कहीं मिठास थी ही नहीं। मेरी इस वक्रता का मूल था प्रेम—मैं अपनी पत्नी को आदर्श स्त्री बनाना चाहता था। मेरे मन में एकमात्र यही भाव रहता था कि मेरी पत्नी स्वच्छ हो, स्वच्छ रहे, मैं सीखूं सो सीखे, मैं पढ़ूं सो पढ़े और हम दोनों एक-मन दो-तन बनकर रहें।

मुझे खयाल नहीं पड़ता कि कस्तूरबाई के भी मन में ऐसा भाव रहा हो। वह निरक्षर थीं। स्वभाव उनका सरल और स्वतन्त्र था। वह परिश्रमी भी थीं, पर मेरे साथ कम बोला करतीं। अपने अज्ञान पर उन्हें असंतोष न था। अपने बचपन में मैंने कभी उनकी ऐसी इच्छा नहीं देखी कि 'वह पढ़ते हैं तो मैं भी पढ़ूं।' इससे मैं मानता हूं कि मेरी भावना इकतरफा थी। मेरा विषय-सुख एक ही स्त्री पर अवलंबित था और मैं उस सुख की प्रतिध्वनि की आशा लगाये रहता था। अस्तु, प्रेम यदि एक-पक्षीय भी हो, तो वहां सर्वांश में दुःख नहीं हो सकता।

मुझे कहना चाहिए कि मैं अपनी पत्नी से जहांतक सम्बन्ध है, विषयासक्त था। स्कूल में भी उसका ध्यान आता और यह विचार मन में चला ही करता था कि कब रात हो और कब हम मिलें। वियोग असह्य हो जाता था। कितनी ही ऊट-पटांग बातें कह-कहकर मैं कस्तूरबाई को देर तक सोने न देता। इस आसक्ति के साथ ही यदि मुझमें कर्त्तव्यपरायणता न होती तो, मैं समझता हूं, या तो किसी बुरी बीमारी में फंसकर अकाल ही कालकवलित हो जाता अथवा अपने और दुनिया के लिए भारभूत होकर वृथा जीवन व्यतीत करता होता। 'सुबह होते ही नित्यकर्म तो हर हालत में करने चाहिए', 'झूठ तो बोल ही नहीं सकते', आदि अपने इन विचारों की बदौलत मैं अपने जीवन में कई संकटों से बच गया हूं।

मैं ऊपर कह आया हूं कि कस्तूरबाई निरक्षर थीं। उन्हें पढ़ाने की मुझे बड़ी चाह थी। पर मेरी विषय-वासना मुझे कैसे पढ़ाने देती ? एक तो मुझे उनकी मर्जी के खिलाफ पढ़ाना था, फिर रात में ही ऐसा मौका मिल सकता था। बुजुर्गों के सामने तो पत्नी की तरफ देख तक नहीं सकते, बात करना

तो दूर रहा ! उस समय काठियावाड़ में घूंघट निकालने का निरर्थक और जंगली रिवाज था, आज भी थोड़ा-बहुत बाकी है। इस कारण पढ़ाने के अवसर भी मेरे प्रतिकूल थे। इसलिए मुझे कहना होगा कि युवावस्था में पढ़ाने की जितनी कोशिशें मैंने कीं वे सब प्रायः बेकार गईं और जब मैं विषय-निद्रा से जगा तब तो सार्वजनिक जीवन में पड़ चुका था। इस कारण अधिक समय देने योग्य मेरी स्थिति नहीं रह गई थी। शिक्षक रखकर पढ़ाने के मेरे यत्न भी विफल हुए। इसके फलस्वरूप आज कस्तूरबाई मामूली चिट्ठी-पत्री व गुजराती लिखने-पढ़ने से अधिक साक्षर न होने पाईं। यदि मेरा प्रेम विषय से दूषित न हुआ होता तो, मैं मानता हूं, आज वह विदुषी हो गई होतीं। उनके पढ़ने के आलस्य पर मैं विजय प्राप्त कर पाता; क्योंकि मैं जानता हूं कि शुद्ध प्रेम के लिए दुनिया में कोई बात असम्भव नहीं।

इस तरह अपनी पत्नी के साथ विषय-रत रहते हुए भी मैं कैसे बहुत-कुछ बच गया, इसका एक कारण मैंने ऊपर बताया। इस सिलसिले में एक और बात कहने जैसी है। सैकड़ों अनुभवों से मैंने यह निचोड़ निकाला है कि जिसकी निष्ठा सच्ची है, उसे खुद परमेश्वर ही बचा लेता है। हिन्दू-संसार में जहां बाल-विवाह की घातक प्रथा है वहां उसके साथ ही उसमें से कुछ मुक्ति दिलानेवाला भी एक रिवाज है। बालक वर-वधू को मां-बाप बहुत समय तक एक साथ नहीं रहने देते। बाल-पत्नी का आधे से ज्यादा समय मायके में जाता है। हमारे साथ भी ऐसा ही हुआ। अर्थात् हम तेरह और अठारह साल की उम्र के दरमियान थोड़ा-थोड़ा करके तीन साल से अधिक साथ न रह सके होंगे। छः-आठ महीने रहना हुआ नहीं कि पत्नी के मां-बाप का बुलावा आया नहीं। उस समय तो वे बुलावे बड़े नागवार मालूम होते; परन्तु सच पूछिये तो उन्हींकी बदौलत हम दोनों बहुत बच गये। फिर अठारह साल की अवस्था में मैं विलायत गया, लम्बे और सुंदर वियोग का अवसर आया। विलायत से लौटने पर भी हम एक साथ तो छः महीने मुश्किल से रहे होंगे, क्योंकि मुझे राजकोट-बम्बई बार-बार आना-जाना पड़ता था। फिर इतने में ही दक्षिण अफ्रीका का निमन्त्रण आ पहुंचा, और इस बीच तो मेरी आंखें बहुत-कुछ खुल भी चुकी थीं।

विलायत जाते समय जो वियोग-दुःख हुआ था, वह दक्षिण अफ्रीका जाते हुए न हुआ; क्योंकि माताजी तो चल बसी थीं और मुझे दुनिया का और सफर का अनुभव भी बहुत-कुछ हो गया था। राजकोट और बम्बई तो आया-जाया करता ही था। इस कारण अबकी बार सिर्फ पत्नी का ही वियोग दुःखद था। विलायत से आने के बाद दूसरे एक बालक का जन्म हो गया था। हम दम्पती के प्रेम में अभी विषय-भोग का अंश तो था ही। फिर भी उसमें निर्मलता आने लगी थी। मेरे विलायत से लौटने के बाद हम बहुत थोड़ा समय एक साथ रहे थे और मैं ऐसा-वैसा ही क्यों न हो, उसका शिक्षक बन चुका था। इधर पत्नी की बहुतेरी बातों में बहुत-कुछ सुधार करा चुका था और उन्हें कायम रखने के लिए भी साथ रहने की आवश्यकता हम दोनों को मालूम होती थी। परन्तु अफ्रीका मुझे आकर्षित कर रहा था। उसने इस वियोग को सहन करने की शक्ति दे दी थी। 'एक साल के बाद तो हम मिलेंगे ही'—कहकर और दिलासा देकर मैंने राजकोट छोड़ा और बम्बई पहुंचा।

लड़ाई के काम से मुक्त होने के बाद मैंने सोचा कि अब मेरा काम दक्षिण अफ्रीका में नहीं, बल्कि देश में है। दक्षिण अफ्रीका में बैठे-बैठे मैं कुछ-न-कुछ सेवा तो जरूर कर पाता था, परन्तु मैंने देखा कि यहां कहीं मेरा मुख्य काम धन कमाना ही न हो जाय।

देश से मित्र लोग भी देश लौट आने को आकर्षित कर रहे थे। मुझे भी जंचा कि देश जाने से मेरा अधिक उपयोग हो सकेगा। नेटाल में मि० खान और मनसुखलाल नाजर थे ही।

मैंने साथियों से छुट्टी देने का अनुरोध किया। बड़ी मुश्किल से उन्होंने एक शर्त पर छुट्टी स्वीकार की। वह यह कि एक साल के अन्दर लोगों को मेरी जरूरत मालूम हो तो फिर दक्षिण अफ्रीका आ जाऊंगा। मुझे यह शर्त कठिन मालूम हुई, परन्तु मैं तो प्रेम-पाश में बंधा हुआ था।

काचे रे तांतणे मने हरजीए बांधी
जेम ताणे तेम तेमरी रे

मने लागी कटारी प्रेमनी।[1]

मीराबाई की यह उपमा न्यूनाधिक अंश में मुझपर घटित होती थी। पंच भी परमेश्वर ही हैं। मित्रों की बात को टाल नहीं सकता था। मैंने वचन दिया। इजाजत मिली।

इस समय मेरा निकट-सम्बन्ध प्रायः नेटाल के ही साथ था। नेटाल के हिन्दुस्तानियों ने मुझे प्रेमामृत से नहला डाला। स्थान-स्थान पर अभिनन्दन पत्र दिये गए और हरेक जगह से कीमती चीजें नजर की गईं।

१८९६ में जब मैं देश आया था तब भी भेंटें मिली थीं; पर इस बार की भेंटों और सभाओं के दृश्य से मैं घबराया। भेंट में सोने-चांदी की चीजें तो थीं ही; पर हीरे की चीजें भी थीं।

इनसब चीजों को स्वीकार करने का मुझे क्या अधिकार हो सकता है? यदि मैं इन्हें मंजूर कर लूं तो फिर अपने मन को यह कहकर कैसे मना सकता हूं कि मैं पैसा लेकर लोगों की सेवा नहीं करता था? मेरे मवक्किलों की कुछ रकमों को छोड़कर बाकी सब चीजें मेरी लोक-सेवा के ही उपलक्ष्य में दी गई थीं। पर मेरे मन में तो मवक्किल और दूसरे साथियों में कुछ भेद न था। मुख्य-मुख्य मवक्किल सब सार्वजनिक काम में भी सहायता देते थे।

फिर उन भेंटों में एक पचास गिनी का हार कस्तूरबाई के लिए था। मगर उसे जो चीज मिली वह भी थी तो मेरी ही सेवा के उपलक्ष्य में। अतएव उसे पृथक् नहीं मान सकते थे।

जिस शाम को इनमें से मुख्य-मुख्य भेंटें मिलीं, वह रात मैंने एक पागल की तरह जागकर काटी। कमरे में यहा से वहां टहलता रहा; परन्तु गुत्थी किसी तरह सुलझती न थी। सैंकड़ों रुपयों की भेंटें न लेना भारी पड़ रहा था; पर ले लेना उससे भी भारी मालूम होता था।

मैं चाहे इन भेंटों को पचा भी सकता; पर मेरे बालक और पत्नी? उन्हें तालीम तो सेवा की मिल रही थी। सेवा का दाम नहीं लिया जा सकता था, यह हमेशा समझाया जाता था। घर में कीमती जेवर आदि मैं

---

[1] प्रभु ने मुझे कच्चे सूत के प्रेम-धागे से बांध लिया है। ज्यों-ज्यों वह उसे तानते हैं त्यों-त्यों मैं उनकी होती जाती हूं।

नहीं रखता था। सादगी बढ़ती जाती थी। ऐसी अवस्था में सोने की घड़ियां कौन रखेगा ? सोने की कंठी और हीरे की अंगूठी कौन पहनेगा ? गहनों का मोह छोड़ने के लिए मैं उस समय भी औरों से कहता रहता था। अब इन गहनों और जवाहरात को लेकर मैं क्या करूंगा ?

मैं इस निर्णय पर पहुंचा कि वे चीजें मैं हरगिज नहीं रख सकता। पारसी रुस्तमजी इत्यादि को इन गहनों का ट्रस्टी बनाकर उनके नाम एक चिट्ठी तैयार की और सुबह स्त्री-पुत्रादि से सलाह करके अपना बोझ हल्का करने का निश्चय किया।

मैं जानता था कि धर्मपत्नी को समझाना मुश्किल पड़ेगा। मुझे विश्वास था कि बालकों को समझाने में जरा भी दिक्कत पेश न आयेगी। अतः उन्हें वकील बनाने का विचार किया।

बच्चे तो तुरन्त समझ गये। वे बोले, "हमें इन गहनों से कुछ मतलब नहीं। ये सब चीजें हमें लौटा देनी चाहिए और यदि जरूरत होगी तो क्या हम खुद नहीं बना सकेंगे ?'

मैं प्रसन्न हुआ। "तो तुम बा को समझाओगे न ?" मैंने पूछा।

"जरूर-जरूर। वह कहां इन गहनों को पहनने चली हैं ! वह रखना चाहेंगी भी तो हमारे ही लिए न ? पर जब हमें ही इनकी जरूरत नहीं है तब फिर वह क्यों जिद करने लगीं ?"

परन्तु काम अंदाज से ज्यादा मुश्किल साबित हुआ।

"तुम्हें चाहे जरूरत न हो और लड़कों को भी न हो। बच्चों का क्या ? जैसा समझा दें समझ जाते हैं। मुझे न पहनने दो; पर मेरी बहुओं को तो जरूरत होगी। और कौन कह सकता है कि कल क्या होगा ? जो चीजें लोगों ने इतने प्रेम से दी हैं उन्हें वापस लौटाना ठीक नहीं।" इस प्रकार वाग्धारा शुरू हुई और उसके साथ अश्रु-धारा आ मिली। लड़के दृढ़ रहे और मैं भला क्यों डिगने लगा ?

मैंने धीरे-से कहा—"पहले लड़कों की शादी तो हो लेने दो। हम बचपन में तो इनके विवाह करना चाहते ही नहीं हैं। बड़े होने पर जो इनका जी चाहे सो करें। फिर हमें क्या गहनों-कपड़ों की शौकीन बहुएं खोजनी हैं ? फिर भी अगर कुछ बनवाना ही होगा तो मैं कहां चला

गया हूं ?"

"हां, जानती हूं तुमको। वही न हो, जिन्होंने मेरे गहने उतरवा लिये हैं ! लड़कों को तो अभी से वैरागी बना रहे हो ! इन गहनों को मैं वापस नहीं देने दूंगी और फिर मेरे हार पर तुम्हारा क्या हक है ?"

"पर यह हार तुम्हारी सेवा के खातिर मिला है या मेरी ?" मैंने पूछा।

"जैसा भी हो तुम्हारी सेवा में क्या मेरी सेवा नहीं है ? मुझसे जो रात-दिन मजूरी कराते हो, क्या वह सेवा नहीं है ? मुझे रुला-रुलाकर जो ऐरे-गैरों को घर में रखा और मुझसे सेवा-टहल कराई, वह कुछ भी नहीं ?"

ये सब बाण तीखे थे। कितने ही तो मुझे चुभ रहे थे। पर गहने वापस लौटाने का मैं निश्चय कर चुका था। अंत को बहुतेरी बातों में मैं जैसे-तैसे सम्मति प्राप्त कर सका । १८९६ और १९०१ में मिली भेंटें लौटाईं। उनका ट्रस्ट बनाया गया और लोक-सेवा के लिए उसका उपयोग मेरी अथवा ट्रस्टियों की इच्छा के अनुसार होने की शर्त पर वह रकम बैंक में रखी गई। इन चीजों को बेचने के निमित्त से मैं बहुत बार रुपया एकत्र कर सका हूं। आपत्ति-कोष के रूप में वह रकम आज भी मौजूद है और उसमें वृद्धि होती जाती है।

इस बात के लिए मुझे कभी पश्चात्ताप नहीं हुआ। आगे चलकर कस्तूरबाई को भी उसका और औचित्य जंचने लगा। इस तरह हम अपने जीवन में बहुतेरे लालचों से बच गये हैं।

मेरा यह निश्चित मत हो गया है लोक-सेवक को जो भेंटें मिलती हैं, वे उसकी निजी चीज कदापि नहीं हो सकतीं।

मेरे जीवन में ऐसी अनेक घटनाएं होती रही हैं, जिनके कारण मैं विविध धर्मों तथा जातियों के निकट परिचय में आ सका हूं। इन सब अनुभवों पर यह कह सकते हैं कि मैंने घर के या बाहर के, देशी या विदेशी, हिन्दू या मुसलमान तथा ईसाई, पारसी या यहूदियों से भेद-भाव का ख्याल तक नहीं किया। मैं कह सकता हूं कि मेरा हृदय इस प्रकार के भेद-भाव को जानता ही नहीं। इसको मैं अपना एक गुण नहीं मानता हूं, क्योंकि जिस प्रकार अहिंसा, ब्रह्मचर्य अपरिग्रहादि यम-नियमों के अभ्यास का तथा उनके

लिए अब भी प्रयत्न करते रहने का पूर्ण ज्ञान मुझे है उसी प्रकार इस अभेद-भाव को बढ़ाने के लिए मैंने कोई खास प्रयत्न किया है, ऐसा याद नहीं पड़ता।

जिस समय डरबन में मैं वकालत करता था, उस समय बहुत बार मेरे कारकुन मेरे साथ ही रहते थे। वे हिन्दू और ईसाई होते थे, अथवा प्रान्तों के हिसाब से कहें तो गुजराती और मद्रासी। मुझे याद नहीं आता कि उनके विषय में मेरे मनमें भेद-भाव पैदा हुआ हो। मैं उन्हें बिलकुल घर के ही जैसा समझता और उसमें मेरी धर्मपत्नी की ओर से यदि कोई विघ्न उपस्थित होता तो मैं उससे लड़ता था। मेरा एक कारकुन ईसाई था। उसके मां-बाप पंचम जाति के थे। हमारे घर की बनावट पश्चिमी ढंग की थी। इस कारण कमरे में मोरी नहीं होती थी—और न होनी चाहिए थी, ऐसा मेरा मत है। इस कारण कमरों में मोरियों की जगह पेशाब के लिए एक अलग बर्तन होता था। उसे उठाकर रखने का काम हम दोनों—दम्पती का था, नौकरों का नहीं। हां, जो कारकुन लोग अपनेको हमारा कुटुंबी-सा मानने लगते थे वे तो खुद ही उसे साफ भी कर डालते थे, लेकिन पंचम जाति में जन्मा यह कारकुन नया ही था। उसका बर्तन हमें ही उठाकर साफ करना चाहिए था। दूसरे बर्तन तो कस्तूरबाई उठाकर साफ कर देतीं, लेकिन इन भाई का बर्तन उठाना उसे असह्य मालूम हुआ। इससे हम दोनों में झगड़ा मचा। यदि मैं उठाता हूं तो उसे अच्छा नहीं मालूम होता था और खुद उसके लिए उठाना कठिन था। फिर भी आंखों से मोती की बूंदें टपक रही हैं, एक हाथ में बर्तन लिये अपनी लाल-लाल आंखों से उलाहना देती हुई कस्तूरबाई सीढ़ियों से उतर रही हैं। वह चित्र मैं आज भी ज्यों-का-त्यों खींच सकता हूं।

परन्तु मैं जैसा सहृदय और प्रेमी पति था वैसा ही निष्ठुर और कठोर भी था। मैं अपनेको उसका शिक्षक मानता था। इससे अपने अन्ध-प्रेम के अधीन हो मैं उसे खूब सताता था। इस कारण महज उसके बर्तन उठा ले जाने भर से मुझे सन्तोष न हुआ। मैंने यह भी चाहा कि वह हँसते और हरखते हुए उसे ले जाय। इसलिए मैंने उसे डांटा-डपटा भी। मैंने उत्तेजित होकर कहा—"देखो, यह बखेड़ा मेरे घर में नहीं चल सकेगा।"

मेरा यह बोल कस्तूरबाई को तीर की तरह लगा। उसने धधकते दिल से कहा—"तो लो, रखो यह अपना घर! मैं चली!"

उस समय मैं ईश्वर को भूल गया था। दया का लेशमात्र मेरे हृदय में न रह गया था। मैंने उसका हाथ पकड़ा। सीढ़ी के सामने ही बाहर जाने का दरवाजा था। मैं उस दीन अबला का हाथ पकड़कर दरवाजे तक खींच-कर ले गया। दरवाजा आधा खोला होगा कि आंखों में गंगा-जमुना बहाती हुई कस्तूरबाई बोलीं, "तुम्हें तो कुछ शरम है ही नहीं; पर मुझे है। जरा तो लजाओ। मैं बाहर निकलकर आखिर जाऊं कहां? मां-बाप भी यहां नहीं कि उनके पास चली जाऊं। मैं ठहरी स्त्री-जाति! इसलिए मुझे तुम्हारी धौंस सहनी ही पड़ेगी। अब जरा शरम करो और दरवाजा बन्द कर लो। कोई देख लेगा तो दोनों की फजीहत होगी।"

मैंने अपना चेहरा तो सुर्ख बनाये रखा; पर मन में शरमा जरूर गया। दरवाजा बन्द कर दिया। जबकि पत्नी मुझे छोड़ नहीं सकती थी तब मैं भी उसे छोड़कर कहां जा सकता था? इस तरह हमारे आपस में लड़ाई-झगड़े कई बार हुए हैं; परन्तु उनका परिणाम सदा अच्छा ही निकला है। उनमें पत्नी ने अपनी अद्भुत सहनशीलता के द्वारा मुझपर विजय प्राप्त की है।

ये घटनाएं हमारे पूर्व-युग की हैं, इसलिए उनका वर्णन मैं आज अलिप्त भाव से करता हूं। आज मैं तबकी तरह मोहान्ध पति नहीं हूं, न उसका शिक्षक हूं। यदि चाहें तो कस्तूरबाई आज मुझे धमका सकती हैं। हम आज एक-दूसरे के भुक्त-भोगी मित्र हैं, एक दूसरे के प्रति निर्विकार रहकर जीवन बिता रहे हैं। कस्तूरबाई आज ऐसी सेविका बन गई हैं, जो मेरी बीमारियों में बिना प्रतिफल की इच्छा किये सेवा-शुश्रूषा करती हैं।

यह घटना १८९८ की है। उस समय मुझे ब्रह्मचर्य-पालन के विषय में कुछ ज्ञान न था। वह समय ऐसा था जबकि मुझे इस बात का स्पष्ट ज्ञान न था कि पत्नी तो केवल सहधर्मिणी, सहचारिणी और सुख-दुःख की साथिन है। मैं यह समझकर बर्ताव करता था कि पत्नी विषय-भोग की भाजन है, उसका जन्म पति की हर तरह की आज्ञाओं का पालन करने के लिए हुआ है।

किन्तु १९०० ई० से मेरे इन विचारों में गहरा परिवर्तन हुआ। १९०६ में उसका परिणाम प्रकट हुआ; परन्तु इसका वर्णन आगे प्रसंग आने पर होगा। यहां तो सिर्फ इतना बताना काफी है कि ज्यों-ज्यों मैं निर्विकार होता गया त्यों-त्यों मेरा घर-संसार शान्त, निर्मल और सुखी होता गया और अब भी होता जाता है।

इस पुण्य-स्मरण से कोई यह न समझ लें कि हम आदर्श दम्पती हैं, अथवा मेरी धर्मपत्नी में किसी किस्म का दोष नहीं है, अथवा हमारे आदर्श अब एक हो गये हैं। कस्तूरबाई अपना स्वतंत्र आदर्श रखती हैं या नहीं, यह तो वह बेचारी खुद भी शायद न जानती होंगी। बहुत सम्भव है कि मेरे आजरण की बहुतेरी बातें उन्हें अब भी पसन्द न आती हों; परन्तु अब हम उनके बारे में एक-दूसरे से चर्चा नहीं करते, करने में कुछ सार भी नहीं है। उन्हें न तो उनके मां-बाप ने शिक्षा दी है, न मैं ही, जब समय था, शिक्षा दे सका; परन्तु उनमें एक गुण बहुत बड़े परिमाण में है, जो दूसरी कितनी ही हिन्दू-स्त्रियों में थोड़ी-बहुत मात्रा में पाया जाता है। मन से हो या बे-मन से, जान में हो या अनजान में, मेरे पीछे-पीछे चलने में उन्होंने अपने जीवन की सार्थकता मानी है और स्वच्छ जीवन बिताने के मेरे प्रयत्न में उन्होंने कभी बाधा नहीं डाली। इस कारण यद्यपि हम दोनों की बुद्धि-शक्ति में बहुत अन्तर है, फिर भी मेरा ख्याल है कि हमारा जीवन सन्तोषी, सुखी और ऊर्ध्वगामी है।

कस्तूरबाई पर तीन घातें हुईं और तीनों में वह महज घरेलू इलाज से बच गईं। पहली घटना तो तब की है जब सत्याग्रह-संग्राम चल रहा था उनको बार-बार रक्त-स्राव हुआ करता था। एक डाक्टर मित्र ने नश्तर लगवाने की सलाह दी थी। बड़ी आनाकानी के बाद वह नश्तर के लिए राजी हुईं। शरीर बहुत क्षीण हो गया था। डाक्टर ने बिना बेहोश किये ही नश्तर लगाया। उस समय उसे दर्द तो बहुत हो रहा था; पर जिस धीरज से कस्तूरबाई ने उसे सहन किया उन्हें देखकर मैं दांतों तले अंगुली देने लगा। नश्तर अच्छी तरह लग गया। डाक्टर और उसकी धर्मपत्नी ने कस्तूरबाई की बहुत अच्छी तरह शुश्रूषा की।

यह घटना डरबन की है। दो या तीन दिन बाद डाक्टर ने मुझे निश्चित

होकर जोहान्सबर्ग जाने की छुट्टी दे दी। मैं चला भी गया; पर थोड़े ही दिन में समाचार मिले कि कस्तूरबाई का शरीर बिलकुल सिमटता नहीं है और वह बिछौने से उठ-बैठ भी नहीं सकतीं। एक बार बेहोश भी हो गई थीं। डाक्टर जानते थे कि मुझसे पूछे बिना कस्तूरबाई को शराब या मांस —दवा में अथवा भोजन में—नहीं दिया जा सकता था। सो उन्होंने मुझे जोहान्सबर्ग टेलीफोन किया, "आपकी पत्नी को मैं मांस का शोरबा और 'बीफ टी' देने की जरूरत समझता हूं। मुझे इजाजत दीजिये।"

मैंने जवाब दिया, "मैं तो इजाजत नहीं दे सकता। परंतु कस्तूरबाई आजाद हैं। उनकी हालत पूछने लायक हो तो पूछ देखिये और वह लेना चाहे तो जरूर दीजिये।"

"बीमार से मैं ऐसी बातें नहीं पूछना चाहता। आप खुद यहां आ जाइये। जो चीजें मैं बताता हूं उनके खाने की इजाजत यदि आप न दें तो मैं आपकी पत्नी की जिंदगी के लिए जिम्मेदार नहीं हूं।"

यह सुनकर मैं उसी दिन डरबन रवाना हुआ। डाक्टर से मिलने पर उन्होंने कहा—"मैंने तो शोरबा पिलाकर आपको टेलीफोन किया था।"

मैंने कहा,—"डाक्टर, यह तो विश्वासघात है।"

"इलाज करते वक्त मैं दगा-वगा कुछ नहीं समझता। हम डाक्टर लोग ऐसे समय बीमार को व उसके रिश्तेदारों को धोखा देना पुण्य समझते हैं। हमारा धर्म तो है, जिस तरह हो सके रोगी को बचाना।" डाक्टर ने दृढ़ता-पूर्वक उत्तर दिया।

यह सुनकर मुझे बड़ा दुःख हुआ; पर मैंने शांति धारण की। डाक्टर मित्र थे, सज्जन थे। उनका और उनकी पत्नी का मुझपर बड़ा अहसान था। पर मैं उनके इस व्यवहार को बरदाश्त करने के लिए तैयार न था।

"डाक्टर, अब साफ-साफ बातें कर लीजिये। बताइये, आप क्या करना चाहते हैं? अपनी पत्नी को बिना उनकी इच्छा के मांस नहीं देने दूंगा। उनके न लेने से यदि वह मरती हों तो इसे सहन करने के लिए मैं तैयार हूं।"

डाक्टर बोले, "आपका यह सिद्धांत मेरे घर नहीं चल सकता। मैं तो आपसे कहता हूं कि आपकी पत्नी जबतक मेरे यहां हैं तबतक मैं मांस,

अथवा जो कुछ देना मुनासिब समझूंगा, जरूर दूंगा। अगर आपको यह मंजूर नहीं है तो आप अपनी पत्नी को यहां से ले जाइये। अपने ही घर में मैं इस तरह उन्हें नहीं मरने दूंगा।"

"तो क्या आपका यह मतलब है कि मैं पत्नी को अभी ले जाऊं?"

"मैं कहां कहता हूं कि ले जाओ? मैं तो यह कहता हूं कि मुझपर कोई शर्त न लादो तो हम दोनों से इनकी जितनी सेवा हो सकेगी करेंगे और आप सो जाइये। जो यह सीधी-सी बात समझ में न आती हो तो मुझे मजबूरी से कहना होगा कि आप अपनी पत्नी को मेरे घर से ले जाइये।"

मेरा खयाल है कि मेरा लड़का उस समय मेरे साथ था। उससे मैंने पूछा तो उसने कहा—"हां, आपका कहना ठीक है। बा को मांस कैसे दे सकते हैं?"

फिर मैं कस्तूरबाई के पास गया, वह बहुत कमजोर हो गई थीं। उससे कुछ भी पूछना मेरे लिए दुखदाई था। पर अपना धर्म समझकर मैंने ऊपर की बातचीत उन्हें थोड़े में समझा दी। उन्होंने दृढ़तापूर्वक जवाब दिया—"मैं मांस का शोरबा नहीं लूंगी। यह मनुष्य-देह बार-बार नहीं मिला करती आपकी गोदी में मैं मर जाऊं तो परवा नहीं, पर अपनी देह को मैं भ्रष्ट न होने दूंगी।"

मैंने उन्हें बहुतेरा समझाया और कहा कि तुम मेरे विचारों के अनुसार चलने के लिए बाध्य नहीं हो। मैंने उन्हें यह भी बता दिया कि कितने ही अपने परिचित हिंदू भी दवा के लिए शराब और मांस लेने में परहेज नहीं करते। पर वह अपनी बात से बिलकुल न डिगी और मुझसे कहा—"मुझे यहां से ले चलो।"

यह देखकर मैं बड़ा खुश हुआ; किन्तु ले जाते हुए बड़ी चिन्ता हुई। पर मैंने तो निश्चय कर ही डाला और डाक्टर को भी पत्नी का निश्चय सुना दिया।

वह बिगड़कर बोले, "आप तो बड़े घातक पति मालूम होते हैं। ऐसी नाजुक हालत में उस बेचारी से ऐसी बात करते हुए आपको शरम नहीं मालूम हुई? मैं कहता हूं कि आपकी पत्नी की हालत यहां से ले जाने लायक नहीं है। उनके शरीर की हालत ऐसी नहीं है कि जरा भी धक्का

सहन कर सकें। रास्ते ही में दम निकल जाय तो ताज्जुब नहीं ! फिर भी आप हठ-धर्मी से न मानें तो आप जानें ! यदि शोरबा न देने दें तो एक रात भी उन्हें अपने घर में रखने की जोखिम में नहीं लेता।"

रिमझिम-रिमझिम मेंह बरस रहा था। स्टेशन दूर न था। डरबन से फिनिक्स तक रेल के रास्ते और फिनिक्स से लगभग ढाई मील तक पैदल जाना था। खतरा पूरा-पूरा था। पर मैंने यही सोच लिया कि ईश्वर सब तरह मदद करेगा। पहले एक आदमी को फिनिक्स भेज दिया। फिनिक्स में हमारे यहां एक हैमक था। हैमक कहते हैं जालीदार कपड़े की झोली अथवा पालने को। उसके सिरों को बांस से बांध देने पर बीमार उसमें आराम से झूला करता है। मैंने वेस्ट को कहलाया कि वह हैमक, एक बोतल गरम दूध, एक बोतल गरम पानी और छः आदमियों को लेकर फिनिक्स स्टेशन पर आ जाय।

जब दूसरी ट्रेन चलने का समय हुआ तब मैंने रिक्शा मंगाई और उस भयंकर स्थिति में पत्नी को लेकर चल दिया।

पत्नी को हिम्मत दिलाने की मुझे जरूरत न पड़ी, उल्टा मुझीको हिम्मत दिलाते हुए उन्होंने कहा, "मुझे कुछ नुकसान न होगा, आप चिन्ता न करें।"

इस ठठरी में वजन तो कुछ रही नहीं गया था। खाना पेट में जाता ही न था। ट्रेन के डब्बे तक पहुंचने के लिए स्टेशन के लम्बे-चौड़े प्लेटफार्म पर दूर तक चलकर जाना था; क्योंकि रिक्शा वहांतक पहुंच नहीं सकती थी। मैं सहारा देकर डब्बे तक ले गया। फिनिक्स स्टेशन पर तो वह झोली आ गई थी। उसमें हम रोगी को आराम से घर तक ले गये। वहां केवल पानी के उपचार से धीरे-धीरे उसका शरीर बनने लगा। फिनिक्स पहुंचने के दो-तीन दिन बाद एक स्वामीजी हमारे यहां पधारे। जब हमारी हठ-धर्मी की कथा उन्होंने सुनी तो हमपर उनको बड़ा तरस आया और वह हम दोनों को समझाने लगे।

मुझे जहांतक याद आता है, मणिलाल और रामदास भी उस समय मौजूद थे। स्वामीजी ने मांसाहार की निर्दोषता पर एक व्याख्यान झाड़ा; मनुस्मृति के श्लोक सुनाये। पत्नी के सामने जो इसकी बहस उन्होंने छेड़ी

यह मुझे अच्छा न मालूम हुआ; परन्तु शिष्टाचार की खातिर मैंने उसमें दखल न दिया। मुझे मांसाहार के समर्थन में मनुस्मृति के प्रमाणों की आवश्यकता न थी। उनका पता मुझे था। मैं यह भी जानता था कि ऐसे लोग भी हैं जो उन्हें प्रक्षिप्त समझते हैं। यदि वे प्रक्षिप्त न हों तो भी अन्नाहार-सम्बन्धी मेरे विचार स्वतन्त्र रूप से बन चुके थे। पर कस्तूरबाई की तो श्रद्धा ही काम कर रही थी। वह बेचारी शास्त्रों के प्रमाणों को क्या जानती? उसके नजदीक तो परम्परागत रूढ़ि ही धर्म था। लड़कों को अपने पिता के धर्म पर विश्वास था, इससे वे स्वामीजी के साथ विनोद करते जाते थे। अन्त को कस्तूरबाई ने यह कहकर इस बहस को बन्द कर दिया, "स्वामीजी, आप कुछ भी कहिये, मैं मांस का शोरबा खाकर चंगी होना नहीं चाहती। अब बड़ी दया होगी, अगर आप मेरा सिर न खपावें। मैंने तो अपना निश्चय आपसे कह दिया। अब और बातें रह गई हों तो आप इन लड़कों के बाप से जाकर कीजियेगा।"

नश्तर लगाने के बाद यद्यपि कस्तूरबाई का रक्त-स्राव कुछ समय के लिए बन्द हो गया था, तथापि बाद को वह फिर जारी हो गया। अबकी वह किसी तरह मिटाये न मिटा। पानी के इलाज बेकार साबित हुए। मेरे इन उपचारों पर पत्नी की बहुत श्रद्धा न थी; पर साथ ही तिरस्कार भी न था। दूसरा इलाज करने का भी उसे आग्रह न था। इसलिए जब मेरे दूसरे उपचारों में सफलता न मिली तब मैंने उसको समझाया कि दाल और नमक छोड़ दो। मैंने उसे समझाने की हद कर दी, अपनी बात के समर्थन में कुछ साहित्य भी पढ़कर सुनाया, पर वह नहीं मानती थी। अन्त को उसने झुंझलाकर कहा—"दाल और नमक छोड़ने के लिए तो आपसे भी कोई कहे तो आप भी न छोड़ेंगे।"

इस जवाब को सुनकर, एक ओर जहां मुझे दुःख हुआ वहां दूसरी ओर हर्ष भी हुआ; क्योंकि इससे मुझे अपने प्रेम का परिचय देने का अवसर मिला। उस हर्ष से मैंने तुरन्त कहा, "तुम्हारा खयाल गलत है, मैं यदि बीमार होऊं और मुझे यदि वैद्य इन चीजों को छोड़ने के लिए कहें तो जरूर छोड़ दूं। पर ऐसा क्यों? लो, तुम्हारे लिए मैं आज ही से दाल और नमक एक साल तक छोड़े देता हूं। तुम छोड़ो या न छोड़ो, मैंने तो छोड़ दिया।"

यह देखकर पत्नी को बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वह कह उठी, "माफ करो, आपका मिजाज जानते हुए भी यह बात मेरे मुंह से निकल गई। अब मैं तो दाल और नमक न खाऊंगी, पर आप अपना वचन वापस ले लीजिये। यह तो मुझे भारी सजा दे दी।"

मैंने कहा, "तुम दाल और नमक छोड़ दो तो बहुत ही अच्छा होगा। मुझे विश्वास है कि उससे तुम्हें लाभ ही होगा, परन्तु मैं जो प्रतिज्ञा कर चुका हूं वह नहीं टूट सकती। मुझे भी उससे लाभ ही होगा। हर किसी निमित्त से मनुष्य यदि संयम का पालन करता है तो इससे उसे लाभ ही होता है। इसलिए तुम इस बात पर जोर न दो; क्योंकि इससे मुझे भी अपनी आजमाइश कर लेने का मौका मिलेगा और तुमने जो इनको छोड़ने का निश्चय किया है, उसपर दृढ़ रहने में भी तुम्हें मदद मिलेगी।" इतना कहने के बाद तो मुझे मनाने की आवश्यकता रह नहीं गई थी।

"आप तो बड़े हठी हैं, किसीका कहा मानना आपने सीखा ही नहीं।" यह कहकर वह आंसू बहाती हुई चुप हो रहीं।

इसको मैं पाठकों के सामने सत्याग्रह के तौर पर पेश करना चाहता हूं और मैं कहना चाहता हूं कि मैं इसे अपने जीवन की मीठी स्मृतियों में गिनता हूं।

इसके बाद तो कस्तूरबाई का स्वास्थ्य खूब सम्हलने लगा। अब यह नमक और दाल के त्याग का फल है, या उस त्याग से हुए भोजन के छोटे-बड़े परिवर्तनों का फल था, या उसके बाद दूसरे नियमों का पालन कराने की मेरी जागरूकता का फल था, या इस घटना के कारण जो मानसिक उल्लास हुआ उसका फल था, यह मैं नहीं कह सकता; परन्तु यह बात जरूर हुई कि कस्तूरबाई का सूखा शरीर फिर पनपने लगा। रक्त-स्राव बन्द हो गया और 'वैद्यराज' के नाम से मेरी साख कुछ बढ़ गई। (आ०, १९२७)

... ...

कल एक आदमी ने भूल से उन्हें (बा को) मेरी मां समझ लिया था। यह भूल हमारे और उनके बीच न सिर्फ क्षम्य ही है, बल्कि तारीफ की बात है; क्योंकि बहुत वर्षों से वह हम दोनों की सलाह से मेरी पत्नी नहीं रह गई है। चालीस साल हुए मैं बे-मां-बाप का हो गया और तीस वर्षों से

वह मेरी मां का काम कर रही हैं। वह मेरी मां, सेविका, रसोइया, बोतस धोनेवाली सब कुछ रही हैं। अगर वह इतने सवेरे आपके दिये सम्मान में हिस्सा लगाने आती तो मैं भूखा ही रह जाता और मेरे शारीरिक सुख की कोई परवा नहीं करता। इसलिए हमने आपस में यह समझौता कर लिया है कि सभी सम्मान मुझे मिले और सभी मिहनत उसे करनी पड़े। मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि उसके बारे में जो-जो अच्छी-अच्छी बातें आपने कही हैं वे सब मेरे कोई साथी उससे कह देंगे और उसकी गैरहाजिरी के लिए आप मेरा जवाब मंजूर कर लेंगे। (हि० न०, १.१२.२७)

... ...

आज (३१-३-३२) 'लीडर' की 'लंदन की चिट्ठी' अच्छी थी। आम तौर पर पोलक नरम शब्द में ही लिखते हैं, मगर इस बार हिन्दुस्तान की घटनाओं पर उन्होंने काफी गरम होकर लिखा है। बा को 'सी' क्लास मिला, बाद में 'ए' मिला और कराची की एक अस्सी वर्ष की महिला को पकड़ा गया, इन बातों पर उन्होंने अच्छा लिखा है। 'बा' तो गांधी की पत्नी थीं, इसलिए उन्हें 'सी' से बदलकर 'ए' में रख दिया, नहीं तो साठ वर्ष की दूसरी कोई औरत होती तो 'सी' में ही रहती न ? यह उनकी दलील अच्छी है। मगर सबसे बढ़िया तो यह है। सेम्युअल होर के लिए वह लिखते हैं कि हिन्दुस्तान में जब यह सब कुछ हो रहा है तब सेम्युअल 'स्केट' करता है! कारवां और उसपर भोंकनेवाले कुत्तों का इसका रूपक उलटा इसी पर चाहे लागू न हो, मगर यह देखना कि कहीं यहां का कारवां इतना आगे न बढ़ जाय कि फिर कुछ सुधारने की गुंजाइश ही न रहे और सिर्फ कुत्ते ही भोंकते रह जायं—यह कहकर उन्होंने होर को 'सावधान' कहा है।

बापू—"बस, यह तो फिरोजशाह मेहता जैसी बात हुई। उन्हें दक्षिण अफ्रीका की लड़ाई की कोई परवा नहीं थी, मगर जब बा को पकड़ने की खबर सुनी तो उन्हें आग लग गई और उन्होंने टाउन हाल का प्रसिद्ध भाषण दिया। पोलक से बा वाली बात बर्दाश्त नहीं हुई, इसलिए वह लिखा है।"

वल्लभभाई—"बाकी बात ऐसी है, जो किसीको भी चुभेगी। बा तो अहिंसा की मूर्ति हैं। ऐसी अहिंसा की छाप मैंने और किसी स्त्री के चेहरे पर नहीं देखी। उनकी अपार नम्रता, उनकी सरलता किसीको भी हैरत में

डालनेवाली है।"

बापू—"सही बात है, वल्लभभाई। मगर मुझे बा का सबसे बड़ा गुण उसकी हिम्मत और बहादुरी मालूम होती है। वह जिद करे, क्रोध करे, ईर्ष्या करे, मगर यह सब जानने के बाद आखिर दक्षिण अफ्रीका से आज तक की उसकी कारगुजारी देखें तो उसकी बहादुरी बाकी रहती है।"

(म० डा०, भाग १, ३१.३.३२)

... ...

बापू की थकान अभी चल रही है बा का स्मरण उन्हें उसी तरह व्यथित करता रहता है। आज फिर कह रहे थे,

"बा की मृत्यु भव्य थी। मुझे उसका बहुत हर्ष है। जो दुःख है वह तो अपने स्वार्थ के लिए। बासठ वर्ष के साथ के बाद उसका साथ छूटना चुभता है। कितनी ही कोशिश करूं, अभी मैं उन स्मरणों को मन से नहीं निकाल सकता। (का० क०, २७.२.४४)

... ...

शाम को घूमते समय बापू कुछ थके-से लगे। पूछने पर कहने लगे—

"एक तो मेरे पत्रों के सरकारी जवाब नहीं आते हैं, इसलिए मन पर बोझ है। दूसरे, बा के जाने का धक्का अभी तक दूर नहीं हुआ। बुद्धि कहती है कि इससे अच्छी मृत्यु बा के लिए हो नहीं सकती थी। मुझे हमेशा यह डर रहता था कि बा अगर मेरे पीछे रह जायगी तो अच्छा नहीं। मेरे हाथों में चली जाय तो मुझे अच्छा लगे; क्योंकि बा मुझमें समा गई थी। मैं शोक में पड़ा रहता हूं, ऐसा भी नहीं है। बा का विचार करता रहता हूं, वह भी नहीं। क्या है, उसका मैं वर्णन नहीं कर सकता।"

(का० क०, २३.३.४४)

... ...

बा का जाना एक कल्पना-सा लगता है। मैं उसके लिए तैयार था, मगर जब वह सचमुच ही चली गई तो मुझे कल्पना से अधिक एक नई बात लगी। मैं अब सोचता हूं कि बा के बिना मैं अपनेको ठीक-ठीक बैठा ही नहीं सकता हूं। (का० क०, २.३.४४)

शाम को बापू घूमते-समय कनु से बात कर रहे थे कि बा के स्मारक

के लिए पैसा इकट्ठा करना है। बापू की अगली जयंती पर पिचहत्तर लाख रुपया इकट्ठा करने की बात पहले से ही चल रही थी। कनु बापू से इस विषय पर पूछ रहा था। बापू ने कहा,

"दोनों फंड साथ मिला दो। बा मुझमें समा गई थी। कौन है ऐसी स्त्री जो इस तरह अपने पति की गोद में प्राण दे? अंतिम समय में उसने मुझे बुलाया। तब मैं नहीं जानता था कि वह जा रही है, और मैं घूमने नहीं चला गया था, वह भी ईश्वर का ही काम था। पेनिसिलीन के कारण ही मैं रुका। मृत्यु-शय्या पर पड़ी हुई को इंजेक्शन क्या देना था? मगर जब बा के पास बैठा तो समझ गया कि बा अब जाती है। बा के नाम से विश्व-विद्यालय खोलना मैं एक निकम्मी बात समझता हूं। उसे विश्वविद्यालय में रस कहां था? चरखा इत्यादि में तो वह रस लेती थी। यह फंड हम दोनों के निमित्त इकट्ठा हो तो लोगों पर बोझ नहीं पड़ेगा। बा का हिस्सा मेरी जयन्ती में हमेशा रहा है। इस फंड का उपयोग चरखा और ग्रामोद्योग के लिए होगा। नारायणदास को उसके कारभार में पूरी मेहनत और जिम्मेदारी लेनी होगी।" (का० क०, ४.३.४४)

... ...

बा का जबरदस्त गुण महज अपनी इच्छा से मुझमें समा जाने का था। यह कुछ मेरे आग्रह से नहीं हुआ था। लेकिन समय पाकर बा के अंदर ही इस गुण का विकास हो गया था। मैं नहीं जानता था कि बा में यह गुण छिपा हुआ था। मेरे शुरू-शुरू के अनुभव के अनुसार बा बहुत हठीली थीं। मेरे दबाव डालने पर भी वह अपना चाहा ही करतीं। इसके कारण हमारे बीच थोड़े समय की या लंबी कड़वाहट भी रहती, लेकिन जैसे-जैसे मेरा सार्वजनिक जीवन उज्ज्वल बनता गया, वैसे-वैसे बा खिलती गई और पुख्ता विचारों के साथ मुझमें यानी मेरे काम में समाती गईं। जैसे दिन बीतते गये, मुझमें और मेरे काम में—सेवा में—भेद न रह गया। बा धीमे-धीमे उसमें तदाकार होने लगीं। शायद हिन्दुस्तान की भूमि को यह गुण अधिक-से-अधिक प्रिय है। कुछ भी हो, मुझे तो बा की उक्त भावना का यह मुख्य कारण मालूम होता है।

बा में यह गुण पराकाष्ठा को पहुंचा, इसका कारण हमारा ब्रह्मचर्य

था। मेरी अपेक्षा बा के लिए वह बहुत ज्यादा स्वाभाविक सिद्ध हुआ। शुरू में बा को इसका कोई ज्ञान भी न था। मैंने विचार किया और बा ने उसको उठाकर अपना बना लिया। परिणामस्वरूप हमारा संबंध सच्चे मित्र का बना। मेरे साथ रहने में बा के लिए सन् १९०६ से, असल में सन् १९०१ से, मेरे काम में शरीक हो जाने के सिवा या उससे भिन्न और कुछ रह ही नहीं गया था। वह अलग रह नहीं सकती थीं। अलग रहने में उन्हें कोई दिक्कत न होती, लेकिन उन्होंने मित्र बनने पर भी स्त्री के नाते और पत्नी के नाते मेरे काम में समा जाने में ही अपना धर्म माना। इसमें बा ने मेरी निजी सेवा को अनिवार्य स्थान दिया। इसलिए मरते दम उन्होंने मेरी सुविधा की देख-रेख का काम छोड़ा ही नहीं।

अगर मैं अपनी पत्नी के बारे में अपने प्रेम और अपनी भावना का वर्णन कर सकूं तो हिंदू-धर्म के बारे में अपने प्रेम और अपनी भावनाओं को मैं प्रकट कर सकता हूं। दुनिया की दूसरी किसी भी स्त्री के मुकाबिले में मेरी पत्नी मुझपर ज्यादा असर डालती है।

पहले तो अपनी पत्नी की मृत्यु के बारे में आपकी ममताभरी समवेदना के लिए मैं आपका और लेडी वेवेल का आभार मानता हूं। यद्यपि अपनी मृत्यु के कारण वह सतत वेदना से छूट गई हैं, इसलिए उनकी दृष्टि से मैंने उनकी मौत का स्वागत किया है, तो भी इस क्षति से मुझको जितना दुःख होने की कल्पना मैंने की थी, उससे अधिक दुःख हुआ है। हम असाधारण दम्पती थे। १९०६ में एक दूसरे की स्वीकृति से और अनजानी आजमाइश के बाद हमने आत्म-संयम के नियम को निश्चित रूप से स्वीकार किया था। इसके परिणामस्वरूप हमारी गांठ पहले से कहीं ज्यादा मजबूत बनी और मुझे उससे बहुत आनन्द हुआ। हम दो भिन्न व्यक्ति नहीं रह गये। मेरी वैसी कोई इच्छा नहीं थी, तो भी उन्होंने मुझमें लीन होना पसन्द किया। फलतः वह सचमुच ही मेरी अर्धांगिनी बनीं। वह हमेशा से बहुत दृढ़ इच्छा-शक्तिवाली स्त्री थीं, जिनको अपनी नवविवाहित दशा में मैं भूल से हठीली माना करता था; लेकिन अपनी दृढ़ इच्छा-शक्ति के कारण वह अनजाने ही अहिंसक असहयोग की कला के आचरण में मेरी गुरु बन गईं। आचरण का आरम्भ मेरे अपने परिवार से ही किया। १९०६ में जब मैंने उसे राज-

नीति के क्षेत्र में दाखिल किया तब उसका अधिक विशाल और विशेष रूप से योजित 'सत्याग्रह' नाम पड़ा। दक्षिण अफ्रीका में जब हिन्दुस्तानियों की जेल-यात्रा शुरू हुई तब श्रीमती कस्तूरबा भी सत्याग्रहियों में एक थीं। मेरे मुकाबिले शारीरिक पीड़ा उनको ज्यादा हुई। वह कई बार जेल जा चुकी थीं, फिर भी इस बार के इस कैदखाने में, जिसमें सभी तरह की सहूलियतें मौजूद थीं, उनको अच्छा नहीं लगा। दूसरे बहुतों के साथ मेरी और फिर तुरन्त ही उनकी जो गिरफ्तारी हुई, उससे उन्हें जोर का आघात पहुंचा और उनका मन खट्टा हो गया। वह मेरी गिरफ्तारी के लिए बिलकुल तैयार नहीं थीं। मैंने उन्हें विश्वास दिलाया था कि सरकार को मेरी अहिंसा पर भरोसा है और जबतक मैं खुद गिरफ्तार होना न चाहूं वह मुझे पकड़ेगी नहीं। सचमुच उनके ज्ञानतंतुओं को इतने जोर का धक्का बैठा कि उनकी गिरफ्तारी के बाद उन्हें दस्त की सख्त शिकायत हो गई। अगर उस समय डा० सुशीला नैयर ने, जो उनके साथ ही पकड़ी गई थीं, उनका इलाज न किया होता तो मुझसे इस जेल में आकर मिलने से पहले ही उनकी देह छूट चुकी होती। मेरी हाजिरी से उन्हें आश्वासन मिला और बिना किसी खास इलाज के दस्त की शिकायत दूर हो गई। लेकिन मन जो खट्टा हुआ था, सो खट्टा ही बना रहा। इसकी वजह से उनके स्वभाव में चिड़चिड़ापन आ गया और इसीका नतीजा था कि आखिर कष्ट सहते-सहते क्रम-क्रम से उनका देहपात हुआ। ('हमारी बा', पृ० २२)

... ...

बा राजकोट की लड़ाई में शामिल हुईं, इसपर कुछ लिखने का मेरा इरादा था, लेकिन उनके उस लड़ाई में शामिल होने पर जो थोड़ी निष्ठुर टीकाएं हुई हैं, वे खुलासा चाहती हैं। मुझे तो कभी यह सूझा ही न था कि बा को इस लड़ाई में शरीक होना चाहिए। इसकी खास वजह तो यह थी कि इस तरह की मुसीबतों के लिए वह बहुत बूढ़ी हो चुकी थीं। लेकिन बात कितनी ही अनोखी क्यों न मालूम हो, टीकाकारों को मेरे इस कथन पर इतना विश्वास तो रखना चाहिए कि अगरचे बा अनपढ़ थीं, फिर भी कई सालों से उन्हें इस बात की पूरी-पूरी आजादी थी कि वह जो करना चाहें, करें। क्या दक्षिण अफ्रीका में और क्या हिन्दुस्तान में, जब-जब भी वह किसी

लड़ाई में शरीक हुई हैं, अपने-आप, अपनी आन्तरिक भावना से ही। इस बार भी ऐसा ही हुआ था। जब उन्होंने मणिबहन की गिरफ्तारी की बात सुनी तो उनसे न रहा गया और उन्होंने मुझसे लड़ाई में शामिल होने की इजाजत मांगी। मैंने कहा, "तुम अभी बहुत ही कमजोर हो।" दिल्ली में कुछ ही दिन पहले वह अपने नहाने के कमरे में बेहोश हो गई थीं। उस वक्त देवदास ने हाजिरखयाली से काम न लिया होता तो वह उसी समय स्वर्गधाम पहुंच गई होतीं। लेकिन बा ने जवाब दिया, "शरीर की मुझे परवा नहीं।" इसपर मैंने सरदार से पुछवाया। वह भी इजाजत देने के लिए बिलकुल तैयार न थे।

लेकिन फिर तो वह पसीजे। रेजीडेंट की सूचना से ठाकुरसाहब ने जो वचन भंग किया था, उसके कारण मुझे होनेवाले क्लेश के वह साक्षी थे। कस्तूबाई राजकोट की बेटी ठहरी। इसलिए उन्होंने अन्तर की आवाज सुनी। उन्होंने महसूस किया कि जब राजकोट की बेटियां राज्य के पुरुषों और स्त्रियों की आजादी के लिए जूझ रही हों तब वह चुप बैठ ही नहीं सकतीं।

उनमें एक गुण बहुत बड़ा था। हरेक हिन्दू पत्नी में वह कमोबेश होता ही है। इच्छा से या अनिच्छा से अथवा जाने-अनजाने भी वह मेरे पदचिह्नों पर चलने में धन्यता अनुभव करती थीं।...

अगरचे मैं चाहता था कि उस तीव्र वेदना से उन्हें छुटकारा मिले और जल्दी ही उनकी देह का अंत हो जाय तो भी आज उनकी कमी को जितना मैंने माना था, उससे कहीं अधिक मैं महसूस कर रहा हूं। हम असाधारण दंपती थे—अनोखे। हमारा जीवन संतोषी, सुखी और सदा ऊर्ध्वगामी था।

('हमारी बा', १८.२.४५)

: ५२ :

नारणदास गांधी

पास ही नारणदास जैसा साधु पुरुष है। नारणदास की दृढ़ता, सहनशीलता, हिम्मत, त्यागशक्ति और विवेकबुद्धि वगैरह पर मुझ जैसे को भी

ईर्ष्या करने की इच्छा होती है। इसने मुझे आश्रम की तरफ से बिलकुल निश्चित कर दिया है।

... ...

हम अंदर रहकर ताप नहीं सह रहे हैं, तुम आंतरिक और बाह्य दोनों तपश्चर्या कर रहे हो। (म० डा०, भाग १, २७.५.३२.)

... ...

यहां बैठे-बैठे आश्रम में फेर-बदल कराया करता हूं। नारणदास की अनन्य श्रद्धा, उसकी पवित्रता, दृढ़ता, उसका उद्यम और कार्यदक्षता सबका लाभ ले रहा हूं।

... ...

नारणदास के बारे में मेरा पूरा विश्वास है। वह कहे कि मुझे शांति है तो मैं अशांति मानने को तैयार नहीं हूं। मैंने उसे खूब चेता दिया है। दूर बैठा हुआ अब उसे तंग नहीं करूंगा। नारणदास में अनासक्ति के साथ काम करने की बड़ी शक्ति है। अनासक्त हमेशा आसक्त से बहुत ज्यादा काम करता है और फुर्सत में हो, ऐसा दीखता है। वह सबसे बाद में थकता है। सच पूछो तो उसे थकावट मालूम ही नहीं होनी चाहिए। मगर यह तो हुआ आदर्श। तुम वहां मौजूद हो, इसलिए अगर तुम्हें अशांति दिखाई दे और यह लगे कि नारणदास अपने-आपको धोखा देता है तो तुम्हारा धर्म मुझसे अलग होगा। तुम्हें तो नारणदास को सावधान करना ही चाहिए। मैं भी वहां होऊं और कह प्रत्यक्ष जो कहे उससे दूसरी ही बात देखूं तो जरूर उसे चेतावनी दूं। तुम्हारी चेतावनी के बावजूद वह तुम्हारा विरोध करे तो तुम्हें उसका कहना मानना चाहिए, जबतक तुम उसे सत्याग्रही मानती हो तबतक। कई बार हमें अपनी आंखें भी धोखा दे देती हैं। मुझे तुम्हारे चेहरे पर उदासी दीखे; परन्तु तुम इन्कार करो तो मुझे तुम्हारी बात मान ही लेनी चाहिए। मुझे यह भय हो या शक हो कि मुझसे तुम छिपाती हो तो दूसरी बात है। फिर तो तुमसे पूछने की बात नहीं रह जाती। जानने के लिए मुझे दूसरे साधन ढूंढ़ने करने चाहिए। मगर आश्रम-जीवन तो इसी तरह चलता है। उसकी बुनियाद सचाई पर ही है। वहां अच्छे हेतु से भी धोखा नहीं दिया जा सकता। (म० डा०, भाग १, २३.६.३२)

नारणदास से बढ़कर कोई आदमी इतना ही दृढ़, विवेकी, समझदार और कर्तव्य-परायण मुझको मिलने की कोई उम्मीद नहीं है, और नारणदास मिला है इसको मैं ईश्वर का अनुग्रह मानता हूं।

... ...

तुम्हें मेरा आशीर्वाद अंजलियां भर-भरकर है। क्यों न भेजूं! मेरी सारी आशाएं तुम सफल कर रहे हो और अपनी अनन्य और ज्ञान-मय सेवा से हम तीनों को ही आश्चर्य-चकित कर रहे हो। सारी अग्नि-परीक्षाओं में से पार उतरने की शक्ति ईश्वर ने तुम्हें बख्शी मालूम होती है। खूब जिओ और अहिंसा-देवी के जरिये सत्यनारायण का साक्षात्कार करो और दूसरों के करने में सहायक बनो। (म० डा०, भाग २, ११.९.३२)

... ...

• नारणदास गांधी लिखते हैं कि मैं पाठकों को यह याद दिला दूं कि 'चर्खा-जयन्ती' के निमित्त जो लोग कताई-यज्ञ में भाग लेना चाहते हों उन्हें अपने नाम तुरन्त भेज देने चाहिए। गत ११ अक्तूबर से यह यज्ञ आरम्भ हुआ है। जिन लोगों ने अपने नाम अभी तक नहीं भेजे हैं, वे पिछड़ तो गये ही हैं; लेकिन कभी न करने से देर से करना फिर भी अच्छा है। जो पीछे रह गये हैं वह निश्चित परिमाण से अधिक कातकर साथ हो सकते हैं। नारणदास गांधी इस किस्म के खादी-कार्य के अच्छे विशेषज्ञ हैं। आंकड़ों में खूब रस लेते हैं और इस काम को तेजी से करते हैं। यज्ञार्थ कातनेवालों के नाम और पतों का ठीक-ठीक हिसाब रखने और उनके सूत को रजिस्टर पर चढ़ाने के काम से वह कभी थकते नहीं; बल्कि उलटे इस काम में उन्हें आनंद आता है। वह मानते हैं कि काम कोई भी हो नियम से होना चाहिए। उनका खयाल है कि इस तरह काम का ठीक-ठीक हिसाब रखने से ही नियमितता आती है और काम करनेवालों को प्रोत्साहन मिलता है। यदि खासी बड़ी तादाद में लोग यज्ञार्थ कातें तो वह खादी की कीमत में जरूर कमी कर सकते हैं। इस योजना में बहुत संभावनाएं हैं। इसलिए मैं आशा करता हूं कि यज्ञार्थ कताई की इस सुन्दर योजना पर समुचित ध्यान दिया जायगा।

(ह० से०, २५.११.३९)

: ५३ :

मगनलाल खुशालचन्द गांधी

मेरे साथ मेरे जो-जो रिश्तेदार आदि वहां गये और व्यापार आदि में लग गये थे उन्हें अपने मत में मिलाने का और फिनिक्स में दाखिल करने का प्रयत्न मैंने शुरू किया। वह सब तो धन जमा करने की उमंग से दक्षिण अफ्रीका आये थे। उनको राजी कर लेना बड़ा कठिन काम था; परन्तु कितने ही लोगों को मेरी बात जंच गई। इन सबमें से आज तो मगनलाल गांधी का नाम मैं चुनकर पाठकों के सामने रखता हूं, क्योंकि दूसरे लोग जो राजी हुए थे, वह थोड़े-बहुत समय फिनिक्स में रहकर फिर धन-संचय के फेर में पड़ गये। मगनलाल गांधी तो अपना काम छोड़कर जो मेरे साथ आये, सो अबतक रह रहे हैं और अपने बुद्धि-बल से, त्याग से, शक्ति से एवं अनन्य भक्ति-भाव से मेरे आंतरिक प्रयोगों में मेरा साथ देते हैं एवं मेरे मूल साथियों में आज उनका स्थान सबमें प्रधान है। फिर एक स्वयं-शिक्षित कारीगर के रूप में तो उनका स्थान मेरी दृष्टि में अद्वितीय है।

... ...

शांतिनिकेतन में मेरे मंडल को अलग स्थान में ठहराया गया था। वहां मगनलाल गांधी उस मंडल की देख-भालकर रहे थे और फिनिक्स-आश्रम के तमाम नियमों का बारीकी से पालन कराते थे। मैंने देखा कि उन्होंने शांतिनिकेतन में अपने प्रेम, ज्ञान और उद्योग-शीलता के कारण अपनी सुगंध फैला रखी थी (आ०, १९२७)

... ...

जिसे मैंने अपने सर्वस्व का वारिस चुना था वह अब नहीं रहा। मेरे चाचा के पोते मगनलाल खुशालचंद गांधी मेरे कामों में मेरे साथ सन् १९०४ से ही थे। मगनलाल के पिता ने अपने सभी पुत्रों को देश के काम में दे दिया है। वह इस महीने के शुरू में सेठ जमनालालजी तथा दूसरे मित्रों के साथ बंगाल गये थे, वहां से बिहार आये। वहींपर अपने कर्त्तव्य के पालन में ही उन्हे कठिन ज्वर हो आया। नौ दिन की बीमारी के बाद प्रेम और डाक्टरी ज्ञान से जितनी सेवा संभव है, सभी कुछ होने पर भी वह ब्रजकिशोरप्रसा द

जी की गोद में से चले गये।

कुछ धन कमा सकने की आशा से मंगनलाल गांधी मेरे साथ सन् १९०३ में दक्षिण अफ्रीका गये थे। मगर उन्हें दूकान करते पूरा साल भर भी न हुआ होगा कि स्वेच्छापूर्वक गरीबी की मेरी अचानक पुकार को सुनकर वह फिनिक्स-आश्रम में आ शामिल हुए और तबसे एक बार भी वह डिगे नहीं, मेरी आशाएं पूरी करने में असमर्थ न हुए। यदि उन्होंने स्वदेश-सेवा में अपने को होम दिया तो अपनी योग्यताओं और अपने अध्यवसाय के बल पर, जिनके बारे में कोई संदेह हो ही नहीं सकता, वह आज व्यापारियों के सिर-ताज होते। छापाखाने में डाल दिये जाने पर उन्होंने तुरंत ही मुद्रण-कला के सभी भेदों को जान लिया। यद्यपि पहले उन्होंने कभी कोई यंत्र हाथ में नहीं लिया था तो भी इंजिन-घर में, कलों के बीच तथा कंपोजीटरों के टेबल पर सभी जगह अत्यंत कुशलता दिखलाई। 'इंडियन ओपीनियन' के गुजराती अंश का संपादन करना भी उनके लिए वैसा ही सहज काम था। फिनिक्स-आश्रम में खेती का काम भी शामिल था और इसलिए वह कुशल किसान भी बन गये। मेरा खयाल है कि आश्रम में सर्वोत्तम बागवान थे। यह भी उल्लेखनीय है कि अहमदाबाद से 'यंग इंडिया' का जो पहला अंक निकला उसमें भी उस संकटकाल में उनके हाथ की कारीगरी थी।

पहले उनका शरीर भीम जैसा था; किंतु जिस काम में उन्होंने अपने-को उत्सर्ग किया, उसकी उन्नति में उस शरीर को गला दिया था। उन्होंने बड़ी सावधानी से मेरे आध्यात्मिक जीवन का अध्ययन किया था। जबकि मैंने विवाहित स्त्री-पुरुषों के लिए भी 'ब्रह्मचर्य ही जीवन का नियम है' का सिद्धांत अपने सहकारियों के सामने पेश किया था तब उन्होंने पहले-पहल उसका सौंदर्य तथा उसके पालन की आवश्यकता समझी और यद्यपि उसके लिए, जैसा कि मैं जानता हूं, उन्हें बड़ा कठोर प्रयत्न करना पड़ा था तो भी उन्होंने इसे सफल कर दिखलाया। इसमें वह अपने साथ अपनी धर्मपत्नी को भी धीरतापूर्वक समझा-बुझाकर ले गये, उसपर अपने विचार जबरन डाल-कर नहीं।

जब सत्याग्रह का जन्म हुआ तब वह सबसे आगे थे। दक्षिण अफ्रीका के युद्ध का पूरा-पूरा मतलब समझानेवाला एक शब्द मैं ढूंढ़ रहा था। दूसरा

कोई अच्छा शब्द न मिल सकने से मैंने लाचार उसे निष्क्रिय प्रतिरोध का नाम दिया था, गो कि ये शब्द बहुत ही नाकाफी और भ्रमोत्पादक भी हैं। क्या ही अच्छा होता अगर आज मेरे पास उनका वह अत्यंत सुंदर पत्र होता जिसमें उन्होंने बतलाया था कि इस युद्ध को 'सदाग्रह' क्यों कहना चाहिए। इसी सदाग्रह को बदलकर मैंने 'सत्याग्रह' शब्द बनाया। उनका पत्र पढ़ने पर इस युद्ध के सभी सिद्धांतों पर एक-एक करके विचार करते हुए अन्त में पाठक को इसी नाम पर आना ही पड़ता था। मुझे याद है कि वह पत्र अत्यंत ही छोटा और केवल आवश्यक विषय पर ही था, जैसे कि उनके सभी पत्र होते थे।

युद्ध के समय वह काम से कभी थके नहीं, किसी काम से देह नहीं चुराई और अपनी वीरता से वह अपने आसपास में सभी किसीके दिल उत्साह और आशा से भर देते थे। जबकि सब कोई जेल गये, जब फिनिक्स में जेल जाना ही मानों इनाम जीतना था तब भी, मेरी आज्ञा से, जेल से भारी काम उठाने के लिए वह पीछे ठहर गये। उन्होंने स्त्रियों के दल में अपनी पत्नी को भेजा।

हिंदुस्तान लौटने पर भी उन्हींकी बदौलत आश्रम, जिस संयम-नियम की बुनियाद पर बना है, खुल सका था। यहां उन्हें नया और अधिक मुश्किल काम करना पड़ा। मगर उन्होंने अपनेको उसके लायक साबित किया। उनके लिए अस्पृश्यता बहुत कठिन परीक्षा थी। सिर्फ एक लहमे भर के लिए ऐसा जान पड़ा, मानों उनका दिल डोल गया हो। मगर यह तो एक सेकंड की बात थी। उन्होंने देख लिया कि प्रेम की सीमा नहीं बांधी जा सकती, और कुछ नहीं तो महज इसलिए कि अछूतों के लिए ऊंची जातिवाले जिम्मेवार हैं, हमें उन्हींके जैसे रहना चाहिए।

आश्रम का औद्योगिक विभाग फिनिक्स के ही कारखाने के ढंग का नहीं था। यहां हमें बुनना, कातना, धुनना और ओटना सीखना था। फिर मैं मगनलाल की ओर झुका। गोकि कल्पना मेरी थी, किंतु उसे काम में लानेवाले हाथ तो उनके थे। उन्होंने बुनना और कपास के खादी बनने तक की और दूसरी सभी क्रियाएं सीखीं। वह तो जन्म से ही विश्वकर्मा, कुशल कारीगर थे।

जब आश्रम में गोशाला का काम शुरू हुआ तब वह इस काम में उत्साह से लग गये, गोशाला-संबंधी साहित्य पढ़ा और आश्रम की सभी गायों का नामकरण किया और सभी गोरुओं से मित्रता पैदा कर ली।

जब चर्मालय खुला तब भी वह वैसे ही दृढ़ थे। जरा दम लेने की फुर्सत मिलते ही वह चमड़े की कमाई के सिद्धांत भी सीखनेवाले थे। राजकोट के हाईस्कूल की शिक्षा के अलावा और जो कुछ वह इतनी अच्छी तरह जानते थे, उन्होंने वह सब स्वानुभव की कठिन पाठशाला में सीखा था। उन्होंने देहाती बढ़ई, देहाती बुनकर, किसान, चरवाहों और ऐसे ही मामूली लोगों से सीखा था।

वह चर्खा-संघ के शिक्षण विभाग के व्यवस्थापक थे। श्री वल्लभभाई ने बाढ़ के जमाने में उन्हें विट्ठलपुर का नया गांव बनाने का भार दिया था।

वह आदर्श पिता थे। उन्होंने अपने बच्चों को, दो लड़कियों और एक लड़के को, जो अबतक अविवाहित हैं, ऐसी शिक्षा दी थी कि जिसमें वे देश के लिए उपहार बनने के लिए योग्य हों। उनका पुत्र केशव यंत्र-विद्या में बड़ी कुशलता दिखला रहा है। उसने भी अपने पिता के ही समान यह सब मामूली लुहार-बढ़इयों को काम करते देखकर सीखा है। उनकी सबसे बड़ी लड़की राधा ने, जिसकी उम्र आज अठारह वर्ष है, अपने मत्थे बिहार में स्त्रियों की स्वाधीनता के संबंध में एक मुश्किल और नाजुक काम उठाया था। सच ही तो, वह यह पूरा-पूरा जानते थे कि राष्ट्रीय शिक्षा कैसी होनी चाहिए और वह शिक्षकों को प्रायः इस विषय पर गंभीर और विचारपूर्वक चर्चा में लगाया करते थे।

पाठक यह न समझें कि उन्हें राजनीति का कुछ ज्ञान ही नहीं था। उन्हें ज्ञान जरूर था; किंतु उन्होंने आत्मत्याग का रचनात्मक और शांत पथ चुना था।

वह मेरे हाथ थे, मेरे पैर थे और थे मेरी आंखें। दुनिया को क्या पता कि मैं जो इतना बड़ा आदमी कहा जाता हूं, वह बड़प्पन मेरे शान्त, श्रद्धालु योग्य और पवित्र स्त्री तथा पुरुष कार्य-कर्त्ताओं के अविरल परिश्रम, और सेवा पर कितना निर्भर है, और उन सबमें मेरे लिए मगनलाल सबसे बड़े, सबसे अच्छे और सबसे अधिक पवित्र थे।

यह लेख लिखते हुए भी अपने प्यारे पति के लिए विलाप करती हुई उनकी विधवा की सिसक मैं सुन रहा हूं। मगर वह क्या समझेगी कि उससे अधिक विधवा, अनाथ मैं ही हो गया हूं। अगर ईश्वर में मेरा जीवंत विश्वास न होता तो उसकी मृत्यु पर, जो कि मुझे अपने सगे पुत्रों से भी अधिक प्रिय था, जिसने मुझे कभी धोखा न दिया, मेरी आशाएं न तोड़ीं, जो अध्यवसाय की मूर्त्ति था, जो आश्रम के भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक सभी अंगों का सच्चा चौकीदार था, मैं विक्षप्त हो जाता। उसका जीवन मेरे लिए उत्साहदायक है, नैतिक नियम की अमोघता और उच्चता का प्रत्यक्ष प्रदर्शन है। उन्होंने अपने ही जीवन में मुझे एक-दो दिनों में नहीं, कुछ महीनों में नहीं, बल्कि पूरे चौबीस वर्षों तक की बड़ी अवधि में—हाय, जो अब घड़ी भर का समय जान पड़ता है—यह साबित कर दिखलाया कि देश-सेवा, मनुष्य-सेवा और आत्म-ज्ञान या ब्रह्मज्ञान आदि सभी शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं।

मगनलाल न रहे, मगर अपने सभी कामों में वह जीवित हैं, जिनकी छाप आश्रम की धूल में से दौड़कर निकल जानेवाले भी देख सकते हैं।

(हि० न० जी०, २६.४.२८)

... ...

गांधीजी का मौनवार था। अकल्पित संयोगों में किसीको सेवा करने का प्रसंग उपस्थित हो और बोले बिना न चले तभी बोलने का प्रसंग शायद ही कभी आता हो। गांधीजी तुरन्त ही मगनलालभाई के घर जाकर बालकों को गोद ले बैठे। सारा आश्रम खबर पाते ही विह्वल हो उठा। किन्तु आज्ञा हुई कि सबके एकत्र होने की जरूरत नहीं है। जो काम चलते हैं उन्हें बन्द करने की कोई जरूरत नहीं है। दृढ़व्रती, कर्मवीर के अवसान का शोक तो काम करके ही मनाना चाहिए न! वणाटशाला, शाला आदि बन्द करने का मन बहुतों का हुआ, मगर हिम्मत किसे हो!

मगनलालभाई की धर्मपत्नी श्री संतोकबहन ने जैसे-तैसे किसी तरह अपना शोक दबाया। बापू घर में बैठे हों तो शोक का प्रदर्शन कैसे किया जाय। और बापू बराबर यही कहते रहे, "मगनलाल होते तो ऐसे प्रसंग में क्या करते।" मगनलालभाई के पुत्र ने तो मुझ-जैसे बड़ों से भी अधिक

साहस दिखलाया। सायंकाल में हमेशा के मुताबिक प्रार्थना के समय कोई इकट्ठे हुए। पंडितजी ने धीरे गम्भीर स्वर में गाया :

"अब हम अमर भये न मरेंगे।"

उज्ज्वल यश से यशस्वी मगनलालभाई के बारे में यह भजन अतिशय उचित था; किन्तु उनके बिना हम जो अपंग लगते थे, हमें कौन आश्वासन दे। कुल का दीपक-रूप बड़ा लड़का जब मर जाता है तब दूसरे लड़कों को गोद में बिठाकर अपनी छाती वज्र की बनाकर, जिस भांति पिता उन्हें आश्वासन देता है उसी तरह गांधीजी ने प्रार्थना के बाद आश्वासन दिया। चौबीस वर्ष का सम्बन्ध क्रूर काल ने तोड़ दिया। जैसी चोट पहले कभी न लगी थी, वैसी लगी। मगर तो भी छाती कठिन करके, मानों वियोग-वेदना हलकी करने के लिए ही गांधीजी ने कितने-एक उद्गार निकाले। ये उद्गार ऐसे नहीं हैं जो यहां दिये जा सकें। उनमें ऐसे-ऐसे वाक्य थे :

"आश्रम के प्राण मगनलाल थे, मैं नहीं।" "इनके तेज से मैं प्रकाशित हुआ।" "तुम्हारे आदर्श मगनलाल थे। मेरे आदर्श भी वही थे। उनके जैसा सरदार अगर मुझे मिला होता तो उन्होंने जितनी मेरी सेवा की थी, उतनी मैं अपने सरदार की नहीं कर सकता। उनका जीवन सम्पूर्ण था। आश्रम के वह प्राण थे। मैं तो केवल घूमता फिरा और आश्रम के प्रति बेवफा रहा। और उन्होंने आश्रम की सेवा में अपना शरीर गला दिया था।" "मैं मीरा-बाई के समान जहर का प्याला पी सकता हूं, किन्तु यह वियोग उन दोनों से भी अधिक कठिन है। तो भी छाती कठिन करके, उनका गुण-कीर्तन करते हुए मैंने अपने हृदय में उनकी मूर्त्ति स्थापित की है।"

(हि० न० जी०, ३.५.२८)

... ...

निकट से और दूर-दूर से मित्रों ने अपने मीठे संदेशों से मेरे लिए मेरी सबसे कड़ी परीक्षा के अवसर पर मुझे अत्यन्त अनुगृहीत किया है। मेरी यह मूर्खता थी, मगर मैंने कभी यह सोचा ही नहीं था कि मगनलाल मुझसे पहले मरेंगे। व्यक्तियों, संस्थाओं और कांग्रेस-सभाओं के तारों और पत्रों से मुझे बहुत आश्वासन मिला है। मैं उन्हें विश्वास दिलाता हूं कि उन्होंने मुझपर जिस प्रेम की वर्षा की है उसके तथा मगनलाल ने मेरे साथ जिन

आदर्शों को माना और जिनके लिए शान्तिपूर्वक अपने-आपको उत्सर्ग कर दिया, मैं उनके योग्य बनने की कोशिश करूंगा। (हि० न० जी०, ३.५.२०)

... ...

तुम शायद नहीं जानते होगे कि रूखीबहन बिलकुल बच्ची थी, तबसे संतोक के जीते जी भी मगनलाल के हाथों पली थी। इसके जीने की शायद ही आशा थी। मुश्किल से सांस ले सकती थी। इस लड़की को मगनलाल नहलाते, बाल संवारते और पास बैठकर खिलाते थे और अपने दूसरे बच्चों की भी देखभाल करते थे। फिर भी नौकरी में सबसे ज्यादा काम करते थे। सुन्दर-से-सुन्दर बाड़ी उन्हींने बनाई थी। फिनिक्स में पहला गुलाब का फूल उन्हींने उगाया था। फिनिक्स की कितनी ही सख्त जमीन में जब उनकी कुदाली की चोट पड़ती थी तब धरती कांपती मालूम होती थी। जो मगनलाल कर सके वह सब तुम कर सकते हो। इसमें मैंने कहीं भी मगनलाल की बड़ी कला-शक्ति या उनके पढ़े-लिखेपन की बात नहीं कही है। मगनलाल में आत्म-विश्वास था। अपने काम के बारे में श्रद्धा थी और भगवान ने उन्हें बलवान शरीर दिया था। यह शरीर अन्त में आश्रम के बोझ से और उनकी तपश्चर्या से कमजोर हो गया था। लेकिन मैं यह मानता हूं कि मगनलाल ने अपने छोटे-से जीवन में सौ वर्ष के बराबर या सैकड़ों बरस जितना काम किया। मगनलाल की मिसाल तुम्हारे सामने इसलिए रखी है कि तुम मगनलाल को जानते थे और उनके प्रेम-भाव के कारण तुम्हारा आश्रम से सम्बन्ध हुआ था। मगनलाल को याद करके भी भूल जाओ कि तुम अपंग हो या अंधेरे में हो। मैं मानता हूं कि जो सुविधाएं तुम्हें सहज ही मिली हुई हैं, वे इस देश में लाखों में एक को भी प्राप्त न होंगी।" (म० डा०, भाग १, ८.७.३२)

... ...

मगनलाल के विषय में क्या कहूं? उन्होंने आश्रम के लिए जन्म लिया था। सोना जैसे अग्नि में तपता है वैसे मगनलाल सेवाग्नि में तपे और कसौटी पर सौ फीसदी खरे उतरकर दुनिया से कूच कर गये। आश्रम में जो कोई भी है वह मगनलाल की सेवा की गवाही देता है। (य० म०, ३०.५.३२)

मेरी राय में स्वर्गीय मगनलाल गांधी इस तरह के एक आदर्श खादी-सेवक थे। उनसे जितनी आशाएं मैंने रखी थीं, उससे कहीं ज्यादा उन्होंने करके दिखाया। कड़ी-से-कड़ी कठिनाइयों का सामना करके भी वह अपने काम की चीज, जहां-कहीं भी वह मिल जाती थी, सीख लिया करते थे। कठिनाइयों से वह न कभी घबराते थे, न थकते थे। अन्तिम समय तक वह अपने खादी-सम्बन्धी ज्ञान को बढ़ाने ही में लगे रहे। मैं चाहता हूं कि आप मगनलाल गांधी के इस आदर्श का अपने जीवन में अनुकरण करें।

(ह० से०, १५.५.४२)

... ...

ऐसा ही यह भजन है—'**अजहु न निकसे प्राण कठोर।**' वह कहता है कि अबतक ईश्वर के दर्शन न हुए तो अबतक प्राण क्यों न निकले? हमेशा तो इस भजन को गणेश शास्त्री गाते थे, लेकिन बाज दफा जब वह हाजिर न होता या बीमार पड़ जाता तो मगनलाल उसको गाता था। वह संगीत-शास्त्री तो नहीं था, लेकिन उसका कंठ अच्छा था। उसका वह भजन अब भी मेरे कानों में गूंजता है। वह तो आश्रम का स्तम्भ था। आश्रम को चलाने में वह पहाड़-सा था, बहुत मजबूत। कुदाली अपने-आप चलाता था तो सबसे आगे चला जाता था। दक्षिण अफ्रीका में तो उसका शरीर बहुत मजबूत था। यहां उसको कोई बीमारी तो नहीं थी, लेकिन शरीर क्षीण हो गया था; क्योंकि, उसपर सारा बोझ तो वहांपर भी था; लेकिन यहां तो एक अनोखी चीज यह है कि करोड़ों आदमियों में काम करना पड़ता था। रचनात्मक काम का भी बोझ उसपर पड़ता था। रचनात्मक काम के बिना हम रह भी कैसे सकते हैं! उसके बगैर स्वराज चीज हो भी क्या सकती है? आज स्वराज तो मिला, लेकिन उसकी कितनी कीमत है? मिला तो भी क्या, आज हम सिद्ध करते हैं कि अगर हम रचनात्मक काम उस वक्त कर लेते तो हमें यह वक्त नहीं देखना पड़ता, जो हम आज प्रत्यक्ष में देख रहे हैं। स्वराज्य की जो कल्पना हमने की थी और वह कल्पना बढ़ भी गई थी, क्या वह यही है? अगर उस वक्त हम इतना कर लेते तो आज हिन्दुस्तान का इतिहास अनोखा होनेवाला था, इसमें मुझे कोई शक नहीं। मगनलाल का जो भगवान था वह तो स्वराज्य में ही था। उसका स्वराज्य

तो राम-राज्य था। (प्रा० प्र०, १६.१०.४७)

: ५४ :

रसिकलाल गांधी

जिन सज्जनों ने मेरे एक पौत्र की मृत्यु के समाचार सुनकर मेरे पास समवेदना सूचक तार और पत्र भेजे हैं मैं उन्हें नम्रतापूर्वक धन्यवाद देता हूं। रसिक अभी सत्तरह वर्ष का था, लेकिन बचपन से ही उसे राष्ट्र-सेवक बनने की तालीम दी गई थी। वह होशियार, प्रगतिशील और महत्वाकांक्षी था। साथ ही रुई धुनने के काम में उसने प्रवीणता प्राप्त की थी और मेरे पुत्र देवदास की सहायता के लिए दिल्ली गया था। देवदास जामिया मिलिया में कताई और हिन्दी-शिक्षक का काम करता है। पिछले कुछ महीनों में रसिक की बुद्धिमत्ता बहुत-कुछ बढ़ गई थी। मृत्युशय्या का सहारा लेने से कुछ दिन पहले उसने मुझे लिखा था कि वह बड़ी लगन और श्रद्धा के साथ रामायण तथा गीता का अभ्यास कर रहा है। उसमें जिम्मेदारी की अच्छी भावना पैदा हो गई थी और पुष्ट हो रही थी। मौत के बारे में मेरे जो विचार हैं उनके कारण रसिक की मृत्यु से मुझे दुःख का अनुभव नहीं हुआ है, और जो थोड़ा दुःख हुआ भी है वह निरे स्वार्थवश। मैं देहधारी रसिक से बड़ी-से-बड़ी राष्ट्रीय सेवा की आशा रख रहा था। उसकी असामयिक मृत्यु का कारण यही था कि उसने अपनी देह से जरूरत से ज्यादा काम लेना शुरू कर दिया था। लेकिन वह एक ऐसे कल्याणकारी मार्ग से गया है जिसका अनुसरण हममें से हरेक को करना चाहिए। इस दृष्टि से उसकी मौत मुझे ईश्वर के और भी अधिक समीप ले जाती है और पहले की अपेक्षा ज्यादा जोरों से मुझे मेरी जिम्मेवारी का भान कराती है। जब मैं सोचता हूं कि वह अपना कर्तव्य करते-करते महाप्रयाण कर गया तो मुझे हर्ष होता है। उसकी मौत ने मुझमें मुस्लिम दुनिया के नजदीक पहुंचने की ताकत पैदा की है। देवदास ने मुझे कहा कि रसिक के मुस्लिम दोस्त उसपर हमेशा मेहरबान रहे हैं। डाक्टर अन्सारी ने न केवल उसकी एक कुशल चिकित्सक की हैसियत से शुश्रूषा ही की थी बल्कि उस-

पर उनका वात्सल्य प्रेम भी बरसा था। जामिया के आचार्य और अध्यापकों ने भी उसकी सार-सम्हाल में कोई कसर नहीं रखी थी। मैं आदरपूर्वक इन सबका आभार मानता हूं। और तिब्बिया कालेज के डाक्टर शर्मा, रोगी की मनपूर्वक शुश्रूषा करनेवाली नर्स बहनों और उन अनेक हिन्दू मित्रों को मैं धन्यवाद देता हूं, जिन्होंने रसिक की सेवा-शुश्रूषा में देवदास का हाथ बटाया था। अगर देवदास को उसके प्रेमी और सेवा-तत्पर हिन्दू-मुस्लिम मित्रों की सहायता नहीं मिलती तो अपने प्यारे रसिक की बीमारी और बेहोशी की लम्बी मुद्दत में उसकी सार-सम्हाल करते-करते स्वयं देवदास लथड़ा जाता। रसिक की मौत दिल में दुख नहीं बल्कि ईर्ष्या पैदा करती है। (हि० न० जी० २१.२.२६)

: ५५ :

हरिलाल गांधी

हरिलाल के जीवन में बहुतेरी ऐसी बातें हैं जिन्हें मैं नापसंद करता हूं। वह उन्हें जानता है; पर उसके इन दोषों के रहते हुए भी मैं उसे प्यार करता हूं। पिता का हृदय है। ज्योंही वह उसमें प्रवेश पाना चाहेगा, उसे स्थान मिल जायगा। फिलहाल तो उसने अपने लिए उसका द्वार बंद रखा है। अभी उसे और जंगल-झाड़ी में भटकना है। मानवी पिता के संरक्षण की भी एक निश्चित मर्यादा होती है, पर दैवी पिता का द्वार उसके लिए सदा खुला हुआ है। वह उसे खोजेगा तो जरूर स्थान पावेगा।

(हि० न० जी०, १८.६.२५)

... ...

हरिलाल की लाल प्याली रोज भरी रहती है। पीकर इधर-उधर भटकता है और भीख मांगता है। बली और मनु को धमकाता है। इसमें भी नीयत रुपया ऐंठने की दीखती है। मुझे भी बड़ी उद्धत धमकियों के पत्र लिखे हैं। मनु पर अधिकार करने के लिए बली पर नालिश करने की धमकी दी है। मुझे दुःख नहीं होता, दया आती है। हँसी भी आती है। ऐसे और बहुत लोग है, उनका क्या होगा? उनके लिए भी मुझे उतना ही खयाल

होना चाहिए न? वे सब भी स्वभाव-नियत कर्म करते हैं। क्या करें? हमारा बरताव सीधा होगा तो वह अन्त में ठिकाने आ जायगा। हरिलाल जैसा है वैसा बनने में मैं अपना हाथ कम नहीं मानता। उसका बीज बोया तब मैं मूढ़ दशा में था। जब उसका पालन हुआ, वह समय शृंगार का कहा जा सकता है। मैं शराब का नशा नहीं करता था। यह कमी हरिलाल ने पूरी कर दी। मैं एक ही स्त्री के साथ खेल खेलता था तो हरिलाल अनेक के साथ खेलता है। फर्क सिर्फ मात्रा का है, प्रकार का नहीं। इसीलिए मुझे प्रायश्चित्त करना चाहिए। प्रायश्चित्त का अर्थ है आत्मशुद्धि। वह बीर-बहूटी की गति से हो रही है। (म० डा०, भाग १, २३.६.३२)

... ...

मैं जब बिलकुल साहब था, हरिलाल उस समय का है। उसे क्या पता था कि साहब होते हुए भी मेरा दिल साहबी में जरा भी नहीं था? उसने मेरा बाह्य रूप देखा और वैसी ही मौज-शौक करने की उसमें इच्छा हो गई। उसने मुझसे कहा—मुझे बैरिस्टर बना दीजिये। फिर देखिये, मैं क्या-क्या करता हूं। इतना त्याग करता हूं या नहीं?

(म० डा०, भाग २, ११.१०.३२)

... ...

तूने हरिलाल के बारे में पूछा है। वह पांडेचेरी गया था। वहां भी पैसों की भीख मांगकर खूब शराब पीता था। कुछ पैसे मिले भी। आज-कल कहां है, पता नहीं। उसका योंही चलेगा। ईश्वर जब उसे सुबुद्धि दे तब सही। इसमें हमारे पाप-पुण्य भी तो काम करते ही हैं न? हरिलाल के गर्भ के समय में कितना मूढ़ था? जैसा मैंने और तूने किया होगा, वैसा ही हमें भरना होगा। इस तरह बच्चों के आचरण के लिए मां-बाप जिम्मेदार हैं ही। अब तो हम यही कर सकते हैं कि हम शुद्ध बनें। सो वैसी कोशिश हम दोनों कर रहे हैं और उससे हम संतोष मानें। हमारी शुद्धि का प्रभाव जाने-अनजाने भी हरिलाल पर पड़ता ही होगा।

('हमारी बा,' १३.२.३४.)

: ५६ :

दलबहादुर गिरि

'यंग इण्डिया' के बहुत-से पाठक दलबहादुर गिरि को केवल नाम से ही जानते हैं। कुछने तो उनका नाम भी नहीं सुना होगा। किन्तु थे वह एक अत्यंत निर्भीक राष्ट्रीय कार्यकर्ता। 'यंग इण्डिया' में लिखना शुरू करते ही कालिम्पोंग से मुझे एक तार मिला। उसमें इस अल्पज्ञात देशभक्त की मृत्यु का समाचार था। वह सुसंकारी गोरखा थे और दार्जिलिंग और उसके आसपास गोरखा लोगों में अच्छा काम कर रहे थे। सन् १९२१ में हजारों व्यक्तियों के साथ असहयोग-आन्दोलन में भाग लेने के कारण उन्हें भी कारावास की सजा मिली थी। जेल में वह सख्त बीमार पड़ गये थे। कुछ महीने पहले ही रिहा हुए थे। मेरे खयाल से वह अपने पीछे बड़ा कुटुम्ब छोड़ गये हैं, जिसके निर्वाह का कोई साधन नहीं है। बंगाल के पत्रों में उनके लिए एक अपील प्रकाशित हुई थी। मैं आशा करता हूं कि बंगाल प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी श्री दलबहादुर गिरि के कुटुम्ब के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त करेगी और उसको आवश्यक सहायता देगी।

(यं० इं० १३.११.२४)

: ५७ :

डा० गिल्डर

महान् पारसी कौम ने शराबबन्दी के बुरी तरह विरुद्ध होते हुए भी जो संयम रखा उसके लिए वह धन्यवाद की पात्र है। स्पष्ट ही उन्होंने बुद्धिमानी से काम लिया और उनके द्वारा कोई विरोधी प्रदर्शन हुआ मालूम नहीं पड़ता। मेरी यह आशा ठीक ही सिद्ध हुई मालूम पड़ती है कि पारसी कौम की उदारता ने उसके विरोध-भाव को दबा दिया। शराबबंदी की पूरी सफलता के लिए पारसियों के दिली सहयोग की आशा करना क्या कोई बहुत बड़ी बात है? उन्हें यह याद रखना चाहिए कि बम्बई के इस प्रयत्न का असर न केवल सारे प्रान्त पर, बल्कि समस्त भारतवर्ष पर पड़ेगा।

मैं तो यह कहने का भी साहस करता हूं कि अभी तो यद्यपि उन्हें ऐसा लगता है कि उनके साथ बेजा व्यवहार हुआ है, लेकिन पारसियों की भावी संतति डॉ० गिल्डर को अपना सच्चा प्रतिनिधि और हितैषी मानकर उन्हें दुआएं देगी। जैसे भारत को इस बात का गर्व है, उसी तरह पारसियों को भी सचमुच इस बात का फख्र होना चाहिए कि उन्होंने डॉ० गिल्डर-जैसा आदमी पैदा किया जो कि महाभयंकर विरोध, यहांतक कि बहिष्कार आदि की बुरी-से-बुरी धमकियों के बावजूद चट्टान की तरह दृढ़ रहा। (ह० से०, १२.८.३६)

आज अखबार में बापू और वर्किंग कमेटी के साथवालों को छोड़कर बाकी कैदियों को महीने में एक मुलाकात मिलने की खबर थी। डा० गिल्डर के लिए अवश्य ही एक समस्या खड़ी हो गई। मुलाकात की इजाजत से लाभ उठाना हो तो उनको वापस यरवदा जाने के लिए सरकार के साथ झगड़ा करना चाहिए। क्या ऐसा करना उचित है ? यरवदा जाकर एक तो जेल की जेल, दूसरे खर्च और तीसरे बापू का साथ छोड़ना। वैसे भी यहां का वातावरण उन्हें अनुकूल है। यह सब छोड़ना या मुलाकात छोड़ना ? मैंने कहा, "खर्च की उन्हें क्या परवा है ?" बापू कहने लगे :

"ऐसा नहीं,कौन जाने कबतक यहां रहना है। वह प्रतिष्ठावाले आदमी हैं। अब कांग्रेस को कभी छोड़ेंगे नहीं। यह भी जानते हैं कि मैं लोगों को भिखारी बनानेवाला हूं। सो जो धन है उसे संभालकर रखेंगे ताकि वह उनकी लड़की को मिल सके।" (का० क०, २.६.४३)

: ५८ :

सतीशचन्द्र दास गुप्ता

बंगाल में शुद्ध त्याग के दृष्टान्त देखकर मैं तो आनन्द-रस के घूंट पीने लगा। एक जमींदार का सारा कुटुम्ब खादीमय है। तमाम स्त्रियां कातती हैं। समस्त स्त्री-पुरुष खादी पहनते हैं। उन्होंने अपनी जमीन और अपना घर खादी प्रतिष्ठान को उपयोग के लिए दे दिया है। प्रतिष्ठान के प्राण सतीशबाबू का त्याग ऐसा-वैसा नहीं। डा० राय के रसायन के

कारखाने में हर माह १५००) की उनकी आमदनी थी। वहां रहने के लिए बंगला भी था। अधिक मांगने से और भी मिल सकता था। वहां रहकर भी वह खादी का काम तो करते ही थे; परन्तु इससे उन्हें सन्तोष न हुआ। उनके कोमल हृदय ने अनुभव किया कि इस तरह दो काम करने से दोनों के बिगड़ जाने की सम्भावना है। रसायन के कारखाने के तो वह प्राण ही थे। यदि उसके लिए पूरा समय न दें तो जरूर धक्का पहुंचे, और इधर खादी के द्वारा गरीबों की सेवा होती है। फुरसत के समय में इस काम को करना भी उन्हें अच्छा न मालूम हुआ। एक पुरुष का दो पत्नी रखना जिस तरह पाप है उसी तरह एक पुरुष का दो कामों को अपना प्राण बनाना भी अनर्थकर है। फिर खादी के लिए जितना त्याग किया, उतना ही कम है। ऐसी दलीलें अपने मन के साथ करके खुद जिस कारखाने को जमाया था उसीको उन्होंने एक क्षण में छोड़ दिया और अपने पास जो कुछ थोड़ा द्रव्य रहा है उसीकी आमदनी से अपना घर-खर्च चलाते हैं और चौबीसों घण्टे खादी-कार्य में ही लगाते हैं। अपने काम की अबतक वह ग्यारह जगह शाखाएं खोल चुके हैं। इनमें पांच हैं खादी पैदा करनेवाली, अभी और भी खोलने का इरादा कर रहे हैं। उनके द्वारा पांच हजार साठ चरखे चल रहे हैं। शुद्ध खादी के करघे पांचसौ सत्तानवे चलते हैं।

उनके इस कार्य में उनकी धर्मपत्नी भी उनका साथ देती हैं। जहां रुपये की कमी न थी तहां आज तंगी से काम चलाना पड़ता है, यह उस बाई को खलता तो होगा; जहां रहने के लिए अलहदा बंगला था तहां आज एक छोटे-से मकान की एक छोटी-सी मंजिल पर सन्तोष मानना कठिन तो पड़ता होगा, किन्तु ये बाई इन तमाम तकलीफों को प्रफुल्ल वदन होकर सह रही हैं। (हि० न० जी०, २८.५.२५)

... ...

वह (सतीशबाबू) तो कुन्दन जैसा है। और कुन्दन के क्या कभी जेवर बने हैं? सोने के गहने बनते हैं, क्योंकि सोने में थोड़ी कुधातु मिली हुई होती है। इस तरह काम देने के लिए थोड़ी कुधातु की जरूरत पड़ती है, मगर सुधातु होना तो अपने-आप ही शोभा देता है।

(म० डा०, भाग २ २.१२.३२)

खादी प्रतिष्ठान के श्री सतीशचन्द्र दास गुप्ता भारत-रक्षा कानून की २६ (१) धारा के अनुसार जारी किये गए हुक्म को न मानने के लिए गिरफ्तार किये गए हैं और उन्हें दो साल की सजा दी गई। उनका अपराध यह था कि उन्होंने संकटग्रस्त लोगों को तबतक अपने घर वगैरह न छोड़ने की सलाह दी, जबतक कि खाली किये गए घरों आदि के बदले में वैसा ही दूसरा प्रबन्ध सरकार की ओर से न कर दिया जाय। इस सम्बन्ध में 'हरिजन' में मैंने जो लेख लिखे हैं और हाल ही कांग्रेस की कार्य-समिति ने जो प्रस्ताव पास किया है, श्री सतीशबाबू का यह कार्य ठीक उसीके अनुरूप था।

इसमें कोई शक नहीं कि श्री सतीशबाबू ने जान-बूझकर हुक्म का अनादर किया था। जिला मजिस्ट्रेट के नाम लिखे गये पत्र से स्पष्ट ही यह मालूम होगा कि उन्होंने यह अनादर मानवता के खातिर, उसके तकाजे से, किया। उस प्रदेश में श्री सतीशबाबू और उनके आदमी बरसों से काम कर रहे हैं और उन्होंने उधर के कतवैयों व जुलाहों में हजारों रुपये बतौर मजूरी के बांटे हैं। सतीशबाबू के पत्र से साफ ही यह मालूम होता है कि जनता की शिकायत बिल्कुल सच्ची है। जिस महान युद्ध के लिए यह दावा किया जाता है कि वह मानव-मन और मानव-शरीर की मुक्ति के लिए लड़ा जा रहा है, वह उन लोगों का दमन करके कभी जीता नहीं जा सकता जिनका स्वेच्छापूर्ण सहयोग चाहा जाता है और चाहने योग्य है। इसमें कोई शक नहीं कि हिन्दुस्तान की आम जनता अज्ञान में डूबी हुई है। वह स्वभाव से गरीब है और इतिहासकारों ने उसे दुनिया में अधिक-से-अधिक भली और नम्र माना है। उनका पथ-प्रदर्शन आसानी से किया जा सकता है। वह अपने नेताओं के बताये रास्ते पर चलती है। इसलिए उससे काम लेने की उचित रीति यह है कि उसके नेताओं से काम लिया जाय, उनसे बातचीत की जाय।

नेता दो तरह के होते हैं: एक वह जो अपनेको नेता मानकर अपने नेतृत्व द्वारा जनता का शोषण करते हैं, उसकी आड़ में अपना मतलब गांठते हैं, और दूसरे वह जो अपनी सेवा के बल से जनता के नेता बनते हैं। वह विश्वासपात्र होते हैं और जनता उन्हें मानती है। इन दोनों प्रकारों को

पहचानना बहुत आसान है। इन दूसरे प्रकार के नेताओं को जनता से अलग करना अनुचित है।

श्री सतीशबाबू दूसरे प्रकार की श्रेणी में आते हैं। गोकि वह राजनीति जानते हैं; पर राजनैतिक पुरुष नहीं हैं। वह व्यवसायी हैं और उन सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक और आजीवन लोकसेवा-व्रती आचार्य पी० सी० राय के प्रिय शिष्यों में से हैं, जिन्होंने अपने लिए कभी एक पाई भी नहीं कमाई। सुप्रसिद्ध बंगाल केमीकल वर्क्स, आचार्य राय की अनेकानेक कृतियों में एक कृति है और श्री सतीशबाबू उसके निर्माताओं में हैं। वह इस केमीकल वर्क्स के मैनेजर थे और वहां ऊंचा वेतन पाते थे। उन्होंने वह काम छोड़ दिया और खादी के काम को अपनाकर गरीबों की तरह रहने लगे। उनकी धर्म-पत्नी ने उनका पूरा-पूरा साथ दिया और उनकी कठोर साधना में वह उनके सुख-दुःख की साथिन बनीं। उनके भाई और होनहार लड़कों ने भी यही किया। उनमें से एक का सेवा करते-करते ही देहान्त हो गया। श्री सतीश-बाबू के भाई श्री क्षितीशचन्द्र दास गुप्ता भी एक केमिस्ट (रसायनशास्त्री) हैं और उन्होंने अपने आपको खादी प्रतिष्ठान की सेवा में खपा दिया है। वह अपना सारा समय और सारी शक्ति मधुमक्खी पालने, हाथ का कागज बनाने और इसी तरह के दूसरे गृह-उद्योगों में लगा रहे हैं। श्री सतीश-बाबू ने अपने लड़कों को उस उच्च शिक्षा से वंचित रखा, जो स्वयं उन्होंने प्राप्त की थी। अपने नये कार्य में वह उतने उत्साह और शक्ति के साथ जुट गये कि खादी-कार्य के विशेषज्ञ बन गये। उन्होंने खादी-प्रतिष्ठान को जन्म दिया, जो कि उधर लोकसेवा की प्रवृत्तियों का एक महान केन्द्र बन गया है। श्री सतीशबाबू उन सच्चे-से-सच्चे और नम्र-से-नम्र लोगों में हैं, जिनके साथ मुझे काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। वह सारी शक्ति के साथ सत्य और अहिंसा के आदर्श के अनुसार जीवन बिताने का यत्न करते रहते हैं। इन दोनों को उन्होंने राजनैतिक उपयोगिता की दृष्टि से नहीं, बल्कि जीवन के एक ध्येय की दृष्टि से अपनाया है। अगर इस देश का शासन इसके विजेताओं की तरफ से जनता का शोषण करनेवाले कानूनों द्वारा न होकर देश के लोकप्रिय प्रतिनिधियों द्वारा होता तो जरूरत के वक्त श्री सतीश-बाबू जैसे व्यक्तियों की सरकारी अधिकारियों को बड़ी आवश्यकता रहती,

और यह समय तो बहुत ही बड़ी जरूरत का समय है। लेकिन हमारे शासक उनका जो अधिक-से-अधिक उपयोग कर सकते हैं, सो यही है कि उन्हें उनके उन कानूनों का अनादर करने के लिए सजा दें, जो समूचे राष्ट्र की इच्छा को नहीं, बल्कि एक ऐसे आदमी की इच्छा को व्यक्त करते हैं, जिसकी हुकूमत मुल्क पर जबरदस्ती लादी गई है। श्री सतीशबाबू ने वह जोत जलाई है, जो कभी बुझेगी नहीं। कानून झूठा है, जनता के सेवक सतीशबाबू सच्चे हैं। (ह० से० २.८.४२)

: ५६ :

गोपालकृष्ण गोखले

उनका जन्म सन् १८६६ में कोल्हापुर में एक गरीब मराठा ब्राह्मण-कुटुम्ब में हुआ था। वहीं के कालेज में पढ़कर उन्होंने एफ० ए० परीक्षा पास की। इसके बाद वह बम्बई के एलफिस्टन कालेज में भरती हुए और वहां से सन् १८८४ में उन्होंने बी० ए० परीक्षा पास की।

बी० ए० होने के बाद उन्हें किसी काम-धंधे से लगने का विचार करना पड़ा और उन्होंने शिक्षक का धंधा ही पसंद किया। उस समय 'डेकन एजुकेशन सोसाइटी' अच्छा काम कर रही थी। श्री गोखले इस संस्था में सम्मिलित हो गये। इस संस्था ने अपनी देख-रेख में पूना में चलनेवाले फर्ग्यूसन कालेज में सत्तर रुपये मासिक पर उन्हें अर्थशास्त्र और इतिहास का अध्यापक नियुक्त किया। श्री गोखले ने यहां बीस वर्षों तक पढ़ाने की शपथ ली। इस प्रतिज्ञा का उन्होंने पालन किया। इस प्रकार के सेवा-वृत्ति-परायण लोग जब शिक्षा के लिए अपना जीवन अर्पण करते हैं तभी शिक्षा फलदायी निकलती है और बालकों के संस्कार तभी गढ़े जाते हैं। श्री गोखले ने फर्ग्यूसन कालेज में बीस वर्ष बिताये। उस बीच यद्यपि सभाओं और समाचार-पत्रों द्वारा उनके दर्शन अधिक नहीं हुए, तथापि बहुत-से युवकों को अपने मन का विकास करने और अपने आचरण को दृढ़ करने के लिए आगे का पोषण उन्हीं वर्षों में उन्हींसे प्राप्त हुआ।

श्री गोखले जब फर्ग्यूसन कालेज में थे तब शिक्षा के काम के सिवा

अन्य कार्य में भी ध्यान दे रहे थे। जिस समय वह कालेज में दाखिल हुए, उस समय स्वर्गीय श्री महादेव गोविन्द रानडे के संपर्क में आये थे और विशेष-कर उन्हींकी देख-रेख में उनका चारित्र्य गढ़ा गया था । न्यायमूर्ति रानडे के प्रवीण हाथ के नीचे बारह वर्षों या इससे भी अधिक समय तक श्री गोखले ने अर्थशास्त्र का अध्ययन किया था। परिणाम-स्वरूप श्री गोखले ने उन थोड़े-से लोगों में से हैं, जिनके शब्द हिन्दुस्तान में आर्थिक प्रश्नों पर आधार भूत माने जाते हैं। श्री गोखले का स्वर्गीय श्री रानडे के प्रति बहुत ही पूज्य भाव है और वह उन्हें गुरु के रूप में मानते हैं। १८८७ में श्री रानडे की इच्छा से पूना सार्वजनिक सभा की ओर से प्रकाशित होनेवाले 'क्वार्टर्ली जनरल' का संचालकत्व उन्होंने स्वीकार कर लिया। इसके बाद शीघ्र ही वह डेकन सभा के अवैतनिक मंत्री नियुक्त किये गए। पूना के अंग्रेजी-मराठी साप्ताहिक 'सुधारक' के भी वह संचालक थे। बम्बई की प्रांतीय कान्फ्रेन्स के वह चार साल तक मंत्री थे। १८९५ में पूना में हुई कांग्रेस के भी वह मंत्री नियुक्त किये गए थे। सार्वजनिक कार्यों में उनकी रुचि और उत्कंठा ने इतनी अधिक ख्याति प्राप्त की कि उन्हें 'दक्षिण के उदीयमान् तारे' की उपमा दी जाती । उनकी प्रसिद्धि इतनी फैली कि भारत के खर्च के संबंध में विचार करने के लिए बम्बई की जनता ने श्री वाच्छा के साथ उन्हें भी चुना था। वहां उन्होंने कीमती बयान दिया था।

जिस समय वह इंगलैंड में थे, उस समय उन्होंने हिन्दुस्तान के मामले के बारे में कई भाषण दिये थे। प्लेग के संबंध में बम्बई सरकार जिस ढंग से काम कर रही थी और काम पर रोके गए सैनिकों ने जो थर्रा देनेवाले काम किये थे, उनकी कड़ी टीका छपवा कर उन्होंने वहां निकाली थी। इसके कुछ समय बाद वह बम्बई की धारासभा के सदस्य चुने गये। १९०२ में २५) की पेन्शन लेकर वह फर्ग्यूसन कालेज से पृथक् हुए। उसी समय बम्बई के प्रतिनिधि सर फीरोजशाह मेहता की बीमारी के कारण केन्द्रीय धारासभा में उनकी जगह श्री गोखले चुने गये। यह काम उन्होंने इतनी सुन्दरता से किया कि उस समय से लेकर अबतक उस जगह के लिए वह बार-बार चुने जाते रहे हैं।

बड़ी धारासभा में चुने जाने के बाद से उनकी कार्य-कुशलता का नया

प्रकरण आरम्भ हुआ। स्वदेश-सेवा में उनकी भारी-से-भारी जीत के इतिहास रूप में वह बना हुआ है। बजट के समय का उनका पहला ही भाषण प्रेरणाप्रद माना जाता है। उस समय से बजट के अवसर पर उनके भाषणों के बारे में सब लोगों को बड़ी आतुरता रहती है। साल-दरसाल वह बताते रहे हैं कि साल भर के हिसाब में जो रकम शेष बताई जाती है, वह कितनी गलत होती है और उससे जनसंख्या कितनी अप्रमाणिक हो जाती है। साल-दरसाल वह यह मांग करते रहे हैं कि सरकारी विभागों में अधिक परिमाण में भारतीयों को नौकरी दी जाय। साल-दरसाल फौजी खर्च घटाने की वह हिमायत करते रहे हैं। साल-दरसाल नमक-कर रद करने और कृषि तथा उद्योग-धन्धों की शिक्षा के प्रसार की वह मांग करते रहे हैं और निःशुल्क तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा जारी करने एवं इसी प्रकार के अन्य सुधार करने का वह साल-दरसाल आग्रह करते रहे हैं। नमक-कर में जो कमी हुई है, वह अधिकांशतः उनकी हिमायत से ही हुई है।

हिन्दुस्तान के अनेक उच्च-से-उच्च पदाधिकारियों की उससे मित्रता और मिजाज के तेज वाइसराय लार्ड कर्जन भी उन्हें अपने बराबरी के प्रतिस्पर्द्धी के रूप में मानते थे। उन्होंने कहा था कि श्री गोखले के साथ पटाना एक आनन्ददायक बात है। उन्हें यह भी कहते सुना गया है कि उनके संपर्क में आये मनुष्यों में श्री गोखले सबसे बलवान हैं। यद्यपि श्री गोखले कौंसिल में लार्ड कर्जन के ऐसे विरोधी थे जो कभी उन्हें ढील न देते थे, तथापि उनकी योग्यता और सुन्दर व्यवहार के प्रति सम्मान के प्रतीकस्वरूप उन्हें सी० आई० ई० का खिताब दिया था और खिताब दिये जाने के अवसर पर उन्हें बधाई का एक व्यक्तिगत पत्र भी लिखा था।

श्री गोखले कांग्रेस की गति-विधि में शुरू से ही शामिल थे। कांग्रेस की बहुत-सी सभाओं में वह उपस्थित रहे हैं और उन्होंने भाषण दिये हैं। उनका सबसे अधिक उल्लेखनीय भाषण बम्बई की कांग्रेस के अन्दर हिन्दुस्तान के कोष की सिलक के बारे में दिया गया भाषण था। सर हेनरी काटन के कथनानुसार वह भाषण आम सभा (हाउस ऑव कामन्स) में सुने गये सुन्दर-से-सुन्दर भाषण की बराबरी करनेवाला था।

हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्थिति से विलायत की जनता को अवगत

करने के लिए बम्बई की जनता ने एक प्रतिनिधि के रूप में उन्हें १९०५ में वहां भेजा था। वह काम उन्होंने बहुत सन्तोषजनक रूप में पूरा किया था। पचास दिनों में कुछ नहीं तो पैंतालीस भाषण दिये। हिन्दुस्तान के ब्रिटिश राज्य के विषय में लोकमत प्रकट करने की उनकी खूबी से बहुत-से चालाक अंग्रेज भी आश्चर्यचकित रह गये थे। वह इंगलैंड से रवाना हुए, उसके पहले ही बनारस की पुण्य-भूमि में होनेवाली कांग्रेस के अध्यक्ष-पद से दिया गया उनका भाषण अत्यन्त स्पष्ट और प्रवीणता का नमूना था। बनारस कांग्रेस के बाद शीघ्र ही वह फिर विलायत गये और इस बार लार्ड मार्ले के साथ उनकी बहुत बार मुलाकातें हुईं। लार्ड मिन्टो की नये सुधारों की योजना के सम्बन्ध में १९०९ में वह फिर विलायत गये थे।

श्री गोखले ने बार-बार जोर देकर कहा है कि इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि राजनैतिक काम के लिए शरीर अर्पण कर देनेवाले थोड़े-बहुत लोग हर प्रांत में से निकल पड़ें। सच तो यह है कि ऐसे राज-नैतिक संन्यासियों का मार्ग रचने की उनकी दीर्घकालीन अभिलाषा थी, जिनका ध्येय ही स्वदेश-सेवा हो। यह अभिलाषा हाल में ही प्रकट हुई है। 'भारत-सेवक-समिति' से हिन्दुस्तान की जनता वाकिफ हो गई है। इस समिति हेतु बहुत अच्छे हैं और हम सबकी कामना है कि भविष्य में इस देश की बड़ी-से-बड़ी सेवा करने में वह अधिक-से-अधिक शक्तिमान होती जाय।

श्री गोखले की भाषण देने की पद्धति के बारे में दो शब्द कह दूं। वह कोई वक्ता नहीं हैं। श्रोताओं की भावनाओं को उभाड़ने की ओर उनका विशेष लक्ष्य नहीं रहता। अपनी बात सामनेवाले के मन में पूरी तरह उता-रना ही उनका उद्देश्य रहता है। वह शीघ्रता से बोलते हैं। भरपूर आंकड़े और विवरण उनका सरंजाम है। उनकी समझने की शक्ति बहुत तीक्ष्ण और उत्साहपूर्ण है। उनका बोलने का ढंग सादा, किन्तु स्पष्ट और जोर-दार है।

श्री गोखले बहुत उत्साही सुधारक है। वह पूना से प्रकाशित होनेवाले मराठी दैनिक 'ज्ञानप्रकाश' को भी चलाते हैं और उसके द्वारा अपने सामा-जिक और राजनैतिक विचारों का प्रचार करते हैं। ऐसा कहा जा सकता

है कि उनका रहन-सहन अत्यंत सादा और उग्र तपवाला है। सच कहें तो, जैसा कि प्रसिद्ध पत्रकार श्री नेविन्सन ने कहा है, एक सच्चे ब्राह्मण के रूप में उन्होंने अपना जीवन गरीबी और ज्ञान में होम दिया है। अत्यंत प्राचीन भारतीय रीति, सादा जीवन और उच्च विचार का इससे अच्छा नमूना दूसरा नहीं मिल सकता।

श्री गोखले के अंतिम बड़े कार्यों में शिक्षा का बिल और भारतीय मजदूरों की अनिवार्य गुलामी को बंद करने का प्रयास है। शिक्षा का बिल वाइसराय की धारासभा के सामने पेश किया गया था। अन्य प्रजाकीय बिलों की जो दशा होती है, वही दशा श्री गोखले के बिल की हुई है, फिर भी उन्हें हिंद के सभी भागों और सभी जातियों की ओर से इतना अधिक सहयोग प्राप्त हुआ है कि उस एकत्र बल के सामने सरकार ज्यादा दिनों तक टिक नहीं सकेगी।

इस देश में 'गिरमिट'[1] बंद हो गया, इसके लिए हम श्री गोखले के बहुत आभारी हैं। स्वयं अनेक कार्यों में फंसे रहने और बीमार रहने पर भी इस प्रश्न का उन्होंने कितना गहरा अध्ययन किया है, यह जानने के लिए हिंद की धारासभा में दिया गया उनका भाषण आईने की तरह है।

गिरमिट के प्रश्न के उपरांत हमारी तकलीफों की ओर उन्होंने हार्दिकता से नजर रखी है और सत्याग्रह की लड़ाई में कीमती मदद दी है। हमारे प्रति उनकी सहानुभूति बढ़कर इस सीमा तक पहुंच गई है कि उन्होंने इस देश में (दक्षिण अफ्रीका में) आकर हमारी स्थिति को जानने का निश्चय किया है।

मातृ-भूमि की सेवा में अपनी पूरी जिंदगी अर्पण करनेवाले माननीय गोखले जैसा बुद्धिमान और तेजस्वी बनना हमारे बस की बात नहीं; किंतु उनकी भांति अपने काम में एकरस हो जाना हममें से प्रत्येक के बस की बात है। श्री गोखले स्वयं जो कुछ मानते हैं, उसमें एकरस हैं, इसीलिए सारा देश और मित्र और सब लोग समान रूप से उनका सम्मान करते हैं।...वह दीर्घायु हों और हम कामना करेंगे कि उनकी छाप हमारे हृदय

[1] मजदूरी के लिए विदेश जानेवाले भारतीयों से करवाया जानेवाला इकरार।

में कभी मंदी न पड़े। (इं० ओ०, १९१२)

... ...

श्री गोखले के उद्देश्य को मैं पवित्र मानता हूं। किंबरली में प्रमुख-से-प्रमुख गोरे और भारतीय मिलकर भोजन करने एक मेज पर बैठे; इस प्रसंग में श्री गोखले कारण रूप बने, यह मेरे मन में गर्व का विषय है। टाल्स्टाय के जीवन और शिक्षण के एक नम्र अभ्यासी के रूप में मुझे ऐसा भी लगता है कि ऐसे समारोह अनावश्यक हैं और अनेक बार इससे बहुत-से नुकसान—कुछ नहीं तो पाचन-क्रिया में खलल डालने का नुकसान—होने लगता है; किंतु मैं टाल्स्टाय के जीवन का अभ्यासी हूं, फिर भी यदि इससे एक-दूसरे को अधिक अच्छी तरह पहचानने का अवसर मिलता हो तो इसमें खामी निकालने के लिए मैं तैयार नहीं। इस प्रसंग पर मुझे एक सुन्दर अंग्रेजी भजन—वी शैल नो ईच अदर व्हेन दि मिस्ट्स हैव् रोल्ड अवे (We shall know each other when the mists have rolled away)—याद आता है। हममें से अज्ञान दूर हो जाय, हम एक दूसरे के बीच मतभेद होने पर भी एक-दूसरे के भाव अधिक समझ सकें। मेरे प्रख्यात देशी भाई यहां जो आये हैं, सो इस अज्ञान की आंधी को दूर करने के लिए ही आये हैं। कीमती-से-कीमती जवाहर के रूप में, हिंद जिसे यहां भेज सकता था, वह यहां आये हैं। मैं जानता हूं कि जब श्री गोखले के कार्यों के बारे में मैं कुछ कहता हूं तो उनकी भावनाओं को ठेस पहुंचती है, फिर भी मुझे कर्तव्य का पालन करना चाहिए। हिंदुस्तान में श्री गोखले ने राजनैतिक क्षेत्र में जो कीर्त्ति प्राप्त की है, उसके विषय में यहां मेरे बराबर और कोई कह सके, ऐसा नहीं है। हिंदुस्तान के वाइसराय तो सिर्फ पांच बरस तक ही हिंदुस्तान की सल्तनत का बोझ अपने सिर पर उठाते हैं (कभी-कभी लार्ड कर्जन-जैसे सात बरस तक उठाते हैं) और सो भी अनगिनत अफसरों की मदद से; किंतु ये मेरे एक विख्यात देशी भाई इस प्रकार की किसी भी सहायता के बिना, नौकरों के बिना और मान-पद के बिना, सल्तनत का बोझ अकेले उठाये हुए हैं। यह सही है कि इनके पास सी० आई० ई० का खिताब है; किंतु मेरे मत से उससे बहुत अधिक बड़े-बड़े पदों के वह पात्र हैं। श्री गोखले जिस पद को चाहते हैं, वह उनके देशी भाइयों के

प्रति प्रेम और अपनी अंतरात्मा की सम्मति है। पश्चिम की शिक्षा पाये हुए भारतीयों के लिए वह नम्रता और भलमनसाहत के उदाहरण-स्वरूप हैं...[1]

... ...

माननीय गोखलेजी की 'गिरमिट'-संबंधी प्रवृत्ति उनकी तन्मयता की जैसी झांकी कराती है, वैसी दूसरी कोई प्रवृत्ति नहीं कराती। उनका दक्षिण अफ्रीका का प्रवास और उसके बाद हिंद में की जानेवाली उनकी गतिविधि, अपने कार्य में ओत-प्रोत हो जाने की उनकी शक्ति का हमें अच्छा दिग्दर्शन कराती है, और उनकी इस शक्ति के कारण ही अनेक बार मैंने कहा है कि उनके कार्यों में हम छिपी हुई धर्मवृत्ति को देख सकते थे।

अब हम उनके दक्षिण अफ्रीका के कार्य को जरा देखें। जब उन्होंने दक्षिण अफ्रीका जाने के विषय में अपना मत प्रकट किया तब हिंदुस्तान की सरकार के अफसरों में खलबली मच गई। दक्षिण अफ्रीका में गोखलेजी जैसे मनुष्य का अपमान हो तो उसे क्या कहा जायगा? दक्षिण अफ्रीका जाने का विचार यदि वह छोड़ दें तो कितना अच्छा हो? किंतु उनसे इस बारे में कहने की कौन हिम्मत करे? दक्षिण अफ्रीका जाना क्या है, इसका अनुभव गोखलेजी को इंग्लैंड में ही हुआ। उन्होंने अपने लिए टिकट मंगवाया; किंतु यूनियन केसल कंपनी के अधिकारियों ने कुछ भी ध्यान न दिया। यह खबर इंडिया आफिस में पहुंची। इंडिया आफिस ने सर ओवन टयूडर को, जो यूनियन केसल कंपनी के मैनेजर थे, सख्त ताकीद की कि कंपनी को गोखलेजी का उनके पद के योग्य सम्मान करना चाहिए। परिणाम यह निकला कि गोखलेजी एक सम्मानित अतिथि के रूप में स्टीमर में प्रवास कर सके। इस प्रसंग का वर्णन करते हुए उन्होंने मुझसे कहा, "मुझे अपने व्यक्तिगत सम्मान की आवश्यकता नहीं; किंतु अपने देश का सम्मान मेरे लिए प्राण के समान है और इस समय मैं एक प्रमुख व्यक्ति के रूप में आ रहा था, इसलिए मेरा अपमान हुआ तो वह हिंद का अपमान

[1] महात्मा गोखले का सम्मान करने के लिए किंबरली के मेयर के सभापतित्व में नवंबर १९१२ में हुए भारी समारोह के अवसर पर गांधीजी द्वारा दिये गए भाषण का अंश।

होने के समान है, यह मानकर मैंने स्टीमर में अपने मान के योग्य सुविधा प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किया।" उपर्युक्त घटना के फलस्वरूप इंडिया आफिस ने कोलोनियल आफिस के मार्फत ऐसी तजवीज की थी कि दक्षिण अफ्रीका में भी गोखलेजी का पूरा-पूरा सत्कार हो। इसलिए यूनियन सरकार ने पहले से ही उनके सत्कार की व्यवस्था कर रखी थी। उनके लिए एक सैलून तैयार करवा रखा था और यात्रा के समय रसोइये आदि रखने का भी इंतजाम किया था। उनकी सार-संभाल के लिए एक अफसर तैनात किया गया था। भारतीय जनता ने तो स्थान-स्थान पर ऐसा सम्मान करने की तजवीज कर रखी थी, जो बादशाह को भी न मिल सके। गोखलेजी ने यूनियन सरकार का आतिथ्य केवल यूनियन की एक राजधानी प्रिटोरिया में ही स्वीकार किया। शेष सभी स्थानों पर वह भारतीयों के अतिथि रहे। केपटाउन में दाखिल हुए कि तुरंत उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के प्रश्न का विशेष अध्ययन शुरू कर दिया। इस विषय का जो सामान्य ज्ञान लेकर वह केपटाउन में उतरे थे, वह भी ऐसा-वैसा नहीं था; किंतु उनके हिसाब से वह पर्याप्त न था। दक्षिण अफ्रीका के अपने चार सप्ताह के प्रवास में उन्होंने वहां के भारतीयों की समस्या का इतना गहरा अध्ययन किया कि जो लोग भी उनसे मिलते, वह उनके ज्ञान से आश्चर्यचकित हो जाते। जब जनरल बोथा और जनरल स्मट्स से मिलने का समय आया तब उन्होंने इतने अधिक विवरण तैयार करवाये कि मुझे लगा कि इतना परिश्रम वह किसलिए कर रहे हैं। उनकी तबीयत बराबर बहुत खराब थी, अत्यंत सार-संभाल रखने की जरूरत थी। लेकिन ऐसी तबीयत रहने पर भी रात के बारह-बारह बजे तक काम करते और फिर दो बजे या चार बजे उठ जाते और कासिद को बुलाने लगते। परिणाम-स्वरूप जनरल बोथा और जनरल स्मट्स से हुई उनकी मुलाकात में से गिरमिट के तीन पौंड के वार्षिक कर की सत्याग्रह की लड़ाई पैदा हुई। यह कर १८९३ से गिरमिट-मुक्त पुरुषों, उनकी स्त्रियों और उनके लड़के-लड़कियों पर लगाया जाता था। यदि गिरमिट मुक्त-व्यक्ति कर न देना चाहता तो कानून द्वारा उसका भारत वापस जाना अनिवार्य बना रखा था। इसलिए गिरमिट में, वास्तव में, गुलामी में पड़े हुए भारतीयों की दशा बहुत ही संकटपूर्ण बनी हुई थी।

सर्वस्व त्याग कर बाल-बच्चों तक के साथ दक्षिण अफ्रीका आया हुआ भारतीय हिंदुस्तान वापस जाकर क्या करे ? यहां तो उसके भाग्य में भुखमरी ही रही। जीवन-पर्यंत गिरमिट में भी कैसे रहा जा सके ? उसके आसपास के स्वतंत्र मनुष्य हर महीने चार पौंड, पांच पौंड, दस पौंड कमाते हों तो स्वयं चौदह से पंद्रह शिलिंग मासिक लेकर कैसे संतुष्ट रह सके ? और अलग होना चाहता हो तो मान लीजिये कि उसके एक लड़का और एक लड़की हो तो स्त्री-सहित सब मिलाकर उसे हर साल बारह पौंड का कर देना चाहिए। यह भारी कर वह किस प्रकार दे ? जबसे यह कर चालू हुआ तबसे भारतीय कौम उसके विरुद्ध भारी लड़ाई चला रही थी। हिन्दुस्तान में भी उसकी प्रतिक्रिया हुई थी; किंतु अभी तक यह कर समाप्त न हो सका था। गोखलेजी को बहुत-सी मांगों में इस कर को उठाने की भी मांग करनी थी। वह इस प्रकार व्यथित हो उठे थे, जैसे अपने गरीब भाइयों के ऊपर का यह बोझ स्वयं उन्हींपर हो। जनरल बोथा के सामने उन्होंने अपने आत्मा की संपूर्ण शक्ति का प्रयोग किया। उनके बोलने का प्रभाव जनरल बोथा और जनरल स्मट्स पर ऐसा पड़ा कि वह पिघल गये और उन्होंने वचन दिया कि आगामी यूनियन पार्लमेंट में यह कर रद कर दिया जायगा। गोखलेजी ने यह खुशखबरी बहुत हर्ष-पूर्वक मुझे दी। इन अधिकारियों ने और भी वचन दिये थे; किंतु अभी हम गिरमिट के विषय पर ही विचार कर रहे हैं, अतः यूनियन सरकार के साथ के उनके मिलाप का इतना ही अंश मैं यहां देता हूं। पार्लमेंट बैठी। गोखलेजी तो दक्षिण अफ्रीका में थे नहीं और दक्षिण अफ्रीका में बसे भारतीयों को मालूम हुआ कि तीन पौंड का कर तो नहीं उठाया जा सकता। जनरल स्मट्स ने नेटाल के सदस्यों को समझाने का थोड़ा-बहुत प्रयत्न किया था। मेरे हिसाब से यह काफी न था। भारतीय कौम ने यूनियन सरकार को लिखा कि तीन पौंडवाला कर, चाहे जैसे हो, यूनियन सरकार गोखलेजी के साथ वचनबद्ध थी। अतः यदि उसने यह कर नहीं उठाया तो जो सत्याग्रह १९०६ से चल रहा था, उसके अंदर इस कर की बात भी दाखिल हो जायगी। दूसरी तरफ तार से गोखलेजी को खबर दी गई। उन्होंने यह कदम पसंद किया। यूनियन सरकार ने भारतीय कौम की चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया। उसका परिणाम सब

लोग जानते हैं। गिरमिट में रहनेवाले चालीस हजार भारतीय सत्याग्रह की लड़ाई में शामिल हुए। उन्होंने हड़ताल की, असह्य दुःख सहन किये, बहुत-से मारे गये; किंतु अंत में गोखेलेजी को दिये गए वचन का पालन किया गया और वह कर उठा लिया गया। ('धर्मात्मा गोखले', पृष्ठ २४)

... ...

आप लोगों ने मुझे गोखले-पुस्तकालय के उद्घाटन और उनके चित्र के अनावरण के लिए बुलाया है। यह काम बहुत पवित्र है और उतना ही गंभीर भी है।

...गोखले नाम के भूखे तो न थे। इतना ही नहीं, वरन् उन्हें यह भी अच्छा न लगता था कि उनका मान हो। अनेक बार मान मिलते समय वह नीचे देखने लगते। यदि ऐसा माना जाता हो कि गोखले के चित्र के अनावरण से ही उनकी आत्मा को शांति मिलेगी तो यह धारणा सच्ची नहीं। मरते समय उस महात्मा ने अपना आदर्श कह सुनाया था, और वह यह कि मेरे बाद मेरा जीवन-चरित लिखा जायगा या मेरे लिए स्मारक बनेगा और शोक-प्रदर्शक सभाएं होंगी; किंतु उससे मेरी आत्मा को शांति मिलनेवाली नहीं है। मेरी यही अभिलाषा है कि मेरा जीवन ही समस्त हिंद का जीवन बने और भारत-सेवक-समिति की प्रगति हो। इस वसीयतनामे को जो लोग मंजूर करते हों, उन्हें गोखले का चित्र रखने का अधिकार है।

गोखले के जीवन का विस्तार विशाल है। उनके जीवन के कुछ कौटुंबिक प्रसंग आज यहां आई हुई बहनों को सुनाऊंगा। यह बात बहनों के याद रखने लायक है कि गोखले ने अपने कुटुंब की सेवा अच्छी तरह की है। उनका आचरण ऐसा न था कि जिससे कुटुंब के लोगों का जी दुखे। जैसा कि आज हिंदू-संसार में गुड़िया के विवाह की भांति लड़की को आठ बरस की करके उसे दरिया में धकेल दिया जाता है, वैसा गोखले ने नहीं किया। उनकी लड़की अभी कुमारी है। उसे ऐसा रखने में उन्होंने बहुत सहन-शीलता दिखाई है। इसके सिवा भरी जवानी में उनकी पत्नी चल बसी थीं। फिरसे उन्हें पत्नी मिल सकती थी; किंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया। कुटुंब-सेवा तो उन्होंने अनेक प्रकार से की है और सामान्य रूप से तो सभी लोग कुटुंब-सेवा करते

होंगे; किंतु स्वार्थ-दृष्टि से और स्वदेश-हित की वृत्ति से, दो प्रकार से कुटुंब सेवा होती है। गोखले ने स्वार्थ-वृत्ति को तिलांजलि दे दी थी। कुटुंब के प्रति, उसके बाद ग्राम के प्रति और अनंतर देश के प्रति, इस प्रकार जिस समय जो प्रसंग आया, वैसे ही कर्त्तव्य का पालन उन्होंने संपूर्ण साहस, लगन और श्रम से किया।

गोखले के मन में हिंदू-मुसलमान का भेद-भाव न था। वह सभीको समदृष्टि से और स्नेह-भाव से देखते थे। कभी-कभी वह गुस्सा भी हो जाते थे; किंतु उनका वह क्रोध स्वदेश-हित से संबंध रखनेवाला और सामनेवाले के मन पर अच्छा ही असर डालनेवाला सिद्ध होता था। वह गुस्सा ऐसा था कि उसके असर से बहुत-से यूरोपियन भी, जो शत्रुता प्रकट करते थे, घनिष्ठ मित्र जैसे बन गये थे।

गोखले के समग्र जीवन पर दृष्टि डालनेवाले को मालूम होगा कि उन्होंने अपना सारा जीवन स्वदेश-सेवामय बना दिया था। पचास वर्ष के अंदर की उम्र में ही वह इस नश्वर जगत् को छोड़कर चले गये। इसका कारण यही है कि वह दिन के चौबीसों घंटे मानसिक और शारीरिक शक्ति बहुत श्रमपूर्वक स्वदेश-सेवा में खर्च करते थे। उनके मन में ऐसी संकुचित भावना न थी कि मैं स्वहित या स्वकुटुंब के लिए क्या करके जा रहा हूं; किन्तु देश के लिए क्या करके जा रहा हूं, ऐसी ही उनकी भावना थी।

हमारे हिंद के एक समर्थ बलरूप अंत्यजवर्ग के उद्धार का प्रश्न भी महात्मा गोखले को रोज खटकता था और उनकी उन्नति के लिए बहुत-से कार्य उन्होंने किये थे। कोई उनके वैसा करने पर आपत्ति करता तो वह स्पष्ट शब्दों में कह देते कि हमारे भाई अंत्यज को छूने से हम भ्रष्ट नहीं होते; किंतु न छूने की दुष्ट भावना से ही घोर पाप में गिरते हैं।...

उमरेठ के नेताओं का कर्त्तव्य है कि अपने देशी उद्योगों को पनपावें और उन्हें उत्तेजन दें। यदि ऐसी भावना न हो तो उन्हें गोखले जैसे परमार्थी संत का चित्र रखने का हक नहीं। महात्मा गोखले के प्रति वह सद्भाव प्रदर्शित करते हैं और उनके कर्तव्यों को उमरेठ जान गया है, यह सन्तोष

की बात है।[1]

... ...

उन्हीं दिनों स्वर्गीय गोखले दक्षिण अफ्रीका आये। तब हम फार्म पर ही रहते थे। उस प्रवास के वर्णन के लिए एक स्वतन्त्र अध्याय की जरूरत है। अभी तो एक कड़ुवा-मीठा संस्मरण है, उसीको यहां लिख देता हूं। फार्म में खाट के जैसी कोई वस्तु ही नहीं थी। पर गोखलेजी के लिए हम एक खाट मांगकर लाये। वहांपर ऐसा एक भी कमरा नहीं था, जिसमें रहकर उन्हें पूरा एकान्त मिल सके। बैठने के लिए पाठशाला के बेंच थे। पर इस स्थिति में भी कोमल शरीरवाले गोखलेजी को फार्म पर बिना लाये हम कैसे रह सकते थे? और वह भी उसे बिना देखे क्योंकर रह सकते थे? मेरा खयाल था कि उनका शरीर एक रात भर के लिए कष्ट उठा सकेगा और वह स्टेशन से फार्म तक करीब डेढ़ मील पैदल भी चल सकेंगे। मैंने उन्हें पहले ही से पूछ रक्खा था। अपनी सरलता के कारण उन्होंने बिना बिचारे मुझपर विश्वास रख सब व्यवस्था को कबूल भी कर लिया था। संयोग से उसी दिन बारिश आ गई। ऐन वक्त पर एकाएक मैं भी कोई फेरफार नहीं कर पाया। इस तरह अज्ञानमय प्रेम के कारण मैंने उनको उस दिन जो कष्ट दिया, वह कभी नहीं भुलाया जा सकता। वह भारी परिवर्तन को तो कदापि नहीं सह सकते थे। उन्हें खूब जाड़ा लगा। खाना खाने के लिए पाकशाला में भी उन्हें नहीं ले जा सके। मि० कैलनबेक के कमरे में उन्हें रखा गया था। वहां पहुंचते-पहुंचते तो सब खाना ठण्डा हो जाता। उनके लिए खुद मैं 'सूप' बना रहा था और भाई कोतवाल ने रोटियां बनाईं। पर यह सब गरम कैसे रहे? ज्यों-त्यों करके भोजनाध्याय समाप्त हुआ। पर उन्होंने मुझे एक शब्द भी नहीं कहा। हां, उनके चेहरे पर से मैं सब-कुछ और अपनी मूर्खता को भी जान गया। जब देखा कि हम सब जमीन पर सोते थे तब तो उन्होंने भी खाट को अलग कर दिया और अपना बिस्तर जमीन पर ही लगवा लिया। रात भर में पड़ा-पड़ा पश्चात्ताप करता रहा। गोखलेजी को एक आदत थी, जिसे मैं कुटेव कहता था,

[1]नवम्बर १९१७ में उमरेठ के भारतीयों द्वारा महात्मा गोखले के नाम पर स्थापित पुस्तकालय का उद्घाटन-भाषण।

वह केवल नौकर से ही काम लेते थे। ऐसे लम्बे प्रवासों में वह नौकरों को साथ नहीं रखते थे। मि० कैलनबेक ने और मैंने कई बार उनके पैर दबा देने के लिए प्रार्थना की; पर वह टस-से-मस नहीं हुए। अपने पैरों को हमें स्पर्श तक नहीं करने दिया। उल्टा कुछ गुस्से में और कुछ हँसी में कहा— "मालूम होता है, आप सब लोगों ने समझ रखा कि दुःख और कष्ट उठाने के लिए केवल आप ही पैदा हुए हैं और मुझ जैसे आपको केवल कष्ट देने के लिए। लो, भुगतो अब अपनी 'अति' की सजा! मैं तुम्हें अपने शरीर को स्पर्श तक नहीं करने दूंगा। आप सब लोग तो नित्य-क्रिया के लिए मैदान में जायंगे और मेरे लिए कमोड रख छोड़ा है! क्यों? खैर, परवा नहीं। आज तो मैं जरूर आपका गर्व दूर करूंगा, चाहे इसके लिए कितना ही कष्ट हो।" यह वचन तो वज्र के समान थे। कैलनबेक और मैं दोनों उदास हो गये। पर उनके चेहरे पर कुछ-कुछ हँसी भी थी। बस यही हमें आश्वासन दे रही थी। अर्जुन ने अज्ञानवश श्रीकृष्ण को कितना ही कष्ट क्यों न दिया हो, पर क्या यह सब श्रीकृष्ण ने याद रखा होगा? गोखलेजी ने तो केवल सेवा को ही याद रखा और खूबी यह कि सेवा तो करने भी न दी। मोंबासा से लिखा हुआ उनका वह प्रेम-भरा पत्र मेरे हृदय पर अंकित है। उन्होंने आप कष्ट उठा लिया, पर हम उनकी जो सेवा कर सकते थे, वह भी उन्होंने नहीं करने दी। हमारा बनाया भोजन तो खैर खाना ही पड़ा, नहीं तो और करते ही क्या!

दूसरे दिन सुबह न तो उन्होंने खुद ही आराम लिया, न हमें लेने दिया। उनके भाषणों को, जिन्हें हम पुस्तक रूप में छपानेवाले थे, उन्होंने दुरुस्त किया। उन्हें कुछ भी लिखना होता तो पहले वह यहां से वहांतक टहलते-टहलते विचार कर लेते। उन्हें एक छोटा-सा पत्र लिखना था। मेरा खयाल था कि वह फौरन लिख डालेंगे, पर नहीं। मैंने टीका की, इसलिए मुझे व्याख्यान सुनना पड़ा। "मेरा जीवन तुम क्या जानो! मैं छोटी-से-छोटी बात में भी जल्दी नहीं करता। उसपर विचार करता हूं। उसके मध्य-बिंदु पर ध्यान देता हूं, विषयोचित भाषा गढ़ता हूं और फिर कहीं लिखता हूं। इस तरह यदि सभी करें तो कितना समय बच जाय और समाज का कितना लाभ हो। आज समाज को जो इन अपरिपक्व विचारों के कारण

हानि उठानी पड़ती है उससे वह बच जाय।" (द० अ० स०, १९२५)

... ...

गोखलेजी तथा अन्य नेताओं से मैं प्रार्थना कर रहा था कि वे दक्षिण अफ्रीका आकर यहां के भारतीयों की स्थिति का अध्ययन करें। इस बात में पूरा-पूरा सन्देह था कि कोई आवेगा भी या नहीं। मि० रिच भी किसी नेता को भेजने की कोशिश कर रहे थे। पर ऐसे समय में वहां आने की हिम्मत कौन कर सकता था जब लड़ाई बिलकुल मन्द हो गई हो? सन् १९११ में गोखले इंग्लैंड में थे। दक्षिण अफ्रीका के युद्ध का अध्ययन तो उन्होंने अवश्य ही कर लिया था; बल्कि धारासभाओं में चर्चा भी की थी। गिरमिटियाओं को नेटाल भेजना बन्द करने का प्रस्ताव उन्होंने धारासभा में पेश किया था, जो स्वीकृत भी हो गया था। उनके साथ मेरा पत्र-व्यवहार बराबर जारी था। भारत-सचिव के साथ वह इस विषय में कुछ मशविरा कर रहे थे और उन्होंने दक्षिण अफ्रीका जाकर उस प्रश्न का ठीक-ठीक अध्ययन करने की इच्छा भी प्रकट की थी। भारत-सचिव ने उनके इस विचार को पसन्द भी किया था। गोखलेजी ने छः सप्ताह के प्रवास की योजना और कार्यक्रम बनाने के लिए मुझे लिख भेजा और साथ ही वह अन्तिम तारीख भी लिख भेजी, जब वह दक्षिण अफ्रीका से विदा होना चाहते थे। उनके शुभागमन की वार्ता पढ़कर हमें तो इतना आनन्द हुआ कि जिसकी हद नहीं। आज तक किसी नेता ने दक्षिण अफ्रीका का सफर नहीं किया था। दक्षिण अफ्रीका की तो ठीक; पर प्रवासी भारतवासियों की दशा का अवलोकन और ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से भी किसी विदेशी रियासत की यात्रा तक नहीं की थी। इसलिए गोखले जैसे महान् नेता के शुभागमन के महत्व को हम सब पूरी तरह समझ गये। हमने यह निश्चय किया कि गोखलेजी का ऐसा स्वागत-सम्मान किया जाय जैसा अबतक बादशाह का भी न हुआ हो। यह भी तय हुआ कि दक्षिण अफ्रीका के मुख्य-मुख्य शहरों में भी उन्हें ले जाना चाहिए। सत्याग्रही और दूसरे भी उनके स्वागत की तैयारियों में बड़े उत्साहपूर्वक काम करने लगे। गोरों को भी इस स्वागत में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया था और लगभग सभी जगह वे शामिल भी हुए थे। यह भी निश्चय किया गया कि जहां-

जहां सार्वजनिक सभाएं हों, उन-उन शहरों के मेयरों को, यदि वह स्वीकार करें तो, अध्यक्ष-स्थान दिया जाय। साथ ही जहांतक हो सके, कोशिश करके प्रत्येक शहर में सभा-स्थान के लिए वहां के टाउन हॉल का ही उपयोग किया जाय। हमने यह निश्चय कर लिया कि रेलवे-विभाग की इजाजत प्राप्त करके मुख्य-मुख्य स्टेशनों को भी सजाया जाय। तदनुसार कितने ही स्टेशनों को सजाने की इजाजत भी हमें मिल गई। यद्यपि सामान्यतया ऐसी इजाजत नहीं दी जाती; पर हमारी स्वागत की तैयारियों का असर सत्ताधिकारियों पर भी पड़ा। इसलिए उन्होंने भी जितनी उनसे बन पड़ी, सहानुभूति दिखाई। मसलन केवल जोहान्सबर्ग के स्टेशन को सजाने में ही हमें लगभग पन्द्रह दिन लग गये। वहां हम लोगों ने एक सुन्दर प्रवेश-द्वार बनाया था।

दक्षिण अफ्रीका के विषय में बहुत-कुछ जानकारी तो इंग्लैंड में ही मिल चुकी थी। भारत-सचिव ने दक्षिण अफ्रीका की सरकार को गोखले का दरजा, साम्राज्य में उसका स्थान, इत्यादि पहले ही बता दिया था। किन्तु स्टीमर कम्पनी में टिकट तथा व्यवस्था आदि करने की बात किसीको कैसे सूझ सकती थी? गोखलेजी की तबीयत नाजुक थी। इसलिए उनको अच्छी कैबिन और एकांत की बड़ी आवश्यकता रहती; पर उन्हें तो साफ उत्तर मिल गया कि ऐसी कैबिन है ही नहीं। मुझे ठीक-ठीक पता नहीं है कि स्वयं गोखलेजी ने या उनके और किसी मित्र ने इण्डिया आफ़िस में इस बात की इत्तला की। पर कम्पनी के डायरेक्टर के नाम इण्डिया आफिस की तरफ से पत्र पहुंचा। और जहां कोई कैबिन ही नहीं थी वहीं उनके लिए एक बढ़िया कैबिन तैयार हो गई। उस प्रारंभिक कटुता का अन्त इस मधुरता के साथ हुआ। स्टीमर के कैप्टन को भी गोखलेजी का बढ़िया स्वागत करने के लिए सूचना पहुंची थी। इसलिए उनके इस सफर के दिन बड़ी शांति और आनन्द के साथ बीते। गोखले उतने ही आनन्द और विनोदशील भी थे, जितने वह गम्भीर थे। स्टीमर के खेल वगैरह में वह खूब भाग लेते थे। इसलिए स्टीमर के मुसाफिरों में वह बड़े प्रिय हो गये। गोखलेजी को यूनियन सरकार का यह विनय-सन्देश भी पहुंचा कि वह यूनियन सरकार के महमान हों और रेलवे के स्टेट सेलून में ही सफर करें; किन्तु स्टेट सेलून

का तथा प्रिटोरिया में सरकारी महमान होना स्वीकार करने का निश्चय उन्होंने मेरे साथ मशविरा करने के बाद किया।

जहाज से वह केपटाउन में उतरनेवाले थे। उनका मिजाज तो मेरी अपेक्षा से भी अधिक नाजुक साबित हुआ। वह एक खास तरह का भोजन ही कर सकते थे। अधिक परिश्रम भी नहीं उठा सकते थे। निश्चित कार्य-क्रम भी उनके लिए असह्य हो गया। जहांतक हो सका उसमें परिवर्तन किया गया। जहां कहीं परिवर्तन नहीं हो सका, वहां स्वास्थ्य बिगड़ने की आशंका होते हुए भी उन्होंने उसे कबूल कर लिया। मुझे इस बात का बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि उनसे बिना पूछे ही मैंने इतना सख्त कार्य-क्रम क्यों तैयार कर डाला! कार्य-क्रम में कितनी ही जगह परिवर्तन किया गया, पर अधिकांश तो ज्यों-का-त्यों ही रखना पड़ा। यह बात मेरे खयाल में नहीं आई थी कि उन्हें एकांत की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। अतः एकांत स्थान का प्रबन्ध करने में मुझे ज्यादा-से-ज़्यादा कठिनाई हुई। पर साथ ही नम्रता-पूर्वक मुझे यह तो सत्य के लिए जरूर कहना पड़ेगा कि बीमार और बुजुर्गों की सेवा करने का मुझे खास अभ्यास और शौक भी था। इसलिए अपनी मूर्खता का ज्ञान होने के बाद मैं उसमें इतना सुधार कर सका था कि उन्हें बहुत काफी एकांत और शांति भी मिल सकी। प्रवास में शुरू से आखिर तक उनके मंत्री का काम स्वयं मैंने ही किया। स्वयं-सेवक भी ऐसे थे जो सांय-सांय करती अन्धेरी रात में भी चिट्ठी का उत्तर ला सकते थे। इस-लिए मेरा खयाल है कि उन्हें सेवकों के अभाव के कारण कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ा होगा। कैलनबेक भी इन स्वयं-सेवकों में थे।

यह तो स्पष्ट ही था कि केपटाउन में बढ़िया-से-बढ़िया सभा होनी चाहिए। श्राइनर कुटुंब के डब्ल्यू० पी० श्राइनर से अध्यक्ष-स्थान स्वीकार करने के लिए प्रार्थना की गई। हमारी प्रार्थना को उन्होंने मंजूर कर लिया। विशाल सभा हुई। भारतीय और गोरे भी अच्छी तादाद में आये। मि० श्राइनर ने मधुर शब्दों में गोखलेजी का स्वागत किया और दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की। गोखलेजी का भाषण छोटा, परिपक्व विचारों से भरा हुआ और दृढ़ था, किंतु विनयपूर्ण भी ऐसा था कि जिसने भारतीयों को प्रसन्न कर दिया और गोरों का दिल भी चुरा

लिया। गोखलेजी ने जिस दिन दक्षिण अफ्रीका की भूमि पर पैर रक्खा उसी दिन वहां की पचरंगी प्रजा के हृदय में उन्होंने अपना स्थान प्राप्त कर लिया।

केपटाउन से जोहान्सबर्ग जाना था। रेल से दो दिन का प्रवास था। युद्ध का कुरुक्षेत्र ट्रान्सवाल था। केपटाउन से आते समय राह में हमें ट्रान्सवाल के बड़े सरहदी स्टेशन क्लार्कस्डार्प पर से गुजरना पड़ता था। खास क्लार्कस्डार्प तथा राह में आनेवाले अन्य शहरों में भी ठहरकर हमें सभाओं में जाना था। इसलिए क्लार्कसूडार्प से एक स्पेशल ट्रेन की व्यवस्था की गई। दोनों शहरों में वहां के मेयर ही अध्यक्ष थे। किसी भी शहर को एक घंटे से अधिक समय नहीं दिया गया था। ट्रेन जोहान्सबर्ग बिलकुल ठीक समय पर पहुंची। एक मिनट का भी फर्क नहीं पड़ने पाया। स्टेशन पर खासे कालीन वगैरह बिछाये गए थे। एक मंच भी बनाया गया था। जोहान्सबर्ग के मेयर और दूसरे अनेक गोरे भी हाजिर थे। गोखलेजी जितने दिन जोहान्सबर्ग में रहे, उतने दिन तक उनके उपयोग के लिए मेयर ने उन्हें अपनी मोटर दे दी थी। स्टेशन पर ही उन्हें एक मानपत्र भी दिया गया। प्रत्येक स्थान पर मानपत्र तो दिये ही जाते थे। जोहान्सबर्ग का मानपत्र बड़ा सुन्दर था। दक्षिण अफ्रीका की लकड़ी पर जड़ी हुई सोने की हृदयाकार तख्ती पर खुदा हुआ था—तख्ती का सोना भी जोहान्सबर्ग की खान का ही था। लकड़ी पर भारत के कितने ही दृश्यों के सुन्दर चित्र खुदे हुए थे। गोखलेजी का परिचय, मानपत्र को पढ़ना और उसका उत्तर दिया जाना तथा अन्य मानपत्रों का लेना यह सब काम २२ मिनट के अन्दर कर लिये गए थे। मानपत्र इतना छोटा था कि पढ़ने में पांच मिनट से अधिक नहीं लगा होगा। गोखलेजी का उत्तर भी पांच ही मिनट का था। स्वयंसेवकों का इन्तजाम इतना बढ़िया था कि पूर्व-निश्चित मनुष्यों के सिवा एक भी आदमी प्लेटफार्म पर नहीं आ सका। शोर-गुल जरा भी नहीं था। बाहर लोगों की खूब भीड़ थी। फिर भी किसीके आनेजाने में को कठिनाई नहीं हुई।

उनके ठहरने की व्यवस्था मि० कैलनबेक के एक छोटे-से सुन्दर बंगले में की गई थी, जो जोहान्सबर्ग से पांच मील की दूरी पर एक टेकड़ी पर था।

वहां का दृश्य ऐसा भव्य था, वहां की शांति ऐसी आनन्ददायक थी और बंगला सादा होते हुए भी कला से इतना परिपूर्ण था कि गोखलेजी खुश हो गये। मिलने-जुलने की व्यवस्था सबके लिए शहर में ही की गई थी। उसके लिए एक खास आफिस किराए पर ले लिया गया था। उसमें एक कमरा केवल उनके आराम करने के लिए रखा गया था, दूसरा मिलने-जुलने के लिए और तीसरा कमरा मिलने आनेवाले सज्जनों के बैठने के लिए। जोहान्सबर्ग के कितने ही प्रसिद्ध गृहस्थों से खानगी मुलाकात करने के लिए भी गोखलेजी को ले गये थे। गण्यमान्य गोरों की भी एक खानगी सभा की गई थी, जिससे गोखलेजी को उनके दृष्टि-बिन्दु का पूरी तरह खयाल हो जाय। इसके अलावा जोहान्सबर्ग में उनके सम्मानार्थ एक विशाल भोज भी दिया गया था, जिसमें कोई चारसौ आदमियों को निमन्त्रित किया गया था। उनमें लगभग डेढ़सौ गोरे थे। भारतीय टिकिट लेकर आ सकते थे। टिकट की कीमत एक गिनी रखी गई थी। टिकटों की आय में से उस भोज का खर्च निकल आया। भोज केवल निरामिष और मद्यपान-रहित था। खाना भी केवल स्वयं-सेवकों द्वारा ही बनाया गया था। इसका वर्णन यहां करना कठिन है। दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों में हिन्दू-मुसलमान, छूत-अछूत आदि का कोई खयाल ही नहीं होता। सब एक साथ बैठकर खा लेते हैं। निरामिष आहार करनेवाले भारतीय भी अपने नियम का पालन करते हैं। भारतीयों में कितने ही क्षत्रिय भी थे। दूसरों की तरह उनसे भी मेरा तो गाढ़ परिचय था। उनमें से अधिकांश गिरमिटिया माता-पिता की प्रजा ही होते हैं। कई होटलों में खाना पकाने और परोसने का काम करते हैं। इन्हीं लोगों की सहायता से इतने मनुष्यों की रसोई की व्यवस्था हो सकी। तरह-तरह के कोई पन्द्रह व्यंजन थे। दक्षिण अफ्रीका के गोरों के लिए यह एक नवीन और अजीब अनुभव था। इतने भारतीयों के साथ एक पंक्ति में खाने के लिए बैठना, निरामिष भोजन करना और मद्यपान बिना काम चलाना ये तीनों अनुभव उनमें से कइयों के लिए नवीन थे। दो तो अवश्य ही सबके लिए नवीन थे।

इस सम्मेलन में गोखलेजी का बड़े-से-बड़ा और महत्वपूर्ण भाषण हुआ। पूरे ४५ मिनट वह बोले। इस भाषण की तैयारी के लिए उन्होंने हमारा खूब

समय लिया था। पहले उन्होंने अपना जीवन भर का यह निश्चय सुनाया कि एक तो स्थानीय मनुष्यों के दृष्टि-बिंदु की अवगणना नहीं होनी चाहिए। दूसरे, जहांतक उनसे मिलकर रहा जाय, हम मिलकर रहने की कोशिश करें। इन दो बातों को ध्यान में रखकर मैं उनसे जो कहलाना चाहूं वह उन्हें बता दूं; पर यह मुझे उन्हें लिखकर देना चाहिए। साथ ही उनकी यह भी शर्त थी कि इनमें से एक भी वाक्य या विचार का वह उपयोग न करें तो मुझे बुरा न मानना चाहिए। लेख न लंबा होना चाहिए और न छोटा। कोई महत्वपूर्ण बात भी छूटने न पाये। इन सब बातों का खयाल रखते हुए मुझे उनके लिए स्मरणार्थ टिप्पणियां लिखनी पड़ती थीं। यह तो मैं सबसे पहले कह देता हूं कि उन्होंने मेरी भाषा का तो जरा भी उपयोग नहीं किया। वह तो अंग्रेजी के पारंगत विद्वान् थे। फिर मैं यह आशा भी क्यों करूं कि वह मेरी भाषा का उपयोग करें। पर मैं यह भी नहीं कह सकता कि उन्होंने मेरे विचारों का भी उपयोग स्वीकार किया। हां, मेरे विचारों की उपयुक्तता को उन्होंने जरूर स्वीकार किया। इसलिए मैंने अपने दिल को समझा लिया कि आखिर उन्होंने मेरे विचारों का भी किसी तरह उपयोग किया होगा; क्योंकि उनकी विचार-शैली ऐसी अजीब थी कि उससे हमें यही पता नहीं चलता था कि उन्होंने हमारे विचारों को कहां स्थान दिया है, अथवा दिया भी है, या नहीं। गोखलेजी के सभी भाषणों के समय मैं हाजिर था, पर मुझे ऐसा एक भी प्रसंग याद नहीं कि जिसमें मुझे यह इच्छा हुई हो कि अमुक विशेषण या अमुक विचार का उपयोग वह न करते तो अच्छा होता। उनके विचारों की स्पष्टता, दृढ़ता, विनय, इत्यादि उनके अथक परिश्रम और सत्यपरायणता के फल-स्वरूप थे।

जोहान्सबर्ग में केवल भारतीयों की एक विराट सभा भी तो हो जाना जरूरी था। मेरा यह आग्रह पहले से ही चला आ रहा है कि भाषण मातृभाषा ही में अथवा राष्ट्र-भाषा हिंदुस्तानी में ही होना चाहिए। इस आग्रह के कारण दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के साथ मेरा अधिक सरल और निकट का संबंध हो गया। इसलिए मैं चाहता था कि भारतीयों की सभा में गोखलेजी भी हिंदुस्तानी में भाषण दें तो बड़ा अच्छा हो, किंतु इस विषय में उनके विचार मैं मानता था। टूटी-फूटी हिंदी से काम चलाना तो

उन्हें पसंद ही नहीं था । अर्थात् वह या तो मराठी में भाषण दे सकते थे या अंग्रेजी में । मराठी में भाषण देना उन्हें कृत्रिम मालूम हुआ । यदि मराठी में बोलते भी तो गुजरातियों तथा उत्तर हिंदुस्तान के निवासी भारतीयों के लिए उसका अनुवाद करना अनिवार्य था । यदि ऐसा था तो फिर अंग्रेजी में ही क्यों न बोला जाय ? पर मेरे पास ऐसी दलील थी, जिसको गोखलेजी स्वीकार कर सकते थे । जोहान्सबर्ग में कोंकण के कई मुसलमान भी बसते थे। कुछ महाराष्ट्रीय हिंदू भी थे। ये सब गोखलेजी का मराठी भाषण सुनने के लिए बड़े लालायित थे और उन लोगों ने मुझे यह भी कह रखा था कि मैं गोखलेजी से मराठी में भाषण देने के लिए अनुरोध करूं। इसलिए मैंने गोखलेजी से कहा, "यदि आप मराठी में भाषण देंगे तो इन लोगों को बड़ा आनंद होगा । आप जो कुछ कहेंगे उसका मैं हिंदुस्तानी में अनुवाद करके सुना दूंगा।" यह सुनकर वह जोर से खिलखिलाकर हँस पड़े। "तुम्हारा हिन्दुस्तानी का ज्ञान तो मैंने अच्छी तरह जांच लिया, वह तुम्हींको मुबारक हो! पर याद रखो अब तुम्हें मराठी से अनुवाद करना होगा। भला बताओ तो सही कि इतनी अच्छी मराठी तुम कहां से सीख गये ?" मैंने कहा—"जो हाल मेरी हिंदुस्तानी का है वही मराठी के विषय में भी समझिये। मराठी में एक अक्षर भी मैं नहीं बोल सकता। पर आप जिस विषय पर आज कुछ कहेंगे उसका भावार्थ में जरूर कह दूंगा। आप देखियेगा कि मैं लोगों के सामने उसका उलट-सुलट अर्थ तो हरगिज नहीं करूंगा। भाषण का अनुवाद करके सुनाने के लिए मैं ऐसे लोग तो आपको अवश्य ही दे सकता हूं, जो अच्छी तरह मराठी जानते हैं। पर शायद आप इस प्रस्ताव को मंजूर नहीं करेंगे। इस लिए मुझी को निबाह लीजिये, पर बोलियेगा मराठी में। कोंकणी भाइयों के साथ-साथ मुझे भी मराठी सुनने की बड़ी अभिलाषा है।" "भाई, अपनी ही टेक रखो। अब यहां तुम्हारे ही तो पाले पड़ा हुआ हूं न? अब कहीं यों थोड़े छुट्टी मिल सकती है!" यह कहकर उन्होंने मुझे खुश कर दिया। इसके बाद जंजीबार तक इस तरह की प्रत्येक सभा में वह मराठी ही में बोले और मैं खास उन्हींका नियुक्त किया हुआ अनुवादक रहा। मेरा खयाल है कि प्रत्येक भारतीय को यथा-संभव अपनी मातृ-भाषा में अथवा

व्याकरण-शुद्ध अंग्रेजी की बनिस्बत व्याकरण-रहित टूटी-फूटी हिंदी ही में भाषण देना चाहिए। मैं कह नहीं सकता कि यह बात मैं उनको कहांतक समझा सका, किंतु इतना तो मैं जरूर कहूंगा कि मुझे प्रसन्न करने के लिए उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में तो मराठी ही में भाषण दिये। मैं यह भी जान सका कि अपने भाषण के बाद उसके प्रभाव से वह खुश भी हुए। दक्षिण अफ्रीका में अनेक प्रसंगों पर किये हुए अपने बर्ताव से गोखलेजी ने यह बता दिया कि सिद्धांत की कठिनाई न हो तो मनुष्य को अपने सेवकों को जरूर राजी रखना चाहिए। यह भी एक गुण है। (द० अ० स०, १९२५)

... ...

जोहान्सबर्ग से हमें प्रिटोरिया जाना था। प्रिटोरिया में गोखलेजी को यूनियन सरकार का निमंत्रण था। तदनुसार होटल में उनके लिए सुरक्षित जगह में ही हम ठहरे। यहांपर उन्हें यूनियन सरकार के मंत्रि-मंडल से, जिसमें जनरल बोथा और जनरल स्मट्स भी थे, मिलना था। जैसा कि ऊपर लिख चुका हूं, मैंने उनका कार्यक्रम ऐसा बनाया था कि उन्हें हमेशा करने योग्य कामों की सूचना मैं प्रतिदिन सुबह कर दिया करता था। यदि वह चाहते तो अगली रात को भी बता देता। मंत्रि-मंडल से मिलने का काम उत्तर-दायित्व-पूर्ण था। हम दोनों ने निश्चय कर लिया था कि मुझे उनके साथ नहीं जाना चाहिए, जाने की आज्ञा भी नहीं मांगनी चाहिए। मेरी उपस्थित के कारण मंत्रि-मंडल और गोखलेजी के बीच में जरूर ही एक हद तक परदा पड़ जाने की संभावना थी। मंत्रिगण उन्हें न तो पेट भर स्थानीय भारतीयों की और न मेरी ही ऐसी बातें बता सकते जिनको वह गलत समझते थे। और यदि वह कुछ कहना चाहते तो उसे भी खुले दिल से नहीं कह सकते थे; किंतु इसमें एक असुविधा भी थी। गोखलेजी की जिम्मेदारी दुगुनी हो जाती थी। यदि किसी बात को वह भूल जायं, या मंत्रि-मंडल की तरफ से कोई ऐसी बात कही जाय जिसका उत्तर उनके पास न हो तो क्या किया जाय? अथवा भारतीयों की तरफ से किसी बात को कबूल करना हो तब क्या किया जाय? ये दोनों बातें बिना मेरी या दक्षिण अफ्रीका के किसी जिम्मेदार नेता की उपस्थिति के कैसे तय हो सकती थीं? पर इसका निर्णय स्वयं गोखलेजी ने ही फौरन कर डाला। यही कि मैं उनके लिए शुरू से

आखिर तक संक्षेप में भारतीयों की स्थिति का वृत्तांत लिख दूं। उसमें यह भी हो कि भारतीय अपनी मांगों में कहांतक कम-ज्यादा करने को तैयार हैं। इसके बाहर की कोई बात उपस्थित हो तो उसमें गोखलेजी ने अपनी अज्ञान कुबूल कर लें। इस निश्चय के साथ ही वह निश्चिंत भी हो गये। अब रहा यह कि मैं ऐसा एक कागज तैयार कर लूं और वह उसे पढ़ लें। पर पढ़ने इतना समय तो मैंने रखा ही नहीं था। कितना ही संक्षेप में लिखूं तो भी अठारह-बीस वर्ष का, चार रियासतों की भारतीय जनता की स्थिति का इतिहास मैं दस-बीस सफे से कम में कैसे दे सकता था ? फिर उसके पढ़ लेने पर उनको कुछ सवाल तो अवश्य ही सूझते। पर उनकी स्मरण-शक्ति जितनी तीव्र थी, उतनी ही उनकी मेहनत करने की शक्ति भी अगाध थी। रात-भर जागते रहे। पोलक को और मुझे भी सोने नहीं दिया। प्रत्येक बात की पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त कर ली। उलट-सुलट रीति से सवाल करके इस बात की जांच भी कर ली कि वह स्थिति को बराबर समझ गये या नहीं। अपने विचार मेरे सामने कह-सुनाये। अन्त में उन्हें पूरा संतोष हो गया। मैं तो निर्भय ही था।

लगभग दो घंटे मंत्रि-मंडल के पास वह बैठे और वहां से आने पर मुझसे कहा, "तुम्हें एक साल के अंदर भारतवर्ष आना है। सब बातों का फैसला हो गया है। खूनी कानून रद होगा, इमिग्रेशन कानून से वर्ण-भेद निकाल दिया जायगा और तीन पौंड का कर भी रद होगा।" मैंने कहा, "इसमें मुझे पूरा संदेह है। मंत्रि-मंडल को जितना मैं जानता हूं, उतना आप नहीं जानते। आपका आशावाद मुझे प्रिय है; क्योंकि स्वयं मैं भी आशावादी हूं। पर अनेक बातों में धोखा खाने पर अब मैं इस विषय में आपके इतनी आशा नहीं रख सकता। पर मुझे भय भी नहीं है। आप वचन ले आये, यही मेरे लिए काफी है। मेरा धर्म तो केवल यही है कि आवश्यकता उपस्थित होने पर युद्ध ठान दूं और यह सिद्ध कर दूं कि वह न्याय है। इसकी सिद्धि में आपको दिया गया वचन हमारे लिए बड़ा फायदेमंद होगा और यदि लड़ना ही पड़ा तो वह हमें दूनी शक्ति देगा। पर मुझे न तो इस बात का विश्वास होता है कि बिना अधिक तादाद में भारतीयों के जेल गये इसका निबटारा हो सकता है और न इस बात का भी कि एक साल के अंदर में भारतवर्ष

जा सकूंगा।" तब वह बोले, "मैं तुम्हें जो कुछ कहता हूं इसमें कभी फर्क नहीं हो सकता। जनरल बोथा ने मुझे वचन दिया है कि खूनी कानून और वह तीन पौंड वाला कर भी रद होगा। तुम्हें एक साल के अंदर भारत लौटना ही होगा। मैं अब इस विषय में तुम्हारी एक भी दलील नहीं सुनूंगा।'

जोहान्सबर्ग का भाषण प्रिटोरिया की मुलाकात के बाद हुआ था।

ट्रान्सवाल से डरबन, मैरित्सबर्ग आदि स्थानों को गये। वहां कई गोरों से काम पड़ा। कैम्बरली की हीरों की खान देखी। कैम्बरली और डरबन के स्वागत-मंडलों ने भी जोहान्सबर्ग जैसे भोज दिये थे। उनमें अनेक अंग्रेज भी आये थे। इस तरह भारतीयों और गोरों का दिल चुराकर गोखलेजी ने दक्षिणी अफ्रीका का किनारा छोड़ा। उनकी आज्ञा प्राप्त कर कैलनबेक और मैं उन्हें जंजीबार तक छोड़ने के लिए गये थे। स्टीमर में उनके लिए ऐसे भोजन की व्यवस्था कर दी गई जो उनको मुआफिक हो। रास्ते में डेला गोआ बे, इन्हामबेन, जंजीबार, आदि बंदरगाहों पर भी उनका बड़ा सम्मान किया गया।

रास्ते में हमारे बीच जो बातें होतीं उनका विषय भारतवर्ष और उसके प्रति हमारा धर्म ही रहता। प्रत्येक बात में उनका कोमल भाव, सत्यपरायणता, स्वदेशाभिमान चमकता था। मैंने देखा कि स्टीमर में वह जो खेल खेलते उनमें भी खेलों की बनिस्बत भारतवर्ष की सेवा का भाव ही विशेष रहता। भला उनके खेल में भी संपूर्णता क्यों न हो!

स्टीमर में शांति के साथ बातें करने के लिए हमें समय मिल ही गया। उसमें उन्होंने मुझे भारतवर्ष के लिए तैयार किया। भारतवर्ष के प्रत्येक नेता का पृथक्करण करके दिखाया। वह वर्णन इतने हूबहू थे कि मुझे बाद में उन नेताओं का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ, उसमें और उसके चरित्र-चित्रण में शायद ही कोई फर्क दिखाई दिया।

गोखलेजी के दक्षिण अफ्रीका के प्रवास में उनके साथ मेरा जो संबंध रहा, उसके ऐसे कितने ही पवित्र संस्मरण हैं, जिनको मैं यहां दे सकता हूं; किंतु सत्याग्रह के इतिहास के साथ उनका कोई संबंध नहीं है। इसलिए मुझे अनिच्छापूर्वक अपनी कलम को रोकना पड़ता है। जंजीबार में हमारा जो वियोग हुआ वह हम दोनों के लिए बड़ा दुखदायी था; किंतु यह सोच-

कर कि देह-धारियों के घनिष्ठ-से-घनिष्ठ संबंध भी अन्त में टूटते ही हैं, कैलनबेक ने और मैंने अपना समाधान किया। हम दोनों ने यह आशा की कि गोखलेजी की वाणी सत्य हो और हम दोनों एक साल के अन्दर ही भारतवर्ष जा सकें; पर यह असंभव सिद्ध हुआ।

इतना होते हुए भी गोखलेजी के दक्षिणी अफ्रीका के प्रवास ने हमें अधिक दृढ़ बना दिया। युद्ध का जब अधिक रंग चढ़ा तब इस मुलाकात का रहस्य और आवश्यकता हम और भी अच्छी तरह समझे। यदि गोखलेजी दक्षिण अफ्रीका नहीं आते, मंत्रि-मंडल से नहीं मिलते तो हम तीन पौंडवाले कर को अपने युद्ध का विषय ही नहीं बना सकते थे। यदि खूनी कानून रद होते ही सत्याग्रह बन्द कर दिया जाता तो तीन पौंड के कर के लिए हमें नया सत्याग्रह शुरू करना पड़ता और उसमें असंख्य कष्ट उठाने पड़ते। इतना ही नहीं, बल्कि इस बात में भी भारी सन्देह था कि लोग उसके लिए शीघ्र तैयार होते भी या नहीं। इस कर को रद कराना स्वतन्त्र भारतीयों का कर्तव्य था। उसको रद कराने के लिए अर्जियां वगैरह सब उपाय काम में लाये जा चुके थे। सन् १८९५ के साल से कर दिया जा रहा था। चाहे कितना ही घोर दुःख क्यों न हो; किन्तु यदि वह दीर्घकालीन हो जाता है तो लोग उसके आदी हो जाते हैं। फिर उन्हें यह समझाना महा कठिन होता कि उन्हें उसका प्रतिकार करना चाहिए। गोखलेजी को जो वचन दिया गया उसने सत्याग्रहियों के मार्ग को बड़ा सरल बना दिया। या तो सरकार को अपने वचन के अनुसार उस कर को रद कर देना चाहिए था, या नहीं तो स्वयं वह वचन-भंग ही सत्याग्रह के लिए एक काफी बलवान कारण हो जाता, और हुआ भी ठीक यही। सरकार ने एक साल के अन्दर उस कर को रद नहीं किया। यही नहीं; बल्कि यह भी साफ-साफ कह दिया कि वह कर रद नहीं किया जा सकता।

इसलिए गोखलेजी के प्रवास से हमें तीन पौंडवाले कर को सत्याग्रह के द्वारा रद कराने में बड़ी सहायता मिली। दूसरे, उनके उस प्रवास के कारण वह दक्षिण अफ्रीका के प्रश्न के एक विशेषज्ञ समझे जाने लगे। दक्षिण अफ्रीका-सम्बन्धी अब उनके कथन का वजन भी कहीं अधिक बढ़ गया। साथ ही दक्षिण अफ्रीका में रहनेवाले भारतीयों की स्थिति का प्रत्यक्ष ज्ञान

हो जाने के कारण वह इस बात को अधिक अच्छी तरह समझ सके कि भारतवर्ष को उन लोगों के लिए क्या करना चाहिए, और उसे यह बात समझाने में उनकी शक्ति तथा अधिकार भी बहुत बढ़ गया। फलतः अब की बार जब युद्ध चेता तो भारत से धन की वर्षा होने लग गई। लॉर्ड हार्डिंज तक ने सत्याग्रहियों के साथ अपनी सहानुभूति प्रकट कर उन्हें उत्साहित किया। भारत से मि० एण्ड्रूज और मि० पियर्सन दक्षिण अफ्रीका आये। यह सब बिना गोखलेजी के प्रवास के नहीं हो सकता था।

(द० अ० स०, १६२५)

... ...

मैं गोखलेजी के पास गया। वह फर्ग्यूसन कालेज में थे। बड़े प्रेम से मुझसे मिले और मुझे अपना बना लिया। उनका भी यह ही प्रथम परिचय था; पर ऐसा मालूम हुआ मानों हमें पहले मिल चुके हों। सर फिरोजशाह तो मुझे हिमालय जैसे मालूम हुए, लोकमान्य समुद्र की तरह। गोखलेजी गंगा की तरह। उसमें मैं नहा सकता था। हिमालय पर चढ़ना मुश्किल है. समुद्र में डूबने का भय रहता है; पर गंगा की गोदी में खेल सकते हैं, उसमें डोंगी पर चढ़कर तैर सकते हैं। गोखलेजी ने खोद-खोदकर बातें पूछीं, जैसी कि मदरसे में भरती होते समय विद्यार्थी से पूछी जाती हैं। किस-किससे मिलूं और किस प्रकार मिलूं, यह बताया और मेरा भाषण देखने के लिए मांगा। मुझे अपने कालेज की व्यवस्था दिखाई। कहा, "जब मिलना हो, खुशी से मिलना और डाक्टर-भांडारकर का उत्तर मुझे जताना।" फिर मुझे विदा किया। राजनैतिक क्षेत्र में गोखलेजी ने जीतेजी जैसा आसन मेरे हृदय में जमाया और जो उनके देहान्त के बाद अब भी जमा हुआ है वैसा फिर कोई न जमा सका। (आ०, १६२७)

... ...

पहले ही दिन गोखलेजी ने मुझे मेहमान न समझने दिया, मुझे अपने छोटे भाई की तरह रखा। मेरी तमाम जरूरतें मालूम कर लीं और उनका प्रबन्ध कर दिया। खुश-किस्मती से मेरी जरूरतें बहुत कम थीं। सब काम खुद कर लेने की आदत डाल ली थी, इसलिए औरों से मुझे बहुत ही कम काम करना पड़ता था। स्वावलम्बन की मेरी इस आदत की, उस समय के मेरे कपड़े-लत्ते की सुघड़ता की, मेरी उद्योगशीलता और नियमितता की

बड़ी गहरी छाप उनपर पड़ी और वह उसकी इतनी स्तुति करने लगे कि मैं परेशान हो जाता।

मुझे यह न मालूम हुआ कि उनकी कोई बात मुझसे गुप्त थी। जो कोई बड़े आदमी उनसे मिलने आते उनका परिचय वह मुझसे कराते थे। इन परिचयों में जो आज सबसे प्रधान रूप से मेरी नजरों के सामने खड़े हो जाते हैं वह हैं डा० प्रफुल्लचन्द्र राय। वह गोखले के मकान के पास ही रहते थे और प्रायः हमेशा आया करते थे।

"यह हैं प्रोफेसर राय, जो आठसौ रुपये मासिक पाते हैं, पर अपने खर्च के लिए सिर्फ चालीस रुपया लेकर बाकी सब लोक-सेवा में लगा देते हैं। इन्होंने शादी नहीं की, न करना ही चाहते हैं।" इन शब्दों में गोखले ने मुझे उनका परिचय कराया।

आज के डा० राय में और उस समय के प्रो० राय में मुझे थोड़ा ही भेद दिखाई देता है। जैसे कपड़े उस समय पहनते थे आज भी लगभग वैसे ही पहनते हैं। हां, अब खादी आ गई है। उस समय खादी तो थी ही नहीं। स्वदेशी मिलों के कपड़े होंगे। गोखले और प्रो० राय की बातें सुनते हुए मैं न अघाता था, क्योंकि उनकी बातें या तो देश-हित के सम्बन्ध में होतीं या होती ज्ञान-चर्चा। कितनी ही बातें दुःखद भी होतीं; क्योंकि उनमें नेताओं की आलोचना भी होती थी। जिन्हें मैं महान् योद्धा मानना सीखा था, वह छोटे दिखाई देने लगे।

गोखले की काम करने की पद्धति से मुझे जितना आनन्द हुआ उतना ही बहुत-कुछ सीखा भी। वह अपना एक भी क्षण व्यर्थ न जाने देते थे। मैंने देखा कि उनके तमाम संबंध देश-कार्य के लिए होते थे। बातें भी तमाम देश-कार्य के ही निमित्त होती थीं। बातों में कहीं भी मलिनता, दंभ या असत्य न दिखाई दिया। हिंदुस्तान की गरीबी और पराधीनता उन्हें प्रतिक्षण चुभती थी। अनेक लोग उन्हें अनेक बातों में दिलचस्पी कराने आते। वह उन्हें एक ही उत्तर देते, "आप इस काम को कीजिये, मुझे अपना काम करने दीजिये। मुझे देश की स्वाधीनता प्राप्त करनी है। उसके बाद मुझे दूसरी बातें सूझेंगी। अभी तो इस काम से मुझे एक क्षण की भी फुरसत नहीं रहती!"

रानडे के प्रति उनका पूज्य भाव बात-बात में टपका पड़ता था। 'रानडे ऐसा कहते थे'—यह तो उनकी बातचीत का मानो 'सूत-उवाच' ही था। मेरे वहां रहते हुए रानडे की जयंती (या पुण्यतिथि, अब ठीक याद नहीं है) पड़ती थी। ऐसा जान पड़ा, मानों गोखले सर्वदा उसको मनाते हों। उस समय मेरे अलावा उनके मित्र प्रोफेसर काथवटे तथा दूसरे एक सज्जन थे। उन्हें उन्होंने जयन्ती मनाने के लिए निमन्त्रित किया और उस अवसर पर उन्होंने हमें रानडे के कितने ही संस्मरण कह-सुनाये। रानडे, तैलंग और मांडलिक की तुलना की। ऐसा याद पड़ता है कि तैलंग की भाषा की स्तुति की थी। मांडलिक की सुधारक के रूप में प्रशंसा की थी। अपने मवक्किलों की वह कितनी चिंता रखते थे, इसका एक उदाहरण दिया। एक बार गाड़ी चूक गई तो मांडलिक स्पेशल ट्रेन करके गये। यह घटना कह सुनाई। रानडे की सर्वाङ्गीण शक्ति का वर्णन करके बताया कि वह तत्का-लीन अग्रणियों में सर्वोपरि थे। रानडे अकेले न्यायमूर्ति न थे। वह इतिहास-कार थे, अर्थ-शास्त्री थे। सरकारी जज होते हुए भी कांग्रेस में प्रेक्षक के रूप में निर्भय होकर आते। फिर उनकी समझदारी पर लोगों का इतना विश्वास था कि सब उनके निर्णयों को मानते थे। इन बातों का वर्णन करते हुए गोखले के हर्ष का ठिकाना न रहता था।

गोखले घोड़ा-गाड़ी रखे हुए थे। मैंने उनसे इसकी शिकायत की। मैं उनकी कठिनाइयों को न समझ सका था। "क्या आप सब जगह ट्राम में नहीं जा सकते? क्या इससे नेताओं की प्रतिष्ठा कम हो जायगी?"

कुछ दुःखित होकर उत्तर दिया, "क्या तुम भी मुझे नहीं पहचान सके? बड़ी धारा-सभा से जो कुछ मुझे मिलता है उसे मैं अपने कामों में नहीं लेता। तुम्हारी ट्राम के सफर पर मुझे ईर्ष्या होती है। पर मैं ऐसा नहीं कर सकता। जब तुमको मेरे जितने लोग पहचानने लग जायंगे तब तुम्हें भी ट्राम में बैठना असंभव नहीं तो मुश्किल हो जायगा। नेता लोग जो कुछ करते हैं, केवल आमोद-प्रमोद के ही लिए करते हैं, यह मानने का कोई कारण नहीं। तुम्हारी सादगी मुझे पसंद है। मैं भरसक सादगी से रहता हूं; पर यह बात निश्चित समझना कि कुछ खर्च तो मुझ-जैसों के लिए अनिवार्य हो जाता है।"

इस तरह मेरी एक शिकायत तो ठीक तरह से रद हो गई; पर मुझे एक दूसरी शिकायत भी थी और उसका वह संतोषजनक उत्तर न दे सके।

"पर आप घूमने भी तो पूरे नहीं जाते। ऐसी हालत में आप बीमार क्यों न रहें? क्या देश-कार्य से व्यायाम के लिए फुरसत नहीं मिल सकती?" मैंने कहा।

"मुझे तुम कब फुरसत में देखते हो कि जिस समय मैं घूमने जाता?" उत्तर मिला।

गोखले के प्रति मेरे मन में इतना आदर-भाव था कि मैं उनकी बातों का जवाब न देता था। इस उत्तर से मुझे संतोष न हुआ, पर मैं चुप रहा। मैं मानता था और अब भी मानता हूं जिस तरह हम भोजन पाने के लिए समय निकालते हैं उसी तरह व्यायाम के लिए भी निकालना चाहिए। मेरी यह नम्र सम्मति है कि उससे देश-सेवा कम नहीं, अधिक होती है।

(आ०, १९२७)

... ...

ब्रह्मदेश से लौटकर मैंने गोखले से बिदा मांगी। उनका वियोग मेरे लिए दुःसह था; परन्तु मेरा बंगाल का, अथवा सच पूछिये तो यहां कलकत्ता का, काम समाप्त हो गया था।

मेरा विचार था कि काम में लगने से पहले मैं थोड़ा-बहुत सफर तीसरे दर्जे में करूं, जिससे तीसरे दर्जे के मुसाफिरों की हालत मैं जान लूं और दुःखों को समझ लूं। गोखले के सामने मैंने अपना यह विचार रखा। पहले तो उन्होंने इसे हँसी में टाल दिया, पर जब मैंने यह बताया कि इसमें मैंने क्या-क्या बातें सोच रखी हैं तब उन्होंने खुशी से मेरी योजना को स्वीकार किया। सबसे पहले मैंने काशी जाकर विदुषी ऐनी बेसेंट के दर्शन करना तै किया। वह उस समय बीमार थीं।

तीसरे दर्जे की यात्रा के लिए मुझे नया साज-सामान जुटाना था। पीतल का एक डिब्बा गोखले ने खुद ही दिया और उसमें मेरे लिए मगद के लड्डू और पूरी रखवा दीं। बारह आने का एक केनवास का बैग खरीदा। छाया (पोरबंदर के नजदीक के एक गांव) के ऊन का एक लंबा कोट बन-

वाया था। बैग में यह कोट, तौलिया, कुरते और धोती रखे। ओढ़ने के लिए एक कंबल साथ लिया। इसके अलावा एक लोटा भी साथ रखा। इतना सामान लेकर मैं रवाना हुआ।

गोखले और डा० राय मुझे स्टेशन पहुंचाने आये। मैंने दोनों से अनुरोध किया था कि वह न आवें; पर उन्होंने एक न सुनी। "तुम यदि पहले दर्जे में सफर करते तो मैं नहीं आता, पर अब तो जरूर चलूंगा।" गोखले बोले।

प्लेटफार्म पर जाते हुए गोखले को तो किसीने न रोका। उन्होंने सिर पर अपनी रेशमी पगड़ी बांध रखी थी और धोती तथा कोट पहने हुए थे। डा० राय बंगाली लिबास में थे। इसलिए टिकट बाबू ने अंदर आते हुए पहले तो रोका, पर गोखले ने कहा—"मेरे मित्र हैं।" तब डा० राय भी अन्दर आ सके। इस तरह दोनों ने मुझे विदा दी। (आ०, १९२७)

... ...

विलायत में मुझे पसली के वरम की शिकायत हो गई थी। इस बीमारी के वक्त गोखले विलायत में आ पहुंचे थे। उनके पास मैं व कैलनबेक हमेशा जाया करते। उनसे अधिकांश में युद्ध की ही बातें हुआ करतीं। जर्मनी का भूगोल कैलनबेक की जबान पर था, यूरोप की यात्रा भी उन्होंने बहुत की थी। इसलिए वह नक्शा फैलाकर गोखले को लड़ाई की छावनियां दिखाते।

जब मैं बीमार हुआ था तब मेरी बीमारी भी हमारी चर्चा का एक विषय हो गई थी। मेरे भोजन के प्रयोग तो उस समय भी चल ही रहे थे। उस समय मैं मूंगफली, कच्चे और पक्के केले, नीबू, जैतून का तेल, टमाटर, अंगूर इत्यादि चीजें खाता था। दूध, अनाज, दाल, वगैरह चीजें बिलकुल न लेता था। मेरी देखभाल जीवराज मेहता करते थे। उन्होंने मुझे दूध और अनाज लेने पर बड़ा जोर दिया। इसकी शिकायत ठेठ गोखले तक पहुंची। फलाहार-सम्बन्धी मेरी दलीलों के वह बहुत कायल न थे। तन्दुरुस्ती की हिफाजत के लिए डाक्टर जो-जो बतावे वह लेना चाहिए, यही उनका मत था।

गोखले के आग्रह को न मानना मेरे लिए बहुत कठिन बात थी। जब उन्होंने बहुत ही जोर दिया तब मैंने उनसे २४ घंटे तक विचार करने

की इजाजत मांगी। कैलनबेक और मैं घर आये। रास्ते में मैंने उनके साथ चर्चा की कि इस समय मेरा क्या धर्म है। मेरे प्रयोग में वह मेरे साथ थे। उन्हें यह प्रयोग पसंद भी था। परन्तु उनका रुख इस बात की तरफ था कि यदि स्वास्थ्य के लिए मैं इस प्रयोग को छोड़ दूं तो ठीक होगा। इसलिए अब अपनी अन्तरात्मा की आवाज का फसला लेना ही बाकी रह गया था।

सारी रात मैं विचार में डूबा रहा। अब यदि मैं अपना सारा प्रयोग छोड़ दूं तो मेरे विचार और मन्तव्य धूल में मिल जाते थे। फिर उन विचारों में मुझे कहीं भी भूल न मालूम होती थी। इसलिए प्रश्न यह था कि किस अंश तक गोखले के प्रेम के अधीन होना मेरा धर्म है, अथवा शरीर-रक्षा के लिए ऐसे प्रयोग किस तरह छोड़ देने चाहिए। अंत को मैंने यह निश्चय किया कि धार्मिक दृष्टि से प्रयोग का जितना अंश आवश्यक है उतना रखा जाय और शेष बातों में डाक्टरों की आज्ञा का पालन किया जाय। मेरे दूध त्यागने में धर्म-भावना की प्रधानता थी। कलकत्ता में गाय-भैंस का दूध जिन घातक विधियों द्वारा निकाला जाता है, उसका दृश्य मेरी आंखों के सामने था। फिर यह विचार भी मेरे सामने था कि मांस की तरह पशु का दूध भी मनुष्य की खुराक नहीं हो सकता। इसलिए दूध-त्याग का दृढ़ निश्चय करके मैं सुबह उठा। इस निश्चय से मेरा दिल बहुत हलका हो गया था, किन्तु फिर भी गोखले का भय तो था ही; किन्तु साथ ही मुझे यह विश्वास था कि वह मेरे निश्चय को उलटने का उद्योग न करेंगे।

शाम को 'नेशनल लिबरल क्लब' में हम उनसे मिलने गये। उन्होंने तुरन्त पूछा, 'क्यों डाक्टर की सलाह के अनुसार चलने का निश्चय किया है न ?"

मैंने धीरे-से जवाब दिया, "और सब बात मान लूंगा, परन्तु आप एक बात पर जोर न दीजियेगा। दूध और दूध की बनी चीजें और मांस, इतनी चीजें मैं न लूंगा, और इनके न लेने से यदि मौत भी आती हो तो मैं समझता हूं उसका स्वागत कर लेना मेरा धर्म है।"

"आपने यह अन्तिम निर्णय कर लिया है ?" गोखले ने पूछा।

"मैं समझता हूं कि इसके सिवा मैं आपको दूसरा उत्तर नहीं दे सकता। मैं जानता हूं कि इससे आपको दुःख होगा; परन्तु मुझे क्षमा कीजियेगा।"

मैंने जवाब दिया।

गोखले ने कुछ दुःख से, परन्तु बड़े ही प्रेम से कहा, "आपका यह निश्चय मुझे पसन्द नहीं। मुझे इसमें धर्म की कोई बात नहीं दिखाई देती। पर अब मैं इस बात पर जोर न दूंगा।" यह कहते हुए जीवराज मेहता की ओर मुखातिब होकर उन्होंने कहा—"अब गांधीजी को ज्यादा दिक न करो। उन्होंने जो मर्यादा बांध ली है उसके अन्दर उन्हें जो-जो चीजें दी जा सकती हैं, वही देनी चाहिए।"

डाक्टर ने अपनी अप्रसन्नता प्रकट की; पर वह लाचार थे। मुझे मूंग का पानी लेने की सलाह दी। कहा, "उसमें हींग का बघार दे लेना। मैंने इसे मंजूर कर लिया। एक-दो दिन मैंने वह पानी लिया भी; परन्तु इससे उल्टे मेरा दर्द बढ़ गया। मुझे वह मुआफिक नहीं हुआ। इससे मैं फिर फलाहार पर आगया। ऊपर के इलाज तो डाक्टर ने जो मुनासिब समझे किये ही। उससे अलबत्ता कुछ आराम था। परन्तु मेरी इन मर्यादाओं पर वह बहुत बिगड़ते। इसी बीच गोखले भारत को रवाना हुए, क्योंकि वह लन्दन का अक्तूबर-नवम्बर का कोहरा सहन नहीं कर सके।

(अ० १९२७)

... ...

मेरे बम्बई पहुंचते ही गोखले ने मुझे तुरन्त खबर दी कि बम्बई के गवर्नर आपसे मिलना चाहते हैं और पूना आने के पहले आप उनसे मिल आयें तो अच्छा होगा। इसलिए मैं उनसे मिलने गया।

... ...

अब मैं पूना पहुंचा। वहां के तमाम संस्मरण लिखना मेरे सामर्थ्य के बाहर है। गोखले ने और भारत-सेवक-समिति के सदस्यों ने मुझे प्रेम से पाग दिया। जहांतक मुझे याद है, उन्होंने तमाम सदस्यों को पूना बुलाया था। सबके साथ दिल खोलकर मेरी बातें हुईं। गोखले की तीव्र इच्छा थी कि मैं भी समिति में आजाऊं। इधर मेरी तो इच्छा थी ही; परन्तु उसके सदस्यों की यह धारणा हुई कि समिति के आदर्श और उसकी कार्यप्रणाली मुझसे भिन्न थी। इसलिए वह दुविधा में थे कि मुझे सदस्य होना चाहिए या नहीं। गोखले की यह मान्यता थी कि अपने आदर्श पर दृढ़ रहने की

जितनी प्रवृत्ति मेरी थी उतनी ही दूसरों के आदर्श की रक्षा करने और उनके साथ मिल जाने का स्वभाव भी था। उन्होंने कहा, "परन्तु हमारे साथी आपके दूसरों को निभा लेने के इस गुण को नहीं पहचान पाये हैं। वह अपने आदर्श पर दृढ़ रहनेवाले स्वतन्त्र और निश्चित विचार के लोग हैं। मैं आशा तो यही रखता हूं कि वह आपको सदस्य बनाना मंजूर कर लेंगे; परन्तु यदि न भी करें तो आप इससे यह तो हरगिज न समझेंगे कि आपके प्रति उनका प्रेम या आदर कम है। अपने इस प्रेम को अखण्डित रहने देने के लिए ही वह किसी तरह की जोखिम उठाने से डरते हैं; परंतु आप समिति के बाकायदा सदस्य हों, या न हों, मैं तो आपको सदस्य मानकर ही चलूंगा।"

मैंने अपना संकल्प उनपर प्रकट कर दिया था। समिति का सदस्य बनूं या न बनूं, एक आश्रम की स्थापना करके फिनिक्स के साथियों को उसमें रखकर मैं बैठ जाना चाहता था। गुजराती होने के कारण गुजरात के द्वारा सेवा की पूंजी मेरे पास अधिक होनी चाहिए, इस विचार से गुजरात में ही कहीं स्थिर होने की इच्छा थी। गोखले को यह विचार पसन्द आया और उन्होंने कहा—"जरूर आश्रम स्थापित करो। सदस्यों के साथ जो बातचीत हुई है उसका फल कुछ भी निकलता रहे, परन्तु आपको आश्रम के लिए धन तो मुझ ही से लेना है। उसे मैं अपना ही आश्रम समझूंगा।"

यह सुनकर मेरा हृदय फूल उठा। चन्दा मांगने की झंझट से बचा, यह समझकर बड़ी खुशी हुई और इस विचार से कि अब मुझे अकेले अपनी जिम्मेदारी पर कुछ न करना पड़ेगा, बल्कि हरेक उलझन के समय मेरे लिए एक पथ-प्रदर्शक यहां है। ऐसा मालूम हुआ मानों मेरे सिर का बोझ उतर गया।

गोखले ने स्वर्गीय डाक्टर देव को बुलाकर कह दिया, "गांधी का खाता अपनी समिति में डाल लो और उनको अपने आश्रम के लिए तथा सार्वजनिक कामों के लिए जो कुछ रुपया चाहिए, वह देते जाना।"

अब मैं पूना छोड़कर शांतिनिकेतन जाने की तैयारी कर रहा थ अन्तिम रात को गोखले ने खास मित्रों की एक पार्टी इस विधि से की, जो

मुझे रुचिकर होती। उसमें वही चीजें अर्थात् फल और मेवे मंगाये थे, जो मैं खाया करता था। पार्टी उनके कमरे से कुछ ही दूर पर थी। उनकी हालत ऐसी न थी कि वह वहांतक भी आ सकते; परन्तु उनका प्रेम उन्हें कैसे रुकने देता! वह जिद करके आये थे; परन्तु उनको गश आ गया और वापस लौट जाना पड़ा। ऐसा गश उन्हें बार-बार आ जाया करता था, इसलिए उन्होंने कहलाया कि पार्टी में किसी प्रकार की गड़बड़ न होनी चाहिए। पार्टी क्या थी, समिति के आश्रम में अतिथि-घर के पास के मैदान में जाजम बिछाकर हम लोग बैठ गये थे और मूंगफली, खजूर वगैरह खाते हुए प्रेम-वार्ता करते थे एवं एक दूसरे के हृदय को अधिक जानने का उद्योग करते थे।

किन्तु उनकी यह मूर्छा मेरे जीवन के लिए कोई मामूली अनुभव नहीं था। (आ० १९२७)

... ...

राजनैतिक क्षेत्र में मैंने अपने-आपको उस महात्मा का शिष्य कहा है और मैं उसे राजनैतिक बातों में अपना गुरु मानता हूं और यह बात मैं भारतवासियों की ओर से कहता हूं। सन् १८९६ में मैंने अपने शिष्य होने की बात कही थी और मुझे अपनी इस पसन्द के लिए कभी दुःख नहीं हुआ।

मि० गोखले ने मुझे इस बात की शिक्षा दी थी कि प्रत्येक भारतवासी को, जो अपने देश के प्रेम का दम भरता हो, सदा राजनैतिक क्षेत्र में कार्य करने का ध्यान रखना चाहिए। उसे केवल जबानी जमा-खर्च ही नहीं करना चाहिए, बल्कि उसे देश के राजनैतिक जीवन तथा राजनैतिक संस्थाओं को आध्यात्मिक बनाना चाहिए। उन्होंने मेरे जीवन में उत्तेजना उत्पन्न की तथा वह अब भी उत्तेजना उत्पन्न कर रहे हैं। उस उत्तेजना से मैं अपने-आपको पवित्र करना चाहता हूं तथा अपने-आपको आध्यात्मिक बनाना चाहता हूं। मैंने उस आदर्श के लिए अपने-आपको समर्पित कर दिया है। मुझे इसमें विफलता हो सकती है और जिस सीमा तक मुझे उसमें विफलता होगी उस सीमा तक मैं अपने-आपको अपने गुरु का अयोग्य शिष्य समझूंगा।...

मैं उन महात्मा राजनीतिज्ञ के समीप उनके जीवन के अन्त समय तक

रहा और मैंने उनमें कभी अहंभाव नहीं पाया। जातीय सेवा-सभा के आप सभासदों से मैं प्रश्न करता हूं कि आप लोगों में किसी प्रकार का अहंभाव तो नहीं है? यदि महात्मा गोखले ने कीर्तिशाली होना चाहा तो केवल देश के राजनैतिक क्षेत्र में कीर्तिशाली होना चाहा। उनकी यह इच्छा इसलिए नहीं थी कि सर्वसाधारण मेरी प्रशंसा करें, बल्कि यह इच्छा इसलिए थी कि मेरे देश का लाभ—मेरे देश का कल्याण—हो। उन्होंने सर्वसाधारण की प्रशंसा की कभी कामना नहीं की थी, पर स्वयं सर्वसाधारण ही उनपर प्रशंसा की वर्षा करते थे, वह जबरदस्ती उनकी तारीफें करते थे। वह चाहते थे कि मेरे देश का लाभ हो और यही उनका बहुत बड़ा दैवी बल था।...

आज आप लोग मुझसे इस चित्र को उद्घाटित करने के लिए कहते हैं। मैं यह काम पूरी ईमानदारी, हृदय की पूरी सत्यता और शुद्धता के साथ करूंगा और यही ईमानदारी या हृदय की शुद्धता जीवन का अन्तिम उद्देश्य होना चाहिए।[1] ('महात्मा गांधी'—रामचन्द्र वर्मा, पृष्ठ ४१)

... ...

गोखले की पुण्य-तिथि के अवसर पर उस स्वर्गस्थ महात्मा के भाषणों तथा लेखकों का गुजराती अनुवाद प्रकाशित करने का विचार पहले-पहल मेरे ही मन में उत्पन्न हुआ था। इसलिए उसके पहले भाग की प्रस्तावना अधिकांश में मुझको ही लिखना उचित था। हम लोगों ने नियम किया है कि हर साल गोखले की पुण्य-तिथि मनायेंगे। भजन, कीर्तन, व्याख्यान और तदनन्तर सभा का विसर्जन—यह हर साल ही होता है। इससे कालक्षेप तो बहुत होता है, पर उससे कोई वास्तविक लाभ नहीं होता। अतः भाषणों की अपेक्षा कार्य को अधिक महत्व देने तथा ऐसे उत्सवों को सर्वसाधारण के लिए सचमुच लाभदायक बनाने के लिए गत वर्ष पुण्य-तिथि के प्रबन्ध-कर्ताओं ने इस अवसर पर मातृभाषा में कोई उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करना निश्चित किया था। पुस्तक चुनने में भी देर नहीं लगी। स्वभावतः ही पहली पुस्तक स्वर्गीय गोखले के भाषणों का संग्रह पसन्द की गई।...

स्व० गोखले के विषय में दो-चार शब्द लिखना ही सच्ची प्रस्तावना

[1] बंगलौर में गोखले की मूर्ति-अनावरण के समय प्रकट किये गए उद्गार

हो सकती है; परन्तु गुरु के विषय में शिष्य क्या लिखे और कैसे लिखे ? उसका लिखना एक प्रकार की धृष्टतामात्र है। सच्चा शिष्य वही है जो गुरु में अपनेको लीन कर दे, अर्थात् वह टीकाकार हो ही नहीं सकता। जो भक्ति दोष देखती हो वह सच्ची भक्ति नहीं और दोष-गुण के पृथक्करण में असमर्थ लेखक द्वारा की हुई गुरु-स्तुति को यदि सर्वसाधारण अंगीकार न करें तो इसपर उसे नाराज होने का अधिकार नहीं हो सकता। शिष्य के आचरणों ही से गुरु की टीका होती है। गोखले राजनैतिक विषयों में मेरे गुरु थे, इस बात को मैं अनेक बार कह चुका हूं। इस कारण उनके विषय में कुछ लिखने में मैं अपनेको असमर्थ समझता हूं। मैं चाहे जितना लिख जाऊं, मुझे थोड़ा ही मालूम होगा। मेरे विचार से गुरु-शिष्य का सम्बन्ध शुद्ध आध्यात्मिक सम्बन्ध है। वह अंकशास्त्र के नियमानुसार नहीं होता। कभी-कभी वह हमारे बिना जाने भी हो जाता है। उसके होने में एक क्षण से अधिक नहीं लगता, पर एक बार होकर वह फिर टूटना जानता ही नहीं।

१८९६ ई० में पहले-पहल हम दोनों व्यक्तियों में यह सम्बन्ध हुआ। उस समय न मुझे उनका ख्याल था और न उन्हें मेरा। उसी समय मुझे गुरुजी के भी गुरु लोकमान्य तिलक, सर फिरोजशाह मेहता, जस्टिस बदरुद्दीन तैयबजी, डा० भाण्डारकर तथा बंगाल और मद्रास प्रान्त के और भी अनेक नेताओं के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैं उस समय बिल्कुल नवयुवक था, मुझपर सबने प्रेम-वृष्टि की। सबके एकत्र दर्शन का वह प्रसंग मुझे कभी न भूलेगा; परन्तु गोखले से मिलकर मेरा हृदय जितना शीतल हुआ उतना औरों से मिलने से नहीं हुआ। मुझे याद नहीं आता कि गोखले ने मुझपर औरों की अपेक्षा अधिक प्रेम-वृष्टि की थी। तुलना करने से मैं कह सकता हूं कि डा० भाण्डारकर ने मुझपर जितना अनुराग प्रकट किया उतना और किसीने नहीं किया। उन्होंने कहा—यद्यपि मैं आजकल सार्वजनिक कार्यों से अलग रहता हूं, पर फिर भी तुम्हारी खातिर मैं उस सभा का अध्यक्ष बनना स्वीकार करता हूं, जो तुम्हारे प्रश्न पर विचार करने के लिए होनेवाली है। यह सब होते हुए भी केवल गोखले ही ने मुझे अपने प्रेम-पाश में आबद्ध किया। *उस समय मुझे इस बात का बिलकुल ज्ञान नहीं* हुआ। पर सन् १९०२ वाली कलकत्ता की कांग्रेस में मुझे अपने शिष्य-भाव

का पूरा-पूरा अनुभव हुआ। उपर्युक्त नेताओं में से अनेक के दर्शनों का उस समय मुझे फिर सौभाग्य प्राप्त हुआ। किन्तु मैंने देखा कि गोखले को मेरी याद बनी हुई थी। देखते ही उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया। वह मुझे अपने घर खींच ले गये। मुझे भय था कि विषय-निर्वाचिनी-समिति में मेरी बात न सुनी जायगी। प्रस्तावों की चर्चा शुरू हुई और खतम भी हो गई, पर मुझे अन्त तक यह कहने का साहस न हुआ कि मेरे मन में भी दक्षिण अफ्रीका-सम्बन्धी एक प्रश्न है। मेरे लिए रात को कौन बैठा रहता! नेतागण काम को जल्दी निपटाने के लिए आतुर हो गये। उनके उठ जाने के डर से मैं कांपने लगा। मुझे गोखले को याद दिलाने का भी साहस न हुआ। इतने में वह स्वयं ही बोले, "मि० गांधी भी दक्षिण अफ्रीका के हिन्दुस्तानियों की दशा के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव करना चाहते हैं। उसपर अवश्य विचार किया जाय। मेरे आनन्द की सीमा न रही। राष्ट्रसभा के सम्बन्ध में मेरा यह पहला ही अनुभव था। इसलिए उसमें स्वीकृत होनेवाले प्रस्तावों का मैं बड़ा महत्त्व समझता था। इसके बाद भी उनके दर्शन के कितने ही अवसर उपस्थित हुए और वह सभी पवित्र हैं। पर इस समय जिस बात को मैं उनका महामन्त्र मानता हूं, उसका उल्लेख कर, इस प्रस्तावना को पूर्ण करना उत्तम होगा।

इस कठिन कलिकाल में किसी विरले ही मनुष्य में शुद्ध धर्म-भाव देख पड़ता है। ऋषि, मुनि, साधु आदि नाम धारणकर भटकते फिरनेवालों को इस भाव की प्राप्ति शायद ही कभी होती है। आजकल उनका धर्म-रक्षक-पद से च्युत हो जाना सभी लोग देख रहे हैं। यदि एक ही सुन्दर वाक्य में धर्म की पूरी व्याख्या कही है तो वह भक्त-शिरोमणि गुजराती कवि नरसिंह मेहता के इस वाक्य में है :

"ज्यां लगी आतमा तत्व चीन्यो नहीं, त्यां लगी साधना सर्व जूठी।"

अर्थात्—जबतक आत्मतत्व की पहचान न हो तबतक सभी साधनाएं निरर्थक हैं। यह वचन उसके अनुभव-सागर के मंथन से निकला हुआ रत्न है। इससे ज्ञात होता है कि महातपस्वी तथा योगी जनों में भी (सच्चा) धर्मभाव होना अनिवार्य नहीं है। गोखले को आत्मतत्व का उत्तम ज्ञान था, इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं। यद्यपि वह सदा ही धार्मिक आडंबर

से दूर रहे, फिर भी उनका सम्पूर्ण जीवन धर्ममय था। भिन्न-भिन्न युगों में मोक्ष-मार्ग पर लगानेवाली प्रवृत्तियां देखी गई हैं। जब-जब धर्म-बन्धन ढीला पड़ता है तब-तब कोई एक विशेष प्रवृत्ति धर्म-जागृति में विशेष उपयोगी होती है। यह विशेष प्रवृत्ति उस समय की परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। आजकल हम अपनेको राजनैतिक विषयों में अवनत देखते हैं। एकांगी दृष्टि से विचार करने से जान पड़ेगा कि राजनैतिक सुधार से ही अन्य बातों में हम उन्नति कर सकेंगे। यह बात एक प्रकार से सच भी है। राजनैतिक अवस्था के सुधार के बिना उन्नति होना सम्भव नहीं। पर राजनैतिक स्थिति में परिवर्तन होने ही से उन्नति न होगी। परिवर्तन के साधन यदि दूषित तथा घृणित हुए तो उन्नति के बदले और अवनति ही होने की अधिकतर सम्भावना है। जो परिवर्तन शुद्ध और पवित्र साधनों से किया जाता है वही हमें उच्च मार्ग पर ले जा सकता है। सार्वजनिक कामों में पड़ते ही गोखले को इस तत्व का ज्ञान हो गया था और इसको उन्होंने कार्य में भी परिणत किया। यह बात सभी लोग जानते थे कि यह भव्य विचार उन्होंने अपनी भारत-सेवक-समिति तथा सम्पूर्ण जन-समुदाय के सम्मुख रखा कि यदि राजनीति को धार्मिक स्वरूप दिया जायगा तो यही मोक्ष-मार्ग पर ले जानेवाली हो जायगी। उन्होंने साफ कह दिया कि जबतक हमारे राजनैतिक कार्यों को धर्म-भाव की सहायता न मिलेगी तबतक वह सूखे, रसहीन, ही बने रहेंगे। उनकी मृत्यु पर 'टाइम्स ऑव इण्डिया' में जो लेख प्रकाशित हुआ था उसके लेखक ने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया था और राजनैतिक संन्यासी उत्पन्न करने के उनके प्रयत्न की सफलता पर अविश्वास प्रकट करते हुए, उनकी यादगार 'भारत-सेवक-समिति' का ध्यान इसकी ओर आकर्षिक किया था। वर्तमान काल में राजनैतिक संन्यासी ही संन्यासाश्रम की गौरववृद्धि कर सकते हैं। अन्य गेरुवा वस्त्रधारी संन्यासी उसकी अपकीर्त्ति के ही कारण हैं। शुद्ध धर्म-मार्ग में चलनेवाले किसी भारतवासी का राजनैतिक कामों से परे रहना कठिन है। उसी बात को मैं दूसरी तरह अंगीकार किये बिना रह ही नहीं सकता। और आजकल की राज्य-व्यवस्था के जाल में हम इस तरह फंस गये हैं कि राजनीति से अलग रहते हुए लोक-सेवा करना सर्वथा असम्भव ही है। पूर्व समय

जो किसान इस बात को जाने बिना भी कि जिस देश में हम बसते हैं उसका अधिकारी कौन है, अपनी जीवन-यात्रा भलीभांति निर्वाह कर लेता था, वह आज ऐसा नहीं कर सकता। ऐसी दशा में उसका धर्माचरण राजनैतिक परिस्थिति के अनुसार ही होना चाहिए। यदि हमारे साधु, ऋषि, मुनि, मौलवी और पादरी इस उच्च तत्व को स्वीकार कर लें तो जहां देखिये वहीं भारत-सेवक-समितियां ही दिखाई देने लगें और भारत में धर्मभाव इतना व्यापक हो जाय कि जो राजनैतिक चर्चा आज लोगों को अरुचिकर होती है वही उन्हें पवित्र और प्रिय मालूम होने लगे, फिर पहले ही की तरह भारतवासी धार्मिक साम्राज्य का उपभोग करने लगें। भारत का बन्धन एक क्षण में दूर हो जाय और वह स्थिति प्रत्यक्ष आंखों के सामने आ जाय, जिसका दर्शन एक प्राचीन कवि ने अपनी अमरवाणी में इस प्रकार किया है—फौलाद से तलवार बनाने का नहीं बल्कि (हल की) फाल बनाने का काम लिया जायगा और सिंह और बकरे साथ-साथ विचरण करेंगे। ऐसी स्थिति उत्पन्न करनेवाली प्रवृत्ति ही गुरुवर गोखले का जीवन-मन्त्र थी। यही उनका सन्देश है और मुझे विश्वास है कि शुद्ध और सरल मन से विचार करने पर उनके भाषणों के प्रत्येक शब्द में यह मन्त्र लक्षित होगा।[1]

... ...

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥"

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया था, वही उपदेश भारत-माता ने महात्मा गोखले को दिया था और उनके आचरणों से सूचित होता है कि उन्होंने उसका पालन भी किया है। यह सर्वमान्य बात है कि उन्होंने जो-जो किया, जिस-जिसका उपभोग किया, जो स्वार्थ त्याग किया, जिस तप का आचरण किया, वह सभी कुछ उन्होंने भारत-माता के चरणों में अर्पण कर दिया।

केवल देश ही के लिए जन्म लेनेवाले इस महात्मा का अपने देश-बंधुओं के प्रति क्या सन्देश है? 'भारत-सेवक-समिति' के जो सेवक महात्मा गोखले

---

[1] स्वर्गीय गोखले की गत पुण्य-तिथि के उपलक्ष में उनके भाषणों तथा लेखों के गुजराती संग्रह की भूमिका।

के अन्तिम समय में उनके पास उपस्थित थे, उन्हें उन्होंने निम्नलिखित वाक्य कहे थे :

"(तुम लोग) मेरा जीवन-चरित लिखने न बैठना, मेरी मूर्त्ति बनवाने में भी अपना समय मत लगाना। तुम लोग भारत के सच्चे सेवक होगे तो अपने सिद्धान्त के अनुसार आचरण करने अर्थात् भारत की ही सेवा करने में अपनी आयु व्यतीत करोगे।"

सेवा के सम्बन्ध में उनके आंतरिक विचार हमें मालूम हैं। राष्ट्रीय सभा का कार्य-संचालन, भाषण तथा लेख द्वारा जनता को देश की सच्ची स्थिति का ज्ञान कराना, प्रत्येक भारतवासी को साक्षर बनाने का प्रयत्न कराना, ये सब काम सेवा ही हैं। पर किस उद्देश्य और किस प्रणाली से यह सेवा की जाय? इस प्रश्न का वह जो उत्तर देते वह उनके इस वाक्य से प्रकट होता है। अपनी संस्था ('भारत-सेवक-समिति') की नियमावली बनाते हुए उन्होंने लिखा है: "सेवकों का कर्त्तव्य भारत के राजनैतिक जीवन को धार्मिक बनाना है।" इसी एक वाक्य में सब-कुछ भरा हुआ है। उनका जीवन धार्मिक था। मेरा विवेक इस बात का साक्षी है कि उन्होंने जो-जो काम किये, सब धर्म-भाव ही की प्रेरणा से किये। बीस साल पहले उनका कोई-कोई उद्‍गार या कथन नास्तिकों का-सा होता था। एक बार उन्होंने कहा था—"क्या ही अच्छा होता यदि मुझमें भी वही श्रद्धा होती, जो रानडे में थी।" पर उस समय भी उनके कार्यों के मूल में उनकी धर्म-बुद्धि अवश्य रहती थी। जिस पुरुष का आचरण साधुओं के सदृश्य है, जिसकी वृत्ति निर्मल है, जो सत्य की मूर्त्ति है, जो नम्र है, जिसने सर्वथा अहंकार का परित्याग कर दिया है, वह निस्सन्देह धर्मात्मा है। गोखले इसी कोटि के महात्मा थे। यह बात मैं उनके लगभग बीस वर्षों की संगति के अनुभव से कह सकता हूं।

१८९६ में मैंने नेटाल की शर्तबन्दी की मजदूरी पर भारत में वाद-विवाद आरंभ किया। उस समय कलकत्ता, बम्बई, पूना, मद्रास आदि स्थानों के नेताओं से मेरा पहले-पहल सम्बन्ध हुआ। उस समय सब लोग जानते थे कि महात्मा गोखले रानडे के शिष्य हैं। फर्ग्यूसन कालेज को वह अपना जीवन भी अर्पण कर चुके थे, और मैं उस समय एक निरा अनुभव-हीन

युवक था। मैं पहले-पहल पूना में उनसे मिला। इस पहली ही भेंट में हम लोगों में जितना घनिष्ठ संबंध हो गया उतना और किसी नेता से नहीं हुआ। महात्मा गोखले के विषय में जो बातें मैंने सुनी थीं वह सब प्रत्यक्ष देखने में आईं। उनकी वह प्रेम-युक्त और हास्यमय मूर्ति मुझे कभी न भूलेगी। मुझे उस समय मालूम हुआ कि मानो वह साक्षात् धर्म की ही मूर्ति हैं। उस समय मुझे रानडे के भी दर्शन हुए थे। पर उनके हृदय में मैं स्थान न पा सका। मैं उनके विषय में केवल इतना ही जान सका कि वह गोखले के गुरु हैं। अवस्था और अनुभव में वह मुझसे बहुत अधिक बड़े थे। इस कारण अथवा और किसी कारण से मैं रानडे को उतना न जान सका, जितना कि गोखल को मैंने जाना।

१८९६ ई० के अवसर से ही गोखले का राजनैतिक जीवन मेरे लिए आदर्श-स्वरूप हुआ। उसी समय से उन्होंने रानैतिक गुरु के नाते मेरे हृदय में निवास किया। उन्होंने सार्वजनिक सभा (पूना) की त्रैमासिक पुस्तक का संपादन किया। उन्होंने फर्ग्यूसन-कालेज में अध्यापन-कार्य करके उसे उन्नत दशा को पहुंचाया। उन्होंने ब्रेल्वी-कमीशन के सामने गवाही देकर अपनी वास्तविक योग्यता का प्रमाण दिया, उनकी बुद्धिमत्ता की छाप लार्ड कर्जन पर—उन लार्ड कर्जन पर जो अपने सामने किसीको कुछ न गिनते थे—बैठी और वह उनसे शंकित रहने लगे।

उन्होंने बड़े-बड़े काम करके मातृभूमि की कीर्ति को उज्ज्वल किया। पब्लिक सर्विस कमीशन का काम करते समय उन्होंने अपने जीने-मरने तक की परवा न की। उनके इन तथा अन्य कार्यों का दूसरे व्यक्तियों ने उत्तम रीति से वर्णन किया है।

... ...

जनरल बोथा तथा स्मट्स से जब उन्होंने दक्षिण अफ्रीका की राजधानी प्रिटोरिया में मुलाकात की थी उस समय इस मुलाकात के लिए तैयार होने में उन्होंने जितना परिश्रम किया था वह मुझे इस जन्म में नहीं भूल सकता। मुलाकात के पहले दिन उन्होंने मेरी और मि० कैलनबेक की परीक्षा ली। वह स्वयं रात के तीन ही बजे जाग पड़े और हम लोगों को भी उन्होंने जगाया। उन्हें जो पुस्तकें दी गई थीं उनको उन्होंने अच्छी तरह पढ़ लिया

था। अब हम लोगों से जिरह करके वह इस बात का निश्चय करना चाहते थे कि उनकी तैयारी पूरी हुई या अभी उसमें कसर है। मैंने उनसे विनय-पूर्वक कहा कि इतना परिश्रम अनावश्यक है। हम लोगों को तो कुछ मिले या न मिले, लड़ना ही होगा; पर अपने आराम के लिए मैं आपका बलिदान नहीं करना चाहता। पर जिस पुरुष ने सर्वदा काम में लगे रहने की आदत ही बना रखी थी, वह मेरी बातों पर कब ध्यान देता! उनकी जिरहों का मैं क्या वर्णन करूं। उनकी चिंताशीलता की कितनी प्रशंसा करूं। इतने परिश्रम का एक ही परिणाम होना चाहिए था। मंत्रि-मंडल ने वचन दिया कि आगामी बैठक में सत्याग्रहियों की आकांक्षाओं को स्वीकार करनेवाला कानून पास किया जायगा और मजदूरों को पैंतालीस रुपयों का जो कर देना पड़ता है वह माफ कर दिया जायगा।

पर इस वचन का पालन नहीं किया गया। तो क्या गोखले निश्चेष्ट हो बैठ रहे? एक क्षण के लिए भी नहीं। मेरा विश्वास है कि १९१३ ई० में उक्त वचन को पूरा कराने के लिए उन्होंने जो अविराम श्रम किया, उससे उनके जीवन के दस वर्ष अवश्य छीजे होंगे। उनके डाक्टर की भी यही राय है। उस वर्ष भारत में जागृति उत्पन्न करने और द्रव्य एकत्र करने के लिए उन्होंने जितने कष्ट सहे, उनका अनुमान कठिन है। यह महात्मा गोखले का ही प्रताप था कि दक्षिण अफ्रीका के प्रश्न पर भारतवर्ष हिल उठा। लार्ड हार्डिज ने मद्रास में इतिहास में यादगार होने योग्य जो भाषण दिया वह भी उन्हींका प्रताप था। उनसे घनिष्ठ परिचय रखनेवालों का कहना है कि दक्षिण अफ्रीका के मामले की चिंता ने उन्हें चारपाई पर डाल दिया, फिर भी अंत तक उन्होंने विश्राम करना स्वीकार न किया। दक्षिण अफ्रीका से आधी रात को आनेवाले पत्र-सरीखे लम्बे-चौड़े तारों को उसी क्षण पढ़ना, जवाब तैयार करना, लार्ड हार्डिज के नाम पर तार भेजना, समाचार-पत्रों में प्रकाशित कराये जानेवाले लेख का मसविदा तैयार करना और इन कामों की भीड़ में खाने और सोने तक की याद न रहना, रात-दिन एक कर डालना, ऐसी अनन्य निःस्वार्थ भक्ति वही करेगा जो धर्मात्मा हो।

हिन्दू और मुसलमान के प्रश्न को भी वह धार्मिक दृष्टि से ही देखते थे।

एक बार अपनेको हिंदू कहनेवाला एक साधु उनके पास आया और कहने लगा कि मुसलमान नीच हैं और हिंदू उच्च। महात्मा गोखले को अपने जाल में फंसते न देख उसने उन्हें दोष देते हुए कहा कि तुममें हिंदुत्व का तनिक भी अभिमान नहीं। महात्मा गोखले ने भंवें चढ़ाकर हृदय-भेदी स्वर में उत्तर दिया--"यदि तुम जैसा कहते हो वैसा करने में ही हिन्दुत्व है तो मैं हिंदू नहीं। तुम अपना रास्ता पकड़ो।"

महात्मा गोखले में निर्भयता का गुण बहुत अधिक था। धर्मनिष्ठा में इस गुण का स्थान प्रायः सर्वोच्च है। लेफ्टिनेंट रैंड की हत्या के पश्चात् पूना में हलचल मच गई थी। गोखले उस समय इंग्लैंड में थे। पूनावालों की तरफ से वहां उन्होंने जो व्याख्यान दिये वे सारे जगत में प्रसिद्ध हैं। उनमें वह कुछ ऐसी बातें कह गये थे, जिनका पीछे वह सबूत न दे सकते थे। थोड़े ही दिनों बाद वह भारत लौटे। अपने भाषणों में उन्होंने अंग्रेज सिपाहियों पर जो इलजाम लगाया था उसके लिए उन्होंने माफी मांग ली। इस माफी मांगने के कारण यहां के बहुत-से लोग उनसे नाराज भी हो गये। महात्मा को कितने ही लोगों ने सार्वजनिक कामों से अलग हो जाने की सलाह दी। कितने ही नासमझों ने उनपर भीरुता का आरोप करने में भी आगा-पीछा न किया। इन सबका उन्होंने अत्यन्त गम्भीर और मधुर भाषा में यही उत्तर दिया--"देश-सेवा का कार्य मैंने किसीकी आज्ञा से अंगीकार नहीं किया है और किसीकी आज्ञा से उसे मैं छोड़ भी नहीं सकता। अपना कर्तव्य करते हुए यदि मैं लोकपक्ष के साथ रहने योग्य समझा जाऊं तो अच्छा ही है, पर यदि मेरे भाग्य वैसे न हों तोभी मैं उसे अच्छा ही समझूंगा।" काम करना उन्होंने अपना धर्म माना था। जहांतक मेरा अनुभव है, उन्होंने कभी स्वार्थ-दृष्टि से इस बात का विचार नहीं किया कि मेरे कार्यों का जनता पर क्या प्रभाव पड़ेगा। मेरा विश्वास है कि उनमें वह शक्ति थी, जिससे यदि देश के लिए उन्हें फांसी पर चढ़ना होता तो भी वह अविचलित चित्त से हँसते हुए फांसी पर चढ़ जाते। मैं जानता हूं कि अनेक बार उन्हें जिन अवस्थाओं में रहना पड़ा है उनमें रहने की अपेक्षा फांसी पर चढ़ना कहीं सहज था। ऐसी विकट परिस्थितियों का उन्हें अनेक बार सामना करना पड़ा, पर उन्होंने कभी पांव पीछे न हटाया।

इन सब बातों से तात्पर्य यह निकलता है कि यदि इस महान् देशभक्त के चरित्र का कोई अंश हमारे ग्रहण करने योग्य है तो वह उनका धर्म-भाव ही है। उसीका अनुकरण करना हमें उचित है। हम सब लोग बड़ी व्यवस्थापिका सभा के सदस्य नहीं हो सकते। हम यह भी नहीं देखते कि उसके सदस्य होने से देश-सेवा हो ही जाती है। हम सब लोग पब्लिक सर्विस कमीशन में नहीं बैठ सकते। यह बात भी नहीं है कि उसमें के सब बैठनेवाले देश-भक्त ही होते हैं। हम सब लोग उनकी बराबरी के विद्वान् नहीं हो सकते और विद्वानमात्र के देश-सेवक होने का भी हमें अनुभव नहीं है। परंतु निर्भयता, सत्य, धैर्य, नम्रता, न्यायशीलता, सरलता और अध्यवसाय आदि गुणों का विकास कर उन्हें देश के लिए अर्पण करना सबके लिए साध्य है, यही धर्म-भाव है। राजनैतिक जीवन को धर्ममय करने का यही अर्थ है। उक्त वचन के अनुसार आचरण करनेवाले को अपना पथ सदा ही सूझता रहेगा। महात्मा गोखले की सम्पत्ति का भी वह उत्तराधिकारी होगा। इस प्रकार की निष्ठा से काम करनेवाले को और भी जिन-जिन विभूतियों की आवश्यकता होगी वह सब प्राप्त होंगी। यह ईश्वर का वचन है और महात्मा गोखले का चरित्र इसका ज्वलंत प्रमाण है।[1]

('महात्मा गांधी'—रामचंद्र वर्मा)

... ...

मेरे पास एक गुमनाम पत्र आया है। उसमें मेरी प्रशंसा करते हुए लेखक ने लिखा है, "आपने जिस काम को उठाया है वह लोकमान्य को अतिशय प्रिय था। मालूम होता है, उनकी आत्मा आपमें विराजती है। आपको साहस नहीं छोड़ना चाहिए। काम करते जाइये, स्वराज्य आपका है। पर आपने अपनेको गोखले का शिष्य किस तरह माना है? यह लिखकर आपने अपनी अप्रतिष्ठा की है।"

अच्छा हो यदि लेखक गुमनाम पत्र लिखने की बुरी आदत छोड़ दें। यदि हम लोग स्वराज्य के लिए वाकई तत्पर हैं तो हमें उचित ही है कि भीरुता

---

[1] बम्बई की 'भगिनी-समाज' नामक संस्था से स्त्रियों के लिए प्रकाशित एक सामयिक पुस्तिका से।

त्यागकर साहसी की भांति अपना मत प्रकट करें। चूंकि पत्र सार्वजनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, इसलिए इसका उत्तर दे देना आवश्यक प्रतीत होता है। मैं लोकमान्य का अनुयायी नहीं हूं। उनके करोड़ों देशवासियों की तरह मैं उनके दृढ़ साहस, असीम पांडित्य और अगाध देश-प्रेम की हृदय से प्रशंसा करता हूं। सबसे अधिक आदर मैं उनके पवित्र और निःस्वार्थ जीवन का करता हूं। वर्तमान समाज के मनुष्यों में उन्होंने जनता की दृष्टि अपनी ओर सबसे अधिक आकृष्ट की है। उन्होंने हम लोगों के हृदय में स्वराज्य का बीजारोपण किया। वर्तमान शासन की बुराइयों को जितना अधिक लोकमान्य ने समझा था, उतना अधिक किसी और ने नहीं, और मैं उनके सन्देश को भारत की झोंपड़ियों तक उसी तरह पहुंचाना चाहता हूं और फैलाने का यत्न कर रहा हूं, जिस तरह कि उनका अच्छे-से-अच्छा शागिर्द। पर मेरे और उनके तरीके में भेद है। यही कारण है कि अभी तक चन्द महाराष्ट्र-नेता मेरे साथ एकमत नहीं हो सके हैं। पर मेरा यह भी दृढ़ मत है कि लोकमान्य को मेरे तरीके पर अविश्वास नहीं था। मेरे ऊपर उनका दृढ़ विश्वास था। अपनी मृत्यु के कोई दस दिन पहले अपने अनेक मित्रों के सामने उन्होंने कहा था कि आपका तरीका सबसे अच्छा है, यदि जनता को समझाकर आप अपने साथ कर सकें। लेकिन उन्हें इस बात का सन्देह था कि जनता मेरे तरीके को समझ सकेगी। पर मैं दूसरा तरीका जानता ही नहीं। मैं यही चाहता हूं कि परीक्षा के समय देश अपनी योग्यता दिखलावे कि उसने अहिंसात्मक असहयोग के तत्त्व को समझ लिया है। मैं अपनी योग्यताओं को भी जानता हूं। मैं पांडित्य का दावा नहीं करता। मुझमें उनके समान संगठन-शक्ति भी नहीं है। मेरे कार्य-संचालन के लिए शागिर्द भी नहीं हैं और साथ ही बीस वर्ष तक विदेशों में रहने के कारण भारत का मुझे अनुभव भी उतना नहीं है, जितना लोकमान्य को था। हम लोगों में दो बातों में समता थी: देश-प्रेम तथा स्वराज्य। यह दोनों के हृदय में एक भाव से विद्यमान थे। इसलिए मैं इन गुमनाम पत्र के लेखक को बतला देना चाहता हूं कि लोकमान्य तिलक की स्मृति के लिए मेरे हृदय में किसीसे कम आदर या मान नहीं है और स्वराज्य के प्रतिपादन में मैं उनके उत्तम-से-उत्तम शिष्य के साथ आगे बढ़ता रहूंगा। मैं जानता हूं

कि उनकी सबसे सच्ची उपासना यही है कि भारत को जल्दी-से-जल्दी स्वराज्य मिल जाय। केवल मात्र इसीसे उनकी आत्मा को शान्ति मिल सकती है।

शिष्य होना परम पवित्र, पर व्यक्तिगत भाव है। मैंने १८८८ ई० में दादाभाई के चरणों में अपनेको समर्पित किया, पर मेरे आदर्श से वह बहुत दूर थे। मैं उनके पुत्र के स्थान पर हो सकता था, उनका शागिर्द नहीं हो सकता था। शिष्य का दर्जा पुत्र से बहुत ऊंचा है। शिष्य, पुत्र रूप से, दूसरा जन्म ग्रहण करता है। शिष्य होना अपनी स्वकीय प्रेरणा से समर्पित करना है। १८९६ ई० में दक्षिण अफ्रीका के सम्बन्ध में भारत के सभी प्रधान नेताओं से मिला। जस्टिस रानडे से मुझे भय लगता था। उनके सामने मुझे बयान करने का भी साहस नहीं होता था। बदरुद्दीन तैयबजी पिता की तरह प्रतीत हुए। उन्होंने मुझे सलाह दी कि फिरोजशाह मेहता और रानडे के परामर्श से काम करो। सर फिरोजशाह तो हमारे संरक्षक बन गये। इसलिए उनकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य थी। जो कुछ वह कहते, मैं चुपचाप स्वीकार करता। उन्होंने मुझसे कहा, "२६ सितम्बर को सार्वजनिक सभा में तुम्हें भाषण देना होगा।" मैंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। २५ सितम्बर को मुझे उनसे मिलना था। मैं उनके पास गया। उन्होंने मुझसे पूछा, "क्या तुमने अपना भाषण लिखकर तैयार कर डाला है?" मैंने उत्तर दिया, "जी नहीं।"

उन्होंने कहा, "इस तरह काम नहीं चलेगा। क्या आज रातभर में लिखकर तैयार कर सकते हो?" इतना कहकर उन्होंने अपने मुंशी से कहा, "तुम मिस्टर गांधी के साथ जाओ और व्याख्यान लिखवाकर ले आओ और इसे तुरन्त छपवा डालो और फौरन एक प्रति मेरे पास भेज दो।" इतना कहने के बाद उन्होंने मुझसे कहा, "लम्बा-चौड़ा भाषण मत लिखना। बम्बई के नागरिक देर तक नहीं ठहर सकते।" मैंने चुपचाप स्वीकार कर लिया।

बम्बई के उस शेर ने मुझे आज्ञा-पालन का मर्म सिखाया। उन्होंने मुझे अपना शागिर्द नहीं बनाया। उन्होंने आजमाइश भी नहीं की।

वहां से मैं पूना गया। मैं एकदम अजनबी था। जिनके यहां मैं टिका

था वह मुझे पहले-पहल लोकमान्य तिलक के पास ले गये। जिस समय मैं उनसे मिला, वह अपने साथियों से घिरे बैठे थे। उन्होंने मेरी बातें सुनीं और कहा, "आपका भाषण सार्वजनिक सभा में होना जरूरी है। पर आप जानते हैं कि यहां दलबन्दी है। इससे ऐसा सभापति चाहिए, जो किसी दल-विशेष का न हो। यदि इसके लिए आप डाक्टर भांडारकर से मिलें तो उत्तम हो।" मैंने उनकी सलाह स्वीकार की और लौट आया। सिवा इसके कि स्नेहमय मिलाप के भाव का प्रदर्शन करके उन्होंने मेरी घबराहट दूर की, नहीं तो लोकमान्य का उस समय मुझपर कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। वहां से मैं श्रीयुत गोखले के पास गया और तब डाक्टर भांडारकर के पास गया। डाक्टर भांडारकर ने उसी तरह मेरा स्वागत किया, जिस तरह गुरु शिष्य का करता है।

मिलते ही उन्होंने मुझसे कहा, "आप बड़े उत्साही और तत्पर कार्यकर्ता प्रतीत होते हैं, नहीं तो इतनी गर्मी में मुझसे कोई भी मिलने नहीं आता। मैंने सार्वजनिक सभाओं में इधर जाना छोड़ दिया है। पर आपने जिन दयनीय शब्दों में अफ्रीका की दशा का वर्णन किया है, उससे मुझे लाचार होकर यह पद स्वीकार करना पड़ता है।"

उनके चेहरे से विद्वत्ता टपक रही थी। मेरे हृदय में श्रद्धा का ज्वार उमड़ आया, पर गुरु-भक्ति का भाव फिर भी न भरा। वह हृदय-सिंहासन उस समय भी खाली रह गया। मुझे अनेक धीर-वीर मिले; पर राजा की पदवी तक कोई न पहुंच सका।

पर जिस समय मैं श्रीयुत गोखले से मिलने गया, बातें एकदम बदल गईं। मैं नहीं कह सकता कि इसका क्या कारण था। मैं उनके घर पर मिलने गया। यह मिलन ठीक उसी प्रकार था जैसा दो चिर विछोही मित्रों या माता और पुत्र का होता है। उनकी नम्र आकृति देखकर मेरा हृदय शान्त हुआ। दक्षिण अफ्रीका तथा मेरे सम्बन्ध में उन्होंने जिस तरह पूछ-ताछ की उससे मेरा हृदय श्रद्धा से भर गया। उनसे विदा होते समय मैंने अपने दिल में कहा, "बस, मेरे मन का आदमी मिल गया।" उसी समय से श्रीयुत गोखले मेरे हृदय से अलग न हो सके। १६०१ में दूसरी बार दक्षिण अफ्रीका से लौटा। इस बार मेरी घनिष्ठता और भी प्रगाढ़ हो गई। उन्हों-

ने अपने हाथ में मेरा हाथ लेकर पूछना शुरू किया, "किस तरह रहते हो ? क्या कपड़ा पहनते हो ? भोजन कैसा होता है ?" मेरी माता भी इतनी तत्पर नहीं थीं। मेरे और उनके बीच कोई अन्तर नहीं था। यह चक्षुराग था, अर्थात् प्रथम दर्शन से ही हृदय में प्रगाढ़ प्रेम का अंकुर जम गया था। १९१३ में इसे कड़ी परीक्षा में उतरना पड़ा। उस समय मुझे मालूम हुआ कि उनमें सभी गुण वर्तमान हैं। चाहे इसके पहले उनमें वे सब गुण न रहे हों, पर इसकी मुझे कोई परवा नहीं। मेरे लिए उतना ही काफी था कि मुझे उनमें कोई दोष नहीं दिखलाई दिये। राजनैतिक क्षेत्र में वह मुझे सबसे उत्तम व्यक्ति प्रतीत हुए। पर इससे यह न समझना चाहिए कि उनमें और मुझमें मतभेद नहीं था। सामाजिक नियमों में मेरा उनका १९०१ तक मतभेद रहा। पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव पर भी हम लोगों का मतभेद था। अहिंसा पर मेरा जो अटल विश्वास था उससे भी उनका मतभेद था। पर इससे हम लोगों में कोई अन्तर नहीं आ सका। ये सब बातें किसी तरह का मतभेद नहीं ला सकीं। यदि आज वह जीते होते तो क्या होता, यह कहना व्यर्थ है। मैं जानता हूं कि मैं उनकी आज्ञा का पालन करता होता। मैंने इसे इसलिए लिखा है कि उस गुमनाम पत्रों में शागिर्दी-सम्बन्धी बातों से मुझे हार्दिक पीड़ा हुई। क्या मुझपर इस बात का दोषारोपण किया जा सकता है कि मैंने इस सम्बन्ध को स्वीकार करने में देर की ? इस समय जब कि लोग यह कह रहे हैं कि मैं स्वर्गीय गोखले के दल से एकदम विरुद्ध हो गया हूं तो मेरे लिए उस पवित्र सम्बन्ध को व्यक्त कर देना नितान्त आवश्यक था। (यं० इं०, पृष्ठ ९०५)

....

मेरे इस दक्षिण के प्रवास में कई नवयुवकों ने मुझे लिखा है कि अस्पृश्यता तथा अन्य कुरीतियों के, जिनसे हिन्दू-समाज पीड़ित हो रह है, ब्राह्मण ही दोषी हैं। ये सारी बुराइयां उन्हींकी बदौलत विद्यमान हैं। स्वर्गीय गोखले के १९वें पुण्य-वर्ष के दिन मैं यह लेख लिख रहा हूं। इसलिए स्वभावतः ही मुझे उनका हरिजन-प्रेम याद आ रहा है। अस्पृश्यता के कलंक से सर्वथा मुक्त श्री गोखले को छोड़कर मुझे कोई अन्य व्यक्ति याद नहीं आता। वह मनुष्य-मनुष्य के बीच में किसी प्रकार की असमानता की कल्पना

भी नहीं कर सकते थे। उनकी दृष्टि में तो मनुष्य-मात्र समान थे। एक बार दक्षिण अफ्रीका में एक सज्जन उन्हें साम्प्रदायिक सभा में लिवा ले जाने के लिए उनके पास आये, पर उन्होंने इन्कार कर दिया। तब उनके हिन्दू-धर्म के प्रति अपील की गई। इसपर वह बिगड़ उठे। उन्होंने इसे अपना अपमान समझा और जरा गर्म पड़कर उक्त सज्जन से बोले, "अगर यही हिन्दूधर्म है तो मैं हिन्दू नहीं हूं।" लोग तो यह सुनकर आश्चर्यचकित रह गये। किसी व्यक्ति या सम्प्रदाय की उच्चता की कल्पना को वह सहन नहीं कर सकते थे। विश्व-बन्धुत्व की भावना उन्होंने स्वयं अपने जीवन में चरितार्थ करके दिखा दी, इस बात को उनके साथी खूब जानते हैं। पारिया (अत्यंज) कहे जानेवाले भाइयों से वह खूब दिल खोलकर मिलते थे। यह बात उनमें नहीं थी कि वह किसीपर कृपा या अहसान कर रहे हैं। उनके हृदय में तो केवल एक सेवा का ही आदर्श था। उनका विश्वास था कि सार्वजनिक आदमी जनता के नेता नहीं, बल्कि सेवक हैं। उनकी दृष्टि में सबसे बड़ा सेवक ही सबसे बड़ा नेता था। और स्व० गोखले हर तरह एक सच्चे जन्मना ब्राह्मण थे। वह जन्मजात अध्यापक भी थे। उनसे जब कोई 'प्रोफेसर' कहता तो बड़े प्रसन्न होते थे। विनम्रता की तो वह मूर्ति थे। राष्ट्र को उन्होंने सर्वस्व दे दिया था। चाहते तो वह माला-माल होजाते, लेकिन उन्होंने तो स्वेच्छा से गरीबी का ही बाना पसन्द किया। गोखले जैसे जन-सेवक पर क्या इन ब्राह्मण-निन्दकों को गर्व नहीं होगा? और यह बात नहीं कि ऐसे ब्राह्मण एक गोखले ही थे। मनुष्य के बीच समानता को मानने वाले ऐसे ब्राह्मणों की एक खासी लम्बी सूची बनाई जा सकती है। ब्राह्मण मात्र को दोषी ठहराने का तो यह अर्थ हुआ कि जो ब्राह्मण आज खास तौर से स्वयं निस्स्वार्थ लोक-सेवा करने को तैयार हैं, उनकी उस सेवा के मधुर फल को हम खुद अस्वीकार कर रहे हैं। उन लोगों को किसीके प्रशंसा-पत्र की जरूरत नहीं है। उनकी सेवा ही उनका पुरस्कार है। गोखले ने एक महान् अवसर पर लिखा था कि 'जो सेवा किसी व्यक्ति के कहने से हाथ में नहीं ली जाती, वह किसी दूसरे की आज्ञा से त्यागी भी नहीं जा सकती। इसलिए सबसे निरापद नियम तो यह है कि मनुष्य को हम उसके वर्तमान रूप में ही ग्रहण करें, फिर चाहे जिस कुल में वह पैदा हुआ हो और

उसकी जाति या उसका रंग चाहे जो हो। अस्पृश्यता-निवारण के इस आंदोलन में हमें किसीकी सेवा की, चाहे वह कितनी ही छोटी हो, अवगणना नहीं करनी चाहिए, जहांतक कि उसमें सेवा की भावना है, न कि उद्धार या कृपा की। (ह० से० ६.३.३४)

... ...

(सरोजिनी नायडू की बात करते-करते गोखले की बात बताने लगे। गोखले का उनके बारे में मत बताने लगे। कहने लगे,)

"मैं तुझसे बहुत-सी बातें कर लेता हूं जो किसी से नहीं करता। करने की हैं भी नहीं। ऐसे ही गोखले मेरे साथ सब बातें कर लिया करते थे। उनके मित्र तो बहुत थे, मगर ऐसा कोई नहीं था कि जिसके सामने निःसंकोच अपने मन की सारी बातें वह कह सकें। मुझे उन्होंने विश्वासपात्र समझा और एक-एक आदमी का पृथक्करण करके बता दिया।"

(का० क०, २४.८.४५)

: ६० :

घोषाल

कांग्रेस के अधिवेशन को एक-दो दिन की देर थी। मैंने निश्चय किया था कि कांग्रेस के दफ्तर में यदि मेरी सेवा स्वीकार हो तो कुछ सेवा करके अनुभव प्राप्त करूं।

जिस दिन हम आये उसी दिन नहा-धोकर कांग्रेस के दफ्तर में गया। श्री भूपेन्द्रनाथ बसु और श्री घोषाल मंत्री थे। भूपेनबाबू के पास पहुंचकर कोई काम मांगा। उन्होंने मेरी ओर देखकर कहा, "मेरे पास तो कोई काम नहीं है, पर शायद मि० घोषाल तुमको कुछ बतावेंगे। उनसे मिलो।"

मैं घोषालबाबू के पास गया। उन्होंने मुझे नीचे से ऊपर तक देखा। कुछ मुस्कराये और बोले, "मेरे पास कारकुन का काम है। करोगे?"

मैंने उत्तर दिया, "जरूर करूंगा। अपने बस भर सबकुछ करने के लिए मैं आपके पास आया हूं।"

"नवयुवक, सच्चा सेवा-भाव इसीको कहते हैं।"

कुछ स्वयं-सेवक उनके पास खड़े थे। उनकी ओर मुखातिब होकर कहा, "देखते हो, इस नवयुवक ने क्या कहा ?"

फिर मेरी ओर देखकर कहा, "तो लो, यह चिट्ठियों का ढेर, और यह मेरे सामने पड़ी है कुरसी। उसे ले लो। देखते हो न, सैकड़ों आदमी मुझसे मिलने आया करते हैं। अब मैं उनसे मिलूं या जो लोग फालतू चिट्ठियां लिखा करते हैं, उन्हें उत्तर दूं ? मेरे पास ऐसे कारकुन नहीं कि जिनसे मैं यह काम करा सकूं। इन चिट्ठियों में बहुतेरी तो फिजूल होंगी; पर तुम सबको पढ़ जाना। जिनकी पहुंच लिखना जरूरी हो उनकी पहुंच लिख देना, और जिनके उत्तर के लिए मुझसे पूछना हो पूछ लेना।"

उनके इस विश्वास से मुझे बड़ी खुशी हुई।

श्री घोषाल मुझे पहचानते न थे। नाम-ठाम तो मेरा उन्होंने बाद को जाना। चिट्ठियों के जवाब आदि का काम आसान था। सारे ढेर को मैंने तुरन्त निपटा दिया। घोषालबाबू खुश हुए। उन्हें बात करने की आदत बहुत थी। मैं देखता था कि वह बातों में बहुत समय लगाया करते थे। मेरा इतिहास जानने के बाद तो कारकुन का काम देने में उन्हें जरा शर्म मालूम हुई; पर मैंने उन्हें निश्चिन्त कर दिया।

"कहां मैं और कहां आप ! आप कांग्रेस के पुराने सेवक, मेरे नजदीक तो आप मेरे बुजुर्ग हैं। मैं ठहरा अनुभवहीन नवयुवक ! यह काम सौंपकर मुझपर तो आपने अहसान ही किया है; क्योंकि मुझे आगे चलकर कांग्रेस में काम करना है। उसके काम-काज को समझने का अलभ्य अवसर आपने मुझे दिया है।"

"सच पूछो तो यही सच्ची मनोवृत्ति है। परन्तु आजकल के नवयुवक ऐसा नहीं मानते। पर मैं तो कांग्रेस को उसके जन्म से जानता हूं। उसकी स्थापना भरने में मि० ह्यूम के साथ मेरा भी हाथ था।" घोषालबाबू बोले।

हम दोनों में खासा सम्बन्ध हो गया। दोपहर के खाने के समय वह मुझे साथ रखते। घोषालबाबू के बटन भी 'बेरा' लगाता। यह देखकर 'बेरा' का काम खुद मैंने लिया। मुझे वह अच्छा लगता। बड़े-बूढ़ों की ओर मेरा बड़ा आदर रहता था। जब वह मेरे मनोभावों से परिचित हो गये तब अपनी निजी सेवा का सारा काम मुझे करने देते थे। बटन लगवाते हुए मुंह

पिचकाकर मुझसे कहते, "देखो न, कांग्रेस के सेवक को बटन लगाने तक की फुरसत नहीं मिलती; क्योंकि उस समय भी वह काम में लगे रहते हैं।" इस भोलेपन पर मुझे मन में हँसी तो आई, परन्तु ऐसी सेवा के लिए मन में अरुचि बिलकुल न हुई। उससे जो लाभ मुझे हुआ उसकी कीमत नहीं आंकी जा सकती। (आ०, १९२७)

: ६१ :

चक्रैया

वह (चक्रैया) सेवाग्राम का आश्रमवासी था। नई तालीम के तरीके पर सीखा था। बड़ा परिश्रमी और दस्तकार था। झूठ, फरेब, क्रोध-जैसे दोष उसमें नहीं थे। दैववश उसके दिमाग में कुछ रोग पैदा हो गया। खुद निसर्गोपचार में ही विश्वास करता था, पर दोस्तों ने और डाक्टरों ने उसका आपरेशन करने का आग्रह किया। इस रोग से उसकी आंखों का तेज जाता रहा था। फिर भी उसने आपरेशन-मेज पर जाने से पहले मुझे बड़ी कोशिश से पत्र लिखा था कि प्राकृतिक चिकित्सा मुझे प्रिय है, पर आपरेशन का प्रयोग कराने के लिए भी मैं तैयार हूं और मौत आयेगी तो राम-नाम लेता हुआ मरूंगा। आखिर बम्बई के अस्पताल में आपरेशन किया गया और आपरेशन-मेज पर ही उसके प्राण छूट गये।

उसके जाने पर रोना आता है; पर मैं रो नहीं सकता, क्योंकि मैं रोऊं तो किसके लिए रोऊं और किसके लिए न रोऊं? भारतमाता को अगर बच्चे चाहिए तो बकौल तुलसीदासजी, ऐसे ही चाहिए, जो या तो दाता हों, या शूर। चक्रैया दाता था, क्योंकि वह निःस्वार्थ सेवक और परम संतोषी था और शूर भी था, क्योंकि उसने अपने हाथ से मृत्यु को अपना लिया। वह हरिजन था; पर उसके दिल में हरिजन-सवर्ण, हिन्दू-मुसलमान-जैसे भेद न थे। वह सबको इन्सान मानता था और स्वयं सच्चा इन्सान था।

(प्रा० प्र०, ३१.५.४७)

: ६२ :

योगेश्वर चटर्जी

बिहार का दौरा खत्म करके मध्यप्रान्त को जाते समय मुझे कलकत्ता में श्रीयुत योगेश्वर चटर्जी का मृत्यु-संवाद मिला। मुझे उनसे परिचय प्राप्त था। उनसे यह आशा की जाती थी कि वह ढाके की शबनम---रात की ओस का मलमल---की कला को फिर जिला सकेंगे। मैंने खादी-प्रतिष्ठान के क्षितीशबाबू से तुरन्त ही उनके जीवन के विषय में पूछताछ की। समाचार मिल गये हैं और पाठकों के भी जानने योग्य हैं :

"२४ परगना जिले के पानापुर गांव के श्रीयुत जटिलेश्वर चटर्जी के पुत्र श्री योगेश्वर चटर्जी को बृहस्पतिवार १६ जनवरी को हैजा हुआ और २० जनवरी रविवार को उनकी मृत्यु हुई। अब उनके घर में उनकी विधवा पत्नी, एक साल की बच्ची, एक छोटा भाई और बूढ़े पिता हैं। उनका छोटा भाई इ० बी० रेलवे में काम करता है।

"योगेश्वरबाबू ने बी० ए० तक पढ़ा और कुछ दिनों तक मास्टरी की। उसके बाद इ० बी० रेलवे में नौकरी कर ली। वहां वह सात साल रहे। मरने के समय वह ३५ साल के थे।

"असहयोग के जमाने में उन्होंने कातना शुरू किया। वह बड़ी उमंग और चाह से कातते थे। सन् १९२४ में उन्होंने प्रतिष्ठान को अपना ६० अंक का सूत बुनने को दिया। तभीसे प्रतिष्ठान से उनका निकट सम्बन्ध बढ़ा। इस सूत की कपास उन्हींके बाग में पैदा हुई थी। उस सूत का कपड़ा उन्होंने गांधीजी को दिया और उन्होंने प्रदर्शन के लिए उसे प्रतिष्ठान को दे दिया। कानपुर प्रदर्शिनी में उन्होंने (१०० अंक का) महीन सूत कातने में अपनी गति दिखलाई थी। गोहाटी में २०० अंक का सूत कात दिखलाया। इसका प्रबन्ध खादी-प्रतिष्ठान ने किया था। मिर्जापुर पार्क में खादी-प्रतिष्ठान के वार्षिक प्रदर्शन में वह काता करते थे। गोहाटी-प्रदर्शिनी में खादी-प्रतिष्ठान ने २०० अंक के सूत का मलमल दिखलाया था। उसका सूत योगेश्वरबाबू ने ही काता था। एक साल के भीतर वह इस मलमल के लिए २०० अंक का सूत और दो धोतियों के लिए १०० अंक का सूत

कात सके थे। एक धोती आचार्य राय के लिए थी और दूसरी उनके पिता के लिए।

"गोहाटी से लौटने पर सतीशबाबू के कहने से वह ३०० अंक का सूत कातने लगे थे। वह बराबर ही खादी-प्रतिष्ठान के पेटी चर्खे पर ही काता करते थे। वह पक्के खादी-भक्त थे और फुरसत के समय कात-कातकर उन्होंने ऐसी प्रगति कर ली थी।"

उनके परिवार से मैं समवेदना प्रकट करता हूं और आशा करता हूं कि योगेशबाबू के साथ-ही-साथ पुरानी कला को जिलाने की कोशिश भी न मर जायगी। लोग याद रक्खें कि योगेशबाबू की इतनी मेहनत का कारण केवल उनका देश-प्रेम ही था। और केवल स्वेच्छा से कातनेवाले ही उनके महाप्रयत्न का अनुकरण कर सकते हैं। (हि० न०, २४.२.२७)

: ६३ :

विन्स्टन चर्चिल

मेरे पास एक बुलंद चीज है और वह है लोकमत। लोकमत में बड़ी प्रचण्ड शक्ति है। अभी हमारे यहां इस शब्द का अर्थ पूरे ज़ोर से प्रकट नहीं हुआ है; पर अंग्रेजी में उस शब्द का अर्थ बड़ा ज़ोरदार है। अंग्रेजी में इसे 'पब्लिक ओपिनियन' कहते हैं और उसके सामने बादशाह भी कुछ नहीं कर सकता। चर्चिल, जो इतना बड़ा बहादुर है और जो ऊंचे खानदान का, बड़ा भारी वक्ता, बहुत ही विद्वान—मेरे जैसा अनजान बिलकुल नहीं है—यह सबकुछ होते हुए भी अपनी गद्दी न संभाल सका। इसका मतलब यह है कि वहां का लोकमत बहुत जाग्रत है। इसलिए उसके सामने किसीकी नहीं चल सकती। (प्रा० प्र०, १०.६.४७)

... ...

आज सुबह के अखबारों में रायटर द्वारा तार से भेजा हुआ मि० चर्चिल के भाषण का जो सार छपा है, उसे मैं हिन्दुस्तानी में आपको समझाता हूं। वह सार इस तरह है:

"आज रात को यहां अपने एक भाषण में मि० चर्चिल ने कहा, 'हिंदु-

स्तान में भयंकर खूंरेजी चल रही है, उससे मुझे कोई अचरज नहीं होता। अभी तो इन बेरहमी-भरी हत्याओं और भयंकर जुल्मों की शुरुआत ही है। यह राक्षसी खूंरेजी वे जातियां कर रही हैं, ये जुल्म एक-दूसरी पर वे जातियां ढा रही हैं, जिनमें ऊंची-से-ऊंची संस्कृति और सभ्यता को जन्म देने की शक्ति है और जो ब्रिटिश ताज और ब्रिटिश पार्लमिंट के रवादार और गैर-तरफदार शासन में पीढ़ियों तक साथ-साथ पूरी शांति से रही हैं। मुझे डर है कि दुनिया का जो हिस्सा पिछले ६० या ७० बरस से सबसे ज्यादा शांत रहा है, उसकी आबादी भविष्य में सब जगह बहुत ज्यादा घटनेवाली है, और आबादी के घटाव के साथ ही उस विशाल देश में सभ्यता का जो पतन होगा, वह एशिया की सबसे बड़ी निराशापूर्ण और दुःखभरी बात होगी।"

आप सब जानते हैं कि मि० चर्चिल खुद एक बड़े आदमी हैं। वह इंग्लैंड के ऊंचे कुल में पैदा हुए हैं। मार्लबरो-परिवार इंग्लैंड के इतिहास में मशहूर है। दूसरे विश्व-युद्ध के शुरू होने पर जब ग्रेट ब्रिटेन खतरे में था तब मि० चर्चिल ने उसकी हुकूमत की बागडोर संभाली थी। बेशक उन्होंने उस समय के ब्रिटिश साम्राज्य को खतरे से बचा लिया। यह दलील गलत होगी कि अमरीका या दूसरे मित्र-राष्ट्रों की मदद के बिना ग्रेट ब्रिटेन लड़ाई नहीं जीत सकता था। मि० चर्चिल की तेज सियासी बुद्धि के सिवा मित्र-राष्ट्रों को एक साथ कौन मिला सकता था? मि० चर्चिल ने जिस महान् राष्ट्र की लड़ाई के दिनों में इतनी शान से नुमाइंदगी की, उसने उनकी सेवाओं की कदर की। लेकिन लड़ाई जीत लेने के बाद उस राष्ट्र ने ब्रिटिश द्वीपों को, जिन्होंने लड़ाई में जन-धन का भारी नुकसान उठाया था, नया जीवन देने के लिए चर्चिल की सरकार की जगह मजदूर-सरकार को तरजीह देने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखाई। अंग्रेजों ने समय को पहचानकर अपनी इच्छा से साम्राज्य को तोड़ देने और उसकी जगह बाहर से न दिखाई देने-वाला दिलों का ज्यादा मशहूर साम्राज्य कायम करने का फैसला कर लिया। हिंदुस्तान दो हिस्सों में बंट गया है, फिर भी दोनों हिस्सों ने अपनी मरजी से ब्रिटिश कामनवेल्थ के सदस्य बनने का ऐलान किया है। हिन्दुस्तान को आजाद करने का गौरव-भरा कदम पूरे ब्रिटिश राष्ट्र की सारी पार्टियों ने

उठाया था। इस काम के करने में मि० चर्चिल और उनकी पार्टी के लोग शरीक थे। भविष्य अंग्रेजों द्वारा उठाये गए इस कदम को सही साबित करेगा या नहीं, यह अलग बात है। और इसका मेरी इस बात से कोई ताल्लुक नहीं है कि चूंकि मि० चर्चिल सत्ता के फेरबदल के काम में शरीक रहे हैं, इसलिए उनसे उम्मीद की जाती है कि वह ऐसी कोई बात नहीं कहें या करें, जिससे इस काम की कीमत कम हो। यकीनन आधुनिक इतिहास में तो ऐसी कोई मिसाल नहीं मिलती, जिसकी अंग्रेजों के सत्ता छोड़ने के काम से तुलना की जा सके। मुझे प्रियदर्शी अशोक के त्याग की बात याद आती है। मगर अशोक बेमिसाल हैं और साथ ही वह आधुनिक इतिहास के व्यक्ति नहीं हैं। इसलिए जब मैंने रायटर द्वारा प्रकाशित किया हुआ मि० चर्चिल के भाषण का सार पढ़ा तो मुझे दुःख हुआ। मैं मान लेता हूं कि खबरें देनेवाली इस मशहूर संस्था ने मि० चर्चिल के भाषण को गलत तरीके से बयान नहीं किया होगा। अपने इस भाषण से मि० चर्चिल ने उस देश को हानि पहुंचाई है, जिसके वह एक बहुत बड़े सेवक हैं। अगर वह यह जानते थे कि अंग्रेजी हुकूमत के जुए से आजाद होने के बाद हिंदुस्तान की यह दुर्गति होगी तो क्या उन्होंने एक मिनट के लिए भी यह सोचने की तकलीफ उठाई कि उसका सारा दोष साम्राज्य बनानेवालों के सिर पर है, उन 'जातियों' पर नहीं जिनमें चर्चिलसाहब की राय में 'ऊंची-से-ऊंची संस्कृति को जन्म देने की ताकत है।' मेरी राय में मि० चर्चिल ने अपने भाषण में सारे हिंदुस्तान को एक साथ समेट लेने में बेहद जल्दबाजी की है। हिंदुस्तान में करोड़ों की तादाद में लोग रहते हैं। उनमें से कुछ लाख ने जंगलीपन अख्तियार किया है, जिनकी कि कोई गिनती नहीं है। मैं मि० चर्चिल को हिन्दुस्तान आने और यहां की हालत का खुद अध्ययन करने की हिम्मत के साथ दावत देता हूं। मगर वह पहले से ही किसी विषय में निश्चित मत रखनेवाले एक पार्टी के आदमी की हैसियत से नहीं, बल्कि एक गैरतरफदार अंग्रेज की तरह आयें, जो अपने देश की इज्जत का किसी पार्टी से पहले खयाल रखता है और जो अंग्रेज सरकार को अपने इस काम में शानदार सफलता दिलाने का पूरा इरादा रखता है। ग्रेट ब्रिटेन के इस अनोखे काम की जांच उसके परिणामों से होगी। हिंदुस्तान के विभाजन ने बेजाने उसके दो हिस्सों को आपस में लड़ने का न्यौता

दिया। दोनों हिस्सों को अलग-अलग स्वराज देना आजादी के इस दान पर धब्बे-जैसा मालूम होता है। यह कहने से कोई फायदा नहीं कि दोनों में से कोई भी उपनिवेश ब्रिटिश कामनवेल्थ से अलग होने के लिए आजाद है। ऐसा करने से कहना सरल है। मैं इसपर और ज्यादा कुछ नहीं कहना चाहता। मेरा इतना कहना यह बतलाने के लिए काफी होगा कि मि० चर्चिल को इस विषय पर ज्यादा सावधानी से बोलने की जरूरत क्यों थी। परिस्थिति की खुद जांच करने के पहले ही उन्होंने अपने साथियों के काम की निंदा की है।

आप लोगों में से बहुतों ने मि० चर्चिल को ऐसा कहने का मौका दिया है। अभी भी आपके लिए अपने तरीकों को सुधारने और मि० चर्चिल की भविष्यवाणी को झूठ साबित करने के लिए काफी वक्त है। मैं जानता हूं कि मेरी बात आज कोई नहीं सुनता। अगर ऐसा नहीं होता और लोग उसी तरह मेरी बातों को मानते होते, जिस तरह आजादी की चर्चा शुरू होने से पहले मानते थे तो मैं जानता हूं कि जिस जंगलीपन का मि० चर्चिल ने बड़ा रस लेते हुए बढ़ा-चढ़ाकर बयान किया है, वह कभी नहीं हो पाता और आप लोग अपनी माली और दूसरी घरेलू मुश्किलों को सुलझाने के ठीक रास्ते पर होते। (प्रा० प्र०, २८.९.४७)

: ६४ :

सी० वाई० चिन्तामणि

(आज सुबह निर्णय पर बातें हुईं। जयकर, सप्रू और चिन्तामणि की रायों पर चर्चा हुई। बापू कहने लगे:)

यह आशा रख सकते हैं कि जयकर सप्रू से यहां अलग हो जायंगे।

वल्लभभाई—बहुत आशा रखने जैसी बात नहीं है।

बापू—आशा इसलिए रखते हैं कि विलायत में भी इस मामले में इनके विचार अलग ही रहे थे। वैसे तो क्या पता ?

वल्लभभाई—चिंतामणि ने इस बार अच्छी तरह शोभा बढ़ाई।

बापू—क्योंकि चिंतामणि हिंदुस्तानी हैं, जबकि सप्रू का मानस यूरो-

पियन है। चिंतामणि समझते हैं कि इस निर्णय में ही बहुत-कुछ विधान आ जाता है। सप्रू यह मानते हैं कि विधान मिल गया तो फिर इन बातों की चिन्ता ही नहीं। (म० डा०, २१.८.३२)

: ६५ :

जगदीशन्

जगदीशन् को खुद भी कोढ़ हो गया था। वह मद्रास के रहनेवाले हैं। वह बड़े सज्जन और विद्वान पुरुष हैं। वह श्रीनिवास शास्त्रीजी के भक्त थे। तो उन्होंने अपना जीवन इस काम में लगा दिया है।

(प्रा० प्र०, २३.१०.६७)

... ...

जिनको कुष्ठ रोग रहता है, उनके बारे में मैंने कल एक बात कही थी। जगदीशन् का भी नाम लिया था। वह बड़े विद्वान् आदमी हैं। उनको यह रोग था। वह बिल्कुल नाबूद तो नहीं हुआ है; लेकिन काफी अंकुश में आ गया है। वह इसमें काफी काम करते हैं, काफी दिलचस्पी लेते हैं, उनसे मिलते-जुलते हैं। मेहनती तो जबरदस्त हैं ही। वह मद्रास में रहते हैं, वर्धा में नहीं, लेकिन कई दिनों से वर्धा में हैं। उन्होंने इस बारे में मुझसे खतो-किताबत की थी। उनका पत्र मिले कई दिन हो गये। उसको आज मैंने पढ़ लिया। मैंने उसमें एक बात देखी है, जिसे मैं यहां साफ कर देना चाहता हूं। वह कहते हैं कि जिसको कुष्ठ रोग हो गया है, उसको कोढ़ी मत कहो। लोग उससे बुरा अर्थ निकाल लेते हैं। उसको वह अछूत से भी बदतर मान लेते हैं। अछूत बदी थोड़ा करता है। उसको छूने से हम पतित हो जाते हैं, ऐसा हम मान लेते हैं। मैं कह चुका हूं कि सच्चा कोढ़ तो मन की मलिनता है। अपने भाइयों से घृणा करना, किसी जाति या वर्ग के लोगों को बुरा कहना, रोगी मन का चिह्न है और वह कोढ़ से भी बुरा है। ऐसे लोग उससे भी बदतर हैं। तो फिर ऐसा नाम क्यों लेना चाहिए ? कुष्ठ रोग से पीड़ित कहो, लेकिन कोढ़ी मत कहो। अगर बुरा कहने से बुरा बन जाय तो नहीं कहना चाहिए। गुलाब के पुष्प को आप चाहे किसी भी नाम

से कहें, लेकिन उसमें जो सुवास या सुगंध भरी है उसको वह कभी नहीं छोड़ेगा, बुरे-से-बुरा नाम दो तो भी नहीं। यदि यह जगदीशन् ऐसा कहता है, ठीक है; पर जो छूत की बीमारी है वह कोई एक तो है नहीं। किसी को खुजली हो जाती है, उसको जो स्पर्श करेगा उसको खुजली हो जायगी। सर्दी है, हैजा है, प्लेग है, इसी तरह से कुष्ठ रोग है। फिर उसके प्रति घृणा क्या करनी ? एक आदमी जब सचमुच कुष्ठ रोगी बन जाता है तो लोग उसका तिरस्कार करते हैं। वे कहते हैं कि वह तो कमजात है। कमजात तो वह हुए जो तिरस्कार करते हैं। यह घृणा करने का जो कोढ़ है वह निकल जाना चाहिए। (प्रा० प्र०, २४.१०.४७)

: ६६ :

हीरजी जयराम

चलाला के पंड्या खादी-कार्यालय के श्री नागरदासभाई लिखते हैं :

"श्री हीरजीभाई जयराम मिस्त्री, जिन्होंने हमें थाना में श्री स्वामी आनन्द के आश्रमवाली जमीन दी थी, गुजर गये हैं।"

"जब चर्खा-संघ ने और श्री रामजीभाई हंसराज ने काठियावाड़ में खादी का काम बंद किया तो हीरजीभाई ने ही उस काम को टिकाये रखा था। सन् १९३७ के अंत में जब मैं यहां आया तो हीरजीभाई करीब दस चर्खों का काम संभाले हुए थे और उनके लिए वह पींजने भी चलवा रहे थे। उन्होंने इस काम को इतना जिंदा रखा, उसीका यह नतीजा है कि आज काठियावाड़ में हर साल करीब एक लाख रुपये की व्यापारी खादी पैदा होती है। चलाला के और उसकी शाखाओं के कुल मिलाकर २५ केंद्रों में इस समय काम हो रहा है। व्यापारी खादी के साथ-साथ स्वावलंबी खादी का काम भी बढ़ रहा है। जिस समय हमने अपने खादी-काम को फैलाया, हीरजीभाई अपने कताई-पिंजाई के काम को जारी रखे हुए थे। कपड़े के लिहाज से उनका सारा परिवार स्वावलम्बी था। अपने खेत से वह अच्छा फूटा हुआ कपास खुद चुन लाते थे और अपने हाथों उसे ओटते थे। वह नियम से रोज दो गुंडी सूत तो कातते ही थे।

"काठियावाड़ के खादी और हरिजन-कार्य को उन्होंने समय-समय पर सहायता पहुंचाई थी। हमें उनका पूरा-पूरा आधार था। मरने से पहले उन्होंने अपनी वसीयत लिखी है, जिसमें मोरबी में खादी-कार्य शुरू करने के लिए एक हजार रुपये की मंजूरी दी है। मोरबी में खादी-कार्य चलाने की उनकी तीव्र इच्छा थी, परंतु वह सफल न हो सकी। मिस्त्रीजी ने दो साल पहले अपनी दूसरी पत्नी के देहांत के बाद तीसरी बार विवाह किया था। पहली पत्नी से उनके तीन लड़के हैं।

"वह नीचे लिखे सज्जनों को अपनी वसीयत का ट्रस्टी बना गये हैं :

१. श्री रामजीभाई हंसराज
२. श्री जगजीवनभाई मेहता
३. श्री छगनलाल जोशी
४. श्री नागरदास
५. एक स्थानीय व्यापारी

"वसीयत के दस्तावेज की रजिस्ट्री हो चुकी है। सब मिलाकर स्थावर, जंगम और नकद मिल्कियत ५२ हजार की है।"

मुझे तो भाई हीरजी के इस वसीयतनामे की कोई खबर ही न थी। मुझे उनका चेहरा अच्छी तरह याद है। भाई हीरजी की सारी सेवा मूक थी। थाने के नजदीकवाली जमीन भी उन्होंने सकुचाते-सकुचाते ही दी थी। उनकी सेवा में तनिक भी आडंबर न था। वह साधारण स्थिति के मामूली पढ़े-लिखे आदमी थे, परंतु उनकी सब सेवाएं ठोस थीं। नाम या यश का उन्हें कभी लोभ न रहा, उनकी सेवा ही उनका इनाम और प्रमाण-पत्र था। ऐसी आत्मा सदा ही अमर होती है। (ह० से०, १२.४.४२)

: ६७ :

श्रीकृष्णदास जाजू

नये अध्यक्ष के रूप में संघ को पूर्व अध्यक्ष की भांति ही एक सुपरीक्षित और धर्म-बुद्धिवाला कार्यकर्ता मिल गया है। जाजूजी दर्शनशास्त्री नहीं हैं, वह लेखक भी नहीं हैं; किंतु वह अधिक व्यवहारदक्ष हैं। वह अखिल भारतीय चर्खा-संघ की महाराष्ट्र-शाखा के प्रधान व्यवस्थापक रहे हैं। उनके परिश्रम से ही उसे आज इतनी सफलता मिली है। (ह० से०, २.३.४०)

: ६८ :

मोहम्मद अली जिन्ना

जिन्नासाहब ने जिस मुक्ति-दिवस का ऐलान किया था उस दिन मुझे गुलबर्गा के मुसलमानों की तरफ से यह तार मिला—'नजात-दिवस का मुबारकबाद, काइदे-आजम जिन्ना जिंदाबाद।' मैंने समझा कि यह संदेश मुझे चिढ़ाने के उद्देश्य से भेजा गया है। मगर भेजनेवाले क्या जानें कि इस तार का उद्देश्य पूरा नहीं हुआ। जब मुझे वह मिला तो मैं भी मन-ही-मन भेजनेवालों की इस प्रार्थना में शामिल हो गया—'काइदे-आजम जिन्ना बहुत दिन जियें।' काइदे-आजम हमारे पुरानी साथी हैं। आज कुछ बातों में हमारे-उनके विचार नहीं मिलते तो इससे क्या हुआ? उनके लिए मेरे सद्भाव में कोई अंतर नहीं आ सकता।

मगर काइदे-आजम की तरफ से एक विशेष कारण उन्हें बधाई देने के लिए और मिल गया है। ईद के दिन रेडियो पर उन्होंने जो बढ़िया भाषण दिया था, उसपर बधाई का तार भेजने की मुझे खुशी हासिल हुई थी। अब वह और भी मुबारकबाद के हकदार हो गये हैं, क्योंकि वह कांग्रेस की नीति और राजनीति के विरोधी दलों के साथ करारनामे कर रहे हैं। इस तरह वह मुस्लिम लीग को साम्प्रदायिक चक्कर से निकालकर उसे राष्ट्रीय स्वरूप दे रहे हैं। मैं उनके इस कदम को पूरी तरह उचित समझता हूं। मैं देखता हूं कि मद्रास की जस्टिस पार्टी और डाक्टर अम्बेडकर का दल जिन्ना-साहब से पहले ही मिल चुका है। अखबारों में खबर है कि हिन्दू महासभा के प्रधान श्री सावरकर उनसे बहुत जल्द मिलनेवाले हैं। जिन्नासाहब ने खुद जनता को सूचना दी है कि बहुत-से गैरकांग्रेसी हिन्दुओं ने उनके साथ सहानुभूति प्रकट की है। ऐसा होना मैं पूरी तरह लाभदायक समझता हूं। इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है कि हमारे देश में दो ही बड़े-बड़े दल रह जायं, एक कांग्रेसियों का और दूसरा गैरकांग्रेसियों का या, कांग्रेस-विरोधी शब्द ज्यादा पसन्द हो तो, कांग्रेस-विरोधियों का। जिन्नासाहब की कृपा से 'कम तादादवाली जाति शब्द' का नया और अच्छा अर्थ हो रहा है। कांग्रेस का बहुमत सवर्ण हिन्दुओं, अवर्ण हिन्दुओं, मुसलमानों, ईसा-

इयों, पारसियों और यहूदियों के मेल से बना है। इसलिए यह एक ऐसा बहुमत है, जिसमें एक खास तरह की राय रखनेवाले सब वर्गों के लोग शामिल हैं। जो नया दल बनने जा रहा है वह एक खास तरह की राय रखनेवाले तादाद के लोगों का दल है। निर्वाचकों को पसन्द आने पर इनका किसी भी दिन बहुमत हो सकता है। इस तरह दलों का एक होना ऐसी बात है, जिसे हम सबको दिल से चाहना चाहिए। अगर काइदे-आजम इस तरह का मेल साध सकें तो मैं ही नहीं, सारा हिन्दुस्तान एक आवाज से पुकारकर कहेगा—'काइदे-आजम जिन्ना जुग-जुग जियें'; क्योंकि वह ऐसी स्थायी और सजीव एकता स्थापित कर देंगे, जिसके लिए मुझे विश्वास है कि सारा राष्ट्र तड़प रहा है। (ह० से०, २०.१.४०)

: ६९ :

छोटेलाल जैन

साबरमती-सत्याग्रहाश्रम के निवासी और सम्बन्धी कुछ इस तरह बिखरे पड़े हैं कि उन्हें एक-दूसरे की प्रवृत्ति का पता तक नहीं रहता। खास सम्बन्ध जोड़ने या उसे यत्नपूर्वक रखने की प्रथा नहीं डाली गई। सम्बन्ध केवल सेवा-सम्बन्धी रहा है। कहने का यह आशय नहीं कि सब ऐसा ही करते हैं; किन्तु मूक सेवा में स्व० मगनलाल गांधी के साथ बराबरी करनेवाले आश्रमवासी श्री छोटेलाल जैन का आत्मघात, इन शब्दों को लिखते हुए अन्दर से मुझे काट रहा है। छोटेलाल की मूक सेवा का वर्णन भाषाबद्ध नहीं हो सकता। ऐसा करना मेरी शक्ति से बाहर है। छोटेलाल का कोई परिचय देता तो वह भागते थे। उनकी मृत्यु से उनके विषय में उनके सगे-सम्बन्धी भी जानना चाहेंगे। लेकिन आश्रम में आने के बाद छोटेलाल का कभी किसी दिन अपने सम्बन्धियों के पास जाने का या आश्रम में उनके रिश्तेदारों के आने का मुझे स्मरण नहीं आता। उनके नाम व पते-ठिकाने भी नहीं जानता, तो भी उनके पास आश्रम की खबर पहुंचाने का तो मेरा कर्तव्य है ही। उनकी खातिर भी इस टिप्पणी का लिखना उचित है और छोटेलाल की मृत्यु-सम्बन्धी इस टिप्पणी के साथ भला कौन ईर्ष्या करेगा?

मेरे सौभाग्य से मुझे कुछ ऐसे योग्य साथी मिले हैं कि उनके बिना मैं अपनेको अपंग अनुभव करता हूं। छोटेलाल मेरे ऐसे ही साथी थे। उनकी बुद्धि तीव्र थी। उन्हें कोई भी काम सौंपते मुझे हिचकिचाहट नहीं होती थी। वह भाषाशास्त्री भी थे। राजपूताना-निवासी होने से उनकी मातृभाषा हिन्दी थी, पर वह गुजराती, मराठी, बंगाली, तमिल, संस्कृत और अंग्रेजी भी जानते थे। नई भाषा या नया काम हाथ में लेने की उनकी जैसी शक्ति मैंने और किसीमें नहीं देखी। आश्रम के स्थापना-काल से ही छोटेलाल ने उससे अपना सम्बन्ध जोड़ लिया था।

रसोई बनाना, पाखाना साफ करना, कातना, बुनना, हिसाब-किताब रखना, अनुवाद करना, चिट्ठी-पत्री लिखना आदि सब कामों को वह स्वाभाविक रीति से करते और वे उन्हें शोभते थे। मगनलाल के लिखे 'बुनाई शास्त्र' में छोटेलाल का हिस्सा मगनलाल के जितना ही था, यह कहा जा सकता है। चाहे जैसे जोखम का काम उन्हें सौंपा जाय उसे वह प्रयत्नपूर्वक करते और जबतक वह पूरा न हो जाय, उन्हें शान्ति न मिलती थी। अविश्रान्त रीति से काम करते हुए भी छोटेलाल दूसरा काम लेने को हमेशा तैयार रहते थे। उनके शब्दकोश में 'थकान' के लिए स्थान नहीं था। सेवा करना और दूसरों से सेवा-कार्य लेना यह उनका मन्त्र था। ग्रामोद्योग-संघ स्थापित हुआ तो घानी का काम दाखिल करनेवाले छोटेलाल, और मधुमक्खियां पालनेवाले भी छोटेलाल। जिस तरह छोटेलाल के बगैर मैं अपंग जैसा हो गया हूं ऐसी ही स्थिति आज उनकी मधुमक्खियों की होगी; क्योंकि यह नोट लिखते समय मुझे पता नहीं कि उनके इस परिवार की अब इतनी सार-संभाल कौन रखेगा।

छोटेलाल मधुमक्खियों के पीछे जैसे दीवाने हो गये थे। उनकी शोध में उन्हें हल्के प्रकार के मियादी बुखार (टाइफाइड) ने पकड़ लिया। यह उनके प्राणों का गाहक निकला। मालूम होता है, उन्हें छः-सात दिन अपनी सेवा कराना भी असह्य लगा। अतः ३१ अगस्त, मंगलवार की रात को ग्यारह और दो बजे के बीच में सबको सोता हुआ छोड़कर वह मगनवाड़ी के कुंए में कूद पड़े। आज पहली तारीख को शाम के चार बजे लाश हाथ में आई। मैं सेगांव में बैठा रात के आठ बजे यह लिख रहा हूं। छोटेलाल

की देह का इस समय वर्धा में अग्नि-दाह हो रहा होगा।

इस आत्मघात के लिए छोटेलाल को दोष देने की मुझमें हिम्मत नहीं। छोटेलाल तो वीर पुरुष थे। उनका नाम १९१५ के दिल्ली-षड़यंत्र-केस में आया था; पर उसमें वह बरी हो गये थे। किसी आफिसर को मारकर खुद फांसी के तख्ते पर चढ़ने का स्वप्न वह उन दिनों देखते थे। इतने में मेरे लेखों के पाश में आ फंसे। दक्षिण अफ्रीका के मेरे जीवन से उन्होंने परिचय प्राप्त कर लिया था। अपनी तीव्र हिंसक बुद्धि को उन्होंने बदल दिया और अहिंसा के पुजारी बन गये। जिस तरह सांप केंचुल उतार देता हैं उसी तरह उन्होंने अपने हिंसक जीवन की खोल उतारकर फेंक दी। इतना होते हुए भी वह अपने मन से क्रोध को नहीं जीत सके। उन्हें इस बीमारी में अपनी सेवा लेना असह्य मालूम दिया और गहरी पैठी हुई हिंसा को खुद अपनी बलि दे दी। इसके सिवाय, दूसरा अर्थ मैं इस आत्मघात का नहीं लगा सकता।

छोटेलाल मुझे अपना देनदार बनाकर ४५ वर्ष की उम्र में चल बसे। उनसे मैं अनेक आशाएं रखता था। उनकी अपूर्णता मैं सहन नहीं कर सकता था, इससे छोटेलाल ने मेरे वाग्बाण जितने सहन किये उतने तो शायद मैं-ने एक-दो को ही सहन कराये होंगे। पर छोटेलाल ने उन्हें सदैव सहन किया। परन्तु ऐसे वचन सुनाने का मुझे क्या अधिकार था? मुझे तो उन्हें हिन्दू-मुसलमान की लड़ाई में, या हिन्दूधर्म में अस्पृश्यता-रूपी कचरा निकाल बाहर करने में या गोमाता की सेवा में होमकर उनका लहना चुकाना था। ऐसा करने की शक्ति रखनेवाले साथियों में छोटेलाल एक ऊंचा स्थान रखते थे। मेरे लिए तो ये सब स्वराज की वेदियां हैं।

पर छोटेलाल की मृत्यु का रोना रोकर अब क्या करूं? ऐसे अनेक मूक योद्धाओं की आवश्यकता होगी। रामराज-रूपी स्वराज लेना आसान नहीं। छोटेलाल के जीवन के इस छोटे-से टुकड़े का परिचय पाकर दूसरे मूक सेवक आगे आवें। (ह० से०, ११.९.३७)

: ७० :

पन्नालाल मगनलाल झवेरी

जब इस महीने के पहले पखवाड़े में कांग्रेस कार्यसमिति की बैठकें बम्बई में हो रही थीं, तब डूंगरी में एक सार्वजनिक सभा हुई थी। उसमें कुछ हुल्लड़ हुआ और एक युवक को छुरा घोंपकर मार डाला गया। इस मौत की खबर कार्यसमिति को दी गई। उससे सनसनी तो पैदा हुई, किन्तु उस समय यही समझा गया कि कोई अज्ञात अपरिचित व्यक्ति मर गया है; किन्तु बोरसद लौटने पर मुझे श्री किशोरलाल मश्रूवाला का पत्र मिला, जिन्होंने इस दुःखजनक घटना पर शोक प्रकट करते हुए स्वर्गस्थ भाई के विषय में कुछ जानकारी दी थी। तब मैंने उनको पूरी जानकारी भेजने के लिए लिखा, जो अब मुझे प्राप्त हो गई है।

बहादुर और सज्जन पन्नालाल की उम्र उस समय केवल बाईस वर्ष की थी, जब एक उत्तेजित मुसलमान भीड़ में से किसी आदमी ने उस अभागी रात्रि को उसपर छुरे का घातक प्रहार किया। अपने पिता और भाई के साथ पन्नालाल डूंगरी की सभा में खास तौर पर खानसाहब अब्दुल-गफ्फार खां का भाषण सुनने गया था। यह घोषणा की गई थी कि खान-साहब और लोगों के साथ सभा में बोलेंगे। खानसाहब का भाषण सुनने के बाद पिता ने एक विक्टोरिया गाड़ी को बुलाया और वह उसमें सवार हो गये। खद्दर पहने हुए होने के कारण उनको राष्ट्रीय नेता समझा गया। एक उन्मत्त भीड़ ने उनको घेर लिया। उनपर पत्थरों की वर्षा होने लगी। सभीको चोटें लगीं। पन्नालाल की बाईं आंख की भौंहों के पास से खून बहने लगा। अपने पिता के रंज को कम करने के लिए पन्नालाल ने ऐसा प्रकट किया कि उसे गम्भीर चोट नहीं लगी है। अचानक उसकी बायीं पसली में छुरे का गहरा घाव लगा। घाव की जगह से रक्त का फव्वारा फूट पड़ा। अंतड़ियां बाहर निकल आईं। पन्नालाल ने बहादुरी के साथ यह सब सहन किया और कहा कि मुझे अस्पताल ले चलो। वहां घाव की मरहम-पट्टी हो जायगी और सब ठीक हो जायगा। अफसोस, ऐसा नहीं हुआ। जितना ध्यान दिया जा सकता था, उतना दिया गया, किन्तु बहादुर

नौजवान दूसरे दिन चल बसा।

उसके माता-पिता धनी थे। उसके पिता श्री मगनलाल झवेरी प्रसिद्ध जौहरी हैं और ईमानदारी के लिए लोग उनका काफी भरोसा और आदर करते हैं। उसके चाचा जोधपुर उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश हैं। स्वर्गस्थ अपने पीछे एक नवयुवती विधवा छोड़ गया है। उसका विवाह केवल अठारह महीने पहले हुआ था। माता-पिता राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभाव में आये, उन्होंने परिवार के जीवन को सादा बनाया और पन्नालाल को राष्ट्रीय स्कूल में पढ़ने के लिए भेजा। छठी कक्षा तक पढ़ने के बाद उसने स्कूल छोड़ दिया और पिता को उनके व्यवसाय में मदद देने लगा। किन्तु पन्नालाल ने राष्ट्रीय काम कभी नहीं छोड़ा। वह उस दल में शामिल था, जिसने बड़ाला के नमक कारखाने पर धावा बोला था और लाठी के प्रहार सहन किये थे। वह हमेशा खतरनाक जुलूसों में शामिल होता था जो उन दिनों अक्सर निकाले जाते थे। पन्नालाल मरकर अमर हो गया। उसके माता-पिता को मेरी बधाई कि उन्हें ऐसा लायक बेटा मिला। मृत्यु, खासकर ऐसी मृत्यु से किसीको पीड़ा नहीं होनी चाहिए। शरीर राख हो गया, किन्तु उस राख में से हम लोगों में सच्ची एकता उत्पन्न होगी। अगर हम इस मौत पर क्षुब्ध न हों और जरूरत हो तो ऐसी अनेक जिन्दगियां देने को तैयार हों तो मैं जानता हूं कि सच्ची एकता स्थापित होने में ज्यादा समय नहीं लगेगा।

जहांतक विधवा का सम्बन्ध है, मैं आशा करता हूं कि माता-पिता अपने पुत्र के प्रेम से प्रेरित होकर लड़की को उसकी इच्छा या योग्यता के अनुसार शिक्षा देंगे और जब वह सोचने-समझने लायक हो जाय तो उसे फिर शादी करने का पूरा प्रोत्साहन देंगे। अगर उन्होंने युग-धर्म को पहचान लिया है तो यह अंधविश्वास छोड़ देना चाहिए कि विधवा पति के कुटुम्ब की सम्पत्ति है और उसे उसकी दासी बनकर रहना चाहिए। विधवा को वही अधिकार मिलना चाहिए जो विधुर को प्राप्त है और उसे यह बताना चाहिए कि उसे पुरुष की ही भांति निर्णय करने की स्वतन्त्रता है।

उन मुसलमानों को क्या कहूं जो ऐसी हत्याओं को पसंद करते हैं। निश्चय ही इस हत्या से इस्लाम का ध्येय अथवा शान्ति का ध्येय आगे नहीं

बढ़ा है—इस्लाम शब्द का मतलब ही शान्ति है। निर्दोष जीवन का अपहरण ठीक नहीं हो सकता। पन्नालाल ने उत्तेजना का कोई कारण नहीं दिया। मैं कितना चाहता हूं कि पन्नालाल की हत्या उन लोगों की आंखें खोल दे जो ऐसी हत्याओं को पसंद करते हैं और उन्हें संभव बनाते हैं। क्या यह संभव नहीं हो सकता कि जिस जगह यह हत्या हुई, वहीं हिन्दू-मुसलमानों की संयुक्त सभा आयोजित की जाय और यह घोषणा की जाय कि हम राजनीतिक समस्या का कोई सर्वसम्मत हल निकाल पायें अथवा नहीं, इस प्रकार की हत्याएं नहीं होने दी जायंगी। इस प्रकार की सभा असंभव नहीं; कारण, जहांतक मुझे मालूम है पन्नालाल के कुटुम्बियों ने इस अपराध को क्षमा कर दिया है और कांग्रेस कमेटी ने इसलिए सार्वजनिक शव-यात्रा नहीं निकाली, जिससे कि भावनाएं उत्तेजित न होने पायें। हमारे लिए किसी भी जगह सार्वजनिक सभाएं करना और निर्भयतापूर्वक अपने विचार प्रकट करना संभव होना चाहिए, भले ही ये विचार आस-पास के लोगों को कितने ही अरुचिकर क्यों न हों। (यं० इं० २५.६.३१)

: ७१ :

पुरुषोत्तमदास टंडन

स्वर्गीय लाला लाजपतराय द्वारा लोक-सेवक समिति में पूरी तरह जुट जाने के लिए श्रीयुत पुरुषोत्तमदास टण्डन ने एक प्रसिद्ध बैंक के मैनेजर-पद से स्तीफा दे दिया है, यद्यपि आर्थिक दृष्टि से वह काम बहुत ही लाभप्रद था। लालाजी ने अपनी समिति के लिए बड़े कड़े नियम बनाये थे। उनके अनुसार समिति का कोई भी आजीवन सदस्य ज्यादा आयवाला काम नहीं कर सकता। श्रीयुत पुरुषोत्तमदास टण्डन स्वर्गीय लालाजी को बड़े प्रिय थे। अतः टण्डनजी का यह त्याग उन दिवंगत देश-नेता के प्रति उनकी कर्तव्य-बुद्धि और आज्ञाकारिता का बाह्य चिह्न-मात्र है। हमारी दृष्टि में जो काम एक बड़ा साहस है श्री टण्डनजी की निगाह में वह कुछ भी नहीं। ऐसे त्याग उनके जीवन के अंग बन गये हैं। पिछले कई सालों से पैसे के लिए पैसा कमाने के सिद्धान्त पर से उनकी श्रद्धा उठ गई है। वह

बड़ी तेजी से लगातार अपने जीवन को सादा बनाते रहे हैं। लेकिन कौटुंबिक दायित्व तो उनपर था ही, जिससे वह तबतक इन्कार नहीं कर सकते थे जबतक कि वह अपने उच्च जीवन और विकास की ओर उन कुटुम्बियों को भी साथ न ले लेते, जिनके लिए वह जिम्मेदार हैं। अब यह स्पष्ट है कि उनके मार्ग की ये कठिनाइयां दूर हो गई हैं। उन्होंने इनपर विजय पाई है और अब हमेशा के लिए वह नये क्षेत्र में डट सकते हैं। इन्हीं लोगों से राष्ट्रों का निर्माण होता है। मैं लालाजी की समिति को इस अवसर पर बधाई देता हूं। खेद है कि एक भारतीय नररत्न के स्मारक के लिए मांगी गई पांच लाख की न कुछ-सी रकम भी अबतक एकत्र न हो पाई। क्या मैं आशा करूं कि टण्डनजी का त्याग आलसियों को कर्मण्य बनायेगा और देश उसका समुचित उत्तर देगा। (हि० न०, २२.८.२६)

* * *

एक भाई ने मेरे पास इस आशय का एक बहुत सख्त पत्र भेजा है कि क्या तुम अब भी पागल ही रहोगे? अब तो थोड़े दिनों में इस दुनिया से चले जाओगे, तब भी कुछ सीखोगे नहीं? यदि पुरुषोत्तमदास टंडन ने यह कहा कि 'सबको तलवार लेनी चाहिए, सिपाही बनना चाहिए और अपना बचाव करना चाहिए' तो तुमको इस बात से चोट क्यों लगती है? तुम तो गीता के पढ़नेवाले हो। तुम्हें तो इन द्वंद्वों से परे हो जाना चाहिए और बात-बात में चोट लगा लेने या खुश होने की झंझट छोड़ देनी चाहिए। तुम उस कहानीवाले भोले साधु बाबा-जैसी बात करते हो जो पानी में बहते हुए बिच्छू के डंक लगाने पर भी उसे हाथ से पकड़कर बचाने की कोशिश करता था। अगर तुमसे अहिंसा का गीत गाये बिना रहा नहीं जाता तो कम-से-कम जो दूसरे रास्ते से जाते हैं उन्हें तो जाने दो! उनके बाच में रोड़ा क्यों बनते हो?

अगर मैं स्थितप्रज्ञ रह सका तो अपनी एक सौ पच्चीस वर्ष की उम्र में से एक भी वर्ष कम जिंदा नहीं रहूंगा। अगर हम सब स्थितप्रज्ञ बने तो हममें से एक भी आदमी को १२५ वर्ष से जरा भी कम जीने का कोई कारण नहीं है। वैसे भगवान चाहे तो भले मुझे आज ही उठा ले, पर अभी तुरंत मैं चलनेवाला नहीं हूं। मुझे अभी रहना है और काम करना है। पुरुषोत्तमदास टंडन मेरे पुराने साथी हैं। हम वर्षों तक साथ-साथ काम करते आये

हैं। मेरे जैसे ही ईश्वर के वह भक्त हैं। जब मैंने यह सुना कि वह ऐसी बात कर रहे हैं, तब मुझे दुःख हुआ। मैंने कहा कि आज तीस बरस से भी अधिक समय से जो हमने सीखा है और जिसकी हमने लगन से साधना की है, वह क्या इस तरह गंवा दिया जायगा ? बचाव के लिए तलवार पकड़ने की बात की जाती है; पर आजतक मुझे दुनिया में एक आदमी ऐसा नहीं मिला है, जिसने बचाव से आगे बढ़कर प्रहार न किया हो। बचाव के पेट में ही वह पड़ा है। अब रही मेरे दिल पर चोट लगने की बात। अगर मैं पूरा स्थित-प्रज्ञ बन गया होता तो मुझे चोट न लगती। अब भी चोट न लगे ऐसी कोशिश मैं कर रहा हूं। कल जहां था, वहां से आज कुछ-न-कुछ आगे ही बढ़ता हूं। अगर ऐसा नहीं हो तो रोज गीता में से स्थितप्रज्ञ के ये श्लोक बोलने में मैं दंभी ठहरता हूं; पर ऐसा नहीं हो सकता कि इन श्लोकों के बोलने भर से ही कोई एक ही दिन में स्थितिप्रज्ञ बन जाय। (प्रा० प्र०, १३.६.४७)

... ...

आज सवेरे जब मेरा मौन था तो श्री पुरुषोत्तमदास टंडन आये। मैंने आपको बताया था कि जब टंडनजी ने कहा कि हरेक स्त्री-पुरुष को शस्त्र-धारी बनना चाहिए और स्वरक्षा करनी चाहिए तो यह सुनकर मुझे कैसा बुरा लगा था। एक पत्र-लेखक ने मुझसे पूछा था कि गीता पढ़ते रहने पर भी इस तरह आपको बुरा कैसे लग सकता है ? उस पत्र से यह भी पता चलता था कि टंडनजी 'शठं प्रति शाठ्यं' का सिद्धांत मानते हैं। तब टंडन-जी से मैंने पूछा कि आप क्या मानते हैं ? इसका खुलासा देते हुए टंडनजी ने बताया कि मैं 'शठं प्रति शाठ्यं' के सिद्धांत को तो नहीं मानता हूं, लेकिन स्वरक्षा के लिए शस्त्रधारी बनना जरूरी है, ऐसा मैं मानता हूं। गीता ने भी यही सिखाया है।

तब मैंने टंडनजी से कहा कि इतना तो आप उन भाई को लिख दीजिये कि आप 'शठं प्रति शाठ्यं' के माननेवाले नहीं है ताकि वह भ्रम में न रहें। और स्वरक्षा के लिए हिंसा करने की बात गीता में कहीं है, यह मैं नहीं मानता। मैंने तो गीता का अलग ही अर्थ निकाला है। मेरी समझ में गीता ऐसा नहीं सिखाती है। गीता में या दूसरे किसी संस्कृत-ग्रंथ में अगर ऐसी बात लिखी है तो मैं उसे धर्मशास्त्र मानने को तैयार नहीं हूं। महज संस्कृत

में कुछ लिख देने से कोई वाक्य शास्त्र-वाक्य नहीं बन जाता।

टंडनजी ने मुझसे कहा—'तुमने तो उन बंदरों को मारने के लिए भी लिखा था, जो बेहद पीड़ा पहुंचाते हैं और खेती उजाड़ देते हैं।' लेकिन मैं तो किसी भी प्राणी को और यहांतक कि चींटी तक को भी मारना पसन्द नहीं करता। फिर भी खेती-बाड़ी का सवाल अलग है और मनुष्य-मनुष्य का अलग है।

तब टंडनजी ने कहा कि 'शठं प्रति शाठ्यं' यानी एक दांत के बदले में दो दांत निकालने की बात हम न करें परन्तु एक दांत के बदले में एक दांत तथा एक थप्पड़ के बदले में एक थप्पड़ की बात भी नहीं करेंगे; और हाथ में शस्त्र नहीं लेंगे, अपनी शक्ति नहीं दिखायेंगे तो स्वरक्षा किस तरह होगी ?

इसके बारे में मेरा यह जवाब है कि स्वरक्षा जरूर की जाय; पर मेरी स्वरक्षा कैसे होगी ? कोई मेरे पास आता है और कहता है कि बोल, राम-नाम लेता है या नहीं ? नहीं लेगा तो यह तलवार देख ! तब मैं कहूंगा, यद्यपि मैं हरदम राम-नाम लेता हूं, लेकिन तलवार के बल पर मैं हरगिज न लूंगा, चाहे मारा क्यों न जाऊं ? और इस तरह स्वरक्षा के लिए मैं मरूंगा। वैसे कलमा पढ़ने में मेरा कोई धर्म जानेवाला नहीं है। क्या हो, गया, अगर मैं ठेठ अरबी में बोलूं कि अल्लाह एक है और उसका रसूल एक ही मुहम्मद पैगंबर है। ऐसा बोलने में कोई पाप नहीं और इतने भर से वह मुझे मुसलमान मानने को तैयार हैं तो मैं अपने लिए फख्र की बात समझूंगा। लेकिन जब तलवार के जोर से कोई कलमा पढ़वाने आवेगा तब कभी भी कलमा न पढूंगा। अपनी जान देकर मैं स्वरक्षा करूंगा। इस बहादुरी को सिद्ध करने के लिए मैं जिंदा रहना चाहता हूं। इसके अलावा और तरीके से मैं जीना नहीं चाहता। (प्रा० प्र०, १६.६.४७)

: ७२ :

काउंट लियो टाल्स्टाय

टाल्स्टाय के लेख तो इतने सरस और इतने सरल हैं कि चाहे जो धर्म-प्रेमी उन्हें पढ़कर उनसे लाभ उठा सकता है। उसकी पुस्तक पढ़कर साधा-

रणतः यह विश्वास अधिक होता है कि वह मनुष्य जैसा कहता था, वैसा ही करता भी रहा होगा। ('मेरे जेल के अनुभव'—महात्मा गांधी)

... ...

सवाल—काउंट टाल्स्टाय को आप किस दृष्टि से देखते हैं ?

जवाब—मैं उनको अत्यंत आदर की दृष्टि से देखता हूं। अपने जीवन की कितनी ही बातों के लिए मैं उनका ऋणी हूं। (यं० इं०, पृष्ठ २०६)

... ...

मेरी वर्त्तमान मानसिक दशा ऐसी नहीं है कि मैं एक भी पर्व पुण्य-तिथि या एक भी उत्सव मनाने के योग्य रहा होऊं। कुछ दिनों पहले 'नवजीवन' या 'यंग इंडिया' के किसी पाठक ने मुझसे प्रश्न पूछा था, "आप श्राद्ध के विषय में लिखते हुए कह चुके हैं कि पुरखों का सच्चा श्राद्ध उनकी पुण्य-तिथि के दिवस उनके गुणों का स्मरण करने से और उन्हें अपने जीवन में ओत-प्रोत कर लेने से हो सकता है। इसीसे मैं पूछता हूं कि आप खुद अपने पुरखों की श्राद्ध-तिथि कैसे मनाते हैं ?" पुरखों की श्राद्ध-तिथि जब मैं जवान था तब मनाया करता था। परंतु मैं अभी तुम्हें यह कहने में शर्माता नहीं हूं कि मुझे अपने पूज्य पिताजी की श्राद्ध-तिथि का स्मरण तक नहीं है। कई वर्ष व्यतीत हो चुके। एक भी श्राद्ध-तिथि मनाने की मुझे याद नहीं है, यहांतक कि मेरी कठिन स्थिति या कहिये कि सुंदर स्थिति है, अथवा जैसे कि कई एक मित्र मानते हैं, मोह की स्थिति है, कि ऐसा मेरा मंतव्य है कि जिस कार्य को सिर पर लिया हो उसीमें चौबीस घंटे लगे रहना, उसका मनन करना और जहांतक बन पड़े उसे सुव्यवस्थित रूप से करने में ही सब कुछ आ जाता है। उसीमें पुरखों को श्राद्धतिथि का मनाना भी आ जाता है। टाल्स्टाय-जैसों के उत्सव भी आ जाते हैं। ...तीन महीने पहले **एल्मर माड** एवं **टालस्टाय** का साहित्य इकट्ठा करनेवाले दूसरे सज्जनों के पत्र आये थे कि इस शताब्दी के अवसर पर मैं भी कुछ लिख भेजूं और इस दिन की याद हिन्दुस्तान में दिलाऊं। **एल्मर माड** के पत्र का सारांश या सारा पत्र तुमने मेरे अखबारों में देखा होगा। उसके बाद मैं यह बात बिल्कुल भूल गया था। यह प्रसंग मेरे लिए एक शुभ अवसर है।

तीन पुरुषों ने मेरे जीवन पर बहुत ही बड़ा प्रभाव डाला है। उसमें

पहला स्थान मैं राजचन्द्र कवि को देता हूं, दूसरा टाल्स्टाय को और तीसरा रस्किन को। टाल्स्टाय और रस्किन के दरम्यान स्पर्धा खड़ी हो और दोनों के जीवन के विषय में मैं अधिक बातें जान लूं तो नहीं जानता कि उस हालत में प्रथम स्थान मैं किसे दूंगा। परंतु अभी तो दूसरा स्थान टालस्टाय को देता हूं। टालस्टाय के जीवन के विषय में बहुतेरों ने जितना पढ़ा होगा उतना मैंने नहीं पढ़ा है। ऐसा भी कह सकते हैं कि उनके लिखे हुए ग्रंथों का वाचन भी मेरा बहुत कम है। उनकी पुस्तकों में से जिस किताब का प्रभाव मुझपर बहुत अधिक पड़ा उसका नाम है 'Kingdom of Heaven is Within You.' उसका अर्थ यह है कि ईश्वर का राज्य तुम्हारे हृदय में है। उसे बाहर खोजने जाओगे तो वह कहीं न मिलेगा। इसे मैंने चालीस वर्ष पहले पढ़ा था। उस वक्त मेरे विचार कई एक बातों में शंकाशील थे। कई मर्तबा मुझे नास्तिकता के विचार भी आते थे। विलायत जाने के समय तो मैं हिंसक था, हिंसा पर मेरी श्रद्धा थी और अहिंसा पर अश्रद्धा। यह पुस्तक पढ़ने के बाद मेरी यह अश्रद्धा चली गई। फिर मैंने उनके दूसरे कई एक ग्रंथ पढ़े। उनमें से प्रत्येक का क्या प्रभाव पड़ा सो मैं नहीं कह सकता, परंतु उनके समग्र जीवन का क्या प्रभाव पड़ा वह तो कह सकता हूं।

उनके जीवन में से मैं अपने लिए दो बातें भारी समझता हूं। वह जैसा कहते थे वैसा ही करनेवाले पुरुष थे। उनकी सादगी अद्भुत थी, बाह्य सादगी तो थी ही। वह अमीरवर्ग के मनुष्य थे। इस जगत के छप्पन भोग उन्होंने भोगे थे। धन-दौलत के विषय में मनुष्य जितनी इच्छा रख सकता है, उतना उन्हें मिला था। फिर भी उन्होंने भरी जवानी में अपना ध्येय बदला। दुनिया के विविध रंग देखने पर भी, उनके स्वाद चखने पर भी, जब उन्हें प्रतीत हुआ कि इनमें कुछ नहीं है तो उनसे मुंह मोड़ लिया और अंत तक अपने विचारों पर पक्के रहे। इसीसे मैंने एक जगह लिखा है कि टाल्स्टाय युग की सत्य की मूर्ति थे। उन्होंने सत्य को जैसा माना वैसा ही पालने का उग्र प्रयत्न किया। सत्य को छिपाने या कमजोर करने का प्रयत्न नहीं किया। लोगों को दुःख होगा या अच्छा लगेगा कि नहीं, इसका विचार किये बिना ही उन्हें जिस माफिक जो वस्तु दिखाई दी उसी माफिक कह सुनाई। टाल्स्टाय अपने युग के लिए अहिंसा के बड़े भारी प्रवर्तक थे। अहिंसा के विषय में

परिश्रम के लिए जितना साहित्य टाल्स्टाय ने लिखा है, जहांतक मैं जानता हूं, उतना हृदयस्पर्शी साहित्य दूसरे किसीने नहीं लिखा है। उससे भी आगे जाकर कहता हूं कि अहिंसा का सूक्ष्म दर्शन जितना टाल्स्टाय ने किया था और उसका पालन करने का जितना प्रयत्न टाल्स्टाय ने किया था, उतना प्रयत्न करनेवाला आज हिन्दुस्तान में कोई नहीं। ऐसे किसी आदमी को मैं नहीं जानता।

मेरे लिए यह दशा दु :खदायक है, मुझे यह भाती नहीं है। हिंदुस्तान कर्मभूमि है। हिंदुस्तान में ऋषि-मुनियों ने अहिंसा के क्षेत्र में बड़ी-से-बड़ी खोजें की हैं; परंतु हम केवल बुजुर्गों की ही प्राप्त की हुई पूंजी पर नहीं निभ सकते। उसमें यदि वृद्धि न की जाय तो हम उसे खा जाते हैं। इस विषय में न्यायमूर्ति रानडे ने हमें सावधान कर दिया है। वेदादि साहित्य में से या जैन-साहित्य में से हम बड़ी-बड़ी बातें चाहे जितनी करते रहें अथवा सिद्धांतों के विषय में चाहे जितने प्रमाण देते रहें और दुनिया को आश्चर्य-मग्न करते रहें फिर भी दुनिया हमें सच्चा नहीं मान सकती। इसलिए रानडे ने हमारा धर्म यह बताया है कि हम इस पूंजी में वृद्धि करते जायं। दूसरे धर्म-विचारकों ने जो लिखा हो, उसके साथ मुकाबिला करें, ऐसा करने में कुछ नया मिल जाय या नया प्रकाश मिलना हो तो उसका तिरस्कार न करना चाहिए; किन्तु हमने ऐसा नहीं किया। हमारे धर्माध्यक्षों ने एक पक्ष का ही विचार किया है। उनके पठन, कथन और बरतन में समानता भी नहीं है। प्रजा को अच्छा लगे या नहीं, जिस समाज में वे स्वयं काम करते थे उस समाज को भला लगे या बुरा, फिर भी टाल्स्टाय के समान खरी-खरी सुना देनेवाले हमारे यहां नहीं मिलते। हमारे इस अहिंसा-प्रधान देश की ऐसी दयाजनक दशा है।

हमारी अहिंसा की निन्दा ही योग्य है। खटमल, मच्छर, बिच्छू, पक्षी और पशुओं को हर किसी तरह से निभाने में ही मानों हमारी अहिंसा पूर्ण हो जाती है। वे प्राणी कष्ट में तड़पते हों तो उसकी भी हमें चिन्ता नहीं। परन्तु दुःखी प्राणी को कोई प्राण-मुक्त करे अथवा हम उसमें शरीक हों तो उसमें हम घोर पाप मानते हैं। ऐसा मैं लिख चुका हूं कि यह अहिंसा नहीं है। टाल्स्टाय का स्मरण कराते हुए फिर कहता हूं कि अहिंसा का यह अर्थ

नहीं है। अहिंसा के माना हैं प्रेम का समुद्र, अहिंसा के मानी हैं वैर-भाव का सर्वथा त्याग। अहिंसा में दीनता, भीरुता न हो, डर-डर के भागना भी न हो। अहिंसा में दृढ़ता, वीरता, निश्चलता होनी चाहिए।

यह अहिंसा हिन्दुस्तान में शिक्षित समाज में दिखाई नहीं देती। उनके लिए टाल्स्टाय का जीवन प्रेरक है। उन्होंने जो वस्तु मान ली, उसका पालन करने में भारी प्रयत्न किया और उससे कभी डिगे तक नहीं। मैं यह नहीं मानता कि उन्हें वह हरी छड़ी (सिद्ध) न मिली हो। 'नहीं मिली' यह तो उन्होंने स्वयं कहा हैं। ऐसा कहना उनको सुहाता था; परन्तु यह मैं नहीं मानता कि उन्हें वह छड़ी न मिली हो, जैसा कि उनके टीकाकार लिखते हैं। मैं यह मान सकता हूं, यदि कोई कहे कि उन्होंने सब तरह से उस अहिंसा का पालन नहीं किया जिसका उन्हें दर्शन हुआ था। इस जगत में ऐसा पुरुष कौन है कि जो अपने सिद्धान्तों पर पूरा अमल करता हो? **मेरा मानना है कि देह-धारी के लिए सम्पूर्ण अहिंसा का पालन अशक्य है।** जबतक शरीर है तबतक कुछ-न-कुछ तो अहंभाव रहता ही है। जबतक अहंभाव है, शरीर को भी तभी तक धारण करना है ही। इसलिए शरीर के साथ हिंसा भी रही हुई है। टाल्स्टाय ने स्वयं कहा है कि जो अपनेको आदर्श तक पहुंचा हुआ समझता है, उसे नष्टप्राय ही समझना चाहिए। बस, यहीं से उसकी अधोगति शुरू होती है। ज्यों-ज्यों हम आदर्श के समीप पहुंचते हैं, आदर्श दूर भागता जाता है। जैसे-जैसे हम उसकी खोज में अग्रसर होते हैं यह मालूम होता है कि अभी तो एक मंजिल और बाकी है। कोई भी जल्दी से मंजिलें तय नहीं कर सकता, ऐसा मानने में हीनता नहीं है, निराशा नहीं है, किन्तु नम्रता अवश्य है। इसीसे हमारे ऋषियों ने कहा है कि मोक्ष तो शून्यता है। मोक्ष चाहनेवाले को शून्यता प्राप्त करना है। यह ईश्वर प्रसाद के बिना नहीं मिल सकती। यह शून्यता जबतक शरीर है, आदर्शरूप ही रहती है। इस बात को टाल्स्टाय ने साफ देख लिया, उसे बुद्धि में अंकित किया, उसकी ओर दो डग आगे बढ़े और उसी वक्त उन्हें वह हरी छड़ी मिल गई। उस छड़ी का वह वर्णन नहीं कर सकते, सिर्फ मिली इतना ही कह सकते हैं। फिर भी अगर कहा होता कि मिली तो उनका जीवन समाप्त हो जाता।

टाल्स्टाय के जीवन में जो विरोधाभास दीखता है वह टाल्स्टाय का कलंक या कमजोरी नहीं है; किन्तु देखनेवालों की त्रुटि है। एमर्सन ने कहा है कि अवरोध तो छोटे-से आदमी का पिशाच है। हमारे जीवन में कभी विरोध आनेवाला ही नहीं, अगर यह हम दिखलाना चाहें तो हमें मरा ही समझें। ऐसा करने में अगर कल के कार्य को याद रखकर उसके साथ आज के कार्य का मेल करना पड़े तो कृत्रिम मेल में असत्याचरण हो सकता है। सीधा मार्ग यह है कि जिस वक्त जो सत्य प्रतीत हो उसका आचरण करना चाहिए। यदि हमारी उत्तरोत्तर वृद्धि ही हो जाती हो तो हमारे कार्यों में दूसरों को विरोध दीखे भी तो उससे हमें क्या सम्बन्ध है। सच तो यह है कि वह हमारा विरोध नहीं है, हमारी उन्नति है। उसीके अनुसार टाल्स्टाय के जीवन में जो विरोध दीखता है वह विरोध नहीं है, बल्कि हमारे मन का विरोधाभास है। मनुष्य अपने हृदय में कितने प्रयत्न करता होगा, राम-रावण के युद्ध में कितनी विजयें प्राप्त करता होगा, उनका ज्ञान उसे स्वयं नहीं होता, देखनेवालों को तो हो ही नहीं सकता। यदि वह कुछ फिसला तो वह जगत की निगाह में कुछ भी नहीं है, ऐसा प्रतीत होना अच्छा ही है। उसके लिए दुनिया निन्दा की पात्र नहीं है। इसीसे तो सन्तों ने कहा है कि जगत जब हमारी निन्दा करे तब हमें आनन्द मनाना चाहिए और स्तुति करे तब कांप उठना चाहिए। जगत दूसरा नहीं करता। उसे तो जहां मैल दीखा कि वह उसकी निन्दा ही करेगा। परन्तु महापुरुष के जीवन को देखने बैठें तो मेरी कही हुई बात याद रखनी चाहिए। उसने हृदय में कितने युद्ध किये होंगे और कितनी जीतें प्राप्त की होंगी, इसका गवाह तो प्रभु ही है। यही निष्फलता और सफलता के चिह्न हैं।

इतना कहकर मैं यह समझाना नहीं चाहता कि तुम अपने दोषों को छिपाओ या पहाड़ से दोषों को तनिक से गिनो। यह तो मैंने दूसरों के विषय में कहा है। दूसरों के हिमालय से बड़े दोषों को राई के समान समझना चाहिए और अपने राई से दोषों को हिमालय के समान बड़ा समझना चाहिए। अपने में अगर ज़रा-सा भी दोष मालूम हो, जाने-अनजाने असत्य हो गया हो तो हमें ऐसा होना चाहिए कि अब हम जल में डूब मरें। दिल में आग सुलग जानी चाहिए। सर्प या बिच्छू का डंक तो कुछ नहीं है, उनका

जहर उतारनेवाले बहुत मिल सकते हैं; परन्तु असत्य और हिंसा के दंश से बचानेवाला कौन है ? ईश्वर हमें उससे मुक्ति दे सकता है और हममें अगर पुरुषार्थ हो तभी वह मिल सकती है। इसलिए अपने दोषों के बारे में हम सचेत रहें। वे जितने बड़े देखे जा सकें उन्हें हम देखें और अगर जगत हमें दोषित ठहराये तो हम ऐसा न मानें कि जगत कितना कंजूस है कि छोटे-से दोष को बड़ा बतलाता है। टाल्स्टाय को कोई उनका दोष बतलाता तो वह उसे बड़ा भयंकर रूप दे देते थे। उनका दोष बताने का प्रसंग दूसरे को शायद ही उपस्थित हुआ हो; क्योंकि वह बहुत आत्म-निरीक्षण किया करते थे। दूसरों के बताने के पहले ही वह अपने दोष देख लेते थे और उसके लिए जिस प्रायश्चित्त की कल्पना उन्होंने स्वयं की हो वह भी वह कर डाले हुए होते थे। यह साधुता की निशानी है। इसीसे मैं मानता हूं कि उन्हें वह छड़ी मिली थी।

दूसरी एक अद्भुत वस्तु का खयाल टाल्स्टाय ने लिखकर और उसे अपने जीवन में ओत-प्रोत करके कराया है। वह वस्तु है 'ब्रेड लेबर'। यह उनकी स्वयं की हुई खोज न थी। किसी दूसरे लेखक ने यह वस्तु रूस के सर्व-संग्रह में लिखी थी। इस लेखक को टाल्स्टाय ने जगत के सामने ला रखा और उसकी बात को भी वह प्रकाश में ले आये। जगत में जो असमानता दिखाई पड़ती है, दौलत व कंगालियत नजर आती है उसका कारण यह है कि हम अपने जीवन का कानून भूल गये हैं। यह कानून 'ब्रेड लेबर' है। गीता के तीसरे अध्याय के आधार पर मैं उसे यज्ञ कहता हूं। गीता ने कहा है कि बिना यज्ञ किये जो खाता है वह चोर है, पापी है। वही चीज टाल्स्टाय ने बतलाई है। 'ब्रेड लेबर' का उलटा-सुलटा भावार्थ करके हमें उसे उड़ा नहीं देना चाहिए। उसका सीधा अर्थ यह है कि जो शरीर खपाकर मजदूरी नहीं करता उसे खाने का अधिकार नहीं है। हम भोजन के मूल्य के बराबर मेहनत कर डालें तो जो गरीबी जगत में दिखाई देती है वह दूर हो जाय। एक आलसी दो भूखों को मारता है, क्योंकि उसका काम दूसरे को करना पड़ता है। टाल्स्टाय ने कहा कि लोग परोपकार करने के लिए प्रयत्न करते हैं, उसके लिए पैसे खरचते हैं और इलकाब लेते हैं; परन्तु ऐसा न करके थोड़ा-सा ही काम करें अर्थात् दूसरों के कन्धों पर से नीचे

उतर जायं तो बस यही काफी है। और यही सच्ची बात है। यह नम्रता का वचन है। करें तो परोपकार; किन्तु अपने ऐशोआराम में से लेशमात्र भी न छोड़ें तो वह वैसा ही हुआ जैसा कि अखा भक्त ने कहा है, 'निहाय की चोरी और सुई का दान।' ऐसे क्या विमान आ सकता है ?

बात ऐसी नहीं है कि टाल्स्टाय ने जो कहा वह दूसरों ने नहीं कहा हो; परन्तु उनकी भाषा में चमत्कार था, क्योंकि जो कहा उसका उन्होंने पालन किया। गद्दी-तकियों पर बैठनेवाले, मजदूरी में जुट गये, आठ घंटे खेती का या दूसरा मजदूरी का काम उन्होंने किया। इससे यह न समझें कि उन्होंने साहित्य का कुछ काम ही नहीं किया था। जबसे उन्होंने शरीर की मेहनत का काम शुरू किया तबसे उनका साहित्य अधिक शोभित हुआ। उन्होंने अपनी पुस्तकों में जिसे सर्वोत्तम कहा है, वह है 'कला क्या है', यह उन्होंने इस यज्ञकाल की मजदूरी में से बचते वक्त में लिखा था। मजदूरी से उनका शरीर न घिसा और ऐसा उन्होंने स्वयं मान लिया था कि उनकी बुद्धि अधिक तेजस्वी हुई और उनके ग्रन्थों के अभ्यासी कह सकते हैं कि यह बात सच्ची है।

यदि टाल्स्टाय के जीवन का उपयोग करना हो तो उनके जीवन से उल्लिखित तीन बातें जान लेनी चाहिए। युवक-संघ के सभ्यों को यह वचन कहते हुए में उन्हें याद दिलाना चाहता हूं कि तुम्हारे सामने दो मार्ग हैं : एक स्वेच्छाचार का और दूसरा संयम का। यदि तुम्हें यह प्रतीत होता हो कि टाल्स्टाय ने जीना और मरना जाना था तो तुम देख सकते हो कि दुनिया में सबके लिए और विशेषतः युवकों के लिए संयम का मार्ग ही सच्चा मार्ग है। हिन्दुस्तान में तो खास तौर पर है ही। ...देश में पश्चिम से तरह-तरह की हवाएं, मेरी दृष्टि में जहरी हवाएं, आती हैं। टाल्सटाय के जीवन के समान सुन्दर हवा भी आती है सही; परन्तु वह प्रत्येक स्टीमर में थोड़े ही आती है। प्रत्येक स्टीमर में कहो या प्रतिदिन कहो। कारण कि प्रतिदिन कोई-न-कोई स्टीमर बम्बई या कलकत्ते के बन्दरगाह में आता ही है। दूसरे परदेशी सामान के समान उसमें परदेशी साहित्य भी आता है। उनके विचार मनुष्य को चकनाचूर करनेवाले होते हैं, स्वेच्छाचार की तरफ ले जानेवाले होते हैं। ...तिलक महाराज कह गये हैं कि हमारे

यहां 'कान्श्यन्स' का पर्यायवाची शब्द नहीं है। हम यह नहीं मानते कि प्रत्येक व्यक्ति के 'कान्श्यन्स' होता है। पश्चिम में यह बात मानते हैं। व्यभिचारी के लिए, लम्पट के लिए, कान्श्यन्स क्या हो सकता है? इसीलिए तिलक महाराज ने 'कान्श्यन्स' की जड़ ही उड़ा दी। हमारे ऋषि-मुनियों ने कहा है कि अन्तर्नाद सुनने के लिए अन्तर्कर्ण भी चाहिए, अन्तर्चक्षु भी चाहिए और उसे प्राप्त करने के लिए संयम की आवश्यकता है। इसलिए पातंजल योगदर्शन में योगाभ्यास करनेवालों के लिए, आत्मदर्शन की इच्छा रखनेवालों के लिए, पहला पाठ यम-नियम पालन करने का बताया है। सिवाय संयम के मेरे, तुम्हारे या अन्य किसीके पास कोई दूसरा मार्ग ही नहीं है। यही टाल्स्टाय ने अपने लम्बे जीवन में संयमी रहकर बताया। मैं चाहता हूं, प्रभु से प्रार्थना करता हूं कि यह चीज हम उसी तरह साफ देख सकें जैसे कि आंखों के आगे का दीया स्पष्ट देखते हैं और आज एकत्र हुए हैं तो ऐसा निश्चय करके बिखरें कि टाल्स्टाय के जीवन में से हम संयम की साधना करनेवाले हैं।

निश्चय कर लो कि हम सत्य की आराधना छोड़नेवाले नहीं हैं। सत्य के लिए दुनिया में सच्ची अहिंसा ही धर्म है। अहिंसा प्रेम का सागर है। उसका नाम जगत में कोई ले सका ही नहीं। उस प्रेमसागर से हम सराबोर हो जायं तो हममें ऐसी उदारता आ सकती है कि उसमें सारी दुनिया को हम विलीन कर सकते हैं। यह बात कठिन अवश्य है; किन्तु है साध्य ही। इसीसे हमने प्रारम्भ में प्रार्थना में सुना कि शंकर हों या विष्णु; ब्रह्मा हों या इंद्र; बुद्ध हों या सिद्ध; मेरा सिर तो उसीके आगे झुकेगा जो रागद्वेष-रहित हों; जिसने काम को जीता हो; जो अहिंसा, प्रेम की प्रतिमा हो। यह अहिंसा लूले-लंगड़े प्राणियों को न मारने में समाप्त नहीं होती। उसमें धर्म हो सकता है, परन्तु प्रेम तो उससे भी बहुत आगे बढ़ा हुआ है। उसके दर्शन जिसको नहीं हुए वह लूले-लंगड़े प्राणियों को बचाये तो उससे क्या होना जाना था! ईश्वर के दरबार में इसकी कीमत बहुत कम कूती जायगी। तीसरी बात है 'ब्रेड लेबर'—यज्ञ। शरीर को कष्ट देकर मेहनत करके ही खाने का हमें अधिकार है। पारमार्थिक दृष्टि से किया हुआ काम यज्ञ है। मजदूरी करके भी सेवा के हेतु जीना है। लम्पट

होने को या दुनिया के भोगों का उपभोग करने को जीवित रहना नहीं कहते हैं। कोई कसरतबाज नौजवान आठ घंटे कसरत करे तो यह 'ब्रेड लेबर' नहीं है। तुम कसरत करो, शरीर को मजबूत बनाओ तो इसकी मैं अवगणना नहीं करता; परंतु जो यज्ञ टाल्स्टाय ने कहा है, गीता के तीसरे अध्याय में जो बताया गया है, वह यह नहीं है। जीवन यज्ञ की खातिर है, सेवा के लिए है। जो ऐसा समझेगा वह भोगों को कम करता जायेगा। इस आदर्श साधन में ही पुरुषार्थ है। भले ही इस वस्तु को किसीने सर्वांश में प्राप्त न किया हो, भले ही वह दूर-ही-दूर रहे; किंतु फरहाद ने जिस तरह शीरीं के लिए पत्थर फोड़े उसी तरह हम भी पत्थर तोड़ें। हमारी यह शीरीं अहिंसा है। उसमें हमारा छोटा-सा स्वराज्य तो शामिल है ही, बल्कि उसमें तो सभी कुछ समाया है।[1] (हि० न० २०.९.२८)

... ...

रस्किन का Fors Clavigera (**फोर्स क्लेविजेरा**) **बापू ने बहुत रस के साथ पढ़ना शुरू किया और आज कहने लगे**—"यह पुस्तक तो बार-बार पढ़ें तो भी थकान नहीं मालूम होती। इसमें से तो नई-नई बातें सूझती हैं।"

शिक्षा की बुनियाद के बारे में कुछ विचार बहुत सुंदर लगने के कारण इस विषय पर एक छोटा-सा लेख आश्रम को भेजा।[2] **मैंने (महादेवभाई) रस्किन**

---

[1] गत १० सितंबर को महर्षि टाल्स्टाय की जन्म-शताब्दी के अवसर पर सत्याग्रहाश्रम में दिये गए व्याख्यान का सारांश।

[2] जॉन रस्किन एक उत्तम प्रकार का लेखक, अध्यापक और धर्मज्ञ था। उसका देहांत १८८० के आसपास हुआ। उसकी एक पुस्तक का मुझपर बहुत ही गहरा असर पड़ा और उसीके सुझाये हुए रास्ते पर मैंने एक क्षण में जिंदगी में महत्वपूर्ण परिवर्तन कर डाला। यह बात ज्यादातर आश्रमवासी तो जानते ही होंगे। उसने सन् १८७१ में सिर्फ मजदूरवर्ग को ध्यान में रखकर एक मासिक पत्र लिखना शुरू किया था। उन पत्रों की तारीफ मैंने टाल्स्टाय की किसी रचना में पढ़ी थी। मगर वे पत्र मैं आज तक जुटा नहीं सका। उसकी प्रवृत्ति और रचनात्मक कार्य के विषय में एक पुस्तक मेरे साथ आ गई थी, उसे यहां पढ़ा। उसमें भी उन पत्रों का उल्लेख था। इसपर से मैंने रस्किन की एक शिष्या को विलायत में लिखा। वही इस पुस्तक की लेखिका है। वह बेचारी गरीब, इसलिए ये पुस्तकें कहां से भेज सकती थी? मूर्खता से या झूठे विनय से मैंने उसे आश्रम से रुपया मंगा लेने को नहीं लिखा। इस भली स्त्री ने अपने से ज्यादा समर्थ मित्र को मेरा खत भेज दिया। वह 'स्पेक्टेटर' के मालिक हैं। उनसे मैं विलायत में मिला भी था। उन्होंने

और टॉल्स्टॉय के बीच एक समानता सुझाई, "टॉल्स्टाय ने अपना कलानिष्ठ जीवन छोड़कर सेवानिष्ठ जीवन की शुरुआत की और कला की पुस्तकों का लिखना बिलकुल त्याग कर ऐसी घरेलू पुस्तकें और कहानियां लिखना शुरू किया, जिनसे आम लोगों की उन्नति हो। रस्किन के जीवन का पहला हिस्सा भी कलानिष्ठा का था। इस कलानिष्ठा के काल में उसने मॉडर्न पेण्टर्स, स्टोन्स ऑव वेनिस आदि पुस्तकें लिखीं। बाद में उसे लगा कि सौन्दर्य की उपासना चीज तो अच्छी है, मगर आस-पास दुःख, दारिद्र्य और फूट हो तो सौन्दर्य का आनंद कैसे लूटा जा सकता है? इसलिए उसने अपनी कलम खून और आंसुओं में डुबोई और 'अण्टु दिस लास्ट' ('सर्वोदय') लिखा। जो आलोचना टाल्स्टाय की हुई वह रस्किन की भी हुई।" बापू ने कहा—

यह तुलना एक खास हद के बाद नहीं रहती; क्योंकि टाल्स्टाय ने तो

ये पत्र पुस्तकाकार चार भागों में छपाये हैं, सो भेज दिये। इनमें से पहला भाग मैं पढ़ रहा हूं। इनके विचार उत्तम हैं और हमारे बहुत-से विचारों से मिलते-जुलते हैं—यहां-तक कि अनजान आदमी तो यही मान लेगा कि मैंने जो कुछ लिखा है और आश्रम में हम जो भी आचरण करते हैं, वह रस्किन की इन रचनाओं से चुराया हुआ है। 'चुराया हुआ' शब्द का अर्थ तो समझ में आ ही गया होगा। जो विचार या आचार जिससे लिया हो उसका नाम छिपाकर यह बताया जाय कि यह हमारी अपनी कृति है, तो वह चुराया हुआ माना जाता है।

रस्किन ने बहुत लिखा है। उसमें से इस बार तो थोड़ा ही देना चाहता हूं। वह कहता है कि इस कथन में गंभीर भूल है कि बिलकुल अक्षरज्ञान न होने से कुछ होना अच्छा ही है। रस्किन की साफ राय यह है कि जो सच्ची है, आत्मा का ज्ञान करानेवाली है, वही शिक्षा है और वही लेनी चाहिए। और बाद में वह कहता है कि इस दुनिया से मनुष्य मात्र को तीन चीजों की और तीन गुणों की आवश्यकता है। जो इन्हें हासिल करना नहीं जानता, वह जीने का मंत्र ही नहीं जानता। और इसलिए ये छः चीजें शिक्षा का आधार होनी चाहिए। इस तरह मनुष्य-मात्र को बचपन से—फिर भले वह लड़का हो या लड़की—जानना ही चाहिए कि साफ हवा, साफ पानी और साफ मिट्टी किसे कहते हैं, इन्हें किस तरह रखा जाय और इनका उपयोग क्या है। इसी तरह तीन गुणों में उसने गुणज्ञता, आशा और प्रेम को गिना है। जिनमें सत्यादि की कद्र नहीं, जो अच्छी चीज को पहचान नहीं सकते, वह अपने घमंड में फिरते हैं और आत्मानंद नहीं पा सकते। इसी तरह जिनमें आशावाद नहीं यानी जो ईश्वर के न्याय के बारे में शंका रखते हैं,

कला-जीवन की यानी अपने भूतकाल की निंदा की, उससे इन्कार किया, जबकि रस्किन ने Unto this Last (अण्टु दिस लास्ट) और Fors (फोर्स) लिखकर अपने कला-जीवन पर कलश चढ़ा दिया।

मैंने कहा—"टाल्स्टाय तो क्रान्तिकारी था, इसलिए उसने जीवन में भी परिवर्तन किया और रस्किन विचार देकर बैठा रहा।"

बापू बोले—

यह तो बहुत बड़ा फर्क है न ? टाल्स्टाय का-सा जीवन-परिवर्तन रस्किन में नहीं है।

वल्लभभाई ने कहा—"लेकिन आज रस्किन का नाम तो विलायत में सचमुच कोई नहीं लेता न ?"

बापू बोले—

हां, नहीं लेता, मगर रस्किन भुलाया नहीं जा सकता। उसका जमाना आ रहा है। ऐसा समय आ रहा है कि जिसने रस्किन को नहीं सुना और उसके बारे में लापरवाही दिखाई, वह रस्किन की तरफ मुड़ेगा।

(म० डा०, २८.३.३२)

उनका हृदय कभी प्रफुल्लित नहीं रह सकता, और जिनमें प्रेम नहीं यानी अहिंसा नहीं, जो जीव-मात्र को अपने कुटुंबी नहीं मान सकते वह जीने का मंत्र कभी नहीं साध सकते।

इस बात पर रस्किन ने अपनी चमत्कारी भाषा में बहुत विस्तार से लिखा है। यह तो फिर किसी वक्त समाज के समझने लायक ढंग से दे सकूं तो ठीक ही है ! आज तो इतने से ही संतोष कर लेता हूं। साथ ही इतना और कह दूं कि जो कुछ हम अपने देहाती शब्दों में विचारते रहे हैं और आचरण में लाने का प्रयत्न कर रहे हैं, लगभग वही सब रस्किन ने अपनी प्रौढ़ और विकसित भाषा में और अंग्रेज जनता समझ सके इस ढंग से पेश किया है। यहां मैंने तुलना दो अलग भाषाओं की नहीं की है, बल्कि दो भाषा-शास्त्रियों की की है। रस्किन के भाषा-शास्त्र के ज्ञान के साथ मेरे जैसा आदमी मुकाबला नहीं कर सकता। मगर ऐसा समय जरूर आयेगा जब भाषा-मात्र का प्रेम व्यापक होगा। तब भाषा के पीछे धूनी रमानेवाले रस्किन-जैसे शास्त्री निकल आयेंगे और वह उतनी ही प्रभावशाली गुजराती लिखेंगे, जितनी प्रभावशाली अंग्रेजी रस्किन ने लिखी है।

२८.३.३२

यरवदा मंदिर

टाल्स्टाय एक बड़ा योद्धा था, पर जब उसने देखा कि लड़ाई अच्छी चीज नहीं है तब लड़ाई को मिटा देने की कोशिश करते-करते वह मर गया। उसने कहा है कि दुनिया में सबसे बड़ी शक्ति लोकमत है और वह सत्य और अहिंसा से पैदा हो सकता है। (प्रा० प्र०, १०.६.४७)

: ७३ :

अमृतलाल वि० ठक्कर

ठक्करबापा आगामी २७ नवंबर को ७० वर्ष के हो जायंगे। बापा हरिजनों के पिता हैं और आदि-वासियों और उन सबके भी, जो लगभग हरिजनों की ही कोटि के है और जिनकी गणना अर्द्धसभ्य जातियों में की जाती है। दिल्ली के हरिजन-निवास-वासियों की तजवीज इस प्रकार उनकी ७०वीं जयंती मनाने की है कि जिससे ठक्करबापा के जन्म-दिवस पर, हरिजन-कार्य-के निमित्त, उन्हें ७०००) की एक विनम्र थैली भेंट करना चाहते हैं। इसके लिए उन्होंने मेरा आशीर्वाद मांगा है। यह भी चाहते हैं कि उनके इस शुभ प्रयत्न को मैं प्रकाश में ला दूं। पर मैंने तो उन्हें झिड़का है कि उनमें आत्म-श्रद्धा की कमी है। ठक्करबापा एक विरल लोकसेवक हैं। वह विनम्र स्वभाव के हैं। वह प्रशंसा के भूखे नहीं। उनका जीवन-कार्य ही उनका एकमात्र संतोष और विश्राम है। वृद्धावस्था उनके उत्साह को मंद नहीं कर सकी है। वह स्वयं एक संस्था हैं। एक बार जब मैंने उनसे कहा कि वह थोड़ा आराम ले लें तो तुरंत उनका जवाब आया, "जब इतना तमाम काम करने को पड़ा है, तब मैं आराम कैसे ले सकता हूं? मेरा काम ही आराम है।" अपने जीवन-कार्य में वह जिस प्रकार अपनी शक्ति लगा रहे हैं, उसे देखकर तो उनके आसपास रहनेवाले नवयुवक भी लज्जित हो जाते हैं। इतने महान् कार्य के लिए और उस जन-सेवक के लिए, जो अपने विशाल वृद्ध कंधों पर इतना भारी भार वहन कर रहा है, ७०००) की थैली एक प्रकार का अपमान है। कार्यकर्त्ताओं का तो यह लक्ष्य होना चाहिए कि सारे हिंदुस्तान से वह ७०,०००) रु० से कम तो किसी हालत में इकट्ठे नहीं करेंगे। महान् सेवा-प्रवृत्ति और उसके सेवा-रत पिता को देखते हुए, यह ७०,०००)

की रकम भी कोई चीज नहीं है। लेकिन एक महीने के अंदर यह रकम इकट्ठी करनी है, इस दृष्टि से यह ठीक ही है। (ह० से०, २१.१०.३९)

... ...

भारत-सेवक-समिति को अपने प्राणों की तरह प्रिय समझनेवाले एक मित्र श्री ठक्करबापा-कोष के लिए दस रुपये का चंदा भेजते हुए लिखते हैं :

"श्री ठक्करबापा की प्रशंसा में लिखे गये आपके एक-एक शब्द का मैं समर्थन करता हूं। इस सम्बन्ध में मेरी एक ही सूचना है और वह यह कि बापा के पुण्य कार्यों का सारा श्रेय भारत-सेवक-समिति को महज इसलिए नहीं मिलना चाहिए कि बापा उसके एक सदस्य हैं। समिति ने बिना किसी हिचकिचाहट के उनको अपना सदस्य माना है और बापा के द्वारा मानव-जाति की महान् सेवा हुई है, उसपर उसने हमेशा ही गर्व किया है।"

यह शिकायत बिलकुल ठीक है। दरअसल, बात तो यह है कि बापा की कई विशेषताओं का उल्लेख करते हुए मैं उनकी एक खास विशेषता का उल्लेख करना भूल गया हूं, इसका मुझे खयाल ही न रहा। बात यह है कि भारत-सेवक-समिति की सदस्यता स्वीकार करने से पहले बापा म्युनिसिपल कॉरपोरेशन, बम्बई के रोड-इंजीनियर का काम करते थे। हरिजन-सेवक-संघ को उनकी सेवाएं भारत-सेवक-समिति की ओर से ही बतौर कर्ज के मिली हैं। मैं मानता हूं कि मेरी ओर से समिति को किसी प्रकार के विज्ञापन की जरूरत नहीं है और चूंकि मैं अपने-आपको इस समिति का एक स्वतः नियुक्त और अनियमित सदस्य समझता हूं, इसलिए समिति की प्रशंसा में कुछ लिखना मैं अपनी ही प्रशंसा करने के समान समझता हूं। लेकिन जरूरत पड़ने पर मैं ऐसे नाजुक काम भी अच्छी तरह कर सकता हूं। समिति के नाम का उल्लेख तो अकस्मात् ही छूट गया था। मुझपर काम का काफी बड़ा बोझ रहता है। मैंने सोचा तो था कि मैं बापा का जिक्र करते हुए भारत-सेवक-समिति का भी जिक्र करूंगा; लेकिन आखिर जैसा कि जाहिर है, बात ध्यान में न रही। (ह० से०, ४.११.३९)

... ...

बापा की इकहत्तरवीं जयंती मनाने में मुझे हाजिर होना चाहिए। लेकिन मैं इस लायक नहीं रहा हूं। मेरी तो हार्दिक आशा है कि बापा सौ

वर्ष पूरे करें। बापा का जन्म ही दलितों की सेवा के लिए है, वह भले ही अस्पृश्य हों या भिल्ल या संताल या खासी इत्यादि। उनकी कदर करने में भी हम दलितों की कुछ-न-कुछ सेवा करते हैं। बापा की सेवा में हिंदुस्तान को बढ़ाया है। (ह० से०, ६.१२.३६)

: ७४ :

एस० वी० ठकार

श्री एस० वी० ठकार एक मूक परन्तु कुशल सेवक हैं। हरिजनों की सेवा के उपरान्त उन्होंने और भी कई क्षेत्रों में काफी काम किया है। उन्होंने मुझे एक सविस्तर रिपोर्ट भेजी है। उसमें उन्होंने वर्णन दिया है कि कैसे एक जगह भिल्लों के दो पक्षों में सख्त झगड़ा पैदा हो गया था; परन्तु सरकार की मदद लेकर वह बीच में पड़े, उससे फसाद होते-होते रुक गया। भिल्लों के एक अत्यंत प्रभावशाली सुधारक स्वर्गस्थ श्रीगुले महाराज थे, वह खुद भिल्ल थे। उनकी सरलता और हृदय की सच्ची लगन के कारण उनकी गहरी छाप भिल्ल जनता पर पड़ी थी। उससे प्रेरित होकर उन्होंने हजारों की संख्या में शराब पीना और दूसरी कई बुराइयों को छोड़ दिया था। साल पहले उनका देहांत होने पर एक और आदमी ने उनकी जगह ली। सुधारक पक्ष ने, जिन लोगों ने बुराइयों को नहीं छोड़ा था उनका बहिष्कार किया, इससे काफी वैमनस्य उनमें पैदा हो गया है। एक समय तो ऐसा लगने लगा था कि अभी मारपीट शुरू होगी। श्री ठकार के ठीक समय पर प्रयत्न से वह तो रुक गई; परन्तु उसके साथ सुधार की प्रवृत्ति को भी धक्का पहुंचा है। अभी सुधारकों के विरोधियों का पक्ष प्रबल है और अगर पहले की तरह आंन्दोलन में शुद्ध धार्मिक प्रेरणा फिर से पैदा न हो सकी तो अंदेशा है कि आंदोलन बिल्कुल बैठ जायगा। इसमें से जैसे कि श्री ठकार लिखते हैं हमें पाठ तो यह मिलता है कि हमारा हेतु चाहे कितना नेक हो अगर उसमें हिंसा का मिश्रण हो तो सब काम बिगड़ जाता है। किसी भी सुधारक प्रवृत्ति की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि स्वेच्छा और ज्ञानपूर्वक उसे जनता का सहकार मिले। बलात्कार से हम लोगों की आदतें सुधार नहीं

सकते। (ह० से०, १८.१.४२)

: ७५ :

द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर

रवींद्रनाथ ठाकुर के बड़े भाई द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर जो 'बड़े दादा' के नाम से पहचानते हैं उनका, पिता का जैसा पुत्र के प्रति प्रेम होता है वैसा ही मुझपर प्रेम है। वह मेरे दोष देखनेके लिए साफ इन्कार करते हैं। उनके खयाल से तो मैंने कोई गलती ही नहीं की। मेरा असहयोग, मेरा चरखा, मेरा सनातनीपन, हिंदू-मुसलमान ऐक्य की मेरी कल्पना, अस्पृश्यता का मेरा विरोध सब यथायोग्य हैं और इसीमें स्वराज्य है, यह मेरी मान्यता उनकी भी मान्यता है। पुत्र पर मोहित पिता उसके दोष नहीं देखता है, उसी प्रकार बड़े दादा भी मेरे दोष देखना नहीं चाहते हैं। उनके मोह और प्रेम का तो भला मैं यहांपर उल्लेख ही कर सकता हूं उसका वर्णन मुझसे हो ही नहीं सकता। उस प्रेम के योग्य बनने का मैं प्रयत्न कर रहा हूं। उनकी उम्र अस्सी से भी ज्यादा है। लेकिन छोटी-से-छोटी बात की वह खबर रखते हैं। उन्हें यह भी खबर है कि हिंदुस्तान में आज क्या चल रहा है। वह दूसरों से पढ़ा-कर सुनते हैं और यह सब खबर प्राप्त करते हैं। दोनों भाइयों को वेदादि का गहरा अभ्यास है। दोनों संस्कृत जानते हैं। दोनों की बातचीत में उपनिषद और गीता के मंत्र और श्लोक बराबर सुनाई देते हैं। (हि० न०, ११.६.२५)

... ...

इस बात पर विश्वास लाना कि द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर अब नहीं रहे, बड़ा ही कठिन है। शांतिनिकेतन के तार से यह शोकजनक समाचार मिला है कि बड़े दादा को चिरशांति प्राप्ति हुई है। उनकी उम्र नव्वे वर्ष के लगभग थी, फिर भी उनमें जो आनंद और उत्साह दिखाई देता था उसके कारण उनके पास जानेवाले को कभी मालूम ही नहीं होता था कि उनके भौतिक अस्तित्व के अब थोड़े ही दिन बाकी हैं। प्रतिभासंपन्न पुरुषों के उस कुटुंब में बड़े दादा का स्थान महत्त्व का था। वह विद्वान थे, संस्कृत और अंग्रेजी दोनों अच्छी तरह जानते थे; लेकिन इसके अलावा वह बड़े धार्मिक मनुष्य

थे और उनका हृदय भी विशाल था। वह श्रद्धा से उपनिषदों को ही मानते थे, फिर भी संसार की दूसरी धर्म-पुस्तकों से प्रकाश पाने के लिए भी वह स्वतंत्र थे। उन्हें अपने देश से बड़ा प्रेम था, फिर भी उनकी देशभक्ति दूसरे गुणों की विरोधिनी न थी। वह अहिंसात्मक असहयोग के आध्यात्मिक रहस्य को समझते थे; लेकिन इसके साथ यह नहीं कि वह उसके राजनैतिक महत्त्व को भी न समझते हों। वह चरखे में दिल से विश्वास रखते थे और अपनी वृद्धावस्था में भी उन्होंने खादी धारण की थी। एक युवक में जितना उत्साह होता है उतने ही उत्साह के साथ वह वर्तमान बातों को जानने के लिए प्रयत्न करते थे। बड़े दादा की मृत्यु से हम लोगों में से एक साधु, तत्वज्ञानी और स्वदेशभक्त उठ गया है। मैं कवि और शांतिनिकेतनवासियों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करता हूं। (हि० न०, २१.१.२६)

: ७६ :

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

लार्ड हार्डिंज ने डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर को एशिया के महाकवि की पदवी दी थी; पर अब रवीन्द्रबाबू न सिर्फ एशिया के बल्कि संसार भर के महाकवि गिने जा रहे हैं। यदि अभी नहीं तो कम-से-कम बहुत जल्द उनका नाम संसार भर के महाकवियों में गिना जाने लगेगा। दिन-पर-दिन उनकी प्रतिष्ठा और प्रभाव बढ़ रहा है, जिससे उनकी जिम्मेदारी भी दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है। उनके हाथ से भारतवर्ष की सबसे बड़ी सेवा यह हुई है कि उन्होंने अपनी कविता द्वारा भारतवर्ष का संदेश संसार को सुनाया है। इसीसे रवीन्द्रबाबू को सच्चे हृदय से इस बात की चिंता है कि भारतवासी भारत-माता के नाम से कोई झूठा या सारहीन संदेशा संसार को न सुनावें। हमारे देश का नाम न डूबने पावे, इस बात की चिन्ता करना रवीन्द्रबाबू के लिए स्वाभाविक ही है। उन्होंने लिखा है कि मैंने इस आंदोलन की तान के साथ अपनी तान मिलाने की भरसक कोशिश की; पर मुझे निराश होना पड़ा। उन्होंने यह भी लिखा है कि असहयोग-आंदोलन के शोरगुल में मुझे

अपनी हृदय-वीणा के लिए कोई उचित स्वर नहीं मिल सका। तीन जोर-दार पत्रों में उन्होंने इस आंदोलन के संबंध में अपना संदेह प्रकट किया है। अंत में वह इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि असहयोग का आंदोलन ऐसा गंभीर और गौरवपूर्ण नहीं है कि वह उस भारतवर्ष के योग्य हो सके, जिसे वह अपनी कल्पना का आदर्श समझे हुए हैं। उनका मत है कि असहयोग का सिद्धांत खंडन और निराशा का सिद्धांत है। रवीन्द्रबाबू की समझ में वह सिद्धांत भेदभाव और अनुदारता से भरा हुआ है।

रवीन्द्रबाबू के हृदय में भारतवर्ष की प्रतिष्ठा के लिए जो चिंता है उसके लिए हर हिंदुस्तानी को अभिमान होना चाहिए। यह बहुत अच्छी बात हुई है कि उन्होंने अपना संदेह ऐसी सुन्दर और सरल भाषा में प्रकट कर दिया।

मैं रवीन्द्रबाबू के संदेहों का उत्तर बड़ी नम्रता के साथ देने का प्रयत्न करूंगा। मैं रवीन्द्रबाबू या उन लोगों को, जिनके हृदय पर रवीन्द्रबाबू की कवितापूर्ण भाषा का प्रभाव पड़ा है, शायद विश्वास न दिला सकूं, पर मैं उनको और कुल भारतवर्ष को यह विश्वास दिलाना चाहता हूं कि असहयोग के उद्देश्य के संबंध में उनका जो कुछ संदेह है वह बिल्कुल निर्मूल है। मैं उन्हें यह विश्वास दिलाना चाहता हूं कि यदि उनके देश ने असहयोग के सिद्धांत को स्वीकार किया है तो इसमें उनके शरमाने की कोई बात नहीं है। अगर यह सिद्धांत अमली तौर पर काम में आने में असफल हो तो सिद्धांत का दोष न कहा जायगा, क्योंकि अगर सच्चाई को अमली तौर पर काम में लानेवाले आदमी सफल होते हुए न दिखाई पड़ें तो इसमें सच्चाई का कोई दोष नहीं है। हां, यह संभव है कि असहयोग-आंदोलन शायद अपने समय के पहले ही शुरू हो गया हो। तब हिंदुस्तान और संसार दोनों को उस उचित समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए। पर हिंदुस्तान के सामने तलवार और असहयोग इन दोनों को छोड़कर और कोई उपाय नहीं था। अपनी सहायता के लिए कोई उपाय चुनना है तो वह इन्हीं दोनों में से चुन सकता है।

रवीन्द्रबाबू को इस बात से भी न डरना चाहिए कि असहयोग-आंदोलन भारतवर्ष तथा यूरोप के बीच में एक बड़ी भारी दीवार खड़ी करना चाहता

है। इसके विरुद्ध असहयोग-आन्दोलन का मंशा यह है कि आपस के आदर और विश्वास की बुनियाद पर बिना किसी दबाव के सच्चे तथा प्रतिष्ठित सहयोग के लिए पक्का रास्ता तैयार किया जाय। यह आंदोलन इसलिए चलाया गया है कि जिसमें हमसे कोई जबरदस्ती सहयोग न करा सके। हमारे विरुद्ध दल बांधकर हमें कोई नुकसान न पहुंचा सके और सभ्यता के नाम से तथा तलवार के जोर से आजकल जो तरीके हमारा खून चूसने के लिए काम में लाये जा रहे हैं वे न लाये जा सकें। असहयोग-आंदोलन इस बात के विरोध में किया गया है कि हमारी इच्छा बिना और हमारे जाने बिना हमसे बुराई में सहयोग कराया जा रहा है।

रवीन्द्रबाबू को अधिकतर चिंता विद्यार्थियों के बारे में है। उनका मत यह है कि जबतक दूसरे स्कूल न खुल जायं तबतक उनसे सरकारी स्कूल छोड़ने को न कहा जाय। इस बात में मेरा उनसे पूरा मतभेद है। मैंने कोरी साहित्य की शिक्षा को कभी परम आवश्यक नहीं समझा है। अनुभव से मुझे यह मालूम हो गया है कि अकेली साहित्य की शिक्षा से मनुष्य के चरित्र की उन्नति रत्ती भर भी नहीं होती। मेरा यह भी विश्वास है कि चरित्र-निर्माण से साहित्य की शिक्षा का कोई सम्बन्ध नहीं है। मेरा यह पक्का विश्वास है कि सरकारी स्कूलों ने हमें बुजदिल, लाचार और अविश्वासी बना दिया है। उनके सबब से हमारे हृदय में असंतोष तो उत्पन्न हो गया है; पर उस असंतोष को दूर करने के लिए कोई दवा हमें नहीं बतलाई गई है, जिससे हमारे हृदयों में निराशा ने घर कर लिया है। सरकारी स्कूलों का उद्देश्य हमें क्लर्क और दुभाषिया बनाना था। वह पूरा हो गया है। किसी सरकार की धाक तभी कायम रहती है जब प्रजा स्वयं अपनी इच्छा से उस सरकार से सहयोग करती है। अगर सरकार हमें गुलाम बनाये हुए है और ऐसी सरकार के साथ सहयोग करना और उसे सहायता देना अनुचित है तो हमारे लिए यह जरूरी है कि हम उन संस्थाओं से अपना नाता तोड़ दें जिनमें हम स्वयं अपनी इच्छा से अबतक सहयोग दे रहे हैं। जाति की आशा उसके नौजवानों पर निर्भर होती है। मेरा यह मत है कि अगर हमें इस बात का पता लग जाय कि यह सरकार पूरी तरह से मरी हुई है तो अपने लड़कों को उसके स्कूलों और कालेजों में भेजना हमारे लिए

पाप का काम होगा।

मैंने जो प्रस्ताव राष्ट्र के सामने रखा है उसका खंडन इस बात से नहीं हो सकता कि अधिकतर विद्यार्थी पहली बार का जोश ठंडा होते ही अपने स्कूलों में फिर से वापस चले गये। उनका अपनी बातों से टल जाना इस बात का सबूत नहीं है कि हमारा यह प्रस्ताव गलत है; बल्कि इस बात का सबूत है कि हम किस कदर नीचे गिर गये हैं। अनुभव से यह पता लगा है कि राष्ट्रीय स्कूलों के खुलने से बहुत ज्यादा विद्यार्थी उनमें भरती नहीं हुए। जो विद्यार्थी सच्चे और अपने विश्वास के पक्के थे वह बिना कोई राष्ट्रीय स्कूल खुले हुए भी सरकारी स्कूलों से बाहर निकल आये। मेरा पक्का निश्चय है कि जिन विद्यार्थियों ने पहले-पहल स्कूल-कालेज छोड़ा है उन्होंने देश की बहुत बड़ी सेवा की है।

वास्तव में रवीन्द्रबाबू जड़ से ही असहयोग सिद्धांत के विरुद्ध हैं। ऐसी हालत में अगर उन्होंने स्कूल और कालेजों से विद्यार्थियों के निकलने का विरोध किया तो कोई बड़ी बात नहीं है। उनका ऐसा करना तो स्वाभाविक ही था। रवीन्द्रबाबू के हृदय में ऐसी हरएक वस्तु से धक्का पहुंचता है जिसका उद्देश्य खंडन करना है। उनकी आत्मा धर्म की उन आज्ञाओं के विरोध में उठ खड़ी होती है जो हमें किसी वस्तु का खंडन करने के लिए कहती है। मैं उनका मत उन्हींके शब्दों में आपके सामने रख देता हूं—"एक महाशय ने इस वर्तमान आंदोलन के पक्ष में मुझसे अक्सर यह कहा है कि प्रारंभ में किसी उद्देश्य को स्वीकार करने की अपेक्षा उसे अस्वीकार करने का भाव प्रबल रहता है। यद्यपि मैं यह मानता हूं कि वास्तव में बात ऐसी ही है, पर मैं इस बात को सच्ची नहीं मान सकता। भारतवर्ष में ब्रह्मविद्या का उद्देश्य मुक्ति या मोक्ष है; पर बौद्धधर्म का उद्देश्य निर्वाण प्राप्त करना है। मुक्ति हमारा ध्यान सत्य के मंडनात्मक पक्ष की ओर और निर्वाण उसके खंडनात्मक पक्ष की ओर खींचता है। इसीलिए बुद्ध भगवान ने इस बात पर जोर दिया कि संसार दुःखमय है तथा उससे छुटकारा पाना हमारा धर्म है और ब्रह्मविद्या ने इस बात पर जोर दिया कि संसार आनंदमय है और उस आनन्द को प्राप्त करना हमारा परम कर्तव्य है।" इन वाक्यों और इसी तरह के दूसरे वाक्यों से पाठकगण रवीन्द्रबाबू की मान-

सिक वृत्ति का पता लगा सकते हैं। मेरी नम्र राय में किसी बात का खंडन या अस्वीकार करना वैसा ही आदर्श है जैसा किसी बात का स्वीकार करना या मंडन करना। असत्य का अस्वीकार करना उतना ही जरूरी है जितना सत्य का स्वीकार करना। सब धर्म हमें यही शिक्षा देते हैं कि दो विरोधी शक्तियां हमपर अपना प्रभाव डाल रही हैं, और मनुष्य-जीवन का प्रयत्न इसी बात में रहता है कि वह लगातार स्वीकार करने योग्य वस्तु को स्वीकार और अस्वीकार करने योग्य को अस्वीकार करता रहे। बुराई के साथ असहयोग करना हमारा उतना ही कर्तव्य है जितना भलाई के साथ सहयोग करना। मैं साहस से कह सकता हूं कि रवीन्द्रबाबू ने निर्वाण को केवल एक खंडनात्मक या अभाव-सूचक दिशा बतलाकर बौद्ध धर्म के साथ बड़ा अन्याय किया है। हां, मैं मानता हूं कि उन्होंने यह अन्याय जान-बूझकर नहीं किया। मैं साहस के साथ यह भी कह सकता हूं कि जिस तरह निर्वाण एक अभावात्मक दशा है, उसी तरह से मुक्ति भी अभाव को सूचित करनेवाली एक अवस्था है। शरीर के बंधन से छुटकारा पाना या उस बंधन का बिलकुल नाश हो जाना, आनंद प्राप्त करना है। मैं अपनी दलील के इस हिस्से को खतम करते हुए इस बात की ओर ध्यान खींचना चाहता हूं कि उपनिषदों के रचयिताओं ने ब्रह्म का सबसे अच्छा वर्णन 'नेति' किया है।

इसलिए मेरी समझ में रवीन्द्रबाबू को असहयोग-आंदोलन के अभावात्मक या खंडनात्मक रूप पर चौंकने की कोई जरूरत न थी। हम लोगों ने 'नहीं' कहने की शक्ति बिलकुल गंवा दी है। सरकार के किसी काम में 'नही' कहना पाप और अराजकता गिना जाने लगा था। जिस तरह से कि बोने के पहले निराई करना बहुत जरूरी है उसी तरह से सहयोग करने के पहले जान-बूझकर पक्के इरादे के साथ असहयोग करना हम लोगों ने जरूरी समझा है। खेती के लिए जितनी बुआई जरूरी है, उतनी ही निराई जरूरी है। वास्तव में उस समय भी हर रोज निराई जरूरी है जबकि फसलें उगती रहती हैं। इस असहयोग-आंदोलन के रूप में जाति की ओर से सरकार को इस बात का निमंत्रण दिया है कि जिस तरह से हरएक जाति का हक और हरएक अच्छी सरकार का धर्म है, उसी तरह से इस सरकार को भी चाहिए कि वह जाति के साथ सहयोग करे। असहयोग-आंदोलन जाति की ओर से

इस बात का नोटिस है कि वह अब और ज्यादा दिनों तक दूसरों की संरक्षकता में रहकर संतोष न करेगी। हिंदुस्तान ने तलवार या मारकाट के अस्वाभाविक और अधार्मिक सिद्धांत के स्थान पर असहयोग के निर्दोष, प्राकृतिक और धार्मिक सिद्धांत को ग्रहण किया है। अगर हिंदुस्तान कभी उस स्वराज्य को प्राप्त करेगा, जिसका स्वप्न रवीन्द्रबाबू देख रहे हैं तो वह सिर्फ शांतिपूर्वक असहयोग-आंदोलन के द्वारा प्राप्त करेगा। वह चाहें तो संसार को अपना शांतिपूर्ण संदेशा सुनावें और इस बात का भरोसा रखें कि हिन्दुस्तान अगर अपनी बात का धनी बना रहेगा तो अपने असहयोग द्वारा उनके संदेश को अवश्य सच्चा साबित करेगा। रवीन्द्रबाबू जिस देशभक्ति के लिए उत्सुक हो रहे हैं, उसे अमली तौर पर पैदा करने को ही यह आंदोलन किया गया है। हिंदुस्तान, जो यूरोप के पैरों के नीचे पड़ा हुआ है, संसार को कोई आशा नहीं दिला सकता। स्वतंत्र और जाग्रत भारत ही दुखी संसार को शांति और सुख का संदेशा सुना सकता है। असहयोग-आंदोलन इसीलिए चलाया गया है कि जिसमें भारतवर्ष एक ऊंचे स्थान से अपना संदेशा संसार को सुना सके। (यं० इं०, १.६.२१)

... ...

...टैगोर की क्या बात! उन्होंने क्या नहीं साधा? साहित्य का एक भी क्षेत्र उन्होंने छोड़ा है? और सबमें कमाल...ऐसी अलौकिक शक्तिवाला आदमी हमारे यहां तो है ही नहीं, लेकिन दुनिया में भी होगा या नहीं, इसमें मुझे शक है।

वल्लभभाई बोले—"मगर उनका शांतिनिकेतन चलेगा? तो वह बूढ़े हो गये और उनकी जगह लेनेवाला कोई रहा नहीं।" बापू ने कहा—

...बात तो जरूर मुश्किल है। मगर यह तो कैसे कहा जा सकता है। भगवान ने इतनी असाधारण प्रतिभावाला आदमी पैदा किया तो उसे यह तो मंजूर नहीं होगा कि उसका काम योंही बंद हो जाय।

वल्लभभाई कहने लगे—यह तो ठीक है। मगर उनकी जो असाधारणताएं हैं उन सबको कौन किस क्षेत्र में ला सकेगा? मैंने (महादेवभाई) कहा—नंदलाल बोस, असित हलदार-जैसे उत्तम चित्रकार वहां मौजूद हैं, विधुशेखर शास्त्री भी हैं। वल्लभभाई बोले—चित्रकला तो ठीक

है। मगर उसकी पाठशालाएं कितनी चल सकती हैं ? हमारा तो खादी और चरखा है। उसके लिए बापू थोड़े ही चाहिए ! ये तो बापू न होंगे तो वृधाभाई भी आकर चलाते रहेंगे। उन्होंने कोई ऐसी चीज नहीं दी, जिसे लोग अपने हाथों में ले सकें और जो अखंड रूप में चलती रहे।

मैंने तुरन्त कहा—टैगोर के बारे में यह कहा जा सकता है कि आज-तक उनके यहां असाधारण प्रतिभावाले लोग खिचकर न आये हों तो शायद अब उनके काम को जारी रखने के लिए वह आ जायं। शांतिनिकेतन को उनके आदर्श के अनुसार ही जारी रखने के लिए नये आदमी क्यों न शरीक होंगे ? बापू ने कहा—

आज उनकी प्रचंड शक्ति से ज्यादा लोग आकर्षित न हों तो भविष्य में आकर्षित हो सकते हैं। आज भी रामानन्द चटर्जी-जैसे लोग तो हैं ही और ईश्वर-कृपा हो तो और लोग भी आ सकते हैं। और उनका श्रीनिकेतन का काम तो जारी ही रहेगा। एमहर्स्ट-जैसा आदमी विलायत छोड़कर इसे चलाने के लिए चला आये तो मुझे आश्चर्य नहीं होगा। (म० डा०)

... ...

आप (डा० कागावा) शान्तिनिकेतन देखे बगैर चले जायं, यह कैसे हो सकता है।

कागावा—मैंने कवि के काव्यों को पढ़ा है। मुझे वे बहुत प्रिय हैं।

गांधीजी—किन्तु कवि आपको प्रिय है न ?

कागावा—मैं रोज 'गीतांजली' पढ़ा करता हूं तो क्या रोज कवि का सान्निध्य अनुभव नहीं करता ? हो सकता है कि कवि अपने काव्यों से महान् हो।

गांधीजी—कभी-कभी इसका उल्टा सत्य होता है; पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विषय में यह कहूंगा कि अपने महाकाव्यों से भी वह महान् हैं। अब एक दूसरा प्रश्न पूछता हूं। आपके प्रवासक्रम में पांडिचेरी है या नहीं ? आप अगर अर्वाचीन भारतवर्ष का अध्ययन करना चाहते हैं तो शांतिनिकेतन और अरविंद-आश्रम आपको देखने ही चाहिए। (ह० से, २८.१.३९)

... ...

शांतिनिकेतन में आगमन मेरे लिए एक तीर्थ-यात्रा के समान था।

बहुत दिनों से मेरी इच्छा वहां जाने की थी, लेकिन यह अवसर मलिकन्दा जाते समय ही मुझे मिल सका। मेरे लिए शांतिनिकेतन नया नहीं है। १९१५ में जब इसकी रूपरेखा बन रही थी तब मैं वहीं था। इसका मतलब यह नहीं कि अब इसका निर्माण-क्रम रुक गया है। गुरुदेव खुद विकसित हो रहे हैं। वृद्धावस्था के कारण उनके मन के लचीलेपन में कोई अन्तर नहीं पड़ा है। इसलिए जबतक गुरुदेव की भावना की छाया उसके ऊपर है तबतक शांतिनिकेतन की वृद्धि रुक नहीं सकती। वहां प्रत्येक मनुष्य की उनके प्रति जो श्रद्धा है वह ऊपर उठानेवाली है, क्योंकि वह सहज है। मुझे तो इसने अवश्य ही ऊंचा उठाया। कृतज्ञ छात्रों और अध्यापकों ने उनको जो उपाधि 'गुरुदेव' की दे रखी है, उससे शांतिनिकेतन में उनकी स्थिति ठीक-ठीक व्यक्त होती है। यह स्थिति उनकी इसलिए है कि वह उस स्थान और वहां के समूह में निमग्न हो गये हैं, अपनेको भूल गये हैं। मैंने देखा कि वह अपनी प्रियतम कृति 'विश्वभारती' के लिए जी रहे हैं। वह चाहते हैं कि यह फूले-फले और अपने भविष्य के विषय में निश्चिन्त हो जाय। इसके बारे में उन्होंने मुझसे देर तक बातचीत की। लेकिन इतना भी उनके लिए काफी नहीं था, इसलिए जब हम विदा हो रहे थे तब उन्होंने मुझे नीचे लिखा बहुमूल्य पत्र दिया :

प्रिय महात्माजी,

आपने आज सुबह ही हमारे कार्य के 'विश्व-भारती'-केन्द्र का विहंगावलोकन किया है। मैं नहीं जानता कि आपने इसकी मर्यादा का क्या अंदाज लगाया है। आप जानते हैं कि यद्यपि अपने वर्तमान रूप में यह संस्था राष्ट्रीय है, तथापि अन्तःभावना की दृष्टि से यह एक सार्वदेशिक—अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है और अपने साधनों के अनुसार भरसक शेष जगत को भारत की संस्कृति का आतिथ्य प्रदान करती है।

एक बड़े गाढ़े अवसर पर आपने बिल्कुल टूटने से इसे बचाया और अपने पांव पर खड़े होने में इसकी सहायता की; आपके इस मित्रतापूर्ण कार्य के लिए हम आपके निकट सदा आभारी हैं।

और अब शांतिनिकेतन से आपके विदा होने के पहले मैं आपसे जोर-दार अपील करता हूं कि यदि आप इसे एक राष्ट्रीय सम्पत्ति समझते हैं तो

इस संस्था को अपने संरक्षण में लेकर इसे स्थायित्व प्रदान करें। 'विश्व-भारती' उस नौका के समान है, जो मेरे जीवन के सर्वोत्तम रत्नों से भरी हुई है और मुझे आशा है कि अपनी रक्षा के लिए अपने देशवासियों से यह विशेष देख-रेख पाने का दावा कर सकती है।

प्रेमपूर्वक
रवीन्द्रनाथ ठाकुर

इस संस्था को अपने संरक्षण में लेनेवाला मैं कौन होता हूं? चूंकि यह एक ईमानदार आत्मा की कृति है, इसलिए ईश्वर का संरक्षण इसके साथ है। वह कोई दिखावे की चीज नहीं है। गुरुदेव स्वयं सार्वदेशिक—अंतर्राष्ट्रीय हैं, क्योंकि वह सच्चे रूप में राष्ट्रीय हैं। इसलिए उनकी संपूर्ण कृतियां सार्वदेशिक हैं और 'विश्वभारती' उन सबमें श्रेष्ठ है। मुझे इसमें किसी तरह का सन्देह नहीं कि जहांतक आर्थिक बोझ का सम्बन्ध है इसके भविष्य के बारे में गुरुदेव को सम्पूर्ण चिन्ता से मुक्त कर देना चाहिए। उनकी हृदयग्राही अपील के जवाब में जो कुछ सहायता करने लायक मैं हूं, करने का मैंने उनको वचन दिया है। (ह० से०, २.३.४०)

... ...

"मैं यहां आप लोगों के लिए कोई अतिथि या महमान बनकर नहीं आया हूं। शांतिनिकेतन तो मेरे लिए घर से भी अधिक है। जब १९१४ में मैं इंगलैंड से लौटनेवाला था तब यहीं तो मेरे दक्षिण अफ्रीकावाले कुटुंब-का प्रेमपूर्वक आतिथ्य हुआ था और यहां मुझे भी करीब एक महीने तक आश्रय मिला था। जब मैं आप सब लोगों को अपने सामने एकत्रित देखता हूं तो उन दिनों की याद मेरे हृदय पर छा जाती है। मैं कितना चाहता हूं कि यहां ज्यादा दिन ठहरूं, पर अफसोस कि यह सम्भव नहीं। यहां कर्तव्य का प्रश्न है। उस दिन एक मित्र को एक पत्र में मैंने लिखा था कि शांति-निकेतन और मलिकंदा की यह यात्रा मेरे लिए तीर्थ-यात्रा है। सचमुच इस बार शांतिनिकेतन मेरे लिए 'शांति' का 'निकेतन' सिद्ध हुआ। मैं यहां राजनीति की सब चिन्ता और झंझट छोड़कर मात्र गुरुदेव के दर्शन और आशीर्वाद लेने आया हूं। मैंने अक्सर एक कुशल भिक्षुक होने का दावा किया है। लेकिन आज गुरुदेव का मुझे जो आशीर्वाद मिला है उससे बढ़कर दान

मेरी झोली में कभी किसीने नहीं डाला। मैं जानता हूं कि उनका आशीर्वाद तो मुझे हमेशा ही है। मगर आज मेरा खास सौभाग्य है कि उन्हींके हाथों रूबरू मुझे आशीर्वाद मिला और इस कारण मेरे हर्ष का पार नहीं।

(ह० से०, ३०.३.४०)

... ...

डा० रवीन्द्रनाथ टैगोर के निधन में हमने न केवल अपने युग के सबसे बड़े कवि को ही, बल्कि एक उत्कट राष्ट्रवादी को, जो कि मानवता का पुजारी भी था, खो दिया है। शायद ही कोई ऐसी सार्वजनिक प्रवृत्ति होगी, जिसपर उनके शक्तिशाली व्यक्तित्व की छाप न पड़ी हो। शांतिनिकेतन और श्रीनिकेतन के रूप में उन्होंने समस्त राष्ट्र के लिए ही नहीं, अपितु समस्त संसार के लिए विरासत छोड़ी है। प्रभु उस महान् आत्मा को शांति दे और शांतिनिकेतन के जिन संचालकों पर इसका उत्तरदायित्व आ पड़ा है, वह उसके योग्य सिद्ध हों (७.८.४१)

... ...

१७ तारीख गुरुदेव का श्राद्ध-दिवस है। जो लोग श्राद्ध को धार्मिक महत्त्व देते हैं, वह निःसंदेह उस दिन निर्जल उपवास करेंगे या केवल फलों पर रहेंगे और अपना समय प्रार्थना में बितायेंगे। प्रार्थना व्यक्तिगत रूप में की जा सकती है अथवा सामूहिक रूप में। प्रत्येक नगर और प्रत्येक ग्राम के निवासी, जिन्होंने उनके उस ऊंचा उठानेवाले संदेश को सुना है, जो उन्होंने अपनी कृतियों द्वारा दिया तथा जिसे उन्होंने अपने जीवन में जिया, सुविधानुसार किसी समय एकत्र होंगे और उस दिव्यजीवन के बारे में चिंतन करेंगे और अपने-आपको देश-सेवा के लिए समर्पित कर देंगे।

गुरुदेव का ध्येय शांति और सद्भावना था। वह साम्प्रदायिक बंधनों से अपरचित थे। इसलिए मैं आशा करता हूं कि सब वर्ग एक स्वर से इस पवित्र दिन को मनायेंगे और साम्प्रदायिक ऐक्य को बढ़ावा देंगे।

मैं लोगों को यह भी याद दिलाना चाहूंगा कि दीनबन्धु-स्मारक-कोष का अधिकांश अभी इकट्ठा किया जाना है। यह कहते दुःख होता है कि यह कोष अब गुरुदेव-स्मारक-कोष भी बन गया है, कारण कि स्मारक के लिए इकट्ठा किया जानेवाला सब धन केवल शांतिनिकेतन के, जिसमें विश्व-

भारतीय और श्रीनिकेतन भी सम्मिलित हैं, संचालन और संवर्द्धन के लिए व्यय किया जायगा। इससे गुरुदेव के लिए और विशेष स्मारक की आवश्यकता समाप्त नहीं हो जाती। लेकिन इसपर विचार करना उस समय तक विडम्बना मात्र होगी जबतक कि वह स्मारक पूरा न हो जाय, जिसका बीजारोपण स्वयं गुरुदेव ने किया था। (१२.८.४१)

... ...

दीनबंधु एंड्रूज-स्मारक और गुरुदेव-स्मारक दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। गुरुदेव ने दीनबंधु-स्मारक का आरंभ किया था, लेकिन उसकी पूर्ति के पहले ही वह दीनबंधु के अनुगामी बन गये। इसलिए दीनबन्धु का स्मारक अब गुरुदेव का भी स्मारक बन गया है। स्मारक का हेतु इन दो महान आत्माओं के अनुरूप ही है। शांतिनिकेतन, विश्वभारती और श्रीनिकेतन की समृद्धि और रक्षा ही वह हेतु है। ये तीनों संस्थाएं वास्तव में एक ही हैं। यह बड़े दुःख और शर्म की बात है कि पांच लाख की यह छोटी-सी रकम धनिकों, विद्यार्थियों या मजदूरों की ओर से अभी तक इकट्ठी नहीं हो पाई है। हरकोई यह मानता है कि गुरुदेव के और उनकी संस्था के कारण हिंदुस्तान को वह यश और प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है जो किसी व्यक्ति या संस्था के कारण उसे कभी प्राप्त नहीं हुई। शांतिनिकेतन का ही यह प्रभाव था कि जिससे प्रभावित होकर चीन के सेनाध्यक्ष चांगकाई शेक और श्रीमती चांगकाई शेक ने उसे इतनी बड़ी रकम भेंट की थी। शांतिनिकेतन में जो काम हो रहा है, उसको देखते हुए उसका खर्च न कुछ-सा है। कारण यह है कि जो लोग शुद्ध अवैतनिक काम नहीं करते, वह भी अपेक्षाकृत कम वेतन लेकर काम कर रहे हैं। अबतक स्मारक-निधि में कुल करीब एक लाख रुपये इकट्ठे हुए हैं। मुझे आशा है कि स्मारक की बाकी रकम जल्दी ही जमा हो जायगी और मुझको धन-संग्रह के लिए दौरा करने की कोई जरूरत न रह जायगी। स्मारक की रकम को पूरी करने के लिए मैं वचनबद्ध हूं। जब गुरुदेव मृत्यु-शय्या पर थे, मैंने उन्हें अपने आखिरी पत्र में लिखा था कि अगर ईश्वर की मर्जी हुई तो मैं दीनबंधु-स्मारक की पूरी रकम वसूल कर लूंगा। दीनबंधु को शांतिनिकेतन की आर्थिक स्थिति की चिंता दिन-रात बनी रहती थी। वह इस चिंता को मेरे पास बतौर धरोहर के छोड़ गये हैं। हिंदुस्तान के

ग्रौर मानवता के इन दो सेवकों की इस पुकार की मैं ज़रा भी उपेक्षा नहीं कर सकता। जिनके मन में इन दोनों महापुरुषों की स्मृति के लिए ग्रादर है ग्रौर जो गुरुदेव की सजीव कृति के मूल्य को समझते हैं, उनसे निवेदन है कि वह स्वेच्छा से लिये हुए इस दायित्व को निभाने में मेरी मदद करें।

(ह० से०, २६.४.४२)

... ...

गुरुदेव की देह खाक में मिल चुकी है, लेकिन उनके ग्रंदर जो जोत थी, जो उजेला था, वह तो सूरज की तरह था, जो तबतक बना रहेगा जबतक धरती पर जानदार रहेंगे। गुरुदेव ने जो रोशनी फैलाई वह ग्रात्मा के लिए थी। सूरज की रोशनी जैसे हमारे शरीर को फायदा पहुंचाती है, वैसे गुरुदेव की फैलाई रोशनी ने हमारी ग्रात्मा को ऊपर उठाया है। वह एक कवि थे ग्रौर प्रथम श्रेणी के साहित्यिक थे। उन्होंने ग्रपनी मातृ-भाषा में लिखा ग्रौर सारा बंगाल उनकी कविता के झरने से काव्यरस का गहरा पान कर सका। उनकी रचनाग्रों के ग्रनुवाद बहुत-सी भाषाग्रों में हो चुके हैं। वह ग्रंग्रेजी के भी बहुत बड़े लेखक थे ग्रौर शायद बिना ग्रंग्रेजी जाने ही वह उस जबान के इतने बड़े लेखक बन गये थे। मदरसे की पढ़ाई तो उन्होंने की थी, लेकिन युनिवर्सिटी की कोई डिग्री उन्होंने नहीं ली थी। वह तो बस गुरुदेव ही थे। हमारे एक वाइसराय ने उनको एशिया का कवि कहा था। उससे पहले किसीको ऐसी पदवी नहीं मिली थी। वह समूची दुनिया के भी कवि थे। यही क्यों, वह तो ऋषि थे। हमारे लिए वह ग्रपनी 'गीतांजलि' छोड़ गये हैं, जिसने उनको सारी दुनिया में मशहूर कर दिया। तुलसीदासजी हमारे लिए ग्रपनी ग्रमर रामायण छोड़ गये हैं। वेदव्यासजी ने महाभारत के रूप में हमारे लिए मानव-जाति का इतिहास छोड़ा है। ये सब निरे कवि नहीं थे। ये तो गुरु थे। गुरुदेव ने भी सिर्फ कवि के नाते ही नहीं, ऋषि की हैसियत से भी लिखा है। लेकिन सिर्फ लिखना ही उनकी ग्रकेली खासियत नहीं थी। वह एक कलाकार थे, नृत्यकार थे ग्रौर गायक थे। बढ़िया-से-बढ़िया कला में जो मिठास ग्रौर पवित्रता होनी चाहिए, वह सब उनमें ग्रौर उनकी चीजों में थी। नई-नई चीजें पैदा करने की उनकी ताकत ने हमको शांतिनिकेतन, श्रीनिकेतन ग्रौर विश्वभारती जैसी संस्थाएं दी हैं। ग्रपनी इन संस्थाग्रों में

वह भावरूप से विराजमान हैं, और ये अकेले बंगाल को ही नहीं, बल्कि समूचे हिंदुस्तान को उनकी विरासत के रूप में मिली हैं। शांतिनिकेतन तो हम सबके लिए असल में यात्रा का एक धाम ही बन गया है। गुरुदेव अपने जीते-जी इन संस्थाओंको वह रूप नहीं दे पाये जो वह देना चाहते थे, जिसका वह सपना देखते थे। कौन है, जो ऐसा कर पाया हो? आदमी के मनोरथ को पूरा करना तो भगवान के हाथ में है। फिर भी ये संस्थाएं हमें उनकी कोशिशों की याद दिलायेंगी और हमेशा हमको यह बताती रहेंगी कि गुरुदेव के मन में अपने देश के लिए कितनी गहरी प्रीति थी और उन्होंने उसकी कितनी-कितनी सेवाएं की हैं। उनके रचे कौमी गीत को आप अभी सुन चुके हैं। हमारे देश के जीवन में इस गीत की अपनी एक जगह बन गई है। हजारों-लाखों लोग एकसाथ इसकी प्रेरणा पहुंचानेवाली कड़ियों को अक्सर गाते रहते हैं। यह सिर्फ गीत ही नहीं है, बल्कि भक्ति-भाव से भरा भजन भी है।

(ह० से०, १६.५.४६)

: ७७ :

जनरल डायर

आर्मी कौंसिल ने जनरल डायर को समझ की भूल का दोषी ठहराया और परामर्श दिया कि उसे सरकारी सेना में कहीं नौकरी न मिले। मि० मांटेगू ने भी जनरल डायर के आचरण की कड़ी आलोचना करने में कोई बात उठा नहीं रखी। इसपर भी किसी कारणवश मुझसे यह कहे बिना रहा नहीं जाता कि जनरल डायर ही सबसे बड़ा अपराधी नहीं है। उसकी बर्बरता स्पष्ट है। आर्मी कौंसिल के सामने जनरल डायर ने अपने बचाव की जो बातें कहीं हैं, उनमें से हरएक में उसकी महा नीच तथा असैनिक कायरता के चिह्न पाये जाते हैं। निहत्थे स्त्री, पुरुष और बच्चों को जो खेल-तमाशा तथा छुट्टी मनाने का ही काम जानते थे, उसने बागी सेना बताया है। जनरल डायर ने इसलिए अपनेको पंजाब का रक्षक बताया है कि उसने घिरे हुए आदमियों को खरहों की तरह गोलियों से मार डाला। ऐसा मनुष्य योद्धा कहलाने के योग्य नहीं है। उसके कार्य में कोई वीरता नहीं पाई जाती। उसने

कोई जोखिम नहीं उठाई। बिना छेड़-छाड़ के और बिना सूचना दिये ही उसने गोलियां चलाईं, यह समझ की भूल नहीं है। कल्पित विपद के सामने यह उसकी थरथराहट है। इससे बहुत बुरी अयोग्यता तथा कठोर हृदयता ही प्रकट होती है। किंतु जनरल डायर पर जो खर्च किया गया है वह बहुत करके बे-मार्ग हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि जनरल डायर की गोलीबारी भयंकर थी। उसकी करतूत से जितने निर्दोष आदमी मरे, वह घटना भी बड़ी शोकजनक थी। किंतु पीछे धीरे-धीरे जो अत्याचार, जो बेइज्जती और जो धरपकड़ हुई वह बहुत बुरी और आत्मा का नाश करनेवाली थी और जिन अफसरों ने यह कार्य किया उन्हें जलियांवाला बाग में हत्याएं करनेवाले जनरल डायर की अपेक्षा अधिक दोषी समझना चाहिए। जनरल डायर ने तो थोड़े-से आदमियों को ही मार डाला, पर इसके बाद अत्याचार करनेवाले अफसरों ने राष्ट्र के प्राण हर लिये। कर्नल फ्रैंक जॉनसन बड़ा भारी अपराधी है; पर कौन आदमी इसका नाम लेता है? इसने निर्दोष लाहौर में आतंक फैला दिया और अपनी निष्ठुर आज्ञा से फौजी कानून के समस्त अफसरों को कड़ी कार्रवाई करने को बाध्य किया। किन्तु मुझे इस जॉनसन पर भी उतना कहना नहीं है। पंजाब तथा भारत के समस्त मनुष्यों का पहला कर्तव्य है कि वह कर्नल ओब्रायन, मि० वास्वर्थ स्मिथ, राय श्रीराम तथा मि० मलिक खां को नौकरी से निकाल बाहर करायें। ये भी अभी तक सरकारी नौकरी में बने हैं। इनका दोष वैसा ही सिद्ध हुआ है जैसा जनरल डायर पर सिद्ध किया गया है। यदि हम संतुष्ट होकर पंजाब के शासन को अन्य अत्याचारियों से परिष्कृत करना भूल जायं तो हम अपने कर्तव्य में चूक जायंगे। यह केवल मंच पर से व्याख्यान देने या प्रस्ताव पास करने से नहीं होगा। यदि हम सरकारी कर्मचारियों पर प्रभाव डालकर उन्हें यह दिखाना चाहें कि वह प्रजा के मालिक नहीं, बल्कि रक्षक और नौकर हैं, जो बुरा आचरण करने पर अपने पद पर रह नहीं सकते तो हमें खूब कड़े उपाय का अवलंबन करना चाहिए। (महात्मा गांधी—रामचंद्र वर्मा, पृ० ४०२)

: ७८ :

मिस डिक

टाइप-राइटरों के एजेंट से मेरा कुछ परिचय था। मैं उससे मिला और कहा कि यदि कोई टाइपिस्ट (भाई या बहन) ऐसा हो जिसे 'काले' आदमी के यहां काम करने में कोई उज्र न हो तो मेरे लिए तलाश कर दें। दक्षिण अफ्रीका में लघु-लेखन (शॉर्टहैंड) अथवा टाइपिंग का काम करने-वाली अधिकांश स्त्रियां ही होती हैं। पूर्वोक्त एजेंट ने मुझे आश्वासन दिया कि मैं एक शॉर्टहैंड-टाइपिस्ट आपको खोज दूंगा। मिस डिक नामक एक स्कॉच कुमारी उसके हाथ लगी। वह हाल ही में स्काउटलैंड से आई थी। जहां भी कहीं प्रामाणिक नौकरी मिल जाय वहां करने में उसे कोई आपत्ति न थी। उसे काम में लगने की भी जल्दी थी। उस एजेंट ने उस कुमारी को मेरे पास भेजा। उसे देखते ही मेरी नज़र उसपर ठहर गई। मैंने उससे पूछा—

"तुमको एक हिंदुस्तानी के यहां काम करने में आपत्ति तो नहीं है ?"

उसने दृढ़ता के साथ उत्तर दिया—"बिलकुल नहीं।"

"क्या वेतन लोगी ?"

"साढ़े सत्रह पौंड अधिक तो न होंगे ?"

"तुमसे मैं जिस काम की आशा रखता हूं वह ठीक-ठीक कर दोगी तो इतनी रकम बिलकुल ज्यादा नहीं है। तुम कब काम पर आ सकोगी ?"

"आप चाहें तो अभी।"

इस बहन को पाकर मैं बड़ा प्रसन्न हुआ और उसी समय उसे अपने सामने बैठकर चिट्ठियां लिखवाने लगा। इस कुमारी ने अकेले मेरे कारकुन का ही नहीं, बल्कि सगी लड़की या बहन का भी स्थान मेरे नजदीक सहज ही प्राप्त कर लिया। मुझे उसे कभी किसी बात पर डांटना-डपटना नहीं पड़ा। शायद ही कभी उसके काम में गलती निकालनी पड़ी हो। हजारों पौंड के लेन-देन का काम एक बार उसके हाथ में था और उसका हिसाब-किताब भी वह रखती थी। वह हर तरह से मेरे विश्वास का पात्र हो गई थी। यह तो ठीक; पर मैं उसकी गुह्यतम भावनाओं को जानने योग्य

उसका विश्वास प्राप्त कर सका था और यह मेरे नजदीक एक बड़ी बात थी। अपना जीवन-साथी पसन्द करने में उसने मेरी सलाह ली थी। कन्या-दान करने का सौभाग्य भी मुझीको प्राप्त हुआ था। मिस डिक जब मिसेज मैकडॉनल्ड हो गईं तब उन्हें मुझसे अलग होना आवश्यक था। फिर भी विवाह के बाद भी, जब-जब जरूरत होती मुझे उनसे सहायता मिलती थी।

(आ० क०, १९२७)

: ७९ :

रेवरेंड डुड नीड्रू

एक तीसरे ख्यातनामा पादरी भी थे। उन्होंने पादरीपन छोड़कर पत्र का सम्पादन ग्रहण किया था। आप ब्लुमफोंटीन में प्रकाशित होनेवाले 'फ्रैण्ड' नामक दैनिक के सम्पादक रेवरेंड डुड नीड्रू हैं। उन्होंने गोरों के द्वारा अपमानित होकर भी अपने पत्र में भारतीयों का पक्ष किया था। दक्षिण अफ्रीका के प्रसिद्ध वक्ताओं में उनकी गणना होती थी।

(द० अ० स०, १९२४)

: ८० :

जोसेफ डोक

जोसेफ डोक बैप्टिस्ट सम्प्रदाय के पादरी थे। दक्षिण अफ्रीक में आने से पहले वह न्यूजीलेंड में थे। इस घटना[1] के छः महीने पहले की बात है, एक दिन वह मेरे दफ्तर में आये और अपना कार्ड भेजा। उसमें 'रेवरेंड' विशेषण का उपयोग किया गया था। इसपर से मैंने झूठमूठ ही यह कल्पना कर ली कि जिस प्रकार अन्य कितने ही पादरी मुझे ईसाई बनने का उपदेश करने या आन्दोलन बंद करने को कहने के लिए आते हैं, उसी प्रकार

[1] दक्षिण अफ्रीका के पहले समझौते के अवसर पर मीर आलम द्वारा पिटने की घटना।

अथवा बुजुर्ग बनकर मेरे साथ सहानुभूति दिखाने के लिए वह आये होंगे। पर ज्योंही मि० डोक अंदर आये और बातचीत करने लगे त्योंही कुछ मिनटों में ही मैंने अपनी भूल को समझ लिया और दिल ही में मैंने उनसे क्षमा मांग ली। उस दिन से हम बड़े मित्र बन गये। युद्ध-सम्बन्धी तमाम समाचारों से उन्होंने अपनेको परिचित बताया और कहा, "इस युद्ध में आप मुझे अपना मित्र समझिये। मुझसे जो कुछ सेवा बनेगी, वह सब मैं अपना धर्म समझकर करने की इच्छा रखता हूं। ईसा के जीवनादर्श का चिन्तन-मनन करके मैंने तो यही सीखा है कि आपत्काल में दीन-दुखियों का साथ देना चाहिए।" यह हमारा पहला परिचय था। इसके बाद दिनों-दिन हमारा स्नेह-सम्बन्ध बढ़ता ही गया।...पर डोक-कुटुम्ब ने मेरी जो सेवा की, उसका वर्णन करने से पहले उनका थोड़ा-बहुत परिचय दे देना भी आवश्यक था। रात हो या दिन, कोई-न-कोई मेरे पास जरूर बैठा रहता था। जबतक मैं उनके घर में रहा तबतक उनका मकान केवल एक धर्मशाला ही बन गया था। भारतीयों में फेरीवाले लोग भी थे। उनके कपड़े मजदूरों के जैसे और मैले भी रहते। उनके साथ में एक गठरी या टोकरी भी अवश्य रहती। जूतों पर सेर भर धूल भी। मि० डोक के मकान पर ऐसे लोगों से लगाकर अध्यक्ष तक के सभी दरजे के लोगों की एक भीड़ लगी रहती। सब मेरा हाल पूछने और डाक्टर की आज्ञा मिलने पर मुझसे मिलने के लिए चले आते। सभीको वह समान भाव से और सम्मानपूर्वक अपने दीवानखाने में बैठाते और जबतक मैं उनके यहां रहा तबतक उनका सारा समय मेरी शुश्रूषा में और मुझसे मिलने के लिए आनेवाले सैकड़ों सज्जनों के आदर-सत्कार ही में जाता। रात को भी दो-तीन बार मि० डोक चुपचाप मेरे कमरे में आकर जरूर देखे जाते। उनके घर पर मुझे एक दिन भी ऐसा खयाल नहीं हुआ कि यह मेरा घर नहीं, या मेरे सम्बन्धी होते तो इससे अच्छी सेवा करते। पाठक यह भी खयाल न कर लें कि इतने जाहिरा तौर पर भारतीय आन्दोलन का पक्ष ग्रहण करने तथा मुझे अपने घर में स्थान देने के कारण उन्हें कुछ सहना न पड़ा होगा। वह अपने पंथ के लिए एक गिरजाघर चला रहे थे। उनकी आजीविका इन पंथवालों के हाथों में थी। सभी लोग तो उदार दिल के होते नहीं हैं। उन लोगों के दिल

में भी भारतीयों के खिलाफ कुछ भाव थे ही। पर डोक ने इसकी कोई परवा नहीं की। हमारे परिचय के आरम्भ ही में एक दिन मैंने इस नाजुक विषय पर चर्चा छेड़ी थी। उनका उत्तर यहां लिख देने योग्य है। उन्होंने कहा—

"मेरे प्यारे दोस्त, ईसा के धर्म को आपने क्या समझ रखा है? मैं उस पुरुष का अनुयायी हूं, जो अपने धर्म के लिए फांसी पर लटक गया और जिसका प्रेम विश्वव्यापी था। जिन गोरों के मुझे छोड़ देने का आपको डर है, उनकी आंखों में ईसा के अनुयायी की हैसियत में जरा भी मैं शोभा पाना चाहूं तो मुझे जाहिरा तौर से अवश्य ही इस युद्ध में भाग लेना चाहिए और इसके फलस्वरूप यदि वह मेरा त्याग भी कर दें तो मुझे इसमें जरा भी बुरा न मानना चाहिए। इसमें शक नहीं कि मेरी आजीविका का आधार उनपर है; पर आप यह कदापि न समझ बैठें कि आजीविका के लिए मैंने उनसे यह सम्बन्ध किया है या वह ही मेरी रोजी देनेवाले हैं। मेरी रोजी का देनेवाला तो परमात्मा है। ये हैं केवल निमित्तमात्र। मेरा उनका सम्बन्ध होते समय हमारा उनका यह ठहराव हो चुका है कि मेरी धार्मिक स्वतन्त्रता में कोई हस्तक्षेप न करेगा। इसलिए आप मेरी ओर से निश्चिन्त रहें। मैं भारतीयों पर अहसान करने के लिए इस युद्ध में सम्मिलित नहीं हो रहा हूं। मैं तो इसे अपना धर्म समझकर ही इसमें भाग ले रहा हूं। पर असल बात यह है कि मैंने हमारे गिरजा के डीन के साथ बातचीत करके भी इस बात का खुलासा कर लिया है। मैंने उन्हें यह स्पष्ट कह दिया है कि अगर मेरा भारतीयों से सम्बन्ध रखना आपको पसन्द न हो तो आप खुशी से मुझे दस-सत दे सकते हैं और दूसरा पादरी तलाश कर सकते हैं। पर उन्होंने इस विषय में मुझे बिलकुल निश्चिन्त कर दिया है, बल्कि और उत्साहित किया है। आपको यह कदापि नहीं समझ लेना चाहिए कि सभी गोरे आपकी तरफ एक-सी तिरस्कार की नजर से ही देखते हैं। आप नहीं जानते कि अप्रत्यक्ष रूप से वे आपके विषय में कितना सद्भाव रखते हैं। इसे तो मैं ही जान सकता हूं और आपको भी यह कबूल करना होगा।"

इतनी स्पष्ट बातचीत होने पर फिर मैंने नाजुक विषय पर कभी बात-चीत नहीं छेड़ी। इसके कुछ साल बाद डोक रोडेशिया में अपने धर्म की सेवा करते हुए स्वर्गवासी हो गये। तब हमारा युद्ध समाप्त नहीं हुआ था। उनकी

मृत्यु के समाचार प्राप्त होने पर उनके पन्थवालों ने अपने गिरजाघर में एक सभा निमन्त्रित की थी। उसमें काछलिया तथा अन्य भारतीयों के साथ-साथ मुझे भी बुलाया गया था। मुझे वहां भाषण देना पड़ा था।

अच्छी तरह चलने-फिरने लायक होने में मुझे करीब दस-ग्यारह दिन लगे होंगे। ऐसी स्थिति होते ही मैंने इस प्रेमी कुटुम्ब से बिदा मांगी।* वह वियोग हम दोनों के लिए बड़ा दुःखदाई था। (द० अ० स०, १९२५)

: ८१ :

श्रीमती ताराबहन

मिस मेरी चेस्ले नाम की एक अंग्रेज बहन सन् १९३४ में हिन्दुस्तान में थी। उन दिनों बम्बई में कांग्रेस का अधिवेशन हो रहा था। जहाज से उतरते ही वह कांग्रेस-कैम्प में पहुंची और मेरे झोंपड़े में आकर उसने मुझसे कहा, "मैं मीराबहन को जानती हूं और मीराबहन के साथ ही मैं यहां आनेवाली थी, पर किसी कारणवश उनके एकाध हफ्ते पहले ही मैं विलायत से रवाना हो गई।" गांवों में रहकर भारत की सेवा करने की उसकी इच्छा थी। उसकी बातचीत से मैं कुछ खास प्रभावित नहीं हुआ और मुझे लगा कि वह हिन्दुस्तान में कुछ ज्यादा महीना ठहरने की नहीं। पर मेरी यह भूल थी। मिस मेरी बार को, जिन्होंने बेतूल (मध्यप्रदेश) से कुछ मील दूर खेड़ी गांव में पहले से ही काम करना शुरू कर दिया था, वह बहन जानती थी। मेरी बार मिस चेस्ले को अपने साथ वर्धा ले आईं और कुछ दिन हम सब वहां एक साथ रहे। मिस चेस्ले का निश्चय देखकर तो मैं चकित रह गया। मेरी बार के साथ उसने खेड़ी में ग्राम-सेवा का कार्य आरम्भ कर दिया। भारतीय पोशाक पहन ली और अपना नाम तारबहन रख लिया। खेड़ी में उसने इस कदर सख्त परिश्रम से काम किया कि बेचारी मेरी बार तो देखकर हकबका गईं। वह मिट्टी खोदती और सिर पर टोकरी रखकर ढोती। अपना भोजन उसने इतना सादा बना लिया था कि उसका स्वास्थ्य तक खराब हो गया। कनाडा से काफी पैसा आता था, पर उसमें से वह सिर्फ दस रुपये के लगभग ही अपने लिए रखती और बाकी सब ग्राम-उद्योग-संघ

को या हिन्दुस्तान के उन भाई-बहनों को दे देती थी, जिनके सम्पर्क में वह आती थी और जो उसे मालूम होते थे कि आगे चलकर वह अच्छे ग्राम-सेवक बन सकते हैं और जिन्हें रुपये-पैसे की कुछ जरूरत होती थी। मैंने उसे बहुत ही निकट से देखा। उसकी उदारता की कोई सीमा नहीं थी। मानव-प्रकृति की अच्छाई में उसकी बहुत श्रद्धा थी। वह सच्ची ईसाई थी। क्वेकर सम्प्रदाय की, पर उसमें कोई संकीर्णता नहीं थी। दूसरों को अपने धर्म में मिलाने में उसका विश्वास नहीं था। 'लन्दन स्कूल ऑव इकनामिक्स' की वह ग्रेजुएट थी और एक अच्छी शिक्षिका थी। लन्दन में कई साल तक उसने एक स्कूल चलाया था। उसने फौरन यह महसूस कर लिया कि हिन्दी उसे जरूर सीख लेनी चाहिए और नियमित रीति से वह हिन्दी का अभ्यास करने लगी। बोलचाल की हिन्दी सीखने के लिए वह कुछ महीने वर्धा के महिला-आश्रम में आकर रही और वहीं उसने दो बहनों के साथ गरमियों में बदरी-केदार जाने का विचार किया। मैंने उसे इस खतरनाक यात्रा से आगाह कर दिया था। लेकिन जब वह एक बार निश्चय कर लेती थी तो ऐसे-ऐसे साहसिक कामों से उसका मन फेरना मुश्किल होता था। बदरी-केदार की भयानक यात्रा उसे करनी ही थी। अतः अपने मित्रों के साथ उस दिन वह रवाना हो गई। १५ मई को कनखल से मुझे यह संक्षिप्त तार मिला—"ताराबहन का शरीरांत हो गया।"

हिंदुस्तान के गांवों के लिए उसके हृदय में जो प्रेम था उसमें कोई उससे बाजी नहीं मार सकता था। हिंदुस्तान की आजादी के लिए हममें से अच्छे-से-अच्छे लोगों में जितना उत्साह है, उससे कम ताराबहन में नहीं था। दरजे की छुटाई जहां भी देखती, अधीर हो जाती थी। गरीब स्त्रियों और बच्चों से वह इतनी आजादी के साथ मिलती थी कि देखते ही बनता था। सेवा करके वह किसीका उपकार कर रही है, यह भावना तो उसमें थी ही नहीं। किसीसे उसने अपनी सेवा नहीं कराई, किंतु कोई भी हो, उसकी सेवा वह अत्यंत उत्साह के साथ करती थी। उसने अपना अहंकार धो डाला था। ऐसी मूक सेविका थी वह कि उसके बाएं हाथ को पता नहीं लगता था कि दाहिने हाथ ने क्या काम किया है। ईश्वर उसकी दिवंगत आत्मा को चिरशांति दे। (ह० से०, २३.५.३६)

प्रायः हर विलायती डाक में मेरे पास स्व० ताराबहन (मेरी चेस्ली) के सगे-संबंधियों और मित्रों के पत्र आते रहते हैं। इनमें उनके अनेक गुणों का वर्णन रहता है। कई सज्जन उनके अनेक प्रकार के उपकारों का वर्णन करते हैं, जो स्व० ताराबहन ने उनपर किये। कुछ लिखते हैं कि उन्होंने हमें फलां-फलां सहायता देने का वचन दिया था और कुछ ताराबहन द्वारा छोड़े गये एक या अनेक विरासत नामों का भी उल्लेख करते हैं। हालांकि महादेव देसाई इन सब पत्र भेजनेवालों को अपने थोड़े समय में जितना उनसे बन पड़ता है ब्यौरेवार जानकारी देने की कोशिश करते हैं, फिर भी तमाम संबंधित लोगों के लाभ के लिए यह जाहिर कर देना जरूरी है कि अपनी शोचनीय मृत्यु के कुछ ही समय पहले उन्होंने मेरे नाम पर जो विरासतनामा लिख दिया था, वह कानूनदां मित्रों की राय में भारतीय विरासत के कानून के अनुसार वैध नहीं मालूम होता। पर अगर यह साबित भी हो जाय कि वह वैध है तो भी उनके सगे-संबंधियों और मित्रों की अनुमति के बिना उनकी संपत्ति का उपयोग हिंदुस्तानी ग्रामोद्योगों के लिए करने की मुझे ज़रा भी इच्छा नहीं है, यद्यपि यह काम इधर उन्हें अत्यंत प्रिय था और इसके लिए वह एक गुलाम की तरह काम करते-करते वीरोचित मृत्यु की गोद में सदा के लिए सो गईं। इस बात की बहुत ही कम संभावना है कि स्व० ताराबहन की वह संपत्ति मेरे हाथ आ जायगी, जिसका कि वह अपने जीवन-काल में किसी प्रकार का विनियोग नहीं कर गई हैं; पर अगर ऐसा हुआ तो उसे हाथ लगाने से पहले मैं उन तमाम वचनों या वादों की जांच करूंगा जो उन्होंने पश्चिम में किये और उन्हें पूरा करने की कोशिश भी करूंगा।

बैंक से उनके नाम पर आये हुए कई चेक मेरे पास पड़े हुए हैं, जिनका भुगतान भी नहीं हुआ है। उनके परिवार के बहन-भाइयों से, जिनकी संख्या मैं देखता हूं, बहुत बड़ी है, मेरी यह सलाह है कि उनमें जो सबसे नजदीकी हों, राज्य से इस संबंध का एक कानूनी अधिकार-पत्र लेकर वह मेरे पास भेजें ताकि मैं और कुमारी मेरी बार हमारे पास रखी हुई ताराबहन की चीजें सौंप सकें। मेरे पास तो अनभुने चेक पड़े हुए हैं और मेरी बार के पास उनके कुछ छोटे-मोटे जेवर हैं। हिंदुस्तान में आने पर अपनी जरूरतें उन्होंने

इतनी कम कर दी थी कि शायद ही ऐसी कोई चीज बची हो, जिसकी कोई कीमत आ सके। अपने जीवन-काल में उन्हें जो कुछ मिला उन्होंने ग्राम-सेवा के लिए मुझे दे डाला। उस स्वर्गीय उपकारशीला देवी से संबंध रखनेवाली बातों के विषय में मेरे पास तो इतनी ही जानकारी है। आशा है, यह उनके तमाम संबंधित लोगों के लिए काफी होगी। (ह० से०, २६.६.३६)

: ८२ :

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक अब संसार में नहीं हैं। यह विश्वास करना कठिन मालूम होता है कि वह संसार से उठ गये। हम लोगों के समय में ऐसा दूसरा कोई नहीं जिसका जनता पर लोकमान्य के-जैसा प्रभाव हो। हजारों देशवासियों की उनपर जो भक्ति और श्रद्धा थी वह अपूर्व थी। यह अक्षरशः सत्य है कि वह जनता के आराध्यदेव थे, प्रतिमा थे, उनके वचन हजारों आदमियों के लिए नियम और कानून-से थे। पुरुषों में पुरुष-सिंह संसार से उठ गया। केशरी की घोर गर्जना विलीन हो गई।

देशवासियों पर उनका इतना प्रभाव होने का क्या कारण था? मैं समझता हूं, इस प्रश्न का उत्तर बड़ा ही सहज है। उनकी स्वदेशभक्ति ही उनकी इंद्रियवृत्ति थी। वह स्वदेश-प्रेम के सिवा दूसरा धर्म नहीं जानते थे।

जन्म से ही वह प्रजासत्तावादी थे। बहुमत की आज्ञा पर इतना अधिक विश्वास करते थे कि मुझे उससे भयभीत होना पड़ता था। पर यही वह बात है जिससे जनता पर उनका इतना अधिक प्रभाव था। स्वदेश के लिए वह जिस इच्छा-शक्ति से काम लेते थे वह बड़ी ही प्रबल थी। उनका जीवन वह ग्रंथ है जिसे खोलने की भी जरूरत नहीं, वह खुला हुआ ग्रंथ है। उनका खाना-पीना और पहनावा बिल्कुल साधारण था। उनका व्यक्तिगत जीवन बड़ा ही निर्मल और बेदाग है। उन्होंने अपनी आश्चर्यजनक बुद्धि-शक्ति को स्वदेश को अर्पण कर दिया था। जितनी स्थिरता और दृढ़ता के साथ लोकमान्य ने स्वराज्य की शुभवार्ता का उपदेश किया उतना और किसीने नहीं किया। इसी कारण स्वदेशवासी उनपर अटूट विश्वास रखते थे।

साहस ने कभी उनका साथ नहीं छोड़ा। उनकी आशावादिता अदम्य थी। उनको आशा थी कि जीवन-काल में मैं ही संपूर्ण रूप से स्वराज्य स्थापित हुआ देख सकूंगा। यदि वह इसे नहीं देख सके तो उनका दोष नहीं है। उन्होंने निस्संदेह स्वराज्य-प्राप्ति की अवधि बहुत कम कर दी है। यह अब हम लोगों के लिए है, जो अभी तक जी रहे हैं, कि अपने द्विगुणित उद्योग से उसको जहांतक हो शीघ्र सत्य कर दिखावें।

मैं अंग्रेजों को ऐसी धारणा बनाने से मना करता हूं कि लोकमान्य अंग्रेजों के शत्रु थे। या अधिकारी वर्ग या अंग्रेजी राज्य से घृणा करते थे।

कलकत्ता-कांग्रेस के समय हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने के संबंध में उन्होंने जो कहा था, उसे सुनने का अवसर मुझे भी प्राप्त हुआ था। वह कांग्रेस पंडाल से तुरंत ही लौटे थे। हिंदी के संबंध में उन्होंने अपने शांत भाषण में जो कहा उससे बड़ी तृप्ति हुई। भाषण में आपने देशी भाषाओं पर खयाल रखने के कारण अंग्रेजों की बड़ी प्रशंसा की थी। विलायत जाने पर, यद्यपि उन्हें अंग्रेज जूररों के विषय में बुरा ही अनुभव हुआ तथापि उनका ब्रिटिश प्रजासत्ता में बड़ा ही दृढ़ विश्वास हो गया। उन्होंने यहांतक कहा था कि पंजाब के अत्याचारों का चित्र 'सिनेमेटोग्राफ' यंत्र द्वारा ब्रिटिश प्रजासत्ता-वादियों को दिखाना चाहिए। मैंने यहां इस बात का उल्लेख इसलिए नहीं किया कि मैं भी ब्रिटिश प्रजासत्ता पर विश्वास रखता हूं (जो कि मैं नहीं रखता); पर यह दिखाने के लिए कि वह अंग्रेज-जाति के प्रति घृणा का भाव नहीं रखते थे। पर वह भारत और साम्राज्य की अवस्था को इस पिछड़ी अवस्था में न तो रखना ही चाहते थे और न रख सकते थे।

वह चाहते थे कि शीघ्र ही भारत से समानता का भाव रखा जाय और इसे वह देश का जन्मसिद्ध अधिकार समझते थे। भारतकी स्वतन्त्रता के लिए उन्होंने जो लड़ाई की उसमें सरकार को छोड़ नहीं दिया। स्वतन्त्रता के इस युद्ध में उन्होंने न तो किसीकी मुरव्वत की और न किसीकी प्रतीक्षा ही की। मुझे आशा है, अंग्रेज लोग उस महापुरुष को पहचानेंगे जिनकी भारत पूजा करता था।

भारत की भावी संतति के हृदय में भी यही भाव बना रहेगा कि लोकमान्य नवीन भारत के बनानेवाले थे। "वह तिलक महाराज का स्मरण यह

कहकर करेंगे कि एक पुरुष था जो हमारे लिए ही जन्मा और हमारे लिए ही मरा। ऐसे महापुरुष को मरना कहना ईश्वर की निन्दा करना है। उनका स्थायी तत्त्व सदा के लिए हम लोगों में व्याप्त हो गया। आओ, हम भारत के एकमात्र लोकमान्य का अविनाशी स्मारक अपने जीवन में उनके साहस, उनकी सरलता, उनके आश्चर्यजनक उद्योग और उनकी स्वदेश-भक्ति को सीखकर बनावें। ईश्वर उनकी आत्मा को शांति प्रदान करे।

(यं० इं०, ४.८.२०)

... ...

मैं स्वर्गीय देशभक्त के प्रति अपनी श्रद्धांजलि भेंट करना चाहता हूं और मेरे खयाल से उसका इससे अच्छा तरीका दूसरा नहीं हो सकता कि मैं यह कहूं कि उनके जीवन की भांति उनकी मृत्यु ने देश की नसों में नई शक्ति प्रवाहित की है। अगर आप मेरी तरह उनकी शवयात्रा के जुलूस में शामिल हुए हों तो आप मेरे इन शब्दों का अर्थ समझ सकेंगे। तिलक अपने देश के लिए जीवित रहे। अपने देश की स्वतन्त्रता, जिसे उन्होंने स्वराज्य कहा, उनके जीवन की प्रेरणा थी। उनकी मृत्यु-शैया की प्रेरणा भी देश की स्वतन्त्रता ही थी। उसीके कारण उनका देशवासियों पर इतना असाधारण प्रभाव था। उसके कारण उनको समाज के उच्चस्तरीय कुछ मुट्ठी भर भारतीयों की ही नहीं, बल्कि लाखों देशवासियों की सराहना प्राप्त हुई। उनका जीवन आत्म-त्याग की एक निरन्तर कहानी है। उन्होंने सन् १८७९ में अनुशासन और आत्म-त्याग का जीवन प्रारम्भ किया और अपने अन्तिम दिन तक उसे जारी रखा और यही उनकी लोकप्रियता का रहस्य है। वह केवल यही नहीं जानते थे कि अपने देश को किस बात की जरूरत है, बल्कि वह यह भी जानते थे कि अपने देश के लिए किस प्रकार जीना और किस प्रकार मरना होता है। मैं आशा करता हूं, इस विशाल जन-समुदाय के सामने आज मैं जो कुछ कह रहा हूं उसके फलस्वरूप वही आत्म-त्याग की भावना उत्पन्न होगी, जिसकी गवाही लोकमान्य तिलक महाराज का जीवन देता है। उनके जीवन से अगर हमको कोई शिक्षा मिलती है तो वह सबसे बड़ी शिक्षा यह है कि अगर हम अपने देश के लिए कुछ भी करना चाहते हैं तो भाषणों से नहीं कर सकते, चाहे वह कितने ही भव्य और उद्बोधक क्यों

न हों, बल्कि हर शब्द के पीछे और अपने जीवन के हर काम के पीछे त्याग के द्वारा ही हम कुछ कर सकते हैं।[1] (१२.८.२०, मद्रास)

... ...

लोकमान्य तो एक ही थे। लोगों ने तिलक महाराज को जो पदवी, जो उच्च स्थान दिया था वह राजाओं के दिये खिताबों से लाख गुना कीमती था। देश ने आज यह बात सिद्ध कर दिखाई है। यह कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी कि सारी बम्बई लोकमान्य को पहुंचाने के लिए उलट पड़ी थी।

उनके आखिरी दिनों में जो दृश्य मैंने अपनी आंखों से देखा वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। लोगों के उस अगाध प्रेम का वर्णन करना असंभव है।

फ्रांस में कहावत है कि 'राजा मर गये, राजा चिरंजीव रहें।' यह विचार इंगलैंड आदि सारे देशों में प्रचलित है और जब राजा की मृत्यु होती है तब यह कहावत कही जाती है। उसका भावार्थ यह है कि राजा तो मरता ही नहीं। राजतन्त्र एक मिनिट भी बन्द नहीं रहता।

उसी प्रकार तिलक महाराज भी मर नहीं सकते, न मरे ही। बम्बई की जनता ने यह दिखला दिया कि वह जीते हैं और बहुत समय तक जीयेंगे। उनके सगे-सम्बन्धियों को भले ही दुःख हुआ हो, उन्होंने भले ही आंखों से मोती टपकायें हों, परन्तु दूसरे लोग तो उत्सव मनाने के लिए आये थे। बाजे और भजन लोगों को चेतावनी दे रहे थे कि लोकमान्य मरे नहीं हैं। 'लोकमान्य तिलक महाराज की जय' ध्वनि से आकाश गूंज उठता था। उस समय लोग इस बात को भूल गये थे कि हम तो तिलक महाराज के देह के दाहकर्म के लिए आये हैं।

शनिवार की रात को जब मैंने उनके स्वर्गवास की खबर सुनी तब मेरा चित्त व्याकुल हो रहा था, पर जयघोष सुनकर मेरी बेचैनी जाती रही। मेरी भी यही धारणा हुई कि तिलक महाराज जीवित हैं। उनका क्षणभंगुर देह छूट गया है, पर उनकी अमर आत्मा तो लाखों लोगों के हृदय में विराजमान है।

इस जमाने में किसी भी लोकनायक को ऐसी मृत्यु का सौभाग्य प्राप्त

[1] गांधीजी के एक भाषण से।

नहीं हुआ था। दादाभाई गये, फिरोजशाह गये, गोखले भी चले गये। सबके साथ हजारों लोग श्मशान तक गये थे; पर तिलक महाराज ने तो हद कर दी। उनके पीछे तो सारी दुनिया गई। रविवार को बम्बई बावली हो गई थी।

यह कैसा चमत्कार! संसार में चमत्कार नाम की कोई वस्तु ही नहीं। अथवा यों कहें कि जगत स्वयं ही एक चमत्कृति है। बिना कारण के कोई काम नहीं होता। इस सिद्धान्त में कोई अपवाद नहीं हो सकता। लोकमान्य का हिन्दुस्तान पर असीम प्रेम था। इसी कारण लोकप्रेम की मर्यादा नहीं रह गई थी। स्वराज्य के मंत्र का जितना जप उन्होंने किया है उतना दूसरे किसीने नहीं किया। जिस समय दूसरे लोग यह मानते थे कि हां, अब भारत स्वराज्य के योग्य होगा, उस समय लोकमान्य सच्चे दिल से मानते थे कि भारत आज ही तैयार है। लोकमान्य की इस धारणा ने लोगों के मन को हर लिया था। ऐसा मानकर वह बैठे नहीं रहे; बल्कि जिन्दगी भर उसके अनुसार काम किया। उससे जनता में नवीन चैतन्य नया जोश पैदा हुआ। उन्होंने स्वराज्य प्राप्त करने की अपनी अधीरता का स्वाद लोगों को चखाया और ज्यों-ज्यों जनता को उसका स्वाद मालूम होने लगा त्यों-त्यों वह उनकी तरफ खिंचती गई।

उनपर अनेक तरह की आफतें आईं, तरह-तरह के कष्ट उन्हें सहने पड़े, तो भी उन्होंने उस मंत्र का अनुष्ठान नहीं छोड़ा। इस तरह वह कठिन परीक्षाओं में भी पास हुए। इससे जनता ने उन्हें अपने हृदय का सम्राट बनाया और उनका वचन उसके लिए कानून की तरह मान्य हो गया।

देह के नष्ट हो जाने से ऐसा महान जीवन नष्ट नहीं होता, बल्कि देह-पात के बाद से तो वह शुरू होता है।

जिसे हम पूजनीय मानते हैं उसकी सच्ची पूजा तो उसके सद्गुणों का अनुकरण करना ही है। लोकमान्य अत्यन्त सादगी के साथ रहते थे। उनके स्मरण के लिए हमें भी अपना जीवन सादा बनाना चाहिए। हमें उस सीमा तक वस्तुओं का त्याग करना चाहिए जिस तक के लिए हमारा मन गवाही देता हो। अपने निश्चित कार्य को करने से कभी पीछे नहीं हटना चाहिए। वह विचारशील थे। हमें भी विचार करके ही बोलना और काम करना

चाहिए। वह विद्वान् थे, अपनी मातृभाषा और संस्कृति पर उनका खूब प्रभुत्व था। हमें भी उनकी तरह विद्वान् होने का निश्चय करना चाहिए। व्यवहार में विदेशी भाषा का त्याग करके मातृभाषा का काफी ज्ञान प्राप्त करना और उसीके द्वारा अपने विचारों को प्रकट करने का अभ्यास करना चाहिए। हमें संस्कृत भाषा का अध्ययन करके अपने धर्म-शास्त्रों में छिपे धर्म-रहस्यों को प्रकट करना चाहिए। वह स्वदेशी के प्रेमी थे। हमें भी स्वदेशी का अर्थ समझकर उसका व्यवहार करना चाहिए। उनके हृदय में अपने देश के प्रति अथाह प्रेम था। हम भी अपने हृदय में ऐसा प्रेम उदय करें और दिन-प्रतिदिन देश-सेवा में अधिकाधिक तत्पर हों। इसी रीति से उनकी पूजा हो सकती है। जिससे इतना न हो सके वह उनकी यादगार के लिए जितना हो सके धन दें और वह स्वराज्य के कार्य में खर्च किया जाय।

लोकमान्य वर्त्तमान राज्य-मंडल के कट्टर शत्रु थे। पर इससे यह न समझना चाहिए कि वह अंग्रेजों से द्वेष करते थे। जो लोग ऐसा समझते हैं वह भूल करते हैं। उन्हींके श्रीमुख से मैंने कई बार अंग्रेजों की प्रशंसा सुनी है। वह अंग्रेजी राज्य के सम्बन्ध को भी अनिष्ट नहीं मानते थे। वह तो सिर्फ अपनेको अंग्रेजों के बराबर मनवाना चाहते थे। किसीका भी गुलाम बनकर रहना उन्हें पसन्द न था।

ऐसे प्रौढ़ देशभक्त के स्वर्गवास का उत्सव हम मना रहे हैं। ऐसे पुरुष का देह चाहे रहे या न रहे, पर देश की सेवा तो किया ही करता है; देश को आगे बढ़ाया ही करता है। जिसने अपने कार्य की रूपरेखा बना रखी हो, जिसने उसके अनुसार पैंतालीस वर्षों तक काम किया हो, जिसने अपनी देह को देशसेवा के ही अर्पण कर दिया हो, उसके देह का नाश भले ही हो जाय, उसकी स्मृति कभी नष्ट नहीं होती, उसकी मृत्यु कभी नहीं होती। अतएव लोकमान्य तिलक मरकर भी हमें जीवन का मन्त्र सिखा गये हैं।

(हिं० न०, ६.८.२२)

... ...

पहले मैं लोकमान्य से मिला। उन्होंने कहा—"सब दलों की सहायता प्राप्त करने का आपका विचार बिल्कुल ठीक है। आपके प्रश्न के सम्बन्ध में मत-भेद हो नहीं सकता; परन्तु आपके काम के लिए किसी तटस्थ सभा-

पति की आवश्यकता है। आप प्रोफेसर भांडारकर से मिलिये। यों तो वह आजकल किसी हलचल में पड़ते नहीं हैं; पर शायद इस काम के लिए 'हां' कर लें। उनसे मिलकर नतीजे की खबर मुझे कीजियेगा। मैं आपको पूरी-पूरी सहायता देना चाहता हूं। आप प्रोफेसर गोखले से भी अवश्य मिलियेगा। मुझसे जब कभी मिलने की इच्छा हो जरूर आइयेगा।"

लोकमान्य के यह मुझे पहले दर्शन थे। उनकी लोक-प्रियता का कारण मैं तुरन्त समझ गया। (आ० क०, १९२७)

... ...

वह मुझे रिपन कालेज ले गया। वहां बहुतेरे प्रतिनिधि ठहरे हुए थे। सौभाग्य से जिस विभाग में मैं ठहरा था, वहीं लोकमान्य भी ठहराये गए थे। मुझे ऐसा स्मरण है कि वह एक दिन बाद आये थे। जहां लोकमान्य होते, वहां एक छोटा-सा दरबार लगा ही रहता था। यदि मैं चितेरा होऊं तो जिस चारपाई पर वह बैठते थे उसका चित्र खींचकर दिखा दूं, उस स्थान का और उनकी बैठक का इतना स्पष्ट स्मरण मुझे है। उनसे मिलने आनेवाले असंख्य लोगों में एक का नाम मुझे याद है—'अमृत बाजार पत्रिका' के स्व० मोतीबाबू। इन दोनों का कहकहा लगाना और राजकर्त्ताओं के अन्याय-संबंधी उनकी बातें कभी भुलाई नहीं जा सकतीं।

... ...

इस विशेष[1] अधिवेशन के अवसर पर मुझे लोकमान्य की अनुपस्थिति बहुत ज्यादा खटकी थी। आज भी मेरा यह मत है कि अगर वह जिन्दा रहते तो अवश्य ही कलकत्ता के प्रसंग का स्वागत करते। लेकिन अगर यह नहीं होता और वह उसका विरोध करते तो भी वह मुझे अच्छा लगता और मैं उससे बहुत-कुछ शिक्षा ग्रहण करता। मेरा उनके साथ हमेशा मतभेद रहा करता, लेकिन यह मतभेद मधुर होता था। उन्होंने मुझे सदा यह मानने दिया था कि हमारे बीच निकट का सम्बन्ध है। ये पंक्तियां लिखते हुए उनके अवसान का चित्र मेरी आंखों के सामने घूम रहा है। आधी रात के समय मेरे साथी पटवर्धन ने टेलीफोन द्वारा मुझे उनकी मृत्यु की खबर दी थी। उसी समय मैंने अपने साथियों से कहा था—"मेरी बड़ी ढाल मुझ

[1] कलकत्ता-अधिवेशन, १९२०

से छिन गई।" इस समय असहयोग का आंदोलन पूरे जोर पर था। मुझे उनसे आश्वासन और प्रेरणा पाने की आशा थी। आखिर जब असहयोग पूरी तरह मूर्तिमान हुआ था तब उनका क्या रुख होता सो तो दैव ही जाने; लेकिन इतना मुझे मालूम है कि देश के इतिहास की इस नाजुक घड़ी में उनका न होना सबको खटकता था। (आ० क०, १९२७)

... ...

आपका यही सवाल है न लोग 'शठं प्रति शाठ्यम्' को तिलक महाराज का सिद्धांत मानते हैं और हमें उनके जीवन में इस सिद्धांत की प्रतीति कहांतक होती है? हम इस प्रश्न में से बहुत अधिक सार ग्रहण नहीं कर सकते। हां, इस बारे में तिलक महाराज के साथ मेरा कुछ दिनों तक पत्र-व्यवहार हुआ था। उनके जीवन के नम्र विद्यार्थी और गुणों के एक पुजारी के नाते मैं कह सकता हूं कि तिलक महाराज में विनोद की शक्ति थी। विनोद के लिए अंग्रेजी में 'ह्यूमर' शब्द है। अबतक हम इस अर्थ में विनोद का उपयोग नहीं करने लगे हैं। इसीसे अंग्रेजी शब्द देकर अर्थ समझाना पड़ता है। अगर लोकमान्य में यह विनोद-शक्ति न होती तो वह पागल हो जाते--राष्ट्र का इतना बोझ वह उठाते थे। लेकिन अपनी विनोद-प्रियता के कारण वह स्वयं अपनी रक्षा तो कर ही लेते थे, दूसरों को भी विषम स्थिति में से बचा लेते थे। दूसरे, मैंने यह देखा है कि वाद-विवाद करते समय वह कभी-कभी जान-बूझकर अतिशयोक्ति से भी काम ले लेते थे। प्रस्तुत प्रश्न के सम्बन्ध में मेरा उनका जो पत्र-व्यवहार हुआ था, वह मुझे ठीक-ठीक याद नहीं, आप उसे देख लें। 'शठं प्रति शाठ्यम्' तिलक महाराज का जीवन-मंत्र नहीं था। अगर ऐसा होता तो वह इतनी लोकप्रियता प्राप्त न कर सकते। मेरी जान में संसारभर में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है, जिससे किसी मनुष्य ने इस सिद्धांत पर अपना जीवन-निर्माण किया हो और फिर भी वह लोकमान्य बन सका हो। यह सच है कि इस बारे में जितना गहरा मैं पैठता हूं, वह नहीं पैठते थे। हम शठ के प्रति शाठ्य का कदापि उपयोग कर ही नहीं सकते। 'गीता-रहस्य' में एक-दो स्थानों में, सिर्फ एक ही दो स्थानों में, इस बात का थोड़ा समर्थन जरूर मिलता है। लोकमान्य मानते थे राष्ट्रहित के लिए अगर कभी शाठ्य से, दूसरे शब्दों में

'जैसे को तैसा' सिद्धांत से, काम लेना पड़े तो ले सकते हैं। साथ ही वह यह भी मानते तो थे ही कि शठ के सामने भी सत्य का प्रयोग करना अच्छा है, यही सत्य सिद्धांत है। मगर इस सम्बन्ध में वह कहा करते थे कि साधु लोग ही इस सिद्धांत पर अमल कर सकते हैं। तिलक महाराज की व्याख्या के मुताबिक साधु लोगों से अर्थ वैरागियों का नहीं, बल्कि उन लोगों से होता है जो दुनिया से अलिप्त रहते हैं, दुनियादारी के कामों में भाग नहीं लेते। इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि अगर कोई दुनिया में रहकर सिद्धांत का पालन करे तो अनुचित होगा—हां, वह न कर सके यह दूसरी बात है—वह मानते थे कि शाठ्य का उपयोग करने का उसे अधिकार है।

लेकिन ऐसे महान् पुरुष के जीवन का मूल्य ठहराने का हमें कोई अधिकार हो तो हम विवादास्पद बातों से उसका मूल्य न ठहरायें। लोकमान्य का जीवन भारत के लिए, समस्त विश्व के लिए, एक बहुमूल्य विरासत है। उसकी पूरी कीमत तो भविष्य में निश्चित होगी। इतिहास ही उसकी कीमत का अनुमान लगायेगा, वही लगा सकता है। जीवित मनुष्य का ठीक-ठीक मूल्य, उसका सच्चा महत्त्व, उसके समकालीन कभी ठहरा ही नहीं सकते। उनमे कुछ-न-कुछ पक्षपात तो हो ही जाता है, क्योंकि रागद्वेष-पूर्ण लोग ही इस काम के कर्ता भी होते हैं। सच पूछा जाय तो इतिहासकार भी रागद्वेष-रहित नहीं पाये जाते। गिबन प्रामाणिक इतिहासकार माना जाता है, मगर मैं तो उसकी पुस्तक के पृष्ठ-पृष्ठ में पक्षपात अनुभव कर सकता हूं। मनुष्य-विशेष या संस्था-विशेष के प्रति राग अथवा द्वेष से प्रेरित होकर उसने बहुतेरी बातें लिखी होंगी। समकालीन व्यक्ति में विशेष पक्षपात होने की सम्भावना रहती है। लोकमान्य के महान् जीवन का उपयोग तो यह है कि हम उनके जीवन के शाश्वत सिद्धांतों का सदा स्मरण और अनुकरण करें।

तिलक महाराज का देश-प्रेम अटल था। साथ ही उनमें तीक्ष्ण न्याय-वृत्ति भी थी। इस गुण का परिचय मुझे अनायास मिला था। १९१७ की कलकत्ता-महासभा के दिनों में, हिंदी साहित्य सम्मेलन की सभा में, भी वह आये थे। महासभा के काम से उन्हें फुर्सत तो कैसे हो सकती थी? फिर भी वह आये और भाषण करके चले गये। मैंने वहीं देखा कि राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रति उनमें कितना प्रेम था। मगर इससे भी बढ़कर जो बात मैंने उनमें

देखी, वह थी अंग्रेजों के प्रति की उनकी न्याय-वृत्ति। उन्होंने अपना भाषण ही यों शुरू किया था—"मैं अंग्रेजी शासन की खूब निंदा करता हूं, फिर भी अंग्रेज विद्वानों ने हमारी भाषा की जो सेवा की है, उसे हम भुला नहीं सकते।" उनका आधा भाषण इन्हीं बातों से भरा था। आखिर उन्होंने कहा था कि अगर हमें राष्ट्रभाषा के क्षेत्र को जीतना और उसकी वृद्धि करना हो तो हमें भी अंग्रेज विद्वानों की भांति ही परिश्रम और अभ्यास करना चाहिए। अपनी लिपि की रक्षा और व्याकरण की व्यवस्था के लिए हम एक बड़ी हद तक अंग्रेज विद्वानों के आभारी हैं। जो पादरी आरम्भ में आये थे, उनमें पर-भाषा के लिए प्रेम था। गुजराती में टेलर-कृत व्याकरण कोई साधारण वस्तु नहीं है। लोकमान्य ने इस बात का विचार भी नहीं किया कि अंग्रेजों की स्तुति करने से मेरी लोकप्रियता घटेगी। लोगों का तो यही विश्वास था कि वह अंग्रेजों की निंदा ही कर सकते हैं।

तिलक महाराज में जो त्याग-वृत्ति थी, उसका सौवां या हजारवां भाग भी हम अपने में नहीं बता सकते। और उनकी सादगी? उनके कमरे में न तो किसी तरह का फर्नीचर होता था, न कोई खास सजावट। अपरिचित आदमी तो खयाल भी नहीं कर सकता था कि वह किसी महान् पुरुष का निवास-स्थान है। रगरग में भिदी हुई उनकी इस सादगी का हम अनुकरण करें तो कैसा हो? उनका धैर्य तो अद्भुत था ही। अपने कर्तव्य में वह सदा अटल रहते और उसे कभी भूलते ही न थे। धर्मपत्नी की मृत्यु का संवाद पाने पर भी उनकी कलम चलती ही रही। ...क्या हम तिलक महाराज के जीवन का एक भी ऐसा क्षण बतला सकते हैं जो भोग-विलास में बीता हो? उनमें जबर्दस्त सहिष्णुता थी। यानी वह चाहे जैसे उद्दंड-से-उद्दंड आदमी से भी काम करवा लेते थे। लोकनायक में यह शक्ति होनी चाहिए। इससे कोई हानि नहीं होती। अगर हम संकुचित हृदय बन जायं और सोच लें कि फलां आदमी से काम लेंगे ही नहीं तो या तो हमें जंगल में जाकर बस जाना चाहिए, या घर बैठे-बैठे गृहस्थ का जीवन बिताना चाहिए। इसमें शर्त यही है कि स्वयं निर्लिप्त रह सकें।

मुंह से तिलक महाराज का बखान करके ही हम चुप न हो बैठें। काम, काम और काम ही हमारा जीवन-सूत्र होना चाहिए। जब कि हम स्वराज्य-

यज्ञ को चालू रखना चाहते हैं, हमें चाहिए कि हम निकम्मे साहित्य का पढ़ना बन्द कर दें, निरर्थक बातें करना छोड़ दें और अपने जीवन का एक-एक क्षण स्वराज्य के काम में बिताने लगें। आप पूछेंगे कि क्या पढ़ाई छोड़कर यह काम करें? १९२१ में भी विद्यार्थियों के साथ मेरा यही झगड़ा था कि तिलक महाराज ने क्या किया था? उन्होंने जो बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे, वे बाहर रहकर नहीं, जेल में रहकर लिखे थे। 'गीता रहस्य' और 'आर्क्टिक होम' वह जेल में ही लिख सके थे। बड़े-बड़े मौलिक ग्रंथ लिखने की शक्ति होते हुए भी उन्होंने देश के लिए उसका बलिदान किया था। उन्होंने सोचा, "घर के चारों ओर आग भभक उठी है। इसे जितनी बुझा सकूं, उतनी तो बुझाऊं।" उन्होंने अगर हजार घड़े पानी से वह बुझाई हो तो हम एक ही घड़ा डालें, मगर डालें तो सही। पढ़ाई आदि आवश्यक होते हुए भी गौण बातें हैं। अगर स्वराज्य के लिए इनका उपयोग होता हो तो करना चाहिए, अन्यथा इन्हें तिलांजलि देनी चाहिए। इससे न हमारा नुकसान है और न संसार का।

तिलक महाराज अपने जीवन द्वारा इसका प्रत्यक्ष उदाहरण छोड़ गये हैं। जिनके जीवन में इतनी सारी बातें ग्रहण करने योग्य हों, जिनकी विरासत इतनी जबर्दस्त हो, उनके सम्बन्ध में उक्त प्रश्न के लिए गुंजाइश ही नहीं रहती है। हमारा धर्म तो गुणग्राही बनने का है।

आज हमें जो काम करना है, वह मुर्दार आदमियों के करने से तो हो नहीं सकता। स्वराज्य का काम कठिन है। भारत में आज एक लहर बह रही है। उसमें खिचकर हम भाषण करते हैं, धींगाधींगी मचाते हैं, तूफान खड़े करते हैं, मनमाने तौर पर संस्थाओं में घुस जाते हैं और फिर उन्हें नष्ट करते एवं धारासभाओं में जाकर भाषण करते हैं। तिलक महाराज के जीवन में ये बातें हमारे देखने में भी नहीं आतीं। उनके जीवन के जो गुण अनुकरणीय हैं, सो तो मैं ऊपर कह ही चुका हूं।[1]

... ...

आप लोगों ने तिलक महाराज की प्रसिद्ध पुस्तक 'गीता-रहस्य' का नाम सुना होगा। उसमें इतना ज्ञान भरा है कि उसके अनेक पारायण करने

[1]लोकमान्य की पुण्यतिथि पर गुजरात विद्यापीठ में दिया गया भाषण।

चाहिए। मैंने वह यरवदा-जेल में पढ़ी थी। यह बात सही है कि मैं उनकी सभी बातों से सहमत नहीं हूं, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि तिलक महाराज बहुत बड़े विद्वान थे और उन्होंने संस्कृत-साहित्य का बहुत गहरा अध्ययन किया था। उनकी वह गीता पढ़े मुझे बहुत समय हो गया, इसलिए उनके ठीक शब्द मुझे याद नहीं हैं; पर उनके लिखने का भावार्थ मैं बताऊंगा। वह बात मुझे बहुत ठीक लगती है।

उन्होंने एक जगह कहा है कि अंग्रेजी भाषा में अन्तरात्मा के लिए 'कान्शंस' शब्द अच्छा है; पर जब यह कहा जाता है कि हम अपने 'कान्शंस' के मुताबिक चलते हैं तब इसका सही अर्थ यह नहीं होता कि हम अन्तरात्मा के कहने पर चलते हैं। हमारे वैदिक धर्म के मुताबिक 'कान्शंस' सभी में (जड़ चेतन में) होता है। पर बहुतों का 'कान्शंस' सोया हुआ रहता है, अर्थात् उनकी अन्तरात्मा मूढ़ अवस्था में होती है। तो उस अवस्था में उसे 'कान्शंस' कैसे कहा जाय? हमारे धर्म के अनुसार मनुष्य की अन्तरात्मा तब जाग्रत होती है जब यम-नियमादि का पालन और दूसरी भी बहुत-सी चेष्टा आदि करें। तिलक महाराज की इस बात को मैंने पचा लिया है। शास्त्र की जो चीज हम पचा सकें वही सार्थक है। जैसे वही आहार हमारे लिए सार्थक बनता है जिसका हम रक्त बनायें। तो तिलक महाराज की इस बात को मैंने पचा लिया है, जिसके जरिये कौन-सी आवाज अन्तरात्मा की है और कौन-सी नहीं, उसकी परख मैं कर लेता हूं।

(प्रा० प्र०, १.६.४७)

: ८३ :

अब्बास तैयबजी

सबसे पहले सन् १९१५ में मैं अब्बास तैयबजी से मिला था। जहां कहीं मैं गया, तैयबजी-परिवार का कोई-न-कोई स्त्री-पुरुष मुझसे आकर जरूर मिला। ऐसा मालूम पड़ता है, मानो इस महान और चारों तरफ फैले हुए परिवार ने यह नियम ही बना लिया था। हमारे इस बीच अटूट सम्बन्ध का खास कारण क्या था, यह सिवा इसके मुझे और कुछ मालूम नहीं कि

जिस सुप्रतिष्ठित न्यायाधीश के कारण यह वंश प्रसिद्ध है उससे सन् १८६० में मेरी मित्रता हो गई थी, जबकि मैं दक्षिण अफ्रीका से हिन्दुस्तान वापस आया था और बिल्कुल अनजान व्यक्ति था। कुछ लोगों के विचार में तो मैं सम्भवतः एक दुःसाहसी आदमी था, लेकिन बदरुद्दीन तैयबजी और कुछ अन्य व्यक्ति ऐसे भी थे जिनका यह खयाल नहीं था।

मगर मुझे तो बड़ौदा के अब्बास के मियां के विषय पर ही आना चाहिए। जब हम एक-दूसरे से मिलते और मैं उनके मुंह की ओर देखता तो मुझे स्व० जस्टिस बदरुद्दीन तैयबजी का स्मरण हो आता। हमारी उस मुलाकात से हमारे बीच जन्मभर के लिए मित्रता की गांठ बंध गई। मैंने उन्हें हरिजनों का मित्र ही नहीं; बल्कि उन्हींमें का एक पाया। बहुत दिन पहले गोधरा में, शाम को हरिजनों की बस्ती में होनेवाले एक अस्पृश्यता-विरोधी सम्मेलन में जब मैंने उन्हें बुलाया तो दर्शकों को बड़ा आश्चर्य हुआ; लेकिन अब्बास मियां ने हरिजनों के काम में उसी उत्साह से भाग लिया, जैसे कोई कट्टर हिंदू ले सकता है। इतने पर भी वह कोई साधारण मुसलमान नहीं थे। इस्लाम के लिए उन्होंने मुक्तहस्त से दान दिया और कई मुस्लिम संस्थाओं को वह सहायता देते रहते थे। मगर हरिजनों को मुसलमान बनाने जैसा कोई विचार उनके मन में नहीं था। उनके इस्लाम में भूमंडल के तमाम महान् धर्मों के लिए गुंजाइश थी। इसीलिए अस्पृश्यता विरोधी-आंदोलन में वह हिंदुओं की ही तरह उत्साहपूर्वक भाग लेते थे, और मैं जानता हूं कि जबतक वह जिन्दा रहे तबतक उनका यह उत्साह बराबर वैसा ही बना रहा।

असल बात यह है कि उन्होंने आधे मन से कभी कोई काम नहीं किया। अब्बास तैयबजी अपने मन में कोई बात छिपाकर नहीं रखते थे। पंजाब की पुकार का उन्होंने तत्क्षण जवाब दिया। उनकी आयु के और ऐसे व्यक्ति के लिए, जिसने जीवन में कभी कोई मुसीबत नहीं झेली, जेलों की सख्तियां बर्दाश्त करना कोई मजाक नहीं था। लेकिन उनकी श्रद्धा ने हरेक कठिनाई को विजय कर लिया। हँसते-हँसाते खेड़ा के किसानों की तरह ही सादा जीवन व्यतीत करते, उन्हींका-सा खाना खाते और सब मौसमों में उन्हींकी रद्दी-सद्दी गाड़ियों में सफर करने की क्षमता से अनेक नौजवान

को उनके सामने शर्मिन्दा होना पड़ा। ऐसी असुविधाओं के बारे में, जिन्हें कि बचाया जा सकता हो, मैंने उनको कभी शिकायत करते हुए नहीं सुना, 'क्यों ?' का प्रश्न करना उनका काम नहीं था, वह तो काम करने और अपनेको झोंक देने की बात जानते थे। हालांकि एक समय चीफ जज की हैसियत से उन्हें किसीको मृत्यु-दण्ड देने और अपनी आज्ञा-पालन कराने की सत्ता प्राप्त थी, फिर भी बिना किसी उज्र के अनुशासन पालन करने की आश्चर्यजनक क्षमता उन्होंने प्रदर्शित की। वह मनुष्यजाति के विरले सेवकों में से थे। भारत-सेवक भी वह इसीलिए थे कि वह मनुष्य-जाति के सेवक थे। ईश्वर को वह दरिद्रनारायण के रूप में मानते थे। उनका विश्वास था कि परमेश्वर दीन-दुखियों के बीच ही रहता है। अब्बास मियां का शरीर यद्यपि इस समय कब्र में विश्राम कर रहा है, पर वह मरे नहीं हैं। उनका जीवन हम सबके लिए एक स्फूर्ति है, एक प्रेरणा है। (ह० से०, २०.८.३६)

: ८४ :

बदरुद्दीन तैयबजी

मैं श्री मोतीलाल नेहरू, सी० आर० दास, मनमोहन घोष, बदरुद्दीन तैयबजी इत्यादि की याद आपको दिला दूंगा, जिन्होंने अपनी कानूनी लियाकत बिल्कुल मुफ्त बांटी और अपने देश की बड़ी अच्छी तथा विश्वस्त सेवा की। आप शायद मुझे ताना देंगे कि वह लोग इस कारण ऐसा कर सके थे कि वह अपने व्यवसाय में बड़ी लंबी-लंबी फीस लेते थे। मैं इस तर्क को इस कारण नहीं मान सकता कि मनमोहन घोष के सिवा मेरा और सबसे परिचय रहा है। अधिक रुपया होने की वजह से इन लोगों ने भारत को आवश्यकता पड़ने पर अपनी योग्यता उदारतापूर्वक दी हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उसका उनकी आराम तथा विलास से रहने की योग्यता से कोई संबंध नहीं है। मैंने उनको बड़े संतोष से दीनतापूर्वक जीवन निर्वाह करते देखा है। (हि० न०, १२.११.६१)

: ८५ :

डॉक्टर दत्त

फोरमन क्रिश्चियन कालेज के प्रिंसिपल डॉक्टर दत्त के देहांत से देश का एक कट्टर राष्ट्रवादी क्रिश्चियन उठ गया है। दक्षिण अफ्रीका से लौटने के बाद तुरंत ही उनको निकट से जानने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। वह स्वर्गीय दीनबंधु एण्ड्रूज के एक अंतरंग मित्र थे। उन्होंने अपने हरेक मित्र से मेरा परिचय करा दिया था और तभी उन्हें संतोष हो पाया था। सन् १९२४ में एकता परिषद् के उन चिंताजनक दिनों में, जब मैं दिल्ली में इक्कीस दिन का उपवास कर रहा था, उन्होंने रात-दिन लगकर काम किया था। दूसरी गोलमेज परिषद् के समय भी मैंने उन्हें उतनी ही लगन के साथ काम करते देखा था। देश के इतिहास के इस नाजुक अवसर पर उनका देहांत दुगुना कष्टदायक होगा। मैं श्रीमती दत्त के साथ अपनी समवेदना प्रकट करता हूं। डॉक्टर दत्त के अनेकानेक मित्र इस शोक में उनके साथ हैं। (ह० से०, २८.६.४२)

: ८६ :

गोपबन्धुदास

पं० गोपबंधुदास, जो पहले एम० एल० सी०, वकील इत्यादि थे, अति त्यागी नेता हैं। उनसे मुझे विदित हुआ है कि यह और उनका दल केवल भात-दाल पर गुजारा करते हैं, घी उन्हें शायद ही मिलता है। असहयोग करने के अनन्तर कार्यकर्ताओं ने अपनी आवश्यकताएं एकबारगी कम कर दी हैं, यहांतक कि दस रुपये जैसी छोटी रकम पर ये अपना निर्वाह कर लेते हैं। मुझे तनिक भी संदेह नहीं कि ऐसे अदम्य उत्साही कार्यकर्ताओं के द्वारा स्वराज्य इसी वर्ष में प्राप्त हो सकता है। पंडित गोपबन्धुदास की एक पाठशाला साखी-गोपाल में पुरी से १२ मील पर है। यह एक कुंज पाठशाला है। यह देखने योग्य है। मैंने उसके छात्रों और शिक्षकों के बीच एक दिन बड़े आनन्द से काटा। यह खुले मैदान में शिक्षा-पद्धति की बड़ी अच्छी परीक्षा

है। वहां के कुछ छात्र जबर्दस्त कुस्तीबाज हैं । (यं० इं० ३.४.२१)

... ...

अभी मुझे नीलकंठबाबू का तार मिला है कि पंडित गोपबन्धुदास का देहान्त हो गया। दुःख और विपत्ति के मारे उड़ीसा के वह सर्वश्रेष्ठ पुत्रों में से एक थे। गोपबन्धुबाबू ने उड़ीसा को अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया था। सन् १६१६ में जब अकाल-पीड़ितों को सहायता पहुंचाने के लिए श्रीयुत अमृतलाल ठक्कर उड़ीसा भेजे गये थे, तब मैंने गोपबन्धुबाबू के बारे में, और उनके निष्कलंक चरित्र, तथा दृढ़ता के बारे में सुना था। श्रीयुत ठक्कर मेरे पास लिखा करते थे कि किस भांति असहायों को सहायता करने के लिए गोपबन्धुबाबू कष्टों और रोगों से लड़ा करते थे। असहयोग के जमाने में उन्होंने अपनी वकालत और काउंसिल की मेम्बरी छोड़ दी और फिर कभी वह डिगे नहीं। मगर उनके लिए जो इससे भी बड़ा त्याग था, यानी उन्होंने अपनी प्रियतम कृति सत्यवादी स्कूल को भी खतरे में डाल दिया। उन्होंने अपने कुछ निकटतम मित्रों के ताने सुने और जिसे वे उनकी मूर्खता समझते थे, उसीके पीछे लगे रहे। उसीके पीछे लगे रहने के लिए उनकी कीर्ति हमेशा बनी रहेगी। उनके जीवन की एक मात्र अभिलाषा थी, टुकड़े हुए उत्कल को ऐक्य सूत्र में बंधा हुआ और सुखी देखना। पीछे से लाला लाजपतराय की समिति में शामिल हो गये थे। और वह गरीबी तथा बाढ़ से पीड़ित उत्कल को आर्थिक सहायता पहुंचाने के लिए खादी को उपयोगी साधन बनाने की योजना बना रहे थे। पंडित गोपबन्धुदास के अवसान से देश गरीब हो गया है, क्योंकि वह सशरीर हम लोगों के बीच आज नहीं है, मगर उनकी आत्मा तो है ही। तब वही पुण्यात्मा राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं का पथ प्रदर्शक बने, इस मृत्यु के फलस्वरूप, राष्ट्रीय जरूरत के लिए जो अत्यन्त ही थोड़े-से हैं, वह तितर-बितर हुए कार्यकर्त्ता सेवा के लिए और अधिक जोर लगायें, और अधिक आत्म-विलोपन करें, और उनमें और अधिक एकता होवे। मैं इस स्वर्गीय देशभक्त के रिश्तेदारों तथा शिष्यों से समवेदना प्रकट करता है। (हि० न०, २१.६.२८)

: ८७ :

देशबन्धु चित्तरंजन दास

फरीदपुर से लौटकर सोमवार को ये संस्मरण मैं लिख रहा हूं। देशबन्धु दास के पुराने महल की छत पर बैठा हुआ हूं। बंगाल में आये आज मुझे चार रोज हुए हैं; परन्तु इस महल में मेरे दिल पर पहले-पहल जो चोट लगी है वह अभी तक मुझे छोड़ नहीं रही है। मैं जानता था कि यह मकान देशबन्धु ने सार्वजनिक काम के लिए दे दिया है। मुझे पता था कि उनके सिर पर कर्ज था; पर उसके साथ ही मुझे इस बात का भी ज्ञान था कि वह यदि वकालत करें तो थोड़े समय में यह कर्ज अदा करके अपने महल पर कब्जा कर सकते हैं। पर उन्हें वकालत तो करनी थी नहीं, या यों कहें कि वह तो बिना फीस लिये देश की वकालत करना चाहते थे। इसलिए महल के सदृश मकान को दे डालने का ही निश्चय उन्होंने किया और उसका कब्जा ट्रस्टियों को दे दिया। उनकी इच्छा थी कि इस यात्रा में कलकत्ते में तो उन्हींके इसी पुराने मकान पर ठहरूं। इसी से यहां आ कर रहा हूं।

परंतु जानना एक बात है और देखना दूसरी। घर में प्रवेश करते समय मेरा हृदय रो उठा। आंखें छलछला उठीं। इस महल के मालिक के बिना और उनकी मालिकी के बिना वह मुझे जेलखाना मालूम हुआ। उसमें रहना मुश्किल हो गया और अभी तक इस भाव का प्रभाव मुझपर बना हुआ है।

मैं जानता हूं कि यह मोह है। मकान का कब्जा देकर देशबन्धु ने अपने सिर से एक बोझ कम किया है। उस मकान से, जिसमें ये दंपती न जाने कहा खो जायं, उन्हें क्या लाभ ? यदि वे मन में लायें तो झोंपड़ी को राजमहल बना सकते हैं। दोनों ने स्वेच्छा से उसे त्यागा है। इसपर खेद किसलिए ? यह तो हुई ज्ञान की बात। यह ज्ञान यदि मुझे न हो तो मुझे आज से ही महल बनाने का उद्यम शुरू करना पड़े।

परंतु देहाध्यास कहीं जाता है ? संसार कहीं दास की तरह करता है ? दुनिया तो यदि महल हो तो उसे चाहती है। पर इस पुरुष ने उसका त्याग कर दिया। धन्य है उसे ! मेरे आंसू प्रेम के हैं। चोट भी यह प्रेम ही लगता है। और स्वार्थ क्यों न हो ? यदि देशबंधु के साथ मेरा कुछ भी संबंध न

होता तो यह आघात न पहुंचता। बहुतेरे महल देखे हैं, जिनके मालिक उन्हें छोड़कर दुनिया से ही चले गये हैं। परन्तु उनमें प्रवेश करते हुए आंखों से आंसू नहीं गिरे। इसलिए यह रोना स्वार्थ-मूलक भी है। चित्तरंजनदास ने महल का परित्याग भले ही किया हो, पर उनकी सेवा की कीमत बढ़ गई है।

परिषद् में देशबंधु का शरीर बहुत ही दुर्बल दिखाई दिया। आवाज बैठ गई है। कमजोरी खूब है। सच कहें तो अभी तबीयत ऐसे कामों के योग्य नहीं हो पाई है। अभी तो डाक्टरों ने उन्हें सलाह दी है कि वह शक्ति प्राप्त करने के लिए या तो यूरोप या दार्जिलिंग जायं, पर वहां तो वह मजबूरी की अवस्था में ही जाना चाहते हैं।

...देशबन्धु का भाषण संक्षिप्त और दिलचस्प था। प्रत्येक वाक्य में अहिंसा की ध्वनि थी। उन्होंने उस भाषण में साफ तौर पर बताया कि हिन्दुस्तान का उद्धार अहिंसामय संग्राम से ही हो सकता है। इस भाषण के नीचे यदि कोई मुझसे सही करने के लिए कहे तो मुझे शायद ही कोई वाक्य या शब्द बदलने की जरूरत हो।

उनके भाषण के अनुसार ही प्रस्तावों का होना स्वाभाविक था। इससे विषय-समिति में खासा झगड़ा भी हुआ। अन्त में देशबन्धु को त्यागपत्र देना कहने तक की नौबत आ गई थी। लेकिन आखिर उनके प्रभाव की जय हुई और परिषद् के महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव निर्विघ्न पास हुए।

... ...

जब हृदय चोट से व्यथित होता है तब कलम की गति कुंठित हो जाती है। मैं यहां इस तरह शोकमय वायुमंडल में हूं कि तार द्वारा पाठकों के लिए अधिक कुछ भेजने में असमर्थ हूं। अभी दार्जिलिंग में उस महान् देश भक्त के साथ ५ रोज तक मेरा समागम रहा। उसने हम एक-दूसरे को पहले से अधिक एक-दूसरे के नजदीक कर दिया। मैंने केवल यही अनुभव नहीं किया कि देशबन्धु कितने महान् थे, बल्कि यह भी अनुभव किया कि वह कितने भले थे। भारत का एक लाल चला गया। हमें चाहिए कि हम स्वराज्य प्राप्त करके उसे पुनः प्राप्त करें। (हि० न०, १८.६.२५)

... ...

आप लोगों ने आचार्य राय से सुन लिया कि हम लोगों पर कैसा भीषण

प्रहार हुआ है। परन्तु मैं जानता हूं कि अगर हम सच्चे देश-सेवक हैं तो कितना ही बड़ा वज्र-प्रहार हो, हमारे दिल को नहीं तोड़ सकता। आज सवेरे यह शोक समाचार सुना तो मेरे सामने दो परस्पर विरुद्ध कर्तव्य आ खड़े हुए। मेरा कर्तव्य था कि पहले जो गाड़ी मिले उसी से मैं कलकत्ते चला जाता; पर मेरा यह भी कर्तव्य था कि आपके निर्धारित कार्यक्रम को पूरा करूं। मेरी सेवा-वृत्ति ने यही प्रेरणा की कि यहां का कार्य पूरा किया जाय। यद्यपि मैं दूर-दूर से आये हुए लोगों से मिलने के लिए ठहर गया हूं तथापि उनके सामने महासभा के कार्य की विवेचना न करके स्वर्गीय देशबन्धु का ही स्मरण करूंगा। मुझे विश्वास है कि कलकत्ता दौड़ जाने की अपेक्षा यहां का काम पूरा करने से उनकी आत्मा अधिक प्रसन्न होगी।

देशबन्धु दास एक महान् पुरुष थे।[1] मैं गत छः वर्षों से उन्हें जानता हूं। कुछ ही दिन पहले जब मैं दार्जिलिंग से उनसे विदा हुआ था तब मैंने एक मित्र से कहा था कि जितनी ही घनिष्ठता उनसे बढ़ती है उतना ही उनके प्रति मेरा प्रेम बढ़ता जाता है। मैंने दार्जिलिंग में देखा कि उनके मन में भारत की भलाई के सिवा और कोई विचार न था। वह भारत की स्वाधीनता का ही सपना देखते थे, उसीका विचार करते थे और उसीकी बातचीत करते थे, और कुछ नहीं। दार्जिलिंग से विदा होते समय भी उन्होंने मुझसे कहा था कि आप बिछुड़े हुए दलों को एक करने के लिए बंगाल में अधिक समय तक ठहरिये, ताकि सब लोगों की शक्ति एक कार्य के लिए युक्त हो जाय। मेरी बंगाल-यात्रा में उनसे मतभेद रखनेवालों ने भी बिना हिचकिचाहट के इस बात को स्वीकार किया है कि बंगाल में ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो उनका स्थान ले सके। वह निर्भीक थे। बंगाल में नवयुवकों के प्रति उनका निस्सीम स्नेह था। किसी नवयुवक ने मुझे ऐसा नहीं कहा कि देशबन्धु से सहायता मांगने पर कभी किसीकी प्रार्थना खाली गई। उन्होंने लाखों रुपया पैदा किया और लाखों रुपया बंगाल के नवयुवकों में बांट दिया। उनका त्याग अनुपम था और उनकी महान् बुद्धिमत्ता और राजनीतिज्ञता की बात मैं क्या कह सकता हूं! दार्जिलिंग में उन्होंने मुझसे

[1] इतना कहते-कहते गांधीजी की आंखों में आंसू आ गये और एक-दो मिनट तक कुछ बोल न सके।

अनेक बार कहा कि भारत की स्वाधीनता अहिंसा और सत्य पर निर्भर है।

भारत के हिन्दुओं और मुसलमानों को जानना चाहिए कि उनका हृदय हिन्दू और मुसलमान का भेद नहीं जानता था। मैं भारत के सब अंग्रेजों से कहता हूं कि उनके प्रति उनके मन में बुरा भाव न था। उनकी अपनी मातृभूमि के प्रति यही प्रतिज्ञा थी—"मैं जीऊंगा तो स्वराज्य के लिए और मरूंगा तो स्वराज्य के लिए।" हम उनकी स्मृति को कायम रखने के लिए क्या करें? आंसू बहाना सहज है, परन्तु आंसू हमारी या उनके स्वजनों-परिजनों की सहायता नहीं कर सकता। अगर हममें से हरकोई हिन्दू, मुसलमान, पारसी और ईसाई उस काम को करने की प्रतिज्ञा करें जिसमें वह रहते थे तो समझा जायगा कि हमने कुछ किया। हम सब ईश्वर को मानते हैं। हमें जानना चाहिए कि शरीर अनित्य है और आत्मा नित्य है। देशबन्धु का शरीर नष्ट हो गया; परन्तु उनकी आत्मा कभी नष्ट न होगी। न केवल उनकी आत्मा, बल्कि उनका नाम भी—जिन्होंने इतनी बड़ी सेवा और त्याग किया है—अमर रहेगा और जो कोई जवान या बूढ़ा उनके आदर्श पर ज़रा भी चलेगा वह उनकी यादगार बनाये रखने में मदद देगा। हम सबमें उनके जैसी बुद्धिमत्ता नहीं है, पर हम उस भाव को अपने में ला सकते हैं जिससे वह देश की सेवा करते थे।

देशबन्धु ने पटना और दार्जिलिंग में चरखा कातने की कोशिश की थी। मैंने उनको चरखा का पाठ पढ़ाया था और उन्होंने मुझसे वादा किया था कि मैं कातना सीखने की कोशिश करूंगा और जबतक शरीर रहेगा तबतक कातूंगा। उन्होंने अपने दार्जिलिंग के निवास-स्थान को 'चरखा क्लब' बना दिया था। उनकी नेक पत्नी ने वायदा किया कि बीमारी की हालत छोड़कर मैं रोज आध घंटे तक स्वयं चरखा चलाऊंगी और उनकी लड़की, बहन और बहन की लड़की तो बराबर ही चरखा कातती थी।

देशबन्धु मुझसे अक्सर कहा करते—"मैं समझता हूं कि धारासभा में जाना जरूरी है, मगर चरखा कातना भी उतना ही जरूरी है। न सिर्फ जरूरी है, बल्कि बिना चरखे के धारासभा के काम को कारगर बनाना असम्भव है।" उन्होंने जबसे खादी की पोशाक पहनना शुरू किया तबसे मरने के दिन तक पहनते आए।

मेरे लिए यह कहने की बात नहीं है कि उन्होंने हिन्दू-मुसलमानों में मेल करने के लिए कितना बड़ा काम किया था। अछूतों से वह कितना प्रेम रखते थे। इसके विषय में सिर्फ वही एक बात कहूंगा जो मैंने बारीसाल में कल रात को एक नाम-शूद्र नेता से सुनी थी। उस नेता ने कहा—"मुझे पहली आर्थिक सहायता देशबन्धु ने दी और पीछे डाक्टर राय ने।" आप सब लोग धारासभाओं में नहीं जा सकते। परन्तु उन तीन कामों को कर सकते हैं, जो उनको प्रिय थे। मैं अपनेको भारत का भक्तिपूर्वक सेवा करनेवाला मानता हूं। मैं घोषणा करता हूं कि मैं अपने सिद्धान्त पर अटल रहकर, आगे से सम्भव हुआ तो, देशबन्धुदास के अनुयायियों को उनके धारासभा के कार्य में पहले से अधिक सहायता दूंगा। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि वह उनके काम को हानि पहुंचानेवाला काम करने से मुझे बचाये रखे। हमारा धारासभा-सम्बन्धी मतभेद बना हुआ था और है। फिर भी हमारा हृदय एक हो गया था। राजनैतिक साधनों में सदा मतभेद बना रहेगा। परन्तु उसके कारण हम लोगों को एक-दूसरे से अलग न हो जाना चाहिए, या परस्पर शत्रु न बन जाना चाहिए। जो स्वदेश-प्रेम मुझे एक काम के लिए प्रेरित करता था वही उनको कुछ दूसरा काम करने को उत्साहित करता था। और ऐसा पवित्र मत-भेद देश के काम में बाधक नहीं हो सकता। साधन-सम्बन्धी मतभेद नहीं, बल्कि हृदय की मलिनता ही अनर्थकारी है। दार्जिलिंग में रहते समय मैं देखता था कि देशबन्धु के दिल में अपने राजनैतिक विरोधियों के प्रति नम्रता प्रतिदिन बढ़ती जाती थी। मैं उन पवित्र बातों का वर्णन यहां न करूंगा। देशबन्धु देशसेवकों में एक रत्न थे। उनकी सेवा और त्याग बेजोड़ था। ईश्वर करें, उनकी याद हमें सदा बनी रहे और उनका आदर्श हमारे सदुद्योग में सार्थक हो। हमारा मार्ग लम्बा और दुर्गम है। हमको उसमें आत्म-निर्भरता के सिवा और कोई सहारा नहीं देगा। स्वावलम्बन ही देशबन्धु का मुख्य सूत्र था। यह हमें सदा अनुप्राणित करता रहे। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति दे![१] (हि० न०, २५.६.२५)

---

[१] देशबन्धु के अवसान का शोक-समाचार मिलने के बाद खुलना में दिया गया भाषण।

मनुष्यों में से एक दिग्गज पुरुष उठ गया। बंगाल आज एक विधवा की तरह हो गया है। कुछ सप्ताह पहले देशबन्धु की समालोचना करनेवाले एक सज्जन ने कहा था, "यद्यपि मैं उनके दोष बताता हूं, फिर भी यह सच है, मैं आपके सामने मानता हूं कि उनकी जगह पर बैठने लायक दूसरा कोई व्यक्ति नहीं है।" जबकि मैंने खुलना की सभा में, जहां कि मैंने पहले-पहल यह दिल दहलानेवाली दुर्वार्ता सुनी, इस प्रसंग का जिक्र किया—आचार्य राय ने छूटते ही कहा—"यह बिलकुल सच है। यदि मैं यह कह सकूं कि रवीन्द्रनाथ के बाद कवि का स्थान कौन लेगा तो यह भी कह सकूंगा कि देशबन्धु के बाद नेता का स्थान कौन ले सकता है। बंगाल में कोई आदमी ऐसा नहीं है जो देशबन्धु के समीप भी कहीं पहुंच पाता हो।" वह कई लड़ाइयों के विजयी वीर थे। उनकी उदारता एक दोष की सीमा तक बढ़ी हुई थी। वकालत में उन्होंने लाखों रुपये पैदा किये, पर उन्हें जोड़कर वह कभी धनी नहीं बने, यहांतक कि उन्होंने अपना पैतृक महल भी दे डाला।

१९१९ में, पंजाब महासभा जांच-समिति के सिलसिले में, उनसे पहले-पहल मेरा प्रत्यक्ष परिचय हुआ। मैं उनके प्रति संशय और भय के भाव लेकर उनसे मिलने गया था। दूर से ही मैंने उनकी धुआंधार वकालत और उससे भी अधिक धुआंधार वक्तृत्व का हाल सुना था। वह अपनी मोटर-कार लेकर सपत्नीक, सपरिवार आये थे और एक राजा की शान-बान के साथ रहते थे। मेरा पहला अनुभव तो कुछ अच्छा न रहा। हम हंटर कमिटी की तहकीकात में गवाहियां दिलाने के प्रश्न पर विचार करने के लिए बैठे थे। मैंने उनके अन्दर तमाम कानूनी बारीकियों को तथा गवाह को जिरह में तोड़कर फौजी कानून के राज्य की, बहुतेरी शरारतों की कलई खोलने की, वकीलोचित तीव्र इच्छा देखी। मेरा प्रयोजन कुछ भिन्न था। मैंने अपना कथन उन्हें सुनाया। दूसरी मुलाकात में मेरे दिल को तसल्ली हुई और मेरा तमाम डर दूर हो गया। उनको मैंने जो कुछ कहा उसको उन्होंने उत्सुकता के साथ सुना। भारतवर्ष में पहली ही बार बहुतेरे देशसेवकों के घनिष्ठ समागम में आने का अवसर मुझे मिला था। तबतक मैंने महासभा के किसी काम में वैसे कोई हिस्सा न लिया था। वह मुझे जानते थे—एक दक्षिण अफ्रीका का योद्धा है। पर मेरे तमाम साथियों ने मुझे अपने घर का-सा

बना लिया, और देश के इस विख्यात सेवक का नम्बर इसमें सबसे आगे था। मैं उस समिति का अध्यक्ष माना जाता था। "जिन बातों में हमारा मतभेद होगा उनमें मैं अपना कथन आपके सामने उपस्थित कर दूंगा। फिर जो फैसला आप करेंगे उसे मैं मान लूंगा। इसका यकीन मैं आपको दिलाता हूं।" उनके इस स्वयंस्फूर्त आश्वासन के पहले ही हममें इतनी घनिष्ठता हो गई थी कि मुझे अपने मन का संशय उनपर प्रकट करने का साहस हो गया। फिर जब उनकी ओर से यह आश्वासन मिल गया तब मुझे ऐसे मित्रनिष्ठ साथी पर अभिमान तो हुआ, किन्तु साथ ही कुछ संकोच भी मालूम हुआ; क्योंकि मैं जानता था कि मैं तो भारत की राजनीति में एक नौसिखिया था और शायद ही ऐसे पूर्ण विश्वास का अधिकारी था। परन्तु तन्त्र-निष्ठा छोटे-बड़े के भेद को नहीं जानती। वह राजा जो कि तन्त्र-निष्ठा के मूल्य को जानता है, अपने सेवक की भी बात, उस मामले में मानता है, जिसका पूरा भार उसपर छोड़ देता है। इस जगह मेरा स्थान एक सेवक के जैसा था। और मैं इस बात का उल्लेख कृतज्ञता और अभिमान के साथ करता हूं कि मुझे जितने मित्रनिष्ठ साथी वहां मिले थे, उनमें कोई इतना मित्रनिष्ठ न था जितना चित्तरंजन दास थे।

अमृतसर-धारासभा में तन्त्रनिष्ठा का अधिकार मुझे नहीं मिल सकता था। वहां हम परस्पर योद्धा थे; हर शख्स को अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार राष्ट्रहित-सम्बन्धी, अपने ट्रस्ट की रक्षा करनी थी। जहां तर्क अथवा अपने पक्ष की आवश्यकता के अलावा किसीकी बात मान लेने का सवाल न था। महासभा के मंच पर पहली लड़ाई लड़ना मेरे लिए पूरे आनन्द और तृप्ति का विषय था। बड़े सभ्य, उसी तरह न झुकनेवाले महान् मालवीयजी बलाबल को सामने रखने की कोशिश कर रहे थे। कभी एक के पास जाते थे, कभी दूसरे के पास। महासभा के अध्यक्ष पण्डित मोतीलालजी ने सोचा कि खेल खतम हो गया। मेरी तो लोकमान्य और देशबन्धु से खासी जम रही थी। सुधार-सम्बन्धी प्रस्ताव का एक ही सूत्र उन दोनों ने बना रखा था। हम एक-दूसरे को समझा देना चाहते थे, पर कोई किसीका कायल न होता था। बहुतों ने सोचा था कि अब कोई चारा नहीं था और इसका अन्त बुरा रहेगा। अलीभाई, जिन्हें मैं जानता था और चाहता था, पर

आज की तरह जिनसे मेरा परिचय न था, देशबन्धु के प्रस्ताव के पक्ष में मुझे समझाने लगे। मुहम्मद अली ने अपनी लुभावनी नम्रता से कहा, "जांच-समिति में आपने जो महान् कार्य किया है, उसे नष्ट न कीजिये।" पर वह मुझे न पटा सके। तब जयरामदास, वह ठण्डे दिमागवाला सिन्धी आया, और उसने एक चिट में समझौते की सूचना और उसकी हिमायत लिखकर मुझे पहुंचाई। मैं शायद ही उन्हें जानता था। पर उनकी आंखों और चेहरे में कोई ऐसी बात थी जिसने मुझे लुभा लिया। मैंने उस सूचना को पढ़ा। वह अच्छी थी। मैंने उसे देशबन्धु को दिया। उन्होंने जवाब दिया—"ठीक है, बशर्ते कि हमारे पक्ष के लोग उसे मान लें।" यहां ध्यान दीजिये उनकी घनिष्ठता पर। अपने पक्ष के लोगों का समाधान किये बिना वह नहीं रहना चाहते थे। यही एक रहस्य है लोगों के हृदय पर उनके आश्चर्य-जनक अधिकार का। वह सब लोगों को पसन्द हुई। लोकमान्य अपनी गरुड़ के सदृश तीखी आंखों से वहां जो कुछ हो रहा था सब देख रहे थे। व्याख्यान-मंच से पण्डित मालवीयजी की गंगा के सदृश वाग्धारा बह रही थी। उनकी एक आंख सभा-मंच की ओर देख रही थी जहां कि हम साधारण लोग बैठ-कर राष्ट्र के भाग्य का निर्णय कर रहे थे। लोकमान्य ने कहा—"मेरे देखने की जरूरत नहीं। यदि दास ने उसे पसन्द कर लिया है तो मेरे लिए वह काफी है।" मालवीयजी ने उसे वहां से सुना, कागज़ मेरे हाथ से छीन लिया और घोर करतलध्वनि में घोषित कर दिया कि समझौता हो गया। मैंने इस घटना का सविस्तर वर्णन इसलिए किया है कि उसमें देशबन्धु की महत्ता और निर्विवाद नेतृत्व, कार्य-विषयक दृढ़ता, निर्णय-सम्बन्धी समझ-दारी और पक्षनिष्ठा के कारणों का संग्रह आ जाता है।

अब और आगे बढ़िये। हम जुहू, अहमदाबाद, दिल्ली और दार्जिलिंग पहुंचते हैं। जुहू में वह और पण्डित मोतीलालजी मुझे अपने पक्ष में मिलाने के लिए आये। वे दोनों जोड़वां भाई हो गये थे। हमारे दृष्टिबिन्दु अलग-अलग थे। पर उन्हें यह गवारा न होता था कि मेरे साथ मतभेद रहे। यदि उनके बस का होता तो वह ५० मील चले जाते जहां मैं सिर्फ २५ मील चाहता; परन्तु वह अपने एक अत्यन्त प्रिय मित्र के सामने भी एक इंच न झुकना चाहते थे, जहां कि देशहित संकट में था। हमने एक प्रकार का समझौता कर

लिया। हमारा मन तो न भरा, पर हम निराश न हुए। हम एक-दूसरे पर विजय प्राप्त करने के लिए तुले हुए थे। फिर हम अहमदाबाद में मिले। देशबन्धु अपने पूरे रंग में थे और एक चतुर खिलाड़ी की तरह सब रंग-ढंग देखते थे। उन्होंने मुझे एक शान की शिकस्त दी। उनके जैसे मित्र के हाथों ऐसी कितनी शिकस्त मैं न खाऊंगा! पर अफसोस! वह शरीर अब दुनिया में नहीं रहा! कोई यह खयाल न करे कि साहावाले प्रस्ताव के कारण हम एक-दूसरे के शत्रु हो गये थे। हम एक-दूसरे को गलती पर समझ रहे थे; पर वह मतभेद स्नेहियों का मतभेद था। वफादार पति और पत्नी अपने पवित्र मतभेदों के दृश्यों को याद करें—किस तरह वह अपने मतभेदों के कारण कष्ट सहते हैं, जिससे कि उनके पुनर्मिलन का सुख अति बढ़ जाय। यही हमारी हालत थी। सो हमें फिर दिल्ली में उस भीषण जबड़ेवाले शिष्ट पण्डित और नम्र दास से, जिनका कि बाहरी स्वरूप किसी सरसरी तौर पर देखनेवाले को अशिष्ट मालूम हो सकता है, मिलना होगा। मेरे उनके प्रस्ताव का ढांचा वहां तैयार हुआ और पसन्द हुआ। वह एक अटूट प्रेम-बन्धन था, जिसपर कि अब एक दल ने उनकी मृत्यु की मुहर लगा दी है।

···वह अक्सर आध्यात्मिकता की बातें करते थे और कहते थे कि धर्म के विषय में आपका मेरा कोई मतभेद नहीं है। पर यद्यपि उन्होंने कहा नहीं तथापि हो सकता है कि उनका भाव यह रहा हो कि मैं इतना काव्यहीन हूं कि मुझे हमारे विश्वासों की एकात्मता नहीं दिखाई देती। मैं मानता हूं कि उनका खयाल ठीक था। उन बहुमूल्य पांच दिनों में मैंने उनका हर कार्य धर्ममय देखा और न केवल वह महान् थे, उनकी नेकी बढ़ती जा रही थी। पर इन पांच दिनों के बहुमूल्य अनुभवों को मुझे किसी अगले दिन के लिए रख छोड़ना चाहिए। जबकि क्रूर दैव ने लोकमान्य को हमसे छीन लिया तब मैं अकेला असहाय रह गया। अभी तक मेरी वह चोट गई नहीं है; क्योंकि अबतक मुझे उनके प्रिय शिष्यों की आराधना करनी पड़ती है। पर देशबन्धु के वियोग ने तो मुझे और भी बुरी हालत में छोड़ दिया है। जब लोकमान्य हमसे जुदा हुए थे, देश आशा और उमंग से भरा हुआ था, हिन्दू-मुसलमान हमेशा के लिए एक होते हुए दिखाई दिये थे, हम युद्ध का शंख फूंकने की तैयारी में थे। पर अब? (हि० न० २५. ६. २५)

कलकत्ते ने कल दिखला दिया कि देशबन्धु दास का बंगाल पर नहीं, सारे भारतवर्ष के हृदय पर कितना अधिकार था। कलकत्ता, बम्बई की तरह पचरंगी प्रजा का नगर है। इसमें हर प्रान्त के लोग बसते हैं और इन तमाम प्रान्तों के लोग, बंगालियों की तरह ही अपने दिल से उस जुलूस में योग दे रहे थे। देश के कोने-कोने से तारों की जो झड़ी लग रही है, उससे भी यही बात और ज़ोर के साथ प्रकट होती है कि सारे देशभर में वह कितने लोकप्रिय थे।

जिन लोगों का हृदय कृतज्ञता से भर रहा है, उनके सम्बन्ध में इससे भिन्न अनुभव नहीं हो सकता था। और देशबन्धु इस सारे कृतज्ञताज्ञापन के पात्र भी थे। उनका त्याग महान् था। उनकी उदारता की सीमा नहीं थी। उनकी मुट्ठी सदा सबके लिए खुली रहती थी। दान देने में वह कभी आगा-पीछा न सोचते थे। उस दिन जबकि मैंने बड़े मीठे भाव से कहा, "अच्छा होता, आप दान देने में अधिक विचार से काम लेते।" उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया, "पर मैं नहीं समझता कि अपने अविचार के कारण मेरी कुछ हानि हुई है।" अमीर और गरीब सबके लिए उनका रसोईघर खुला था। उनका हृदय हरेक की मुसीबत के समय उसके पास दौड़ जाता था। सारे बंगाल में ऐसा कौन नवयुवक है जो किसी-न-किसी रूप में देशबन्धु का कृतज्ञ नहीं है? उनकी बेजोड़ कानूनी प्रतिभा भी सदा गरीबों की सेवा के लिए हाजिर रहती थी। मुझे मालूम हुआ है कि उन्होंने यदि सबकी नहीं तो, बहुतेरे राजनैतिक कैदियों की पैरवी बिना एक कौड़ी लिये की है। पंजाब की जांच के समय जब वह पंजाब गये थे तो अपना सारा खर्च अपनी जेब से किया था। उन दिनों अपने साथ वह एक राजा की तरह लवाजमा ले गये थे। उन्होंने मुझसे कहा था कि पंजाब की उस यात्रा में उनके ५०,००० रुपये खर्च हुए थे। जो उनके द्वार पर आता था उसीके लिए उनकी उदारता का हाथ आगे बढ़ जाता था। उनके इसी गुण ने उन्हें हजारों नवयुवकों के दिल का राजा बना दिया था।

जैसे ही वह उदार थे वैसे ही निर्भीक भी थे। अमृतसर में उनकी धुआंधार वक्तृताओं ने मेरा दम खुश्क कर दिया था। वह अपने देश की मुक्ति तुरंत चाहते थे। वह एक विशेषण को हटाने या बदलने के लिए तैयार न

थे। इसलिए नहीं कि वह जिद्दी थे, बल्कि इसलिए कि वह अपने देश को बहुत चाहते थे। उन्होंने विशाल शक्तियों को अपने कब्जे में रखा। अपने अदम्य उत्साह और अध्यवसाय के द्वारा उन्होंने अपने दल को प्रबल बनाया। परन्तु यह भीषण शक्तिप्रवाह उनकी जान ले बैठा। उनका यह बलिदान स्वेच्छापूर्वक था। वह उच्च था, उदात्त था।

फरीदपुर में तो उनकी विजय हुई। उनके वहांके उद्गार उनकी अत्यन्त समझदारी और राजनीतिज्ञता के नमूने थे। वे विचारपूर्ण और असंदिग्ध थे और (जैसा कि मुझे उन्होंने कहा था) उनके अपने लिए तो उन्होंने अहिंसा को एक मात्र नीति और इसलिए भारतवर्ष का राजनैतिक धर्म (Creed) स्वीकार किया था।

पं० मोतीलाल नेहरू तथा महाराष्ट्र के तंत्रनिष्ठ सैनिकों से मेल करके उन्होंने शून्य-से स्वराज्य-दल को एक महान् और वर्धमान् दल बना लिया और ऐसा करके उन्होंने अपने निश्चयबल, मौलिकता साधन-बहुलता और किसी वस्तु को अच्छा मान लेने के बाद फिर परिणाम की चिंता न करने के गुणों का परिचय दिया। और आज हम स्वराज्य-दल को एक एकत्र और स्वतंत्रनिष्ठ संगठन के रूप में देखते हैं। धारासभा-प्रवेश के संबंध में मेरा मत-भेद था और है। पर मैंने सरकार को तंग करने और लगातार उसकी स्थिति को विषम बनाने के संबंध में धारासभा की उपयोगिता से कभी इन्कार नहीं किया। धारासभा में इस दल ने जो काम किया उसकी महत्ता से कोई इन्कार नहीं कर सकता और उसका श्रेय मुख्यतः देशबंधु को ही है। मैंने अपनी आंखें खुली रखकर उनके साथ प्रस्ताव किया था। तबसे मैंने जो कुछ हो सकी उस दल की सहायता की है। अब उनके स्वर्गवास के कारण, उसके नेता के चले जाने के बाद, मेरा यह दुहरा कर्त्तव्य हो गया है कि उस दल के साथ रहूं। यदि मैं उसकी सहायता न कर पाया तो मैं उसकी प्रगति में तो किसी तरह बाधक न होऊंगा।

मैं फिर उनके फरीदपुरवाले भाषण पर आता हूं। स्थानापन्न बड़े लाट साहब ने श्रीमती वासंती देवी दास के नाम जो शोक-संदेश भेजा है, उसके गुण को राष्ट्र मानेगा। एंग्लो-इंडियन पत्रों ने स्वर्गीय देशबंधु की स्मृति में जो उनका यशोगान किया है उसका उल्लेख मैं कृतज्ञतापूर्वक करता हूं।

मालूम होता है कि फरीदपुरवाले भाषण की पारदर्शिनी निर्मल-हृदयता ने अंग्रेजों के दिल पर अच्छा असर किया है। मुझे इस बात की चिंता लग रही है कि कहीं उनके स्वर्गवास के कारण इस शिष्टाचार-प्रदर्शन के साथ ही उसका अंत न हो जाय। फरीदपुरवाले भाषण के मूल में एक महान उद्देश्य था। एंग्लो-इंडियन मित्रों ने चाहा था कि देशबंधु अपनी स्थिति को स्पष्ट कर दें और अपनी तरफ से आगे कदम बढ़ायें। इसीके उत्तर में उस महान् देशभक्त ने वह भाषण किया था और अपनी स्थिति स्पष्ट की थी। पर क्रूर काल ने उस उद्गार के कर्ता को हमसे छीन लिया। परंतु उन अंग्रेजों को, जो अब भी देशबंधु की नीयत पर शक करते हों, मैं यकीन दिलाना चाहता हूं कि जबतक मैं दार्जिलिंग में रहा, मेरे दिल पर जो बात सबसे अधिक ज़ोर के साथ अंकित हुई वह थी, देशबन्धु के उन वचनों के निर्मल भाव। क्या इस गौरवमय अन्त का सदुपयोग हमारे घावों को भरने और अविश्वास को मिटाने में किया जा सकता है? मैं एक मामूली बात सुझाता हूं। सरकार देशबंधु चित्तरंजन दास की स्मृति में, जो कि अब हमारे साथ अपने पक्ष की पैरवी करने के लिए दुनिया में नहीं हैं, उन तमाम राजनैतिक कैदियों को छोड़ दे, जिनके संबंध में उनका कहना था कि वे निर्दोष हैं। मैं निरपराधता की बिना पर उन्हें छोड़ने को नहीं कहता। हो सकता है कि सरकार के पास उनके अपराध के लिए अच्छे-से-अच्छे सबूत हों। मैं तो सिर्फ उस मृत-आत्मा के गुण की स्मृति में और बिना पहले से कोई बुरा खयाल बनाये, उन्हें छोड़ देने के लिए कहता हूं। यदि सरकार भारतीय लोक-मत के अनुरंजन के लिए कुछ भी करना चाहती है तो इससे बढ़कर अनुकूल अवसर न मिलेगा और राजनैतिक कैदियों के छुटकारे से बढ़कर अनुकूल वायुमंडल बनाने का अच्छा मंगलाचरण न होगा। मैं प्रायः सारे बंगाल का दौरा कर चुका हूं। मैंने देखा कि इस बात से लोगों के दिल में चोट पहुंची है—इनमें सभी लोग आवश्यक रूप से स्वराजी नहीं हैं। परमात्मा करे वह आग जिसने कि कल देशबन्धु के नश्वर शरीर को भस्म कर डाला, हमारे नश्वर अविश्वास, संदेह और डर को भस्मसात् कर डाले। फिर यदि सरकार चाहे तो वह भारतवासियों की मांग की पूर्ति के सर्वोत्तम उपायों पर विचार करने के लिए एक सम्मेलन कर सकती है।

यदि सरकार अपने जिम्मे का काम करेगी तो हमें भी अपनी तरफ का काम करना होगा। हमें यह दिखा देना होगा कि हमारी नौका एक आदमी के भरोसे पर नहीं चल रही है। श्री विन्सटन चर्चिल के शब्दों में, जो कि उन्होंने युद्ध के समय में कहें—"हमें यह कहने में समर्थ होना चाहिए, सब काम ज्यों-का-त्यों चलता रहे।" स्वराज्य-दल की पुनर्रचना तुरंत होनी चाहिए। पंजाब के हिन्दू और मुसलमान भी इस दैवी कोप-प्रहार को देखकर अपने लड़ाई-झगड़े भूलते हुए दिखाई देते हैं। क्या दोनों पक्ष के लोग इतनी दृढ़ता और समझदारी का परिचय देंगे कि अपने लड़ाई-झगड़ों का अंत कर लें? देशबंधु हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रेमी थे। उसपर उनका विश्वास भी था। उन्होंने अत्यन्त विकट परिस्थिति में हिंदू और मुसलमानों को एक बनाये रखा। क्या उनकी चिताग्नि हमारे अनैक्य को न जला सकेगी? शायद इसके पहले तमाम दलों के एक संस्था के अंतर्गत होने की आवश्यकता हो। देशबंधु इसके लिए उत्सुक थे। वह अपने प्रतिपक्षियों के लिए बहुत बुरा-भला कहा करते थे। परंतु दार्जिलिंग में मैंने देशबंधु के मुंह से उनके किसी भी राजनैतिक प्रतिपक्षी के प्रति एक भी कठोर शब्द निकलते न देखा। उन्होंने मुझसे कहा कि सब दलों के एक करने में आप भरसक सहायता दीजिये। सो अब हम शिक्षित भारतवासियों का कर्तव्य है कि देशबंधु के इस विचार को कार्यरूप में परिणत करें और उनके जीवन की इस एक महाकांक्षा को पूर्ण करें। यदि हम फिलहाल स्वराज्य की सीढ़ी पर ठेठ ऊपर तक न पहुंच सकें तो तुरंत उसकी कुछ सीढ़ियां तो चढ़ें सही। तभी हम अपने हृदय-स्तल से पुकार सकते हैं—"देशबंधु स्वर्गवासी हुए, देशबंधु चिरायु रहें।" (हि० न०, २५.६.२५)

... ...

इस अंक में लिखने के लिए और क्या बात लिखना सूझेगी?

पहाड़-जैसे देशबंधु उठ गये, सो अखबार उन्हीं की बातों से भरे हुए हैं। देशबंधु की छोटी-से-छोटी बात अखबार वाले बड़ी उत्सुकता के साथ छाप रहे हैं। 'सर्वेंट' ने विशेष अंक निकाला है। 'वसुमती' बंगाल का सबसे बड़ा समाचारपत्र है। यह विशेष अंक की तैयारी कर रहा है। हजार से ज्यादा शोक-सूचक तार श्रीमती वासंतीदेवी दास के पास आये हैं और सुदूर

देशों से आ ही रहे हैं। जगह-जगह सभाएं हुई हैं। कोई भी गांव, जहां महासभा का झंडा फहराता हो, शायद ही खाली होगा, जहां सभा न हुई हो।

कलकत्ता १८ ता० को पागल हो गया था। अंक-शास्त्री कहते हैं कि दो लाख से कम आदमी इकट्ठे न हुए थे। रास्तों पर खड़े, तार के खंभों पर चढ़े, ट्राम की छत पर खड़े, झरोखों में राह देखते हुए बैठे स्त्री-पुरुष इस से जुदा हैं।

साथ भजन-कीर्तन तो था ही। पुष्पों की वृष्टि हो रही थी। शव खुला हुआ था, परंतु उसपर फूलों के हार का पहाड़ बिछ गया था।

रथी के जुलूस के आगे स्वयंसेवक फुलवाड़ी लेकर चल रहे थे। उसमें फूलों से सुसज्जित चरखा था। जुलूस स्टेशन से ७-३० पर चलकर श्मशान में ३ बजे पहुंचा। ३—३० बजे अग्नि-संस्कार शुरू हुआ।

श्मशान-घाट पर भीड़ उमड़ी थी। पीछे से जो भीड़ उमड़ती थी उसे रोकना अति कठिन था और मैं समझता हूं कि यदि मुझे हट्टे-कट्टे लोगों ने अपने कंधे पर बिठाकर इस उमड़ती हुई भीड़ के सामने न उठा रखा होता तो भयंकर दुर्घटना हो जाती। दो सशक्त आदमियों ने मुझे अपने कंधे पर बिठा रक्खा और उस हालत में मैं लोगों को रोक रहा था और उनसे बैठ जाने की प्रार्थना कर रहा था। लोग जबतक मुझे देखते थे तबतक तो मानते थे, पर मैं जहां अशांति की आशंका होती उस ओर गया कि मेरी पीठ फिरते ही लोग तुरन्त उठ खड़े हो जाते थे। सब लोग दीवाने हो गये थे। हजारों आंखें रथी की ओर लगी हुई थीं। जब दाहकर्म शुरू हुआ तब लोग धीरज खो बैठे। सब बरबस खड़े हो गये और चिता की ओर खिच पड़े। यदि एक भी क्षण का विलंब होता तो सबके चिता पर गिर पड़ने का अन्देशा था। अब क्या करें? मैंने लोगों से कहा, "अब काम पूरा हुआ। सब अपने-अपने घर जायं।" और मुझे उठानेवाले भाइयों से कहा, "अब मुझे इस भीड़ से हटा ले चलो।" लोगों को मैं पुकार-पुकारकर और इशारे से कहता चला कि मेरे पीछे आओ। इसका असर बहुत अच्छा हुआ, वह हजारों की भीड़ वापस लौटी और दुर्घटना होते-होते बची।

चिता चंदन की लकड़ी की बनाई गई थी।

लोग ऐसे मालूम होते थे मानो वन-भोजन को आये हों। गंभीरता तो

सबके चेहरे पर थी, पर ऐसा नहीं मालूम होता था कि वह शोकभार से दब गये हैं। कुटुम्बियों का और मेरा शोक स्वार्थपूर्ण मालूम होता था। हमारे तत्त्व-ज्ञान का अन्त आगया, लोगों का कायम रहा; क्योंकि वे तटस्थ थे। उनके अन्दर सम्मान का भाव तो पूरा-पूरा था। उनकी पूजा निःस्वार्थ थी। वे तो भारत-पुत्र को, अपने बन्धु को, प्रमाण-पत्र देने के लिए आये थे। वे अपनी आंखों से और चेष्टा से ऐसा कहते हुए दिखाई देते थे, "तुमने बड़ा काम किया, तुम्हारे जैसे हजारों हों!"

देशबन्धु जैसे भव्य थे वैसे ही भले थे। दार्जिलिंग में इसका बड़ा अनुभव मुझे हुआ। उन्होंने धर्म-संबंधी बातें कीं। जिनकी छाप उनके दिल पर गहरी बैठी, उनकी बातें कीं। वह धर्म का अनुभव-ज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्सुक थे। "दूसरे देश में जो कुछ हो, पर इस देश का उद्धार तो शांतिमार्ग से ही हो सकता है। मैं यहां के नवयुवकों को दिखला दूंगा कि हम शान्ति के रास्ते स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं।" "यदि हम भले हो जायंगे तो अंग्रेजों को भला बना लेंगे।" "इस अन्धकार और दंभ में मुझे सत्य के सिवा दूसरा कोई रास्ता नहीं दिखाई देता। दूसरे की हमें आवश्यकता भी नहीं।" मैं तमाम दलों में मेल कराना चाहता हूं। बाधा सिर्फ इतनी ही है कि हमारे लोग भीरु हैं। उनको एकत्र करने के प्रयत्न में होता क्या है कि हमें भीरु बनना पड़ता है। तुम जरूर सबको मिलाने की कोशिश करना और मिलना, पत्र-संपादकों को समझाना कि मेरी और स्वराज्य-दल की ख्वाहमख्वाह निंदा करने से क्या लाभ? मैंने यदि भूल की हो तो मुझे बतायें। मैं यदि उन्हें संतुष्ट न करूं तो फिर शौक से पेट भर के मेरी निंदा करें।" "तुम्हारे चरखे का रहस्य मैं दिन-दिन अधिक समझता जाता हूं। मेरा कंधा यदि दर्द न करता हो और इसमें मेरी गति कुंठित न हो तो मैं तुरंत सीख लूं। एक बार सीखने पर नियमपूर्वक कातने में मेरा जी न ऊबेगा। पर सीखते हुए जी उकता उठता है। देखो न, तार टूटते ही जाते हैं।" "पर आप ऐसा किस तरह कह सकते हैं? स्वराज्य के लिए आप क्या नहीं कर सकते।" "हां, हां, यह तो ठीक ही है। मैं कहां सीखने से नाहीं करता हूं? मैं तो अपनी कठिनाई बताता हूं। पूछो तो वासंतीदेवी से कि ऐसे काम में मैं कितना मंदबुद्धि हूं?" वासंतीदेवी ने उनकी मदद की, "ये सच कहते हैं। अपना कलमदान

खोलना हो तो ताला लगाने मुझे आना पड़ता है।" मैंने कहा, "यह तो आपकी चालाकी है। इस तरह आपने देशबन्धु को अपंग बना रखा जिससे उन्हें सदा आपकी खुशामद करनी पड़े और आपपर सहारा रखना पड़े।" हँसी से कमरा गूंज उठा। देशबंधु मध्यस्थ हुए। "एक महीने बाद मेरी परीक्षा लेना। उस समय मैं रस्सियां निकालता न मिलूंगा।" मैंने कहा, "ठीक है आपके लिए सतीशबाबू शिक्षक भी भेज देंगे। आप जब पास हो जायंगे तो समझियेगा कि स्वराज्य नजदीक आगया।" ऐसे सब विनोदों का वर्णन करने लगूं तो खात्मा नहीं हो सकता।

कितने ही संस्मरण तो ऐसे हैं, जिनका वर्णन मैं कर ही नहीं सकता।

मैं जिस प्रेम का अनुभव वहां कर रहा था उसकी कुछ झलक यदि यहां न दिखाऊं तो मैं कृतघ्न माना जाऊंगा। वह छोटी-छोटी-सी बात की संभाल रखते थे। मेवे खुद कलकत्ता से मंगवाते। दार्जिलिंग में बकरी या बकरी का दूध मिलना मुश्किल पड़ता है। इसलिए ठेठ तलहटी से पांच बकरियां मंगवाकर रखीं। मेरी जरूरत की एक-एक चीज का इंतजाम किये बगैर न रहते थे। हमारे कमरे के दरम्यान सिर्फ एक दीवार थी। सुबह होते ही, काम-काज से निबटकर, मेरी राह देखते बैठते। चारपाई पर बैठते थे, चारपाई अभी नहीं छूटी थी। पल्थी मारकर बैठने की मेरी आदत से परिचित थे। सो कुरसी पर नहीं बैठने देते थे। खटिया पर ही अपने सामने मुझे बैठाते। गद्दे पर भी कुछ खास तौर पर बिछवाते और तकिया भी लगवाते। मुझसे दिल्लगी किये बिना न रहा गया, "यह दृश्य तो मुझे चालीस बरस पहले की याद दिलाता है। जब मेरी शादी हुई थी तब हम दुलहे-दुलहिन इस तरह बैठे थे। अब यहां पाणिग्रहण की ही कसर है।" मेरे कहने की देर थी कि देशबंधु के कहकहे से सारा घर गूंज उठा। देशबन्धु जब हँसते तो उनकी आवाज दूर तक पहुंचे बिना न रहती।

देशबंधु का हृदय दिन-पर-दिन कोमल होता जाता था। रूढ़ि के अनुसार मांस-मछली खाने में उन्हें कोई विधि-निषेध न था। फिर भी जब असहयोग शुरू हुआ तब मांसाहार, मद्यपान और चुरट तीनों चीजें उन्होंने छोड़ दी थीं। पीछे जाकर फिर उन्होंने अपना जोर जमाया था; परन्तु उनका झुकाव इनको छोड़ने की ओर ही रहता था। अभी कुछ दिनों से

राधास्वामी संप्रदाय के एक साधु से उनका समागम हुआ। तबसे निरामिष भोजन की उत्सुकता बढ़ गई थीं। सो जबसे वह दार्जिलिंग गये, निरामिष भोजन शुरू किया था। और मेरे रहने तक घर में मांस-मछली न आने दिया। मुझसे अनेक बार कहा, "यदि मुझसे हो सका तो अब से मैं मांस-मछली को छुऊंगा तक नहीं। मुझे वह पसंद भी नहीं और मैं समझता हूं कि इससे हमारी आध्यात्मिक उन्नति में बाधा पहुंचती है। मेरे गुरु ने मुझे खास तौर पर कहा कि साधना के खातिर तुम्हें मांसाहार अवश्य छोड़ देना चाहिए।" (हि० न०, २.७.२५)

... ...

जब लोकमान्य गये तब मुझे बम्बई में होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। देशबन्धु के देह का जब अग्नि-संस्कार हुआ तब भी देव ने मुझपर कृपा की, अथवा मानों विधाता तबतक रुके रहे जबतक मेरी यात्रा का शुरू हुआ एक भाग पूरा न हो गया! क्योंकि यदि अग्नि-संस्कार एक दिन पहले होता तो जो दृश्य मैंने कलकत्ते में देखा वह न देख पाता।

जिस तरह लोकमान्य के अवसान के समय बम्बई पागल हो गई थी उसी तरह देशबन्धु के समय कलकत्ता पागल हो गया था। उस समय जिस तरह अगणित स्त्री-पुरुष दर्शन करने, आंसू बहाने, प्रेमवृष्टि करने उमड़ पड़े थे उसी तरह इस समय भी हुआ। उस समय की तरह अब भी एक भी जाति या पंथ ऐसा न था जिसके लोग जमा न हुए हों। स्टेशन पर जब गाड़ी आई तबतक एक इंच जगह खाली न रही। लोकमान्य के मृत देह को कन्धा लगाने के लिए जिस तरह लोग एक-दूसरे के आगे बढ़ रहे थे उसी तरह इस समय भी अधीर थे।

दोनों समय प्रजासत्ता का राज्य हो गया था। लोग पुलिस के अधीन न थे, बल्कि पुलिस स्वेच्छा से लोगों के अधीन हो गई थी। सरकारी अमल जान-बूझकर मुल्तवी रखा गया था, लोगों का अमल चल रहा था। उन दिनों लोगों ने अपना चाहा किया। जिस बात को देशबन्धु जीते-जी करना चाहते थे उसे लोगों ने उनके परलोक जाने के समय कर दिखाया।

इस घटना में क्या कम पदार्थ-पाठ है? प्रेम-पाश क्या नहीं कर सकता? लोगों ने उस दिन भूख, प्यास, गरमी सबको भुला दिया था।

उस कष्ट को सहने के लिए उनसे प्रार्थना नहीं करनी पड़ी थी।

छत्रपति के देहान्त के समय इस तरह जनता का समुद्र नहीं उमड़ पड़ता। संन्यासी नामधारी लोगों के देहान्त पर लोग ध्यान नहीं देते, अखबार लेख नहीं लिखते, न तार ही भेजे जाते हैं, परन्तु किस धर्म के अनुसार यहां छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष, राजा-रंक, हिन्दू-मुसलमान बिना बुलाये पलक भांजते में एकत्र हो गये? वह राष्ट्रधर्म है। जो शख्स इस धर्म का अवलम्बन करता है लोग आज उसीको धार्मिक मानने के लिए तैयार हैं। जो मनुष्य इस एक धर्म का पालन करता है उसके दोष भी वे भूल जाने के लिए तैयार हैं। इसके अन्दर रहस्य है। लोग बेवकूफी से ऐसा नहीं करते हैं। निर्दोष एक ईश्वर है। मनुष्य-मात्र के हाथों दोष हो सकता है। पर मनुष्य भी यदि पूरी तरह स्व-धर्म का पालन करे तो उसके दोष छिप जाते हैं और अन्त को स्व-धर्म का पालन करते हुए दोष क्षय होने लगते हैं।

राष्ट्र-धर्म ही आजकल धर्म हो गया है, क्योंकि उसके बिना अन्य धर्मों का पालन ही असम्भव हो गया है। आज राज-सत्ता सब जगह लोगों के एक-एक अंग में व्याप्त हो रही है। जहां राजसत्ता लोकसत्ता है वहां लोग कुल मिलाकर सुखी हैं। जहां राजसत्ता प्रजा के प्रतिकूल है, वहां लोग दुखी हैं, निःसत्व है, वहां वह धर्म के नाम पर अधर्म का आचरण करते हैं; क्योंकि भय के अधीन रहनेवाले मनुष्य से धर्माचरण हो ही नहीं सकता। इस भय से मुक्त होना अर्थात् आत्म-दर्शन करने का पहला पाठ सीखना यही राष्ट्र-धर्म है। राष्ट्र-प्रेमी हमें क्या शिक्षा दे रहे हैं? तुम चक्रवर्ती से भी मत डरो। तुम मनुष्य हो। मनुष्य का धर्म है एकमात्र ईश्वर से डरना। उसे न तो पंचम जार्ज डरा सकते हें न उनके एलची। लोकमान्य ने राजदण्ड का भय सर्वथा त्याग दिया था। इस कारण लोग और धर्म-शास्त्री भी उन्हें पूजते थे, क्योंकि उनसे उन्हें जीवन मिलता था। देशबन्धु ने भी राजसत्ता का डर बिल्कुल छोड़ दिया था। उनके नजदीक वाइसराय और दरबान दोनों एक जैसे थे। उन्होंने अन्तःचक्षु से देख लिया था कि अन्त को जाकर दोनों के अन्दर कुछ भेद नहीं है। जिस प्रकार वाइसराय का डर नामर्दी है उसी तरह दरबान को डराना भी नामर्दी है। इसके अन्दर सूक्ष्म आत्म-दर्शन है। यही राष्ट्र-धर्म है। इस कारण लोग जान-अनजान

में, अनिच्छा से भी, राष्ट्र-धर्म के पालन करनेवाले को पूजते हैं। लोकमान्य ब्राह्मण थे। उनका धर्म-ग्रन्थों का ज्ञान पण्डितों का मद उतारनेवाला था। परन्तु उनकी पूजा का कारण उनका वह ज्ञान न था। देशबन्धु तो ब्राह्मण न थे। वैद्यवर्ग के थे। परन्तु लोगों को उनके वर्ण की परवा न थी। देशबन्धु को संस्कृत का ज्ञान न था। उन्होंने धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन नहीं किया था। सिर्फ उन्होंने राष्ट्र-धर्म का पालन किया था। उन्होंने निर्भयता सिद्ध कर ली थी। इस कारण शास्त्रज्ञ लोग भी झुकते थे। और ऐसे दिन उन्होंने लोगों के साथ अपने आंसू बहाये जिसे कोई भुला नहीं सकता। राष्ट्र-धर्म का अर्थ है व्यापक प्रेम। वह विश्व-प्रेम नहीं है, पर उसका बड़ा अंश है। वह प्रेम का धवलगिरि नहीं, परन्तु प्रेम का दार्जिलिंग है। वहां से धवलगिरि की सुवर्ण-कान्ति दिखाई देती है, और देखनेवाला मन में सोचता है, यदि प्रेम का दार्जिलिंग इतना सुहावना है तो यह प्रेम का धवलगिरि जो यहां से मेरे सामने जगमगा रहा है कितना सुहावना होगा? राष्ट्र-प्रेम अन्त में मनुष्य को विश्व-प्रेम के शिखर पर ले जाता है। इसीलिए लोग राष्ट्र-प्रेमी की बलैयां लेते हैं। लोगों ने कुटुम्ब-प्रेम का स्वाद तो चख रखा है। इसलिए उससे वे मोहाधीन नहीं होते। ग्राम-प्रेम को वे ही समझते हैं। और लोग खुद भी ऐसा होना चाहते हैं, इसीलिए उन्हें पूजते हैं।

देशबन्धु की उदारता दीवानी थी। लाखों रुपये कमाये और खरचे। किसीको उन्होंने रुपया देने से इन्कार नहीं किया। कर्ज करके भी रुपया दिया। गरीबों के मामले मुफ्त लड़े। कहते हैं कि श्रीयुत अरविन्द घोष के मुकद्दमे में उनके नौ महीने खराब हुए, अपनी गांठ के रुपये खरचे, खुद एक पाई न ली। इस उदारता में राष्ट्र-प्रेम था।

मुझसे भी लड़े। पर क्या मुझे दुःख देने या नीचा दिखाने के लिए? लड़े भी देश-सेवा के लिए, उसीके सिलसिले में। जो वाइसराय से नहीं डरता सो क्या मुझसे डरता? उनकी विचार-श्रेणी थी "यदि सगे भाई का भी काम मुझे राष्ट्र-प्रगति के खिलाफ दिखाई दे तो मैं उसका भी विरोध करूंगा।" यही सबकी विचार-श्रेणी होनी चाहिए। हमारा विरोध सगे भाई के विरोध की तरह था। दो में से एक भी एक-दूसरे से जुदा होना नहीं चाहते थे। चाहते तो वह राष्ट्र-प्रेम की न्यूनता होती। इस कारण जुदा

होते हुए भी हम नजदीक आ रहे थे। यह हमारे हृदय की परीक्षा थी। देशबन्धु इस कसौटी में पास हुए। मुझे होना बाकी है। जो प्रेम देशबन्धु के साथ मेरा था वही और साथियों के साथ निबाहना है। यदि उसमें मैं निष्फल साबित होऊं तो मुझे परीक्षा में पास हुआ न समझिये।

देशबन्धु की पिछले तीन-चार मास की प्रगति अद्भुत थी। उनकी नम्रता का अनुभव मुझे जो फरीदपुर से होने लगा सो विस्तार ही पाता गया। फरीदपुर का भाषण बिना विचारे नहीं लिखा गया था। वह विचारों की परिपक्वता का सुन्दर पुष्प है। उसमें भी मैंने प्रगति होती हुई देखी है। दार्जिलिंग में हद हो गई। इन पांच दिनों के संस्मरण का वर्णन करते हुए मैं थकता ही नहीं। उस समय इनके हर कार्य में, हर बात में, प्रेम-ही-प्रेम टपकता था। उनका आशावाद तीव्र होता जाता था। वह अपने प्रतिपक्षियों पर कटाक्ष कर सकते थे, परन्तु इन पांच दिनों में मुझे उसका कुछ भी अनुभव न हुआ। उलटा उन्होंने जो बहुतों के सम्बन्ध में बातें की उनमें मैंने एक भी कड़वी बात न सुनी। सर सुरेन्द्रनाथ का तो विरोध वह बराबर करते थे। फिर भी उसमें मिठास ही दिखाई दी। उनके हृदय पर भी वह विजय प्राप्त करना चाहते थे। मुझसे यही काम लेना चाहते थे। उनकी सिफारिश थी कि जितनों को मिला सको मिलाने की कोशिश करना।

अब आगे लड़ाई किस प्रकार लड़े, स्वराज्य-दल को क्या करना चाहिए, चरखे का क्या स्थान है, इत्यादि बातें भी पेट भर के हुई। हमने बंगाल के लिए योजना भी तैयार की। उसपर शायद अमल भी हो, पर अमलदार कहां है।

मैंने अपने दिल को हलका करके दार्जिलिंग छोड़ा था। मैं निर्भय हो गया था। अपना मार्ग, स्वराज्य का मार्ग, मुझे निश्चित दिखाई दे रहा था। अब दृष्टि-मर्यादा पर बादल घिर गये हैं। लोकमान्य के जाते समय मैं चिन्ताकुल हो गया था। एक से प्रार्थना करने की जगह अनेक से प्रार्थना करने की अवस्था हो गई थी। लोकमान्य से अपना दुखड़ा रोकर मैं उसे दूर करा सकता था। उसकी जगह मुझे अनेक के सामने दुःख रोने की बारी आई; फिर भी मैं जानता था कि वह उसे दूर नहीं कर सकते थे। मुझे उनके आंसू पोंछने का समय आ गया।

देशबन्धु के चले जाने से मैं अधिक विपत्ति में पड़ा हूं। देशबन्धु क्या थे, सारा बंगाल थे। उनकी सही मुझे मिली कि चलनी-हुण्डी मेरे हाथ आई। यहांतक तो दोनों के वियोग का दुःख बराबर है। परन्तु लोकमान्य के जाने के समय रास्ता सीधा था। लोगों के मन में नई आशाएं थीं। अपनी शक्ति उन्हें आजमानी थी। नये प्रयोग करने थे। हिन्दू-मुसलमान एक हो गये मालूम होते थे।

पर अब ? अब तो ऊपर आकाश और नीचे धरती। नये प्रयोग मेरे पास नहीं। हिन्दू-मुसलमान तो लड़ने की तैयारियां कर रहे हैं। ऐसा मालूम होता है कि धर्म के नाम पर राष्ट्र-धर्म को खो बैठे हैं। ब्राह्मण और अब्राह्मण भी लड़ रहे हैं। सरकार मान बैठी हैं कि अब वह हिन्दुस्तान में मनचाहा कर सकती हूं। ऐसा प्रतीत होता है कि सविनय-भंग तो मानों दूर चला गया हो, ऐसे समय एक मामूली योद्धा का भी गमन खलता है। दस हाथवाले दास का गमन तो असह्य हो गया है।

फिर भी मैं ठहरा आस्तिक, इससे हिम्मत नहीं हारा हूं। ईश्वर जो जी चाहे खेल खेले। उसका दुःख क्या और सुख क्या ? जो बातें अपने अधिकार में नहीं हैं वे यों बने तो क्या और त्यों बने तो क्या ? मुझे अपने कर्त्तव्य का ज्ञान है। भले ही वह गलत हो। जबतक वह मुझे सच मालूम होता है तबतक यदि मैं उसपर चलूं तो अपनी जिम्मेवारी से मुक्त हुआ। तत्त्वज्ञान का सहारा लेकर मैं आश्वासन प्राप्त कर रहा हूं। मेरा स्वार्थ देशबन्धु के वियोग को भूलने ही नहीं देता।

परन्तु देशबन्धु के लिए मृत्यु ही कहां है ? देशबन्धुदास का देह गया है। गुण तो मौजूद हैं। उन गुणों को यदि हम अपने अन्दर उदय करें तो देशबन्धु हम सबके अन्दर जीवत ही हैं। जिस मनुष्य ने इस संसार की सेवा की है, वह मरता नहीं। राम और कृष्ण गये, यह बात भी मिथ्या है। राम-कृष्ण अपने असंख्य पुजारियों के हृदय में जी रहे हैं। इसी तरह हरिश्चन्द आदि। हरिश्चन्द का अर्थ उनका शरीर नहीं, उनका सत्य है। वह सत्य के अनेक पुजारियों के अन्दर जीवित हैं। यही बात देशबन्धु की है। देशबन्धु का क्षणिक देह गया, उनका सेवा-भाव, उनकी उदारता, उनका देश-प्रेम, उनकी निडरता कहीं गई है ? थोड़े या बहुत अंश में ये गुण समाज

में बढ़ते ही जायंगे।

इसलिए देशबन्धु मरते हुए भी जीवित हैं। जबतक हिन्दुस्तान है तबतक देशबन्धु भी हुई हैं। इसीसे कहते हैं 'देशबन्धु चिरजीवें।'

(हि० न०, २ जुलाई, १९२५)

... ...

•••'यदि हमें देशबन्धु की ग्रात्मा को शांति दिलाना हो तो हमारे पास एक ही इलाज है। उनके तमाम सद्गुणों को हम अपने अन्दर पैदा करें। कितने ही सद्गुण तो अवश्य पैदा कर सकते हैं। उनके सदृश अंग्रेज़ी चाहे हमें न आ सके, उनकी तरह वकील हम सब न हो सकें, धारा-सभा में जाने की शक्ति उनके सदृश हमारे पास न हो, पर हमारे अंदर उनके जैसा देश-प्रेम तो हो सकता है। उनके बराबर उदारता हम सीख सकते हैं। उनके बराबर धन हम चाहे न दे सकें, परन्तु जो यथाशक्ति देते हैं उन्होंने बहुत-कुछ दे दिया है। विधवा के एक तांबे के छल्ले की कीमत महाराज के करोड़ों में से दिये हजार की कीमत से ज्यादा है। देशबन्धु ने खादी पहनने के बाद फिर घर में या बाहर उसका त्याग नहीं किया। क्या हम खादी पहनेंगे? देशबन्धु ने महीन खादी कभी न चाही। उन्होंने तो मोटी खादी को पसंद किया था। देशबन्धु ने कातने का प्रयत्न किया। जिन्होंने शुरू नहीं किया, क्या वे अब करेंगे? (हि० न०, ९.७.२५)

... ...

देशबन्धु के साथ मेरा एक प्रकार का आध्यात्मिक संबंध था जो देशबन्धु की मृत्यु के बाद शायद और भी सच्चा हो गया है। मुझे इसमें कोई शक नहीं कि अगर हमारी विचित्र गुलामी की स्थिति के कारण देशबन्धु की सारी शक्ति राजनीति में ही नहीं लग जाती तो वह धार्मिक सुधार और दरिद्र-नारायण की सेवा में ही जी जान से लग जाते। मगर देशबन्धु ने तो गीता का यह पाठ पढ़ा था।

'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्'

यानी पर या परे के सु-आचरित धर्म से अपना (उपस्थित) धर्म ही गुणरहित होने पर भी अच्छा है। अगर्चे कि आज मैं एक साधारण नारी-चिकित्सालय की नींव डाल रहा हूं, मगर मुझे विश्वास है कि देशबन्धु की

दृष्टि से यह स्वराज-पथ में एक पग आगे बढ़ना है। कुछ लोग कहते हैं कि बंगालियों में बहुत अधिक प्रान्तीय संकीर्णता है, इसलिए शायद यह सेवा-सदन भी बिल्कुल प्रान्तीय न बन जाय। मगर मैं तो कहता हूं कि अगर बंगाली लोग सारे हिन्दुस्तान पर कब्जा कर लेवें तो संयुक्त प्रान्त के बूढे पंडितजी को और गुजरात के मुझ बूढे बनिये को कुछ आराम मिले। उस बंगाल ने जिसने रवीन्द्रनाथ, राममोहनराय, केशवचन्द्रसेन, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द को पैदा किया है, जिसकी धूलि चैतन्य के पद-रज से पावन है, गंगा और ब्रह्मपुत्र से जिसकी भूमि पवित्र बनी है, उस बंगाल में अगर सारा हिन्दुस्तान भी मिल जाय तो क्या हानि? मगर यह भय निर्मूल है जैसा कि डाक्टर विधानचन्द्र राय ने ट्रस्टियों की ओर से कहा है कि सेवा-सदन उसी विस्तृत दृष्टि से चलाया जायगा जिससे देशबन्धु देश की सेवा करते थे। उनके हृदय में हमारी उन बहनों के उद्धार की प्रबल चाह थी जो हमारी काम-वासना की शिकार बनी हुई हैं। यह सेवा-सदन उनका जीवन्त स्मारक है। यह किसी खास ट्रस्टी का नहीं है। यह तो देश की सम्पत्ति है। हम इसे देशबन्धु के योग्य बनाने का प्रयत्न करें और इससे उनकी यादगार इस देश में अमर होवे। (हि० न०, १३.१.२७)

... ...

मैं श्री मोतीलाल नेहरू, सी० आर० दास, मनमोहन घोष, बदरुद्दीन तैयबजी इत्यादि की याद आपको दिला दूंगा, जिन्होंने अपनी कानूनी योग्यता बिल्कुल मुफ्त बांटी और अपने देश की बड़ी अच्छी तथा विश्वस्त सेवा की। आप शायद मुझे ताना देंगे कि वे लोग इस कारण ऐसा कर सके थे कि वे अपने व्यवसाय में बड़ी लम्बी-लम्बी फीस लेते थे। मैं इस तर्क को इस कारण नहीं मान सकता कि मनमोहन घोष के सिवा मेरा और सबसे परिचय रहा है। अधिक रुपया होने की वजह से इन लोगों ने भारत को आवश्यकता पड़ने पर अपनी योग्यता उदारतापूर्वक दी हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उसका उनकी आराम तथा विलास से रहने की योग्यता से कोई संबंध नहीं है। मैंने उनको बड़े संतोष से दीनतापूर्वक जीवन-निर्वाह करते देखा है।

(हि० न०, १२.११.३१)

: ८८ :

दासप्पा

मैसूर में कई वकीलों ने मैसूर-सत्याग्रह की हलचल में हिस्सा लिया था। मैसूर की चीफ कोर्ट ने उनके वकालतनामे छीन लिये हैं। इसी सिलसिले में कोर्ट के सबसे आखिरी शिकार श्री दासप्पा हैं। श्री दासप्पा की मैसूर में खूब प्रतिष्ठा है और वह बीस साल से वकालत कर रहे हैं। वकालत जैसे स्व-तंत्र पेशे में किसीकी इस तरह सनद जब्त की जाना बेशक एक गम्भीर बात है। पर पहले भी काफी कारण के बिना, या केवल राजनैतिक कारणों से ऐसी घटनाएं घट चुकी हैं। ऐसे अन्यायों को हमें धीरज और बहादुरी से बर्दाश्त करना है। पर श्री दासप्पा के बारे में चीफ जज के हुक्मनामे की रिपोर्ट 'हिंदू' में पढ़कर बहुत दुःख हुआ है। श्री दासप्पा ने मैसूर के एक खास भाग में सभाओं में भाषण न देने के मजिस्ट्रेट साहब के हुक्म को तोड़ने का साहस किया था और साथ ही मेरी सलाह के अनुसार सत्याग्रही कैदियों को, जज श्री नागेश्वर आइर की महकमाना जांच का बहिष्कार करने की सलाह देकर अपनी धृष्टता का सबूत दिया था। इन और अन्य अपराधों के कारण श्री दासप्पा का वकालतनामा हमेशा के लिए जब्त हो गया। अगर जजसाहब की चले तो श्री दासप्पा को गरीबी का मुख देखना होगा। अगर उनके फैसले का असर सरकारी मिसल से आगे जा सके तो श्री दासप्पा समाज में अपनी सब प्रतिष्ठा खोकर तिरस्कार और घृणा के पात्र बन जायंगे। श्री दासप्पा को मैं अच्छी तरह जानता हूं। वह एक निर्दोष चरित्र के शुद्ध ईमानदार आदमी हैं। अपनी शक्ति के अनुसार वह अहिंसा का पालन करने का मर्दानगी से प्रयत्न कर रहे हैं। जो उन्होंने किया है वही कई वकील और दूसरे लोग ब्रिटिश भारत में कर चुके हैं। जज ऐसी बातों की तरफ ध्यान तक नहीं देते, और जनता ने उनको जन-नायक का पद दिया है। श्री भूलाभाई बंबई की हाईकोर्ट के एडवोकेट-जनरल रह चुके हैं। उन्होंने कानून तोड़े हैं। इसी तरह श्री मुंशी ने और श्री चक्रवर्ती राजगोपालचार्य ने भी कानून तोड़े हैं। मगर उन लोगों के वकालतनामे को किसीने हाथ नहीं लगाया। इनमें से पिछले दो तो अपने-अपने सूबे में मंत्री-पद पर भी रह

चुके हैं। सार्वजनिक जांच का आज से पहले बिना किसी निजी हानि के बहिष्कार किया गया है। मगर इससे बहिष्कार के कर्त्ता-धर्त्ताओं की इज्जत या आचरण पर कभी हमला नहीं किया गया। मेरी राय में अपना फैसला सुनाते समय मैसूर कोर्ट के जज अपने कर्तव्य को भूल गये हैं। इससे श्री दासप्पा को कोई नुकसान नहीं पहुंचा। उलटे वह मैसूर की जनता की नजरों में और ऊंचे चढ़ जायंगे। मगर मैं यह दावे से कह सकता हूं कि अपने पूर्वाग्रहों के वश होकर जजसाहब ने अपने-आपको नुकसान पहुंचाया है। इस तरह न्याय का मजाक पहले भी उड़ाया जा चुका है। (ह० से०, १३.७.४०)

: ८९ :

मनोहर दीवान

एक परोपकारी पुरुष, मैं तो उनको महात्मा ही कहूंगा, मनोहर दीवान हैं। वह वर्धा में रहते हैं और बिनोवा भावे के बड़े शिष्य हैं। विनोबाजी तो बहुत बड़े आदमी हैं। तो मनोहर के दिल में हुआ कि चलो, कुछ-न-कुछ करें। तो उन्होंने कोढ़ियों की सेवा करने का काम पसन्द किया। विनोबा ने भी उनको ऐसा करने के लिए प्रेरणा दी। वह निर्लेप रहते हैं। पैसे की उनको दरकार नहीं। वह डाक्टर तो नहीं हैं, लेकिन उन्होंने उसका काफी अभ्यास कर लिया है। काफी लोग उनकी मदद लेते हैं।

(प्रा० प्र०, २३. १०. ४७)

: ९० :

गोपाल कृष्ण देवधर

श्री गोपाल कृष्ण देवधर के स्वर्गवास से देश एक महान् समाज-सेवक और हरिजनों का एक सुदृढ़ और विश्वसनीय बन्धु गंवा बैठा। स्व० गोखले की स्थापित की हुई 'सर्वेंट ऑफ इण्डिया सोसाइटी' के श्री देवधर संस्थापक सदस्यों में से थे। प्रान्तीय हरिजन-सेवक-संघ के वह अध्यक्ष भी थे। देश में ऐसा एक भी दुर्भिक्ष नहीं पड़ा या ऐसी बाढ़ नहीं आई जहां उनकी

याद न की गई हो। वह चाहते तो आसानी से काफी पैसा पैदा कर सकते थे, पर उन्होंने तो गरीबों का ही बाना धारण किया, क्योंकि लोक-सेवक का जीवन-सिद्धान्त ही गरीबी है। उनकी अथक कार्यशक्ति संक्रामक थी। जब भी उनकी समाज-सेवा की मांग हुई, वह कभी उससे पीछे नहीं रहे। उनका जीवन एक निष्कलंक पवित्रता का जीवन था। अपने प्रिय पूना-सेवा-सदन के तो वह प्राण थे। उसके लिए उन्होंने इतनी अच्छी तरह परिश्रम किया कि एक छोटी-सी चीज से बढ़ते-बढ़ते वह आज इतनी अच्छी संस्था बन गई है कि भारतवर्ष में जितनी भी इस प्रकार की संस्थाएं हैं उनसे वह किसी तरह पीछे नहीं। दिवंगत आत्मा के परिवार के साथ मैं सादर समवेदना प्रकट करता हूं। (ह० से०, २३. ११. ३५)

: ९१ :

दुर्गाबेन देसाई

श्री महादेव देसाई की धर्मपत्नी प्रयाग में हैं। वह खुद भी स्वयं-सेविका हुई हैं, सेवा करने के लिए जगह-जगह जाती हैं, दूसरे स्वयं-सेवकों को खाना पकाकर खिलाती हैं और दूसरी तरह से उनकी सहायता करती हैं, रोज चरखा कातती हैं। श्री महादेवभाई के गिरफ्तार होते ही उन्होंने मुझे एक पत्र भेजा, जिसे पढ़कर पाठक प्रसन्न होंगे। इसी खयाल से उसे यहां प्रकाशित करता हूं :—

"आप यह जानकर प्रसन्न होंगे कि आप और वह जो बात चाहते थे, वही हुई। उन्हें एक वर्ष की सजा और सौ रुपया जुर्माना हुआ। जुर्माना न दें तो एक मास अधिक कैद। यह समाचार तो आपको मिल ही चुका होगा। मैं तो आपको सिर्फ इसलिए लिख रही हूं कि आप मेरी चिन्ता न करें। इस समय तो मुझे कुछ भी दुःख नहीं हुआ, पर नहीं कह सकती, यह हालत कबतक कायम रहेगी; क्योंकि मन तो स्वभावतः ही चंचल ठहरा। इससे वह कभी सुख और कभी दुःख मानकर व्यर्थ दुखी होता है।

देवदासभाई जबतक जेल के बाहर हैं और यहां काम कर रहे हैं तबतक तो मैं यहीं रहूंगी। उनके पकड़े जाने के बाद में आश्रम (सत्याग्रह

आश्रम, साबरमती) आऊंगी।

यह पत्र कल लिखकर वैसा ही छोड़ दिया था। आज मैं और देवदास-भाई उनसे मिलने गये थे। उसका हाल देवदासभाई ने आपको लिखा ही है, अतएव उस विषय में मैं कुछ नहीं लिख रही हूं। जेल में उनके साथ जिस तरह का बर्ताव किया जाता है, उसका हाल जानकर मन के धर्म के अनुसार मुझे कुछ दुःख हुआ। पर अब उसका असर बिल्कुल नहीं है। जब-जब मैं सोचती हूं तब-तब यही मालूम होता है कि ऊपर से उन्हें चाहे कितना ही कष्ट दिया जाय, पर यदि ईश्वर की कृपा होगी तो उन्हें और मुझे उसके सहन करने का बल प्राप्त होगा। आप मेरी चिन्ता न कीजियेगा, क्योंकि यदि आपकी लड़की ही इतने से दुःख से दुःखी होकर रोने-पीटने लगे तो फिर आपको इस संग्राम में विजय ही कैसे प्राप्त हो। मैं आपसे इतना तो जरूर चाह सकती हूं कि आप यह आशीर्वाद दीजिये कि ईश्वर मुझे यह सहन करने का बल दे।"

मेरी आशीष तो हुई है। पर मैं आशीर्वाद देनेवाला कौन? भारत की महिलाएं तो अपने ही तपोबल से साहस प्राप्त कर रही हैं। एक-दो आदमी तो जेल गये ही नहीं हैं। कितने ही लोग गये हैं और बहुतों की धर्मपत्नियां हिम्मत और धीरज धारण कर रही हैं और खुशी-खुशी अपने पति को तथा दूसरे रिश्तेदारों को जेल में भेज रही हैं और स्वयं भी जाने को तैयार होती हैं। मुझे यह खबर मिल गई है कि श्री देसाई के साथ जो निष्ठुर व्यवहार किया जा रहा था वह अब बन्द कर दिया गया है। धीरज तथा विनययुक्त बर्ताव से अनुचित दुःख का निवारण हुए बिना रह ही नहीं सकता। पर ऐसा हो चाहे न हो, जेल के दुःख चाहे कितने ही भयानक क्यों न हों, उनको सहन किये बिना दूसरी गति ही नहीं है। (हि० न० ८.१.२२)

: ९२ :

प्रागजी देसाई

एक भाई प्रागजी देसाई थे। उन्होंने अपने जीवन में कभी धूप-जाड़ा नहीं सहा था। और यहां तो जाड़ा था, धूप थी और बारिश का मौसम था।

हमने अपना श्रीगणेश तो तंबू में रहकर किया था। मकान बंधकर तैयार हों तब सोयें। करीब दो महीने के अन्दर मकान तैयार हो गये। मकान टीन के थे, इसलिए उनको बनाने में कोई देरी नहीं लगी। आवश्यक आकार-प्रकार की लकड़ी तैयार मिल सकती थी। केवल नाप-जोखकर टुकड़े करने पड़ते। दरवाजे, खिड़कियां आदि ज्यादा नहीं बनाने थे। इसलिए इतने समय में सभी मकान तैयार हो गये; पर इस काम-काज ने भाई प्रागजी की खूब खबर ले डाली। जेल की बनिस्बत फार्म का काम जरूर ही सख्त था। एक दिन तो परिश्रम और बुखार के कारण वह बेहोश तक हो गये। पर वह यों इतनी जल्दी हारनेवाले आदमी नहीं थे। यहां उन्होंने अपने शरीर को पूरी तरह मेहनत पर चढ़ा दिया और अन्त में इतनी शक्ति प्राप्त कर ली कि वह सबके साथ-साथ काम करने लग गये।

(द० अ० स० १९२५)

: ९३ :

भूलाभाई देसाई

ब्रिटेन और भारत के परस्पर के देन, राष्ट्रीय ऋण के सम्बन्ध में जांच करने के लिए महासमिति (आल इंडिया कांग्रेस कमेटी) ने जो समिति नियत की थी, उसकी रिपोर्ट, विशेषकर वर्तमान अवसर पर, एक अत्यन्त महत्त्व का लेख है। राष्ट्रीय महासभा, कांग्रेस का कोई भी सेवक उसकी एक प्रति रखे बिना न रहेगा। श्री बहादुरजी, भूलाभाई देसाई, खुशालशाह और कुमारप्पा अपने इस प्रेम—परिश्रम के लिए राष्ट्र के साभार अभिनन्दन के अधिकारी हैं। 'यंग इंडिया' के विदेशी पाठक जानते हैं कि श्री बहादुरजी और उसी तरह श्री भूलाभाई देसाई, दोनों ही एक बार एडवोकेट-जनरल थे। इन्होंने एडवोकेट-जनरल के पद का उपयोग किया है, यह बात योंही छोड़ दी जाय तो दोनों धूमधाम से चलनेवाले धन्धे के व्यवसायी और अनुभवी कानून विशेषज्ञ हैं। एडवोकेट-जनरल के पद ने इनकी प्रतिष्ठा में कुछ वृद्धि की है ऐसी कोई बात नहीं है। यह तो उनकी प्रतिष्ठा की और उनके व्यवसाय में उनका जो पद है, उसकी स्वीकृति-मात्र है।

खुशालशाह भारतप्रख्यात अर्थशास्त्री हैं, कितनी ही बहुमूल्य पुस्तकों के लेखक हैं और बहुत वर्ष तक, आज अभी तक, बम्बई यूनिवर्सिटी के अर्थ-शास्त्र के अध्यापक थे। ये तीनों सज्जन सदैव काम में रुके रहते हैं, इसलिए राष्ट्रीय महासभा के सौंपे हुए इस उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य के लिए समय देना उनके लिए कुछ ऐसा-वैसा साधारण त्याग नहीं था। ...रिपोर्ट के लेखकों का यह परिचय मैंने इसलिए दिया है कि विदेशी पाठक जान सकें कि यह रिपोर्ट उथले राजनीतिज्ञों का लिखा हुआ लेख नहीं, वरन जो लोग प्रचुर प्रतिष्ठावाले हैं और जो धांधलीबाज उपदेशक नहीं, वरन स्वयं जिस विषय के ज्ञाता हैं, उसीपर लिखनेवाले और अपने शब्दों को तौलकर व्यव-हार में लानेवालों की यह कृति है। (हि० न०, ६.८.३१)

... ...

बारडोली के किसानों की बहादुरी ने और उनकी आफतों व मुसीबतों ने श्री भूलाभाई देसाई-जैसों को जनता की सेवा का काम संभाल लेने की प्रेरणा दी, वरना वह एक मशहूर सरकारी नौकर रहे होते और बम्बई हाई-कोर्ट के जज बनकर उन्होंने अपना काम पूरा किया होता। कानून के एक पंडित के नाते उनकी होशियारी के कारण जब आजाद हिन्द फौज के कैदी रिहा कर दिये गए तो उनकी कीर्ति अपनी अन्तिम सीमा तक पहुंच गई। उनके बेटे और उनकी बहू के शोक में मैं और मेरे-जैसे दूसरे बहुतेरे उनके हिस्सेदार हैं। आशा है कि स्वर्गीय भूलाभाई में देश-सेवा का जो प्रेम था, उसे विरासत में पाकर वह दोनों अपने शोक को आनन्द में बदल डालेंगे। यही एक चीज है, जो जीवन को जीने योग्य बनाती है।

(ह० से०, १२.५.४६)

: ६४ :

महादेव देसाई

पाठक यह जानकर खुश होंगे कि महादेव देसाई का स्वास्थ्य अब दिन-प्रतिदिन उन्नति करता जा रहा है। लगातार कई साल से स्वास्थ्य पर ज़ोर पड़ने के बाद विश्राम तो उन्हें लेना ही चाहिए था; पर वह नहीं ले

सके। और मैंने भी आग्रह नहीं किया। अच्छा हुआ कि दयालु प्रकृति ने आकर उन्हें विश्राम लेने के लिए बाध्य कर दिया, जिसे कि स्वेच्छा-पूर्वक लेने को वह तैयार न होते। श्री राजकुमारी अमृतकौर उन्हें अपने घर शिमला ले गई हैं। वहां पहाड़ों की शुद्ध ताजी हवा तो है ही, पर इससे भी अधिक जो स्वास्थ्यप्रद चीज उन्हें वहां मिल रही है वह है राजकुमारी की प्रेमपूर्ण सेवा और उपचार। इससे निश्चय ही शिमला के शक्तिवर्द्धक जलवायु में उनका स्वास्थ्य उन्नति करेगा। (ह० से०, २३.१०.३८)

... ...

महादेव की अकस्मात मृत्यु हो गई। पहले ज़रा भी पता नहीं चला। रात अच्छी तरह सोये। नाश्ता किया। मेरे साथ टहले। सुशीला और जेल के डाक्टरों ने जो कुछ कर सकते थे किया; लेकिन ईश्वर की मर्जी कुछ और थी। सुशीला और मैंने शव को स्नान कराया। शरीर शान्ति से पड़ा है, फूलों से ढका है, धूप जल रही है। सुशीला और मैं गीता-पाठ कर रहे हैं। महादेव की योगी और देशभक्त की भांति मृत्यु हुई है। दुर्गा, बाबला और सुशीला से कहो, शोक करने की मनाई है। ऐसी महान् मृत्यु पर हर्ष ही होना चाहिए। अन्त्येष्टि मेरे सामने हो रही है। भस्म रख लूंगा। दुर्गा को सलाह दो कि आश्रम में रहे; लेकिन अगर वह जाना ही चाहे तो घरवालों के पास जा सकती है। आशा है, बाबला बहादुरी से काम लेगा और महा-देव का सुयोग्य उत्तराधिकारी बनने के लिए अपनेको तैयार करेगा। सप्रेम, (आगा खां महल से १५. ८. ४२ को दिया तार)

... ...

भावना तो महादेव की खुराक थी (का० क०, १५.८.४२)

... ...

महादेव का बलिदान कोई छोटी चीज नहीं है। अकेला भी वह बहुत काम करेगा। (का० क०, १६.८.४२)

... ...

(बा कह रही थीं, "देखो, महादेव गये। ब्राह्मण की मृत्यु हुई, अपशकुन है न। इतनी बड़ी ताकत के खिलाफ बापू लड़ रहे हैं, कैसे जीतेंगे!" बापू ने सुना तो कहने लगे—)

"मैं इसे शुभ शकुन मानता हूं। शुद्धतम बलिदान हुआ है, इसका परिणाम अशुभ नहीं हो सकता।" (का० क०, २८.८.४२)

... ...

(आज 'बॉम्बे क्रानिकल' के सब पुराने अंक आ गये। मालूम होता है, महादेवभाई की मृत्यु को देश ने चुपचाप सह लिया है। यह चीज बापू को को काफी चुभी है। घूमते समय कहने लगे—)

आखिर तो महादेव इनके जेल में मरा है न? महादेव का खून इनके सिर है। मैं उस दिन गर्वनर को लिखनेवाला था, मगर फिर काट डाला। जिन्दा रहा तो किसी दिन मैं जरूर उन्हें यह सुनाऊंगा कि महादेव की मृत्यु का कारण आप हैं। मैं मानना हूं कि वह जेल न आते तो कम-से-कम इस वक्त तो हर्गिज न मरते। बाहर वह कई तरह के कामों में उलझे रहते। यहां वह एक ही विचार में डूबे रहे, एक ही चिन्ता उनके सिर पर सवार रही। वह उन्हें खा गई। उनपर भावना का कुछ इतना ज़ोर पड़ा कि वह खतम हो गये। देश ने कुछ भी नहीं किया। बैकुंठ मेहता की श्रद्धांजलि तो आने ही वाली थी और बरेलवी की भी। मगर महादेव तो सारे देश के थे और देश के लिए वह गये हैं। भगतसिंह की मृत्यु के बाद जब मैं लॉर्ड अर्विन से समझौता करके करांची जा रहा था तो लोगों के झुंड-के-झुंड हर स्टेशन पर मेरे पास आते थे और चिल्लाते थे, "लाओ भगतसिंह को!" इसी तरह इस बार भी वह सरकार को कह सकते थे, 'लाओ महादेव को!' सरकार लाती तो कहां से? कह देती कि जो लोग इतने भावुक, इतने विक्षुब्ध और इतने संवेदनशील हैं, वह जेल में आते ही क्यों हैं? न आयें—वगैरा।

(फिर बापू कहने लगे—)

मगर लोग शायद सोचते होंगे कि आज सरकार के साथ ऐसा घमासान युद्ध चल रहा है कि उसमें दूसरी किसी चीज का विचार करने का अवकाश ही कहां रह जाता है?

(मैंने कहा, "और आपने भी तो तार में लिखा था न कि जो किया जा सकता था, किया गया! इसके कारण भी लोग शान्त रह गये होंगे। समझे होंगे कि यह तो स्वाभाविक मृत्यु थी, जो कहीं भी हो सकती थी।" बापू ने

कहा—)

सो तो है, लेकिन मृत्यु हुई तो सरकार के जेल में न ?

(का० क०, १०.६.४२)

... ...

(शाम को महादेवभाई के समाधि-स्थान से लौट रहे थे तब बापू कहने लगे—)

यहां आ जाना मेरे लिए बहुत शांतिदायक है और उससे जो प्रेरणा मुझे लेनी होती है मैं ले लेता हूं।

(मैंने कहा, "अब आप महादेवभाई से प्रेरणा लेते हैं, कभी वह आप-से लेते थे !" कहने लगे—)

"क्यों नहीं, प्रेरणा तो एक बच्चे से भी ले सकते हैं, और बच्चा चला जाता है तो भी क्या ? उसका स्मरण तो २४ घंटे चलता ही है। जो राजाजी ने कहा है वह बिल्कुल सही है। महादेव मेरा अतिरिक्त शरीर था। कितनी दफा मैंने उसे मैक्सवैल के पास भेजा है, दूसरों के पास भेजा है। मान लेता था कि महादेव को काम सौंपा है तो वह कह कर लेगा।"

(का० क०, १८.६.४२)

... ...

(सुबह घूमते समय बापू कहने लगे—) महादेव को मेरा वारिस होना था; पर मुझे उसका वारिस होना पड़ा है। मीराबहन को महादेवभाई की समाधि पर मेरा जाना खटकता है, मगर मेरे लिए वह बिल्कुल सहज बन गया है। मैं न जाऊं तो बेचैन हो जाऊं। वहां जाकर मैं कुछ करना नहीं चाहता, समय भी नहीं देना चाहता, मगर हो आता हूं, इतना ही मेरे लिए बस है। अगर मैं जिंदा रहा तो यह जमीन आगाखां से मांग लूंगा। वह न दे, यह संभव हो सकता है। मगर किसी रोज तो हिंदुस्तान आजाद होगा। तब यह यात्रा का स्थान बनेगा। मैं वहां जाता हूं तो महादेव के गुणों का स्मरण करने के लिए, उन्हें ग्रहण करने के लिए। मैं उसकी स्मृति को नहीं चाहता। और जिस तरह से वह यहां मरा, उससे उसकी स्त्री और उसके लड़के के प्रति मेरी वफादारी भी मुझे बताती है कि मुझे वहां नियमित रूप से जाना चाहिए। हो सकता है कि मेरी जिन्दगी में यह जगह मुझे न

मिल सके और इस जगह को यात्रा-स्थल बनते मैं न देख सकूं, मगर किसी-न-किसी दिन वह जरूर बनेगा, इतना मैं जानता हूं। आज तो मैं सब काम उसका काम समझकर करता हूं। बाहर जाऊंगा तब भी उसीका काम करूंगा। (का० क०, १०.६.४२)

(सुबह समाधि से लौटते समय बापू महादेवभाईवाली गीताजी के पन्ने उलट रहे थे। आखिरी पन्ने पर 'आउज बिल्ला' वाली आयत लिखी हुई थी। पूछने लगे—)

ये किस के अक्षर हैं? महादेव के या प्यारेलाल के?

(मैंने बताया कि १ अगस्त को बम्बई से चलते समय महादेवभाई ने भाई को वह आयत लिख देने को कहा था, सो भाई के अक्षर हैं। बापू कहने लगे—)

बस छः दिन उसने यह आयत गाई।

(फिर थोड़ा ठहरकर बोले—)

लगता ही नहीं है कि महादेव सदा के लिए गया। कल रात को स्वप्न में वह लड़की···कहती है, "महादेवभाई कहां हैं?" मैं उत्तर देता हूं, "बहन, मैं तो उसे श्मशान में छोड़ आया हूं।" पीछे वह पागल-सी हो जाती है। कहती है, "लाओ महादेवभाई को! उसे वहां क्यों छोड़ आये?"

(का० क०, २३.१२.४२)

... ...

(भाई से कहने लगे—) मान लो इस उपवास के कारण मैं लोप हो जाऊं तो तुम लोगों से मैं क्या आशा रखूंगा, यह समझ लो। महादेव की मैं भाट की तरह स्तुति करता हूं, मगर मेरा मन उसकी शिकायत भी करता है। उसकी मिसाल सम्पूर्ण या आदर्श नहीं मानना चाहिए। वह इस विचार का जप करते-करते चला गया कि "मैं बापू के बाद क्या कर सकता हूं? बापू से पहले चला जाऊं तो अच्छा है।" मगर उसे तो कहना चाहिए था कि "नहीं, मुझे तो जिन्दा रहना है और बापू का काम करना है।" यह दृढ़ संकल्प उसे मरने से रोक भी लेता। (का० क०, ६. २. ४३)

... ...

मेरे विचार से महादेव के चरित्र की सबसे बड़ी खूबी थी, मौका पड़ने पर अपनेको भूलकर शून्यवत बन जाने की उनकी शक्ति। (ह० से०, १२. ८. ४६)

जमनालाल, मगनलाल और महादेव---इनमें से हरेक अपने-अपने क्षेत्र में अनूठे थे। मेरा ख्याल है कि उनकी जगह दूसरे नहीं ले सकते। मगर मैं कहूंगा कि इन तीनों में से महादेव मुझमें पूरी तरह खो गया था। मैं यह कह सकता हूं कि मुझसे अलग उसकी कोई हस्ती ही नहीं रह गई थी।

महादेव की एक बड़ी खूबी यह थी कि जो काम उन्हें सौंपा जाता था, उसे करने के लिए वह सदा तैयार रहते और बड़े उत्साह से करते थे। इसी तरह वह एक अच्छे लेखक, अच्छे रसोइया और अच्छे कुली बन सके थे। अक्सर जो लोग मेरे साथ काम करने के लिए आते हैं, वह ऐसे ही बन जाते हैं। (ह० से०, ८. ८. ४६)

महादेव गुलाब का फूल है। (ह० से०, १८. ८. ४६)

... ...

वह मेरे बॉसवेल (जीवनी लिखनेवाले) बनना चाहते थे, फिर भी मुझसे पहले मरना चाहते थे। इससे बेहतर वह क्या कर सकते थे? सो वह तो चले गये और मुझे उनकी जीवनी लिखने के लिए छोड़ गये।... बच्चे अपने मां-बाप के पहले मरना चाहें तो इससे बढ़कर बेरहमी और क्या हो सकती है? यह उनका निरा स्वार्थ है। भले ही मैं दूसरों को इस बात का यकीन न दिला सकूं लेकिन यह मैं जरूर महसूस करता हूं कि मौत कभी वक्त से पहले नहीं आती। दुनिया में अपना काम खत्म करने से पहले कोई मर्द या औरत कभी नहीं मरता। महादेव ने पचास साल में सौ बरस का काम पूरा कर डाला था। सो वह आराम करने चले गये, जिसपर उनका पूरा हक था। (ह० से० १८. ८. ४६)

महादेव की आत्मा ईश्वर के भक्त की प्यासी थी। उसीकी खोज में वह मेरे पास आये थे। और क्या मैं यह कहूं कि मुझसे भी पूरा सन्तोष न मिलने की वजह से वह भरी जवानी में मुझे छोड़कर...मन की प्यास के लिए अपने सिरजनहार की गोद में चले गये?

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते ।।
प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धः ततो याति परां गतिम् ।।

(ह० से०, २५. ८. ४६)

... ...

महादेव देसाई के मित्र और प्रशंसक उनकी पुण्यतिथि मनाते आ रहे हैं। इस दिन वह कुछ ऐसा काम करते हैं जो उन्हें प्रिय था। महादेवभाई एक गुणी और प्रतिभावान व्यक्ति थे। उनको अनेक काम प्रिय थे। उनमें चरखे का स्थान सर्वोपरि था। वह कलाकार तो थे ही और एक कलाकार की भांति नियमित रूप से और बड़ी सुघड़ता के साथ चरखा चलाते थे। भले ही वह कितने भी थके होते अथवा उन्होंने कितना ही अधिक श्रम किया होता, किन्तु वह चरखा चलाने के लिए हमेशा समय निकाल लिया करते थे। चरखे से उनको ताजगी मिलती थी।

वह अनेक सिद्धियों के धनी थे। विशेषकर उनकी हस्तलिपि बहुत ही सुन्दर थी। इस कला के वह उस्ताद थे। रामदास स्वामी ने अपने एक काव्य में सुन्दर हस्तलिपि की चमकदार मोतियों से तुलना की है। महादेव-भाई अपनी कलम से जो अक्षर लिखते थे, वह निर्दोष मोती ही होते थे।

उनका तीसरा गुण यह था कि वह भारतीय भाषाओं को बड़ा प्यार करते थे और इस गुण का हम सबको अनुकरण करना चाहिए। वह बहुभाषा-विद थे। उन्होंने बंगला, मराठी और हिन्दी में प्रवीणता हासिल की थी और उन्होंने उर्दू भी सीखी थी। जेल में उन्होंने अपने साथी कैदी ख्वाजा साहब एम० ए० मजीद से फारसी और अरबी भी सीखने की कोशिश की थी।

आज जो रविबाबू का गीत गाया गया है, वह महादेवभाई का एक प्रिय गीत था। उसका उन्होंने गुजराती में अनुवाद भी किया था।

यह गीत स्वर्गीय आत्मा की आन्तरिक आकांक्षा का प्रतीक है। वह आपकी आकांक्षाओं का भी प्रतीक बने। महादेवभाई का जीवन गुणों का एक अटूट खजाना था और उसमें से आप भी हिस्सा बंटा सकते हैं। इस बंटवारे से उस भंडार में कोई कमी होनेवाली नहीं है। आध्यात्मिक खजाने

की यही तो विशेषता होती है। उपनिषद् कहता है :

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ (ह०, १. ६. ४६)

: ९५ :

जयरामदास दौलतराम

मुझे जिनके बारे में चेतावनी दी गई है उनमें सबसे आखिरी नंबर है श्री जयरामदास और डा० चोइथराम का। जयरामदास के नाम पर तो मैं कसम खा सकता हूं। इनसे अधिक सच्चा आदमी मुझे अपनी जिंदगी में अभी नहीं मिला। जेल में इनके चाल-चलन पर हम लोग लट्टू थे। उनकी नेकचलनी की सीमा न थी। इनके दिल में मुसलमानों के विरुद्ध रत्ती भर भाव नहीं। डा० चोइथराम से मेरी जान-पहचान तो पहले से है, पर मैं उन्हें पूरी तरह नहीं जानता; परन्तु जितना मैं उन्हें जानता हूं, उतने पर से मैं उनका परिचय सिवा इसके दूसरी तरह देने से इन्कार करता हूं कि वह हिन्दू मुसलमान एकता के सभी हामी हैं। (हि० न० १.६.२४)

: ९६ :

आनंदशंकर ध्रुव

श्री आनन्दशंकरभाई की क्षति न केवल गुजरात को अपितु काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की उनकी वर्षों की अमूल्य सेवा के कारण यू० पी० को भी उतनी ही मालूम होगी। आनन्दशंकरभाई की जोड़ ढूंढना असम्भव नहीं तो कठिन तो है ही। वह अन्त तक शिक्षक और शिक्षा-शास्त्री ही रहे। उनकी मृत्यु से अनेक विद्यार्थियों ने अपना निजी मित्र गंवाया है। मालवीय-जी के तो वह दाहिने हाथ ही थे। उनकी इस समय की मनोदशा की तो हम कल्पना ही कर सकते हैं।

परन्तु आनन्दशंकरभाई केवल शिक्षा-शास्त्री ही न थे। उनकी रुचि अनेक प्रकार की थी। वह राजनीति के गहरे अभ्यासी थे। स्वतन्त्रता के

पुजारी थे। समाज-सुधारक थे। सनातनियों के साथ उनकी खूब पटती थी, क्योंकि उनके बहुत-से रिवाजों का वह अनुसरण करते थे। परन्तु उनकी बुद्धि और उनका हृदय हमेशा सुधारकों के साथ ही था। वह निर्भयता से अपने विचार व्यक्त करते थे। संस्कृत के विद्वान् और शास्त्रों के जानकार होने की वजह से उनके विचारों का सब आदर करते थे। हिन्दूधर्म को उन्होंने शोभित किया था।

स्वयं मुझे तो उनकी सहायता मिला ही करती थी। वह मजदूरों और मालिकों के एक समान मित्र थे और दोनों के विश्वासपात्र थे। इसलिए वह दोनों की अच्छी सेवा कर सके थे।

आनन्दशंकरभाई के कुटुंबी यह समझें कि उनके इस शोक में बहुतेरे उनके साथ हैं, क्योंकि उन्होंने अपने कुटुम्ब का बहुत विस्तार किया था।

(ह० से०, १९.४.४२)

: ९७ :

नटेसन

यह कहें तो अत्युक्ति न होगी कि इस समय प्रवासी भारतवासियों के दुःखों पर विचार करनेवाले, उनकी सहायता करनेवाले, उनके विषय में उचित रीति से और ज्ञानपूर्वक लिखनेवाले सारे भारतवर्ष में अकेले नटेसन ही थे। मेरे और उनके बीच बराबर नियमित रूप से पत्र-व्यवहार चल रहा था। जब ये देशनिकाले की सजा पाये हुए भाई मदरास पहुंचे तब मि० नटेसन ने उनकी हर तरह सेवा-सहायता की। भाई नायडू जैसे समझदार आदमी उनके साथ में थे। इसलिए मि० नटेसन को भी काफी सहायता मिली। स्थानीय चन्दा एकत्र कर मि० नटेसन ने उनकी इस कदर सेवा की कि उन्हें यह याद तक नहीं होने पाया कि वह घर-बार छोड़कर देशनिकाले की सजा में आये थे। (द० अ० स०, १९२५)

: ६८ :

गुलजारीलाल नन्दा

गुजरात में ओतप्रोत हो जानेवाला प्यारेलाल की तरह यह दूसरा पंजाबी है। प्यारेलाल से भी एक तरह से बढ़कर है, क्योंकि प्यारेलाल के रास्ते में आनेवाला कोई नहीं है। इसके सामने स्त्री-बच्चे वगैरह बहुतों का विरोध है और यह आदमी बड़ी व्यवस्था-शक्तिवाला और सत्य का जबर-दस्त पुजारी है। (म० डा०)

: ६९ :

चार निडर नवयुवक

इस लाकेशन का कब्जा म्युनिसिपैलिटी ने ले तो लिया; परंतु तुरंत ही हिन्दुस्तानियों को वहां से हटाया नहीं था। हां, यह तय जरूर हो गया था कि उन्हें दूसरी अनुकूल जगह दे दी जायगी। अबतक म्युनिसिपैलिटी वह जगह निश्चित न कर पाई थी। इस कारण भारतीय लोग उसी 'गन्दे' लोकेशन में रहते थे। इससे दो बातों में फर्क हुआ। एक तो यह कि भारतवासी मालिक न रहकर सुधार-विभाग के किरायेदार बने और दूसरे गन्दगी पहले से अधिक बढ़ गई। इससे पहले तो भारतीय लोग मालिक समझे जाते थे। इससे वह अपनी राजी से नहीं तो डर से ही, कुछ-न-कुछ तो सफाई रखते थे; किन्तु अब 'सुधार' का किसे डर था? मकानों में किरायेदारों की भी तादाद बढ़ी और उसके साथ ही गन्दगी और अव्यवस्था की भी बढ़ती हुई।

यह हालत हो रही थी, भारतवासी अपने मन में झल्ला रहे थे, कि एकाएक 'काला प्लेग' फैल निकला। यह महामारी मारक थी। यह फेफड़े का प्लेग था और गांठवाले प्लेग की अपेक्षा भयंकर समझा जाता था। किन्तु खुशकिस्मती से प्लेग का कारण यह लोकेशन न था, बल्कि एक सोने की खान थी। जोहान्सबर्ग के आसपास सोने की अनेक खानें हैं। उनमें अधिकांश हब्शी लोग काम करते हैं। उनकी सफाई की जिम्मेदारी थी सिर्फ

गोरे मालिकों के सिर। इन खानों पर कितने ही हिन्दुस्तानी भी काम करते थे। उनमें से तेईस आदमी एकाएक प्लेग के शिकार हुए और अपनी भयंकर अवस्था लेकर वह लोकेशन में अपने घर आये।

इन दिनों भाई मदनजीत 'इंडियन ओपीनियन' के ग्राहक बनाने और चन्दा वसूल करने यहां आये हुए थे। यह लोकेशन में चक्कर लगा रहे थे। वह काफी हिम्मतवर थे। इन बीमारों को देखते ही उनका दिल टूक-टूक होने लगा। उन्होंने मुझे पेंसिल से लिखकर एक चिट भेजी, जिसका भावार्थ यह था :

"यहां एकाएक काला प्लेग फैल गया है। आपको तुरन्त यहां आकर कुछ सहायता करनी चाहिए, नहीं तो बड़ी खराबी होगी। तुरन्त आइये।"

मदनजीत ने बेधड़क होकर एक खाली मकान का ताला तोड़ डाला और उसमें इन बीमारों को लाकर रखा। मैं साइकिल पर चढ़कर लोकेशन में पहुंचा। वहां से टाउन-क्लर्क को खबर भेजी और कहलाया कि किस हालत में मकान का ताला तोड़ना पड़ा।

... ...

डाक्टर विलियम गाडफ्रे जोहान्सबर्ग में डाक्टरी करते थे। वह खबर मिलते ही दौड़े आये और बीमारों के डाक्टर और परिचारक दोनों बन गये; परंतु बीमार थे तेईस और सेवक थे हम तीन। इतने से काम चलना कठिन था।

अनुभवों के आधार पर मेरा विश्वास बन गया है कि यदि नीयत साफ हो तो संकट के समय सेवक और साधन कहीं-न-कहीं से आ जुटते हैं। मेरे दफ्तर में कल्याणदास, माणिकलाल और दूसरे दो हिन्दुस्तानी थे। आखिरी दो के नाम इस समय मुझे सौंप रखा था। उनके जैसे परोपकारी और केवल आज्ञा-पालन से काम रखनेवाले सेवक मैंने वहां बहुत थोड़े देखे होंगे। सौभाग्य से कल्याणदास उस समय ब्रह्मचारी थे। इसलिए उन्हें मैं कैसे भी खतरे का काम सौंपते हुए कभी न हिचकता। दूसरे व्यक्ति माणिकलाल मुझे जोहान्सबर्ग में ही मिले थे। मेरा खयाल है कि वह भी कुंवारे ही थे। इन चारों को चाहे कारकुन कहिये, चाहे साथी या पुत्र कहिये, मैंने इसमें होम देने का निश्चय कर लिया। कल्याणदास से तो पूछने की जरूरत ही

नहीं थी, और दूसरे लोग पूछते ही तैयार हो गये। 'जहां आप तहां हम'—यह उनका संक्षिप्त और मीठा जवाब था।

मि० रीच का परिवार बड़ा था। वह खुद तो कूद पड़ने के लिए तैयार थे; किन्तु मैंने ही उन्हें ऐसा करने से रोका। उन्हें इस खतरे में डालने के लिए मैं बिल्कुल तैयार न था, मेरी हिम्मत ही नहीं होती थी। अतएव उन्होंने ऊपर का सब काम सम्हाला।

शुश्रूषा की यह रात भयानक थी। मैं इससे पहले बहुत-से रोगियों की सेवा-शुश्रूषा कर चुका था। परंतु प्लेग के रोगी की सेवा करने का अवसर मुझे कभी न मिला था। डाक्टरों की हिम्मत ने हमें निडर वना दिया था। रोगियों की शुश्रूषा का काम बहुत न था। उन्हें दवा देना, दिलासा देना, पानी-वानी दे देना, उनका मैला वगैरा साफ कर देना——इसके सिवा अधिक काम न था।

इन चारों नवयुवकों के प्राणपण से किये गए परिश्रम और ऐसे साहस और निडरता को देखकर मेरे हर्ष की सीमा न रही।

डाक्टर गाडफ्रे की हिम्मत समझ में आ सकती है, मदनजीत की भी समझ में आ जाती है—पर इन नवयुवकों की हिम्मत पर आश्चर्य होता है। ज्यों-त्यों करके रात बीती। जहां तक मुझे याद पड़ता है, उस रात तो हमने एक भी बीमार को नहीं खोया। (आ० क०, १९२७)

: १०० :

दादाभाई नवरोजी

दादाभाई का एक पवित्र स्मरणीय प्रसंग लिख देना चाहता हूं। दादाभाई कमेटी के अध्यक्ष नहीं थे, तथापि हमें तो यही मालूम हुआ कि रुपये आदि इन्हींके द्वारा भेजना शोभा देता। फिर वह भले ही हमारी ओर से अध्यक्ष को दे दिया करें। पर पहले-पहल ही जो रुपये उन्हें भेजे गये, उन्हें उन्होंने लौटा दिया और लिखा कि रुपये आदि भेजने का कमेटी-संबंधी काम हमें सर विलियम बेडरबर्न के द्वारा ही करना चाहिए। दादाभाई की सहायता तो थी ही; पर कमेटी की प्रतिष्ठा सर विलियम बेडरबर्न के द्वारा काम लेने

ही से बढ़ती। मैंने यह भी देखा कि यद्यपि दादाभाई इतने वयोवृद्ध थे, तथापि पत्र आदि भेजने के काम में बड़े ही नियमित थे। अगर उनके पास लिखने के लिए और कुछ न होता तो कम-से-कम हमारे पत्र की पहुंच तो लौटती डाक से अवश्य ही आ पहुंचती। उस पत्र में भी आश्वासन के दो-एक शब्द रहते। ऐसे भी वह स्वयं ही लिखते और उन पहुंचनेवाले पत्रों को भी अपने टिश्यू पेपर बुक में छाप लेते। (द० अ० स०, १६२५)

... ...

दादाभाई नवरोजी की सौवीं जयंती आगामी ४ सितंबर को पड़ती है। श्री भरूचा ने समय पर ही उसकी याद हमें दिला दी है। हम दादाभाई को भारत का पितामह कहते थे। दादाभाई ने भारत की सेवा को एक धर्म बना डाला था। स्वराज्य शब्द उन्हींसे हमें मिला है। वह भारत के गरीबों के मित्र थे। भारत की दरिद्रता का दर्शन पहले-पहल दादाभाई ने ही हमें कराया था। उनके तैयार किये अंकों को आजतक कोई गलत साबित न कर पाया। दादाभाई हिंदू, मुसलमान, पारसी, ईसाई किसीमें भेदभाव न रखते थे उनकी दृष्टि में वे सब भारत की संतान थे और इसलिए सब समान रूप से उनकी सेवा के पात्र थे। उनका यह स्वभाव उनकी दो पौत्रियों में सोलहों आना दीख पड़ता है।

इस महान् भारत-सेवक की शताब्दी हम कैसे मनायें? सभाएं तो होंगी ही, वे भी अकेले शहरों में नहीं, बल्कि देहात में भी, जहां-जहांतक महासभा की आवाज पहुंचती है, वहां सब जगह। वहां करेंगे क्या? उनकी स्तुति? यही करना हो तो फिर भाट-चारणों को बुलाकर, उनकी कल्पना-शक्ति का तथा वाणी के प्रवाह का उपयोग करके क्यों न बैठ रहें? पर यदि हम उनके गुणों का अनुकरण करना चाहते हों तो हमें उनकी छानबीन करनी होगी और अपनी अनुकरण-क्षमता की नाप निकालनी होगी।

दादाभाई ने भारत की दरिद्रता देखी। उन्होंने सिखाया कि 'स्वराज्य' उसकी औषधि है। परंतु स्वराज्य प्राप्त करने की कुंजी तलाश करने का काम वह हमारे जिम्मे छोड़ गये। दादाभाई की पूजा का मुख्य कारण दादा-भाई की देश-भक्ति थी और उस भक्ति में वह बड़े लीन हो गये थे।

हम जानते हैं कि स्वराज्य प्राप्त करने का सबसे बड़ा साधन चरखा

है। भारत की दरिद्रता का कारण है भारत के किसानों का साल में छः या चार मास तक बेकार रहना। और यदि यह अनिवार्य बेकारी ऐच्छिक हो जाय अर्थात् काहिली हमारा स्वभाव बन बैठे तो फिर इस देश की मुक्ति का कोई ठिकाना नहीं। यही नहीं, बल्कि सर्वनाश इसका निश्चित भविष्य है। उस काहिली को भगाने का एक ही उपाय है—चरखा। अतएव चरखा-कार्य को प्रोत्साहित करनेवाला हरेक कार्य दादाभाई के गुणों का अनुकरण है।

चरखे का अर्थ है खादी; चरखे का अर्थ है विदेशी कपड़े का बहिष्कार; चरखे का अर्थ है गरीबों के झोंपड़ों में ६० करोड़ रुपयों का प्रवेश।

अखिल भारत-देशबंधु-स्मारक के लिए भी चरखा ही तजवीज हुआ है। अतएव इस कोष के लिए उस दिन द्रव्य एकत्रित करना मानो दादाभाई की जयंती ही मनाना है। इसलिए उस दिन एकत्र होकर लोग विदेशी कपड़ों का सर्वथा त्याग करें। सिर्फ हाथ-कते सूत की खादी पहनें, निरंतर कम-से-कम आधा घंटा सूत कातने का निश्चय दृढ़ करें और खादी-प्रचार के लिए धन एकत्र करें। कपास पैदा करनेवाले अपनी जरूरत का कपास घर में रख लें।

परंतु जिसे चरखे का नाम ही पसंद न हो वह क्या करे? उसके लिए मैं क्या उपाय बताऊं? जिसे स्वराज्य का नाम तक न सुहाता हो उसे मैं शताब्दी मनाने का क्या उपाय सुझाऊं? उसे अपने लिए खुद ही कोई उपाय खोज लेना चाहिए। मेरी सूचना सार्वजनिक है। यही हो भी सकता है। दादाभाई के अन्य गुणों की खोज करके कोई उनका अनुकरण चाहे तो जुदी बात है। वैसे दूसरे तरीके से जयंती मनाने का उसे हक है। अथवा फर्ज कीजिये, शहरों में स्वराज्यवादी दल कोई खास बात करना चाहे तो वह अवश्य करे। मैं तो सिर्फ वही बात बता सकता हूं जिसे क्या शहराती और क्या देहाती, क्या वृद्ध और क्या बालक, क्या स्त्री और क्या पुरुष, क्या हिंदू और क्या मुसलमान सब कर सकते हैं।

यदि हम लोग मेरी तजवीज के अनुसार ही दादाभाई की जयंती मनाना चाहते हों तो हमें आज से तैयारी करनी चाहिए। आज से हम उसके लिए चरखा चलाने लग जायं। आज ही से हम उसके निमित्त खादी उत्पन्न करें

और ऐसी सभाएं स्थान-स्थान पर करें जो हमें तथा देश को शोभा दें। (हि० न०, ६.८.२५)

... ...

दूसरे, जिन कानूनों को मैंने पढ़ा उनमें भारतवर्ष के कानूनों का नाम तक न था। न यह जाना कि हिंदू-शास्त्र तथा इस्लामी कानून क्या चीज है। अर्जी-दावा तक लिखना न जानता था! मैं बड़ी दुविधा में पड़ा। फीरोजशाह मेहता का नाम मैंने सुना था। वह अदालत में सिंह-समान गर्जना करते हैं। यह कला वह इंग्लैंड में किस प्रकार सीखे होंगे? उनके जैसी निपुणता इस जन्म में तो नहीं आने की, यह तो दूर की बात है; किंतु मुझे तो यह भी जबरदस्त शक था कि एक वकील की हैसियत से मैं पेट पालने तक में भी समर्थ हो सकूंगा या नहीं!

यह उथल-पुथल तो तभी चल रही थी, जब मैं कानून का अध्ययन कर रहा था। मैंने अपनी यह कठिनाई अपने एक-दो मित्रों के सामने रखी। एक ने कहा—दादाभाई की सलाह लो। दादाभाई के नाम परिचय-पत्र का उपयोग मैंने देर से किया। ऐसे महान् पुरुष से मिलने का मुझे क्या अधिकार है? कहीं यदि उनका भाषण होता तो मैं सुनने चला जाता और एक कोने में बैठकर आंख-कान को तृप्त करके वापस लौट आता। उन्होंने विद्यार्थियों के संपर्क में आने के लिए एक मंडल की स्थापना की थी। उसमें मैं जाया करता। दादाभाई की विद्यार्थियों के प्रति चिंता और दादाभाई के प्रति विद्यार्थियों के आदर-भाव देखकर मुझे बड़ा आनंद होता। आखिर हिम्मत बांधकर वह पत्र एक दिन दादाभाई को दिया। उनसे मिला। उन्होंने कहा—"तुम जब कभी मिलना चाहो और सलाह-मशविरा लेना चाहो, जरूर मिलना।" लेकिन मैंने उन्हें कभी तकलीफ न दी। बगैर जरूरी काम के उनका समय लेना मुझे पाप मालूम हुआ। इसलिए उस मित्र की सलाह के अनुसार, दादाभाई के सामने अपनी कठनाइयों को रखने की मेरी हिम्मत न हुई। (आ० क०, १६२७)

... ...

(मद्यनिषेध विरोधी शिष्टमंडल से बातचीत करते हुए गांधीजी ने कहा—)

शराबबंदी मुझे सिखानेवाले स्व० दादाभाई नवरोजी थे। मद्यनिषेध और मितपान के बीच भेद करना भी उन्होंने ही मुझे सिखाया था।

(ह० से०, ७.९.३९)

: १०१ :

हरदयाल नाग

उन्होंने अनासक्तियोग साधा है। (म० डा०, १०.७.३२)

... ...

प्रिय हरदयाल बाबू,

आप का पत्र पाकर हम सबको बहुत आनंद हुआ। इतनी पकी उमर में आपने तकली सीखी, यह जानकर मुझे आपसे ईर्ष्या होती है। और यह भी बड़ी खुशी की बात है कि आपका वजन १६ पौंड बढ़ गया। सेवा करने के लिए आप बहुत वर्ष जियें! आपके और आपकी तंदुरुस्ती के बारे में हम बहुत बार बातें करते हैं। हम सबका नमस्कार। (म० डा०, ५.८.३२)

... ...

ऐन मौके पर सच्चा संदेश भेजने में आप हमेशा नियमित रहे हैं। इतनी उम्र में इतना उत्साह दिखाकर आप देश के नौजवानों को शरमाते हैं। अभी के जैसा ही जोश कायम रखकर ईश्वर आपसे सौ बरस काम कराये।

(म० डा०, १०.१०.३२)

: १०२ :

नागप्पा

ट्रांसवाल का जाड़ा बड़ा सख्त होता है। जाड़ा इतना भयंकर पड़ता था कि सुबह काम करते-करते हाथ-पैर ठिठुर जाते थे। ऐसी स्थिति में कितने ही कैदियों को एक छोटी-सी जेल में रखा गया, जहां उन्हें कोई मिलने भी न पाये। इस दल में नागप्पा नामक एक नौजवान सत्याग्रही था। उसने जेल के नियमों का पालन किया। उसे जितना काम दिया गया, सभी कर

डाला। सुबह, पौ फटते ही, सड़कों पर मिट्टी डालने को वह जाता। नतीजा यह हुआ कि उसे फेंफड़ों का सख्त रोग हो गया और अंत में उसने अपने प्यारे प्राण अर्पित कर दिये। नागप्पा के साथी कहते हैं कि अंत समय तक उसे लड़ाई की धुन थी। जेल जाने से उसे कभी पश्चात्ताप नहीं हुआ। देश-कार्य करते-करते आई मृत्यु का उसने एक मित्र की तरह स्वागत किया। हमारे नाप से नापा जाय तो नागप्पा को निरक्षर ही कहना पड़ेगा। अंग्रेजी, जुलु, आदि भाषाएं वह अपने अभ्यास के कारण बोल सकता था, कुछ-कुछ अंग्रेजी लिख भी सकता था। पर विद्वानों की पंक्ति में तो उसे कदापि नहीं रखा जा सकता था। फिर भी नागप्पा के धीरज, उसकी शांति, देश-भक्ति और मौत की घड़ी तक दिखाई गई उसकी दृढ़ता पर विचार किया जाय तो कहना होगा कि उसमें किसी ऐसी बात की न्यूनता न थी कि जिसकी हमें उससे आशा करनी चाहिए। हमें बहुत बड़े-बड़े विद्वान नहीं मिले; पर फिर भी ट्रांसवाल का युद्ध रुका नहीं। यदि नागप्पा जैसे शूर सिपाही हमें नहीं मिलते तो क्या वह युद्ध चल सकता था? (द० अ० स०, १९२५)

: १०३ :

थंबी नायडू

थंबी नायडू तामिल सज्जन थे। उनका जन्म मारीशस में हुआ था। उनके माता-पिता मद्रास इलाके से वहां आजीविका के लिए गये हुए थे। श्री नायडू एक सामान्य व्यापारी थे। उन्होंने कोई भी शिक्षा पाठशाला में नहीं पाई। पर उनका अनुभव-ज्ञान बड़े ऊंचे दर्जे का था। अंग्रेजी अच्छी तरह बोल और लिख भी सकते थे, हालांकि भाषा-शास्त्री की दृष्टि से उसमें वह अवश्य गलतियां करते थे। तामिल भाषा का ज्ञान भी अनुभव से ही प्राप्त किया था। हिंदुस्तानी अच्छी तरह समझ लेते और बोल भी सकते थे। तेलगू का भी कुछ ज्ञान रखते थे। पर हिंदी और तेलगू की लिपियों का ज्ञान उन्हें जरा भी न था। मारीशस की भाषा भी, जिसका नाम क्रीओल है और जो अपभ्रष्ट फ्रेंच कही सकती है, उन्हें बहुत अच्छी तरह अवगत थी। इतनी भाषाओं का ज्ञान दक्षिणी अफ्रीका में कोई आश्चर्यजनक बात न थी।

दक्षिण अफ्रीका में आपको ऐसे सैकड़ों भारतीय मिलेंगे, जिन्हें इन सभी भाषाओं का मामूली ज्ञान है। और इन सबके अतिरिक्त हबशियों की भाषा का ज्ञान तो उन्हें अवश्य ही होता है। इन सभी भाषाओं का ज्ञान वह अनायास प्राप्त करते हैं कर भी सकते हैं। इसका कारण मैंने यह देखा कि विदेशी भाषा के द्वारा शिक्षा प्राप्त करते-करते उनके दिमाग थके हुए नहीं होते। उनकी स्मरण-शक्ति तीव्र होती है। उन भिन्न-भिन्न भाषा-भाषियों के साथ बोल-बोलकर और अवलोकन करके ही वह उन भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इससे उनके दिमाग को ज़रा भी कष्ट नहीं होता, बल्कि इस रोचक व्यायाम के कारण उनकी बुद्धि का स्वाभाविक विकास ही होता है। यही हाल थंबी नायडू का हुआ। उनकी बुद्धि भी बहुत तीव्र थी। नवीन प्रश्नों को वह बड़ी फुर्ती के साथ समझ लेते। उनकी हाजिरजवाबी आश्चर्यजनक थी। भारत कभी नहीं आये थे, पर फिर भी उनका उसपर अगाध प्रेम था। स्वदेशाभिमान उनकी नस-नस में भरा हुआ था। उनकी दृढ़ता चेहरे पर ही चित्रित थी। उनका शरीर बड़ा मजबूत और कसा हुआ था। मेहनत से कभी थकते ही न थे। कुर्सी पर बैठकर नेतापन करना हो तो उस पद की भी शोभा बढ़ा दें। पर साथ ही हरकारे का काम भी उतनी ही स्वाभाविक रीति से वह कर सकते थे। सिर पर बोझा उठाकर बाजार से निकलने में थंबी नायडू ज़रा भी न शरमाते थे। मेहनत के समय न रात देखते, न दिन। कौम के लिए अपने सर्वस्व की आहुति देने के लिए हर किसीके साथ प्रतिस्पर्धा कर सकते थे। अगर थंबी नायडू हद से ज्यादा साहसी न होते और उनमें क्रोध न होता तो आज वह वीर पुरुष ट्रांसवाल में काछलिया की अनुपस्थिति में आसानी से कौम का नेतृत्व ग्रहण कर सकता था। ट्रांसवाल के युद्ध के अन्त तक उनके क्रोध का कोई विपरीत परिणाम नहीं हुआ था, बल्कि तबतक उनके अमूल्य गुण जवाहिरों के समान चमक रहे थे। पर बाद में मैंने देखा कि उनका क्रोध और साहस प्रबल शत्रु साबित हुए और उन्होंने उनके गुणों को छिपा दिया। पर कुछ भी हो, दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह-युद्ध में थंबी नायडू का नाम हमेशा पहले ही वर्ग में रहेगा।

(द० अ० स०, १९२५)

: १०४ :

पी० के० नायडू

हम भारत में अपने दक्षिणी अफ्रीकी वीरों के बारे में कुछ नहीं जानते। वह अज्ञात वीर हैं। उनकी तुलना ग्रामीण वीरों से की जा सकती है जो अत्याचारी सामन्त के सामने सीना तानकर खड़े हो जाते हैं।

जोहान्सबर्ग से मुझे अभी-अभी तार मिला है कि श्री पी० के० नायडू का न्यूमोनिया से देहान्त हो गया। वह एक सच्चे हिन्दुस्तानी थे और हृदय के भी वह उतने ही मजबूत थे। उन्होंने अनेक मर्तबा कारावास के कष्ट सहन किये थे। उनकी पत्नी ने भी उनका साथ दिया। वह हर तरह का काम करने को तैयार रहते थे। एक घण्टे के नोटिस पर वह उस पार्टी का नेतृत्व अपने हाथ में लेने को तैयार हो गये जिसको जनरल स्मट्स ने भारत को निर्वासित करने का दण्ड दिया था। अपने देश की आजादी के लिए अधिक-से-अधिक त्याग करने में उन्होंने कभी आगा-पीछा नहीं सोचा। इस समय उनकी मृत्यु से हमारे दक्षिण अफ्रीका के देशबांधवों को भारी हानि पहुंची है। वह अकेले दक्षिण अफ्रीका की शक्तिशाली सरकार के सामने खम ठोककर खड़े हो सकते थे। कुछ ही दिनों पहले उनका एक पत्र मुझे मिला था, जिसमें उन्होंने आन्दोलन की अपनी योजना पर प्रकाश डाला था। शोक, कठोर प्रकृति को कुछ और ही मंजूर था! नायडू मर गये, किन्तु उनका काम सदा अमर रहेगा। श्री पी० के० नायडू अंग्रेजी के खासे अच्छे विद्वान थे। वह हिन्दी, तेलुगू, फ्रेंच और जुलु भाषाएं भी जानते थे। उन्होंने अपने-आप पढ़ा था। उनका शरीर भी मजबूत था। वह कुछ कम लड़ाकू नहीं थे, किन्तु उन्होंने अहिंसा के रहस्य को समझ लिया था। इसलिए बड़ी-से-बड़ी उत्तेजना के समय भी वह अपनेको काबू में रख सकते थे। वह जन्मजात परिश्रमी थे। किसी काम को करने से उन्होंने कभी इन्कार नहीं किया। वह कुशल नाई थे, और चूंकि उन्हें क्लर्क बनना पसन्द नहीं था, इसलिए उन्होंने नाई बनना पसन्द किया और बाल काटने की दुकान चलाई। जब टॉलस्टॉय फार्म पर चप्पल बनाने का काम शुरू किया, तो वह कुशल चप्पल-निर्माता बन गये। वह सच्चे सिपाही थे। वह आज्ञा-

पालन करना जानते थे। मैं श्रीमती नायडू और अपने दक्षिण अफ्रीकी भारतीयों के प्रति विनम्र शोकांजलि भेंट करता हूं।

(यं० इं० २५.६.२४)

... ...

देश-निकाले की सजा पाये हुए भाइयों के विषय में यही तय हुआ कि उनके लिए वह सब किया जाय जो सहानुभूति और हमदर्दी कर सकती है। उनको आश्वासन दिया गया कि उनकी सहायता के लिए भारत में यथा-शक्ति व्यवस्था की जायगी। पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि इनमें से अधिकांश तो गिरमिट-मुक्त ही थे। भारत में कोई रिश्तेदार वगैरा उन्हें नहीं मिल सकते थे। कितनों का तो जन्म ही अफ्रीका का था। सबको भारतवर्ष विदेश के समान मालूम होता था। इस तरह के निराधार मनुष्यों को भारत के किनारे पर उतारकर उन्हें यहां-वहां भटकने के लिए छोड़ देना तो जघन्य दुष्टता होती। इसलिए उनको यह विश्वास दिलाया गया कि भारत में उनके लिए पूरी व्यवस्था कर दी जायगी।

यह सब कर देने पर भी उन्हें तबतक शांति कैसे मिल सकती थी, जबतक कि कोई खास मददगार उनके साथ न कर दिया जाय? देश-निकाले की सजा पानेवालों का यह पहला ही दल था। स्टीमर छूटने को कुछ ही घंटों की देरी थी। पसन्दगी करने के लिए समय नहीं था। साथियों में से भाई पी० के० नायडू पर मेरी नज़र गई। मैंने पूछा—

"इन गरीब भाइयों को भारत छोड़ने के लिए आप जा सकते हैं?"

"बड़ी प्रसन्नता के साथ।"

"पर स्टीमर तो अभी खुलने ही को है।"

"तो मुझे कौन देरी है?"

"पर आपके कपड़े वगैरह और खर्चा?"

"कपड़े तो शरीर पर हैं ही। रही खर्चे की बात, सो तो स्टीमर में ही मिल जायगा।"

मेरे हर्ष और आश्चर्य की सीमा न रही। पारसी रुस्तमजी के मकान पर यह बातचीत हुई थी। वहीं से उनके लिए कुछ कपड़े, कंबल वगैरा मांग-मूंगकर उन्हें रवाना कर दिया।

"देखिये भाई, राह में इन भाइयों को अच्छी तरह संभालकर ले जाइये। इनको सुलाकर फिर आप सोइये और खिलाकर खाइये। मदरास के मि० नटेसन के नाम मैं तार भेज देता हूं। वह जैसा कहें वही कीजिये।"

"एक सच्चा सिपाही बनने की मैं कोशिश करूंगा।" यह कहकर वह निकल पड़े। मुझे निश्चय हो गया कि जहां ऐसे-ऐसे वीर पुरुष हैं वहां कभी हार हो ही नहीं सकती। भाई नायडू का जन्म दक्षिण अफ्रीका में ही हुआ था। उन्होंने कभी भारतवर्ष का दर्शन तक नहीं किया था।

(द० अ० स०, १९२५)

: १०५ :

सरोजिनी नायडू

सरोजिनीदेवी आगामी वर्ष के लिए महासभा की सभानेत्री निर्वाचित हो गईं। यह सम्मान उनको पिछले वर्ष ही दिया जानेवाला था। बड़ी योग्यता द्वारा उन्होंने यह सम्मान प्राप्त किया है। उनकी असीम शक्ति के लिए और पूर्व और दक्षिण अफ्रीका में राष्ट्रीय प्रतिनिधि के रूप में की गई महान सेवाओं के लिए वह इस सम्मान की पात्र हैं और आजकल के दिनों में जब कि स्त्री-जाति के अन्दर भारी जागृति हो रही है, स्वागत-कारिणी-समिति का भारतवर्ष की एक सर्वोत्तम प्रतिभाशालिनी पुत्री को सभापति चुनना भारतवर्ष की स्त्री-जाति का समुचित सम्मान करना है। उनके सभापति चुने जाने से हमारे प्रवासी देश भाइयों को पूर्ण सन्तोष होगा और इससे उनके अन्दर वह साहस पैदा होगा, जिससे वह अपने सामने उपस्थित लड़ाई को लड़ सकेंगे। राष्ट्र द्वारा दिये जानेवाले सबसे ऊंचे पद पर उनका होना स्वतन्त्रता को हमारे अधिक समीप लाये (हि० न०, ८.१०.२५)

... ...

अमरीका के लिए श्री सरोजिनीदेवी ने गत १२ ता० को हिन्दुस्तान का किनारा छोड़ा। यूरोप, अमरीका, इत्यादि मुल्कों में अपनी स्थायी सभाएं स्थापित करके या समय-समय पर अपने प्रतिनिधि भेजकर हमारे बारे में जो झूठी मान्यताएं प्रचलित हो गई हैं, उन्हें दूर करने की आशा

अनेक आदमी रखते हैं। मुझे यह आशा हमेशा ही गलत जान पड़ी है। ऐसा करने से हम सार्वजनिक धन का और जिनका और अच्छा उपयोग हो सकता है उन लोगों के समय का दुरुपयोग करेंगे। किन्तु पश्चिम में अगर किसीका जाना फल सकता है तो सरोजिनीदेवी का या कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जाना अवश्य फल सकता है। सरोजिनीदेवी का नाम उनके काव्यों से पश्चिम में प्रसिद्ध है। उनमें चतुराई भी वैसी ही है। उन्हें यह भली-भांति मालूम है कि कहां, क्या और कितना कहना चाहिए। किसीको दुःख पहुंचाये बिना खरी-खरी सुना देने की कला उन्होंने साधी है। जहां कहीं वह जाती हैं, उनकी बात सुने बिना लोगों का काम चलता ही नहीं है। दक्षिण अफ्रीका में अपनी शक्ति का सम्पूर्ण उपयोग करके उन्होंने वहां के अंग्रेजों का मनहरण किया था और सुन्दर विजय प्राप्त करके सर हबीबुल्ला-प्रतिनिधि-मंडल का रास्ता साफ किया था। वहां का काम कठिन था। किन्तु वहांपर उन्होंने अपनी मर्यादा निश्चित करके कानून के जाल-पेंचों में न पड़ते हुए, मुख्य बात में लगे रहकर अपना काम भली-भांति किया था और हिन्दुस्तान का नाम चमकाया था। ऐसा ही काम वह अमरीका आदि देशों में भी करेंगी। अमरीका में उनकी हाजिरी ही मिस मेयो के असत्य का जवाब हो जायगी। उनका साहस भी उनकी दूसरी शक्तियों के ही समान है। परदेश जाने में न तो उन्हें किसीकी सहायता की आवश्यकता रहती है और न किसी मन्त्री की ही। जहां कहीं जाना हो वह अकेले निर्भयता से विचर सकती हैं। उनकी ऐसी निर्भयता स्त्रियों के लिए तो अनुकरणीय है ही, पुरुषों को लजानेवाली है। हम अवश्य यह आशा रख सकते हैं कि उनकी पश्चिम की यात्रा में से अच्छा फल निकलेगा।

(हि० न०, २०.९.२८)

... ...

अमरीका से कई-एक मित्रों के पत्र बराबर मेरे पास आते रहते हैं, जिनमें सरोजिनीदेवी के काम की प्रशंसा रहती है। मित्र लिखते हैं कि सरोजिनीदेवी अमरीका में बड़े महत्व का काम कर रही हैं और अपनी सारी ईश्वरदत्त प्रतिभा का इस देश के लिए पूरा-पूरा उपयोग कर रही हैं। इसमें शंका नहीं कि उन्होंने अमरीकावासियों का मन-मोह लिया है। कनाडा

की एक बहन ने एक लंबे पत्र में अपने कुछ अनुभव लिखकर भेजे हैं, उसमें थोड़ी-सी बातें नीचे देता हूं :

"सरोजिनीदेवी थोड़े समय के लिए मेरी मेहमान बनी थीं। आपके उन मित्र और दूत से मिलकर मैंने अपने-आपको बड़भागी पाया है। मैं खुद एक स्त्री हूं, वह भी स्त्री ही हैं। साथ ही वह तो कवि और सुधारक हैं, इसीलिए उन्होंने मेरा हृदय और भी चुरा लिया है। उनकी आत्मा का मुझ-पर बहुत ज्यादा असर हुआ है और इतने दिन के बाद भी उनके मिलाप की बात हमारे हृदय में जैसी-की-तैसी बनी हुई है। जिस गिरजाघर में सरोजिनीदेवी ने व्याख्यान दिया था वह तो श्रोताओं से खचाखच भर गया था। उनके ज्ञान की, उनके अनुभवों की, उनकी काव्य-शक्ति की, उनके मधुर कोकिल कंठ की, उनके विनोद की और अंग्रेजी भाषा पर उनके प्रभुत्व की मैं आपसे क्या बात कहूं ? जैसे-जैसे उनकी वाणी का प्रवाह बढ़ता गया, वैसे-वैसे लोग मारे आश्चर्य के चकित होते गये और आखिरकार उनके गुणों पर पूरे-पूरे मुग्ध हो गये। उन्होंने हमारे सामने जितनी भी समस्याएं रखीं, हममें से कोई भी उनका उत्तर न दे सका। मेरे पास एक व्यवहार-कुशल व्यापारी बैठे हुए थे, उन्होंने समाधिवत् होकर उनका सारा व्याख्यान सुना। जो प्रश्न पूछे गये सरोजिनीदेवी ने उनके ठीक-ठीक उत्तर दिये और बीच-बीच में जिस ढंग से उन्होंने विनोद का सहारा लिया उसे देखकर तो पूर्वोक्त व्यापारी महाशय से बोले बिना न रहा गया। उन्होंने कहा, "ऐसी शक्ति तो मैंने किसी भी दूसरी स्त्री में नहीं देखी। अगर सच कहूं, मेरी राय में कोई भी पुरुष इनके मुकाबले में खड़ा नहीं रह सकता।" वर्तमान भारत के विषय में उन्होंने जो कुछ कहा, वह बहुत ज्यादा असर करनेवाला था। उन्होंने हमारी न्याय-प्रियता को जागृत किया, हमारे हृदयों को पानी-पानी कर दिया और हमें उसी समय यह अनुभव होने लगा कि आपके वहां भी उसी तरह का राज्य-तंत्र होना चाहिए जैसा हमारे यहां है। सरोजिनीदेवी की रचना में मालूम होता है, ईश्वर ने कई रंग पूरे हैं। उन्हें भोजन के समय मिलिये या सम्मेलनों में मिलिये, वार्तालाप के लिए मिलिये अथवा और किसी काम के लिए, हर हालत में उनकी प्रतिभा बिखरी पड़ती थी। उनके उत्साह का तो पार ही नहीं है। कई निमंत्रणों को

स्वीकार कर चुकी हैं, एक ही दिन में कई जगह जाती हैं, लेकिन मालूम नहीं होता कि थकी हुई हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानो उनके पास शक्ति का कोई अटूट भंडार है ! लोकप्रियता से वह फूल नहीं उठतीं। यहां की सब अच्छी चीजें उन्हें पसंद हैं। वह बच्चों को प्यार करती हैं, सुंदर फूल उनका मन चुरा लेते हैं, हमारे वृक्ष, हमारे सरोवर और हमारी नदियां उन्हें आनंद प्रदान करती हैं, फिर भी वह भविष्य को नहीं भूलतीं। यानी, स्त्री-जाति में जो कमजोरियां रहती हैं और प्रशंसा के कारण जिस तरह बहुधा स्त्रियां अपना आपा भूल जाती हैं, उस तरह का भय मुझे सरोजिनी-देवी के बारे में नहीं है।"

मैं नहीं समझता कि इन बहन ने जिन शब्दों में सरोजिनीदेवी की शक्ति का वर्णन किया है उनमें कोई बात बढ़ाकर लिखी गई है। सरोजिनी-देवी में वस्तुस्थिति को पलभर में समझ लेने की अपूर्व शक्ति है। वह अपनी मर्यादा को समझती हैं। अर्थशास्त्रियों और राजनैतिक नेताओं की बारीकी में वह कभी नहीं उतरतीं। इस तरह के ज्ञान का न तो वह कभी दावा करती हैं और न आडंबर ही। साधारण आदमी के पास जितना ज्ञान होता है, उतने ही ज्ञान की पूंजी से वह अपना काम इतनी चतुराई से कर लेती हैं कि सामनेवाला आदमी उन्हें कभी उलझन में डाल ही नहीं सकता। उलटे जो कुछ उनसे ग्रहण करता है उसीमें इतना संतोष अनुभव करता है, मानो उसे सबकुछ मिल गया हो। (हि० न०, २१.२.२९)

... ...

भारत-कोकिला पश्चिम में कई जय-विजय मिलाकर स्वदेश लौट आई हैं। समय ही बतावेगा कि उनके द्वारा उत्पन्न प्रभाव कितना स्थायी हुआ है। खानगी जरियों से जो संवाद मिलते रहे हैं, उन्हें कसौटी माना जाय तो कहना चाहिए कि सरोजिनीदेवी ने अमरीकी प्रजा के मन पर अपने काम की गहरी छाप डाली है। इस विजय-यात्रा को समाप्त कर अब वह ऐसे समय स्वदेश वापस आई हैं जबकि देश के सामने अनेक और उलझन-भरी समस्याएं दरपेश हैं। इन समस्याओं को हल करने में वह हाथ बंटा-वेंगी ही। जिस मोहिनी मंत्र की छाप वह इतनी सफलतापूर्वक अमरीका वालों पर डाल सकी हैं, ईश्वर करे उनका वह जादू हमपर भी असर कर

जाय। (हि० न०, २५.७.२६)

... ...

सरोजिनी नायडू को वह चीज लागू नहीं होती। वह कोई आश्रम-बासी तो है नहीं; बहुत चीजों में मेरा विरोध भी कर लेती है। मैं तो गुणों को ही देखता हूं। मैं खुद कहां दोषरहित हूं कि किसीके दोष देखूं! वह तो अपना स्वतंत्र स्थान रखती हैं। उसने अपना मार्ग निकाल लिया है। (का० क०, २४.६.४२)

... ...

"मैंने रात भी कहा था कि यह सब जो तुम लोगों ने किया है,[1] करने जैसा नहीं था। सरोजिनी नायडू काम तो बहुत बढ़िया कर लेती हैं, मगर सच्ची संस्कृति की कीमत देकर। जो चीज मैं कहता हूं उसमें सच्ची संस्कृति है..." (का० क०, ३.१०.४२)

: १०६ :

माधवन नायर

"सबसे अधिक आकर्षित करनेवाली बात मुझे उनकी विनयशीलता लगी। वह बड़े ही मितभाषी थे। मैं ऐसे बहुत ही कम सज्जनों को जानता हूं, जो जहां एक शब्द की जरूरत हो वहां दो शब्द कभी न बोलेंगे। श्री माधवन नायर ऐसे ही एक मितभाषी सज्जन थे। वह अपने व्यवहार में बड़े ही ईमानदार और सहृदय व्यक्ति थे। मैं चाहता हूं कि स्वर्गीय माधवन नायर की सादगी, मितभाषिता आदि सुंदर गुणों को अपने जीवन में उतारने का आप लोग प्रयत्न करें। हरिजन-कार्य पर तो वह अपने प्राण न्यौछावर करने को तैयार रहते थे। बड़ी ही सुलझे हुए हरिजन सेवक थे। हरिजन-सेवा को वह केवल प्रायश्चित्त की भावना से करते थे। उन्होंने जो भी काम किया, वह ऊंची मनोवृत्ति से ही किया। उनके किसी काम में कभी हलकापन दिखाई नहीं दिया। (ह० से०, २.२.३४)

---

[1] अपने जन्मोत्सव की ओर संकेत है।

: १०७ :

जयप्रकाश नारायण

श्री जयप्रकाश नारायण और श्री संपूर्णानंदजी ने साफ शब्दों में कह दिया है कि हम २६ जनवरी को ली जानेवाली प्रतिज्ञा में जो भाग जोड़ा गया है उसके खिलाफ हैं। मुझे उनका बड़ा लिहाज है। वह योग्य हैं, वीर हैं और उन्होंने देश की खातिर कष्ट उठाये हैं। लड़ाई में वह मेरे साथी बन सकें तो इसे मैं अपना सौभाग्य समझूं। मैं उन्हें अपने विचार का बना सकूं तो मुझे कितनी खुशी हो। लड़ाई आनी ही है और मुझे उसका नायक बनना है तो यह काम मैं ऐसे सहायकों के भरोसे नहीं कर सकता जिनका कि कार्य-क्रम पर अधूरा विश्वास हो या जिनके दिल में उसके बारे में शंकाएं हों।

श्री जयप्रकाश नारायण ने अपनी और समाजवादी दल की स्थिति साफ करके अच्छा किया। रचनात्मक कार्य-क्रम के बारे में वह कहते हैं— **हमने इसे अपनी लड़ाई के एकमात्र या पूरी तरह कारगर हथियार के रूप में कभी स्वीकार नहीं किया है।...इन मामलों में हमारे विचार ज्यों-के-त्यों बने हुए हैं। मौजूदा संकट काल में हमारे राष्ट्रीय नेताओं की लाचारी देखकर वे विचार कुछ मजबूत ही हुए हैं। ...उस दिन विद्यार्थियों को स्कूल कालेजों से निकल आना चाहिए और मजदूरों को काम बंद कर देना चाहिए।**

अगर अधिकांश कांग्रेसियों का यही विचार है जो श्री जयप्रकाश ने समाजवादी दल की तरफ से प्रकट किया है तो मैं इस तरह की सेना को साथ लेकर सफलता पाने की कभी आशा नहीं रख सकता। उनकी न कार्य-क्रम में श्रद्धा है, न वर्तमान नेताओं में। मेरे खयाल से जिस कार्यक्रम पर वह सिर्फ राष्ट्र के नेताओं की इच्छा के कारण ही चलने की बात कहते हैं उसकी उन्होंने बिल्कुल अनजान में ही सही निन्दा कर दी। ज़रा ऐसी फौज की कल्पना तो कीजिये जो लड़ाई के लिए कूच करनेवाली है, लेकिन न तो जिन हथियारों से काम लेना है उनमें उनका विश्वास है और न जिन नेताओं ने यह हथियार बताये हैं उनपर श्रद्धा है! ऐसी सेना तो अपना, अपने नायकों का और काम का सत्यानाश ही कर सकती है। मैं श्री जयप्रकाश

की जगह होऊं और मुझे लगे कि मैं अनुशासन का पालन कर सकता हूं तो मैं अपने दल को चुपचाप घर में बैठे रहने की सलाह दूं। अगर ऐसा न कर सकूं तो निकम्मे नेताओं की बुरी योजनाओं को मटियामेट करने के लिए खुली बगावत का झंडा फहरा दूं।

श्री जयप्रकाश चाहते हैं कि विद्यार्थी स्कूल-कालिजों से निकल आयें और मजदूर काम छोड़ बैठें। यह तो अनुशासन भंग करने का पाठ पढ़ाना हुआ। मेरी चले तो मैं हर विद्यार्थी से कहूं कि छुट्टी न मिले या प्रिंसीपल छब्बीस जनवरी को उत्सव में भाग लेने के लिए स्कूल या कालिज बन्द करने का फैसला न करें तो उन्हें स्कूल या कालेज में ही रहना चाहिए। इसी तरह की सलाह मैं मजदूरों को दूंगा। श्री जयप्रकाश की शिकायत है कि स्वाधीनता के दिन जो काम करना है उसके बारे में कार्यसमिति ने कोई तफसील नहीं बताई। मैंने समझा था कि जब भाईचारे का और खादी का कार्यक्रम है तो फिर तफसीलवार हिदायतें देने की क्या जरूरत है? मुझे आशा है कि हर जगह कांग्रेस-कमेटियां कताई-प्रदर्शन, खादी-फेरी और ऐसे ही दूसरे आयोजन करेंगी। मैं देखता हूं कि कुछ कमेटियां तो ऐसा कर भी रही हैं। मैंने कांग्रेस-कमेटियों से आशा तो यह रखी थी कि जिस दिन कार्यसमिति का प्रस्ताव प्रकाशित हो जाय उसी दिन से तैयारियां शुरू हो जायंगी। मैं राष्ट्र की तैयारी सिर्फ इसी बात से नहीं जानूंगा कि देश भर में कितना सूत काता गया, बल्कि मुख्यतः इस बात से जानूंगा कि खादी कितनी बिकी।

अन्त में श्री जयप्रकाश का कहना है कि हमने अपनी तरफ से तो एक नया कार्य-क्रम मजदूर और किसान संगठन का बनाया है, ताकि उसके पाये पर क्रांतिकारी सार्वजनिक आन्दोलन चलाया जाय।

इस तरह की भाषा से मुझे डर लगता है। मैंने भी संगठन तो किसान और मजदूर दोनों का किया है, मगर शायद उस तरह पर नहीं किया जैसा श्री जयप्रकाश के जी में है। उनके वाक्य को और खोलकर समझाने की जरूरत है। अगर उनका संगठन पूरी तरह शांतिपूर्ण न हो तो उससे अहिंसक कार्रवाई को उसी तरह नुकसान पहुंच सकता है जिस तरह कि रौलट कानूनवाले सत्याग्रह को पहुंचा था और बाद में ब्रिटिश युवराज के आने

पर बम्बई की हड़ताल के समय पहुंचा था। (ह० से०, २०.१.४०)

... ...

श्री जयप्रकाशनारायण की गिरफ्तारी एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना है। वह कोई साधारण कार्यकर्त्ता नहीं हैं। समाजवाद के वह महान् विशेषज्ञ हैं। कहा जा सकता है कि पाश्चात्य समाजवाद की जो बात उन्हें मालूम है उसे हिन्दुस्तान में और कोई भी नहीं जानता। वह कुशल योद्धा भी हैं। देश की स्वाधीनता के लिए उन्होंने सर्वस्व त्याग किया है। वह अविरत उद्योगशील हैं। उनकी कष्ट-सहिष्णुता अतुलनीय है। मैं नहीं जानता कि उनका कौन-सा भाषण कानून के पंजे में आ गया है। लेकिन अगर दफा १२४ 'ए' या भारत-रक्षा कानून की अति कृत्रिम धाराएं असुविधाजनक व्यक्तियों को गिरफ्तार करने के काम में लाई जाती हैं तो कोई भी व्यक्ति, जिसे अधिकारी चाहें, कानून की बंदिश में आ सकता है। मैं इससे पहले ही कह चुका हूं कि सरकार चाहे तो संघर्ष अविलम्ब आरम्भ कर सकती है। ऐसा करने का उसे पूरा हक है। लेकिन मैं दृढ़ता से यह आशा बांधे हूं कि युद्ध को उसी समय तक अपने उचित मार्ग पर चलने दिया जायगा जबतक कि वह सर्वथा अहिंसात्मक रहेगा। चाहे जो हो, भ्रमजाल नहीं चलने देना चाहिए। अगर श्री जयप्रकाश नारायण पर हिंसा का अभियोग है तो उसे प्रमाणित किया जाना चाहिए। सच तो यह है कि इस गिरफ्तारी से लोगों को ऐसा लगने लगा है कि ब्रिटिश सरकार दमन करना चाहती है। ऐसी स्थिति से इतिहास की पुनरावृत्ति होगी। पहले सविनय-भंग आन्दोलन के समय सरकार ने अली-बन्धुओं को गिरफ्तार कर दमन का श्रीगणेश किया था। पता नहीं कि यह गिरफ्तारी पूर्व-निश्चित कार्यक्रम के अनुसार की गई है या किसी बहुत जोशीले अधिकारी की भूल है। अगर यह किसी अधिकारी की भूल ही है तो इसका सुधार हो जाना चाहिए। (ह० से०, २३.३.४०)

... ...

श्री जयप्रकाश नारायण ने अदालत में जो बयान दिया उसकी नकल उन्होंने मेरे पास भेजी थी। यह उनके योग्य है, वीरोचित है, छोटा-सा और मुद्दे सर है। जैसा कि उन्होंने खुद कहा है, यह दुर्भाग्य की बलिहारी है कि उन्हें देश-प्रेम के लिए सजा दी जा रही है। जो बात लाखों सोचते और हजारों बातचीत में कहते हैं वही श्री जयप्रकाश ने सार्वजनिक रूप में और

जो लोग लड़ाई का सामान तैयार करते है, उन्हींके सामने कह दी। यह सही है कि उनकी बात का असर हो और वह बार-बार कही जाय तो सरकार तंग होगी। मगर इस तरह तंग होकर उसे किसी देश-भक्त को, उसके खुलकर विचार करने का दंड देने के बजाय, यह सोचना चाहिए कि हिन्दुस्तान के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए।

बयान के आखिरी हिस्से से बयान देनेवाले की गहरी मानवीयता का प्रमाण मिलता है। उनके दिल में कोई मैल नहीं। वह साम्राज्यवाद और नात्सीवाद का नाश करना चाहते हैं। उनका अंग्रेजों या जर्मनों से कोई झगड़ा नहीं। उन्होंने सच कहा है कि इंग्लैंड साम्राज्यवाद छोड़ दे तो न सिर्फ भारत, बल्कि तमाम दुनिया के स्वतन्त्रता-प्रेमी मनुष्य नात्सीवाद की हार और स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र की विजय के लिए पूरी कोशिश करेंगे।

(ह० से०, ३०.३.४०)

... ...

श्री जयप्रकाशनारायण और डॉक्टर राममनोहर लोहिया के नाम तो आपने सुने ही हैं। दोनों विद्वान् हैं। उन्होंने अपनी विद्वत्ता का प्रयोग पैसा कमाने के लिए नहीं किया। देश की गुलामी को देखकर वे अधीर हो उठे। उन्होंने अपना सबकुछ देश के अर्पण कर दिया और उसकी गुलामी की जंजीरों को तोड़ने में लग गये। सरकार को उनसे डर लगा और उसने उन्हें जेल में डाल दिया। अगर मैं राज्य चलानेवाला होऊं तो शायद मैं भी ऐसे लोगों से डरूं और उन्हें जेल में रखूं।

सरकार ने यह समझकर कि अब हमें आजादी से वंचित नहीं रखना है, श्री जयप्रकाशनारायण और श्री राममनोहर लोहिया को छोड़ दिया है। सरकार समझ गई है कि उन्होंने उसका पाप भले ही किया हो, सत्याग्रही गांधी का भी पाप किया हो, लेकिन चालीस करोड़ जनता का उन्होंने कोई पाप नहीं किया। जेल से भागना आदि मेरी समझ में पाप है। लेकिन मैं जानता हूं कि उनके मन में भी आजादी की उतनी ही लगन है, जितनी मेरे में। इसलिए वह मेरी नजर में गिरते नहीं हैं। मैं उनकी बहादुरी की कदर करता हूं।

सरकार का उन दोनों को और आजाद हिन्द फौजवालों को छोड़ देना

मेरी समझ में शुभ शकुन है। उसके लिए हम सरकार को धन्यवाद दें और ईश्वर का उपकार मानें कि उसने उसे सन्मति दी। (ह० से०, २१.४.४६)

: १०८ :

निवारणबाबू

पुरुलिया के निवारणबाबू, जिनका अभी हाल में स्वर्गवास हो गया है, बड़े ही विनम्र स्वभाव के पुरुष थे। जिस तरह हरिजनों के सच्चे सेवक थे, उसी तरह वह समस्त दीन-हीनों के सच्चे बन्धु थे। अहिंसा की अनुपम सुन्दरता का उन्होंने खूब गहरे जाकर साक्षात्कार किया था और उसे अपने जीवन में उतारने का वह अहर्निश प्रयत्न करते रहते थे। उनका जीवन उनके अनेक मित्रों और अनुयायियों के लिए प्रेरणाप्रद था और वह भारी से भी भारी संकट के समय निवारणबाबू से पथ-प्रदर्शन तथा आश्वासन की आशा रखते थे। उनके मित्रों और अनुयायियों को उनके जीवन की स्मृति सदा शक्तिप्रद रहे और उन्हें सन्मार्ग पर उत्तरोत्तर प्रगति करने की स्फूर्ति दे। (ह० से०, ६.८.३५)

: १०९ :

भगिनी निवेदिता

मैं भूल ही नहीं सकता कि इसने पहली ही मुलाकात में अंग्रेजों के लिए अत्यन्त तिरस्कार और द्वेष के वचन कहे थे। मुझपर कुछ दिखावट की छाप पड़ी थी, मगर दूसरे कई लोग कहते हैं कि वह गरीब-से-गरीब भंगियों के मुहल्ले में रहती थी। इसलिए यह सबूत मेरे लिए काफी है। दूसरी बार पादशाह के यहां मिली थी। वहां पादशाह की बूढ़ी मां ने एक कटाक्ष किया था वह याद रह गया है—इस बहन से कहिये कि इसने अपना धर्म तो छोड़ दिया है। अब मुझे क्या मेरा धर्म समझाती है? (म० डा०, १.८.३२)

: ११० :

रमणभाई नीलकण्ठ

श्री रमणभाई नीलकण्ठ की मृत्यु से गुजरात के सार्वजनिक जीवन से ऐसा व्यक्ति उठ गया जो शुद्ध-चरित्र का धनी, लगनशील और ईमानदार सुधारक, और सतत सार्वजनिक कार्यकर्ता था। वह ऐसे विद्वान थे जिन्होंने गुजराती साहित्य में स्थायी योग दिया है। असंख्य गुजरातियों के साथ में संतप्त परिवार के प्रति अपनी सादर शोकांजलि अर्पित करता हूं।

(यं० इं०, ८.३.२८)

: १११ :

कमला नेहरू

गत १९ तारीख को इलाहाबाद में मुझे कमला नेहरू स्मारक अस्पताल की आधार-शिला रखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह अस्पताल एक सच्ची देश-सेविका और महान् आध्यात्मिक सौन्दर्य रखनेवाली महिला का न केवल उपयुक्त स्मारक होगा, बल्कि उन्हें दिये हुए मेरे इस वचन की पूर्ति भी उससे हो जायगी कि उनकी मृत्यु के बाद भी मैं यह देखते रहने का प्रयत्न करता रहूंगा कि जिस काम की उन्होंने अपने ऊपर जिम्मेदारी ले रखी थी वह ठीक तरह से चल रहा है या नहीं। वह अपने स्वास्थ्य की शोध में यूरोप जा रही थीं। उनकी वह यूरोप-यात्रा मृत्यु-शोध की यात्रा साबित हुई। जाते वक्त उन्होंने मुझे लिखा था कि मैं या तो उनके साथ-साथ बम्बई तक चलूं या उन्हें देखने सीधे बम्बई पहुंच जाऊं। मैं बम्बई गया। उन्हें जो थोड़ा-सा वक्त मैं दे सका, उस बीच में उन्होंने मुझसे कहा—"अगर मेरा शरीर यूरोप में छूट जाय तो जवाहरलालजी ने स्वराज्य-भवन में जो अस्पताल खोल रखा है और जिसे कायम रखने के लिए मैंने इतना परिश्रम किया है उसे देखते रहने का आप प्रयत्न करते रहेंगे न कि उसकी नींव स्थायी हो गई है?" मैंने उन्हें वचन दे दिया कि मुझसे जो कुछ हो सकेगा वह जरूर करूंगा। इस स्मारक-कोष के लिए जो अपील

निकाली गई थी उसमें मेरे शामिल होने का आधार अंशतः मेरा यह वचन भी था। (ह० से०, २५.११.३९)

: ११२ :

जवाहरलाल नेहरू

महासभा के सभापति की जिम्मेदारी हर साल अधिकाधिक बढ़ती जाती है। इस वक्त हमारे सामने वह गम्भीर प्रश्न उपस्थित है कि अगले साल के लिए राष्ट्रपति का ताज कौन पहने ? क्योंकि अब की बार तो मेरी सम्मति में पंडित जवाहरलाल नेहरू को यह ताज पहनना चाहिए। अगर मैं निर्णय के समय अपना प्रभाव डाल सका हाता तो वह चालू वर्ष के भी राष्ट्रपति होते, मगर बंगाल की जोरदार मांग ने 'पुराने साथी' को ही सिंहासन पर बैठाने को विवश किया।

बूढ़े नेता अब अपना कार्यकाल समाप्त कर चुके हैं। भावी संग्राम में जूझने का काम नवयुवकों और नवयुवतियों का है। और यह उचित ही है कि उनके नेतृत्व के लिए उन्हींमें से कोई खड़ा किया जाय। बूढ़ों को चाहिए कि समय की गति को परखें, नहीं तो जो चीज वह अपनी सहज उदारता से न देंगे वह उनसे जबर्दस्ती छीन ली जायगी। जब जिम्मेदारी का बोझ सर पर आ पड़ेगा, नौजवान अपने-आप सौम्य और गम्भीर बनेंगे और उस उत्तरदायित्व को उठाने के लिए तैयार रहेंगे, जो उन्हींको सम्हालना है। पंडित जवाहरलाल हर तरह सुयोग्य हैं। उन्होंने वर्षों तक अनन्य योग्यता और निष्ठा के साथ महासभा के मंत्री का काम किया है। अपनी बहादुरी, दृढ़ संकल्प, निष्ठा, सरलता, सचाई और धैर्य के कारण उन्होंने देश के नौजवानों का मन मुट्ठी में कर लिया है। वह किसानों और मजदूरों के भी संपर्क में आये हैं। यूरोपीय राजनीति का जो सूक्ष्म परिचय उन्हें है, उससे उन्हें स्वदेश की राजनीति को समझने और निर्माण करने में बड़ी सहायता मिलेगी।

लेकिन कुछ वयोवृद्ध नेता कहते हैं कि जबकि हमें संभवतः महासभा के बाहर के अनेक दलों के साथ गम्भीर और नाजुक चर्चा छेड़नी पड़ेगी,

जब सम्भवतः ब्रिटिश कूटनीति से मोर्चा लेने का भी समय आवेगा और जब कि हिन्दू-मुस्लिम समस्या अभी हमारे सामने उलझी ही पड़ी है, ऐसे समय में नेतृत्व के लिए आप-जैसे किसी व्यक्ति के हाथ में देश की बागडोर का होना आवश्यक है। इस दलील में तथ्य की जितनी बात है, उसका पर्याप्त उत्तर इस कथन में आ जाता है कि क्षेत्र-विशेष के लिए मुझमें जो भी खूबियां हैं, उनका प्रयोग मैं उस हालत में और भी अच्छी तरह कर सकूंगा जब कि मैं हर तरह के पद-भार से मुक्त और पृथक रहूंगा। जबतक जनता का मुझपर विश्वास और प्रेम बना हुआ है, इस बात का ज़रा भी डर नहीं है कि पदाधिकारी न होने की वजह से मैं, अपनी शक्तियों का, जो मुझमें हो सकती हैं, सम्पूर्ण उपयोग न कर सकूंगा। ईश्वर-कृपा के बिना किसी पद को स्वीकार किये ही मैं १९२० से देश के जीवन को प्रभावित करने में समर्थ हो सका हूं। मैं नहीं समझता कि बेलगांव महासभा का सभापति बनने से मेरी सेवा-क्षमता थोड़ी बढ़ी हो।

और जिन्हें यह पता है कि जवाहरलाल का और मेरा क्या सम्बन्ध है, वह यह भी जानते हैं कि वह सभापति हुए तो क्या और मैं हुआ तो क्या। विचार या बुद्धि के लिहाज से हममें मतभेद भले ही हो, हमारे दिल तो एक हैं। दूसरे, यौवन-सुलभ उग्रता के रहते हुए भी, अपने कड़े अनुशासन और एकनिष्ठादि गुणों के कारण वह एक ऐसे अद्वितीय सखा हैं, जिनमें पूरा-पूरा विश्वास किया जा सकता है।

इतने में एक दूसरे आलोचक कानों के पास आकर कहते हैं—क्या जवाहरलाल का नाम अंग्रेज-बुल के लिए लाल चीथड़े का काम नहीं करेगा? मैं कहता हूं कि जब हम इन कल्पित आलोचक की तरह तर्क करते हैं तब न तो राजनीतिज्ञों की व्यवहार-पटुता और कूट चातुर्य की कद्र करते हैं और न स्वयं अपनी शक्ति में ही विश्वास रखते हैं। राष्ट्र-पति चुनते समय इस बात का खयाल रखना कि अंग्रेज राजनीतिज्ञ हमारे चुनाव पर क्या कहेंगे, अपने में आत्मविश्वास की कमी प्रकट करना है। आलोचक अंग्रेज-स्वभाव के जितने पारखी हो सकते हैं, उनसे अधिक उसका पारखी मैं हूं। एक अंग्रेज की दृष्टि में सच्चाई, वीरता, धैर्य और स्पष्टवादिता बहुमूल्य गुण हैं और जवाहरलाल में ये सब प्रचुर परिमाण में

पाये जाते हैं। अतएव अगर चुनाव के समय ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का भी विचार कर लिया जाय तो भी पंडित जवाहरलाल उनके अन्दाज से किसी कदर कम नहीं उतरते।

और आखिर यह तो है कि महासभा का सभापति कोई एकाधिकारी या निरंकुश नहीं होता। उसका दर्जा एक प्रतिनिधि का है, जिसे एक प्रख्यात परम्परा और सुसंघटित संगठन के भीतर रहकर काम करना होता है। ब्रिटेन के राजा को जनता पर अपने विचार लादने का जितना हक है उससे ज्यादा हमारे राष्ट्रपति को हो नहीं सकता। महासभा एक पैंतालीस वर्ष पुरानी संस्था है और उसका महत्व एवं प्रतिष्ठा उसके अत्यन्त सुप्रसिद्ध सभापतियों से भी बढ़कर है। दूसरे जब समय आवेगा, ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को किसी एक व्यक्ति से नहीं, बल्कि सारी महासभा से मोर्चा लेना पड़ेगा। अतएव सब तरह विचार करने के बाद उन लोगों को, जिनपर इस विषय का उत्तरदायित्व है, यही सलाह देता हूं कि वह मेरा विचार छोड़ दें और पूरी-पूरी आशा और विश्वास के साथ पंडित जवाहरलाल को ही उच्च पद के लिए वरण करें। (हि० न० १.८.२६)

... ...

पिछली ता० २६ सितम्बर के दिन पंडित जवाहरलाल नेहरू को अगले साल के लिए महासभा का कर्णधार चुनकर अखिल भारत महासभा-समिति ने बड़ी बुद्धिमानी से काम लिया है। जो जाति जाग चुकी है और आजादी के लिए तड़प रही है, उसके लिए कोई भी महान् पुरुष, भले ही वह महात्मा क्यों न हो, अनिवार्य नहीं है। जिस तरह एक सम्पूर्ण वस्तु उसके अंश से बड़ी होती है उसी तरह महासभा भी, जो कि सारे राष्ट्र की प्रतिनिधि संस्था है, उसके बड़े-से-बड़े अंश से सर्वदा बड़ी है। और एक प्राणवान् संस्था के नाते उसे अपने बड़े-से-बड़े सुप्रसिद्ध सदस्य के बिना भी काम चला लेना चाहिए। अपने निर्णय द्वारा महासभा की मौलिक शक्ति में विश्वास रखती है।

कुछ लोग यह सोचकर भयभीत हो रहे हैं कि इस तरह बूढ़ों से निकल-कर जवानों के हाथ सत्ता के चले जाने से महासभा नष्ट हो जायगी—उसके दुर्दिन निकट आ लगेंगे। लेकिन मुझे यह भय नहीं है। अगर महासभा का

राजदण्ड मेरे-जैसे पुरुष के निर्बल हाथों में रहता तो अवश्य ही इस दुर्दिन की सम्भावना का डर था। यहां पाठकों को एक रहस्यपूर्ण बात कह देना चाहता हूं। वह यह है कि इस भार को संभालने के सम्बन्ध में पण्डित जवाहरलाल नेहरू के नाम की सिफारिश करने से पहले मैंने उनसे यह पक्का कर लिया था कि आया वह इस भार को उठाने की काफी ताकत अपने में अनुभव करते हैं या नहीं। उन्होंने कहा था, "अगर बोझ मेरे सिर लाद ही दिया जायगा तो, मुझे आशा है, मैं उसे उठाने में पीछे न हटूंगा। और यह उत्तर उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही था। वह अपने ढंग के बेजोड़ वीर हैं। देश-प्रेम के क्षेत्र में उनसे बढ़कर और कौन है ? कुछ लोग कहते हैं—"जवाहरलाल जल्दबाज़ और साहसी या गर्म मिजाज़ है।" लेकिन इस समय के लिए तो ये बातें भी विशेष गुणरूप हैं। और जहां उनमें एक योद्धा के समान साहस और चपलता है, वहां एक राजनीतिज्ञ की-सी बुद्धिमता, दूरन्देशी भी है। अनुशासन के वह पूरे भक्त हैं और ऐसे समय भी जब कि अनुशासन में रहना अपमान-सा प्रतीत होता था उन्होंने उसका कट्टरता के साथ पालन करके बताया है। इसमें शक नहीं कि अपने आस-पासवालों के मुकाबले वह बहुत ज्यादा अतिवादी और गर्म दल के हैं। लेकिन साथ ही वह नम्र और व्यवहार-कुशल इतने हैं कि किसी बात पर इतना अधिक ज़ोर नहीं देते कि वह अमान्य हो जाय। जवाहरलाल स्फटिक के समान शुद्ध हैं। उनकी सच्चाई के सम्बन्ध में तो शंका की गुंजाइश ही नहीं। वह एक निडर और निष्कलंक-निर्दोष सरदार है। राष्ट्र उनके हाथों में सुरक्षित है।

लेकिन देश के नौजवानों की यही कसौटी है। साल भर हुआ नौजवानों में जाग्रति की लहरें उठ रही हैं। साइमन कमीशन के बहिष्कार की उज्ज्वल सफलता में नौजवानों का निःसन्देह अधिक-से-अधिक हाथ था। जवाहरलाल नेहरू के इस चुनाव को वे अपनी उन सेवाओं का पुरस्कार मान सकते हैं। लेकिन इस सफलता के कारण नौजवान अपने-आपको कृतकृत्य न मान बैठें। अभी तो उन्हें कई मंजिलें तय करनी होंगी तब कहीं राष्ट्र को उसका जन्मसिद्धि अधिकार प्राप्त होगा। जब भाप अपने-आपको एक मजबूत लेकिन छोटे-से पात्र में कैद कर लेती है तो वह महान् शक्तिशालिनी बन जाती है और बाद में एक नपे-तुले छोटे रास्ते से निकलकर एक ऐसी

प्रचण्ड गति उत्पन्न कर देती है कि उसके द्वारा बड़े-बड़े जहाज और भारी वजनदार मालगाड़ियां चलाई जा सकती हैं। इसी तरह देश के नौजवानों को भी स्वेच्छा से अपनी अटूट शक्ति को एक सीमा में आबद्ध कर लेने और उसे अंकुश में रखने की जरूरत है, जिसे मौका पड़ने पर वह उसका उचित परिमाण में आवश्यक उपयोग कर सकें। पण्डित जवाहरलालजी का राष्ट्रपति बनाया जाना बतलाता है कि राष्ट्र को नौजवानों में कितना विश्वास है। अकेले जवाहरलाल कुछ नहीं कर सकते—बहुत कम कर सकते हैं। देश के नौजवानों को उनकी बाहु और आंख बनकर काम करना चाहिए। आशा है, देश के नौनिहाल अपनेको इस विश्वास के योग्य सिद्ध करेंगे। (हि० न०, ३.१०.२६)

... ...

...जवाहरलाल के समान नवयुवक राष्ट्रपति हमें बार-बार नहीं मिलेंगे। भारत में नवयुवकों की कमी नहीं है; लेकिन जवाहरलाल के मुकाबले में खड़े होनेवाले किसी नवजवान को मैं नहीं जानता। इतना मेरे दिल में उनके लिए प्रेम है, या कहिये कि मोह है। लेकिन यह प्रेम या मोह उनकी शक्ति के अनुसार स्थापित है और इसलिए मैं कहता हूं कि जबतक उनके हाथ में लगाम है, हम अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त कर लें तो कितना अच्छा हो। लेकिन हम तभी कुछ कर सकेंगे, जब मुझे आप लोगों की पूरी-पूरी मदद मिलेगी। मुझे आशा है कि स्वराज्य के भावी संग्राम में आप लोग सबसे आगे होंगे। अगर नौ वर्षों का यहां का आपका अनुभव सफल हुआ हो और आपको अपने आचार्यों के प्रति सच्चा आदर तथा प्रेम हो तो उसे बताने का, आपमें जो जौहर हो उसे प्रकट करने का, समय आगे आ रहा है। ('विद्यार्थियों से,' पृष्ठ २०३)

... ...

जवाहरलाल हिन्द का जवाहर सिद्ध हुआ है। उनके व्याख्यान में उच्चतम विचार मधुर और नम्र भाषा में प्रकट हुए है। अनेक विषयों का प्रतिपादन होने पर भी व्याख्यान छोटा है। आत्मा का तेज प्रत्येक वाक्य से झलकता है। कई लोगों के दिल में जो भय था, भाषण के बाद वह सब मिट गया। जैसा उनका व्याख्यान था वैसा ही उनका आचरण भी था।

कांग्रेस के दिनों में उन्होंने अपना सारा काम स्वतन्त्रता और सम्पूर्ण न्याय-बुद्धि से किया। और अपना काम सतत उद्यम से करते रहने के कारण सब कुछ ठीक समय पर निर्विघ्नता के साथ पूर्ण हुआ।

ऐसे वीर और पुण्य नवयुवक के सभापतित्व में यदि हम कुछ न कर पायेंगे तो मुझे बड़ा आश्चर्य होगा। परन्तु यदि सेना ही नालायक हो तो वीर नायक भी क्या कर सकता है? इसलिए हमें आत्म-निरीक्षण करना चाहिए। क्या हम जवाहरलाल के नेतृत्व के लिए लायक हैं? यदि हैं तो परिणाम शुभ ही होगा। (हि० न० ९. १. ३०)

... ...

...पण्डित नेहरू ने अपने देश और उसकी वेदी पर अपने जीवन की समस्त अभिलाषाओं तथा ममताओं का बलिदान किया है। सबसे बड़ी विशेषता की बात यह है कि उन्होंने किसी दूसरे देश की सहायता से मिलने-वाली अपने देश की आजादी को कभी सम्मानपूर्ण नहीं समझा।

जवाहरलाल का जहांतक सवाल है, हम जानते हैं कि हममें से किसी-का भी एक दूसरे के बिना काम नहीं चल सकता, क्योंकि हम लोगों में ऐसी आत्मीयता है जिसे कोई बौद्धिक मतभेद नष्ट नहीं कर सकते।
(ह० से०, ३. ६. ३९)

... ...

हमें अलग करने के लिए केवल मतभेद ही काफी नहीं हैं। हम जिस क्षण से सहकर्मी बने हैं उसी क्षण से हमारे बीच में मतभेद रहा है; लेकिन फिर भी मैं वर्षों से कहता रहा हूं और अब भी कहता हूं कि जवाहरलाल मेरा उत्तराधिकारी होगा, राजाजी नहीं। वह कहता है कि मेरी भाषा उसकी समझ में नहीं आती। वह यह भी कहता है कि उसकी भाषा मेरे लिए अपरिचित है। यह सही हो या न हो, किन्तु हृदयों की एकता में भाषा बाधक नहीं होती।

और मैं यह जानता हूं कि जब मैं चला जाऊंगा जवाहरलाल मेरी ही भाषा में बात करेगा। (ह०, २५. १. ४२)

... ...

सवाल—आपने भी उस रोज वर्धा में कहा था कि जवाहरलाल आपके

कानूनी वारिस हैं। आपके कानूनी वारिस ने जापानियों के खिलाफ कावे-बाजी से लड़ने की जो हिमायत की है, उसकी कल्पना आपको कैसी लगती है? जब जवाहरलाल खुल्लमखुल्ला हिंसा का प्रचार कर रहे हैं और राजाजी सारे देश को शस्त्र और शस्त्रों की शिक्षा देना चाहते हैं तो आपकी अहिंसा का क्या होगा?

उत्तर—जिस तरह आपने लिखा है, उसे देखते हुए तो परिस्थिति भयंकर मालूम होती है, मगर आपको जितनी भयंकर वह लगती है, दर-असल उतनी है नहीं। पहली बात तो यह है कि मैंने कानूनी वारिस शब्द अपने मुंह से नहीं कहा। मेरी तकरीर हिन्दुस्तानी में थी। मैंने तो कहा था कि वह मेरे कानूनी वारिस नहीं, बल्कि असली वारिस हैं। मेरा मतलब यह था कि जब मैं न रहूंगा तो वह मेरी जगह लेंगे। उन्होंने मेरे तरीके को पूरे तौर पर कभी अंगीकार नहीं किया। उन्होंने तो उसकी साफ-साफ आलोचना की है। परन्तु बावजूद इसके कांग्रेस की नीति का उन्होंने वफादारी के साथ पालन भी किया है। यह नीति या तो मेरी ही निर्धारित की हुई थी, या अधिकांश में मुझसे प्रभावित थी। सरदार वल्लभभाई जैसे नेता, जिन्होंने हमेशा बिना किसी प्रकार की शंका या सवाल के मेरा अनुसरण किया है, मेरे वारिस नहीं कहे जा सकते। यह तो हरकोई स्वीकार करता है कि और किसीमें जवाहरलाल की-सी क्रियात्मक शक्ति नहीं है। और क्या मैं यह नहीं कह चुका हूं कि मेरे चले जाने के बाद वह तमाम मतभेद को, जिसका जिक्र वह अक्सर किया करते हैं, भूल जायंगे।

मुझे इस बात का खेद है कि कावेबाजी की युद्ध-प्रणाली ने उनके दिल में घर कर लिया है। मगर मुझे ज़रा भी शक नहीं कि वह चार दिन की चांदनी ही साबित होगी। देश पर उसका कुछ असर न होगा। यहां की भूमि उसके अनुकूल नहीं। बाईस वर्ष तक जिस अहिंसा का लगातार आचार और प्रचार हुआ है, चाहे वह कितना ही अपूर्ण क्यों न रहा हो, उसका असर जवाहरलालजी या राजाजी की इच्छा से—फिर वह कितने ही प्रभाव-शाली क्यों न हों—एक क्षण में नहीं मिट सकता। इसलिए मैं जवाहर-लालजी या राजाजी के अहिंसा-मार्ग से च्युत होने से विचलित नहीं होता। अपने प्रयत्न के होने पर वह नई शक्ति और नये उल्लास के साथ अहिंसा-

मार्ग पर लौटेंगे। उनमें से कोई हिंसा को इसलिए ग्रहण नहीं करना चाहता कि वह उन्हें पसन्द है। अगर आज वह हिंसा की शरण लेते भी हैं तो गालिबन इसलिए कि उनको लगता है कि अहिंसा पर आने से पहले हिन्दुस्तान को हिंसा के दावानल में से गुजरना ही चाहिए। (ह० से०, २६. ४. ४२)

... ...

(**शाम को घूमते समय कुछ दिन पहले के इस प्रश्न के उत्तर में कि सत्याग्रही जड़वत-से क्यों लगते हैं, बापू ने कहा—**) सत्याग्रही जड़वत लगते हैं, यह मैं स्वीकार कर लेता हूं। इसके कारण को ढूंढ़ो तो पहली याद रखनेवाली बात यह है कि किस वर्ग में से मेरे पास सत्याग्रही आये। लेनिन के पास काम करनेवाले धनहीन थे; क्योंकि वह उनके लिए काम कर रहा था। कुछ भी हो, लेनिन को उनसे सन्तोष मानना था। इसी तरह मेरे पास जो कार्यकर्त्ता हैं उनसे मुझे सन्तोष मानना है। दूसरी बात यह है कि जबतक वे लोग मेरे अंकुश के नीचे रहकर काम करते हैं, उन्हें जड़वत लगना ही है। कारण यह है कि सत्याग्रह का संचालक मैं रहा। मुझसे आगे उनमें से कोई कैसे जा सकता है? वह लोग अपनी बुद्धि चलाने लगें तो उनका राजाजी-जैसा हाल होगा। मैंने राजाजी से कहा था कि जबतक मैं हूं, तुम मुझे समझाने का प्रयत्न करो। न समझा सको तो अन्त में तुम्हें मेरी बात मानकर चलना चाहिए। वह कहने लगे, "कभी नहीं।" तो मैंने कहा, "अच्छी बात है। ऐसे ही कह तो जवाहरलाल भी देता है कि 'कभी नहीं'; मगर पीछे करता वही है जो मैं कहता हूं। (का० क०, २. १२. ४२)

... ...

अगर लोग ज़रा-सी समझदारी से चलें तो स्वराज्य उनके हाथों में आ चुका है; क्योंकि हमारी सरकार के उप-प्रधान जवाहरलालजी हैं। वाइसराय प्रधान हैं सही, पर उन्हें अब शान्ति से बैठना है। आपके असली बादशाह जवाहरलाल हैं। वह ऐसे बादशाह हैं जो हिन्दुस्तान को तो अपनी सेवा देना चाहते ही हैं, पर उसके मार्फत सारी दुनिया को अपनी सेवा देना चाहते हैं। उन्होंने सभी देशों के लोगों से परिचय किया है और उनके राजदूतों का सत्कार करने में वह बड़े कुशल हैं। लेकिन वह अकेले कहांतक कर सकते हैं?

वह बेताज के बादशाह आपके खिदमतगार हैं। तो क्या वह बन्दूक से आपकी बदअमनी को दबा देंगे? अगर आज एक को दबायंगे तो कल दूसरे को इसी तरह दबाना पड़ेगा। फिर वह स्वराज्य तो नहीं हुआ। पंचायती राज्य भी नहीं हुआ। जब आप लोग अनुशासन से रहेंगे तभी जवाहरलाल की बादशाहत चलेगी और हमारा स्वराज्य सुखरूप होगा।

खुद जवाहरलालजी भी किस तरह अनुशासन में रहते हैं इसका उदाहरण सुनिये। पिछले वर्ष जब वह काश्मीर चले गये थे तब वेवलसाहब को उनकी जरूरत पड़ गई। मौलानासाहब ने उन्हें बुलाना चाहा और मेरे समझाने पर वह वहां का संघर्ष छोड़कर राष्ट्रपति का हुक्म मानकर यहां चले आये थे।

आज भी जवाहरलाल का चित्त काश्मीर में है, जहां प्रजा के नेता शेख अब्दुल्ला सींखचों में बन्द पड़े हैं। मैंने जवाहरलाल से कहा है कि तुम्हारी आवश्यकता यहांपर ज्यादा है। इसलिए जरूरत हुई तो मैं काश्मीर आऊंगा और तुम्हारा काम करूंगा। तुम यहीं रहो। मैंने यह भी उनसे कहा कि यद्यपि मैं वचन से बिहार और नवाखाली में ही करने या मरने के लिए बंधा हूं, परन्तु काश्मीर में भी मुसलमान भाइयों का ही सवाल है, इसलिए वहां जा सकता हूं। वहां जाकर काश्मीर के राजा से मित्रता करूंगा और मुसलमानों की भलाई का काम करूंगा। लेकिन जवाहरलाल ने अभी इस बात की 'हां' नहीं भरी है। (प्रा० प्र०, १. ४. ४७)

... ...

कल मैंने जवाहरलालजी के अमूल्य काम के बारे में जिक्र किया था। मैंने उन्हें हिन्दुस्तान का बेताज का बादशाह कहा था। आज जब अंग्रेज अपनी ताकत यहां से उठा रहे हैं तब जवाहरलाल की जगह कोई दूसरा ले नहीं सकता। जिसने विलायत के मशहूर स्कूल हैरो और केंब्रिज के विद्यापीठ में तालीम पाई है और जो वहां बैरिस्टर भी बने हैं उनकी आज अंग्रेजों के साथ बातचीत करने के लिए बहुत जरूरत है। (प्रा० प्र०, २. ४. ४७)

... ...

मैं परसों हरिद्वार जाऊंगा। मेरे साथ जवाहरलाल जायंगे। वह तो युक्तप्रान्त में अद्वितीय हैं। आज तो वह सारे हिन्दुस्तान में भी अद्वितीय हो

रहे हैं। (प्रा० प्र०, २९.४.४७)

... ...

लेकिन आज क्या हो रहा है ? सरदार ऊंचा सिर रखकर चलनेवाला, आज मैं आपको कहता हूं कि उसका सिर नीचा हो गया है। वह जवाहर-लाला वह बहादुर जवाहरलाल, हवा में उड़नेवाला, किसीकी परवा न करने-वाला, आज वह लाचार बनकर बैठ गया है। क्यों लाचार बना ? हमने उसको लाचार बनाया।...वह जवाहरलाल कोई ईश्वर तो है नहीं। सरदार ईश्वर थोड़े ही है। दूसरे जो उनके मन्त्री पड़े हैं वे ईश्वर तो हैं नहीं। उनके पास ईश्वरीय ताकत तो कोई नहीं है। बाहर की ताकत, दुनिया की ताकत भी, कहां उनके पास पड़ी है ? (प्रा० प्र०, १३.९.४७)

... ...

दूसरी बात यह है कि यहां जितने दुःखी लोग हैं, उनके लिए तो पंडित-जी—उनको मैं बहुत पहचानता हूं—ऐसे हैं कि दूसरों को सुलाकर सोने-वाले हैं। मानो एक ही बिछौना है, जो सूखा है, बाकी गीला है तो वह सूखे में दुःखी को सुलायंगे, खुद चाहे घूमते रहें। मैं यह पढ़कर बहुत खुश हुआ। वह कहते हैं कि उनके घर में जगह नहीं है, दूसरे आदमी भी चले आते हैं, इसलिए जगह नहीं रहती है। वह तो मुख्य प्रधान है। तो मिलनेवाले जाते हैं, दोस्त हैं, अंग्रेज भी जाते हैं, तो क्या वहां से उनको निकाल दें ? तो भी कहते हैं कि मेरी तरफ से एक कमरा या दो कमरा, जितना निकल सकता है निकालूंगा और दुखी लोगों को रखूंगा। फिर दूसरे मुख्य प्रधान भी करें, फिर फौज के अफसर हैं वे भी ऐसा करें। इस तरह से सब अपने धर्म का पालन करें तो कोई दुखी नहीं रहेगा। ऐसा जवाहर ने किया, उसे देखा; तो मैं उनको और आपको धन्यवाद देता हूं कि हमारे यहां एक रत्न है।

(प्रा० प्र०, २१. १. ४८)

... ...

अब मेरा दिल आगे बढ़ता है कायदे आजम जिन्ना की तरफ। उनको मैं पहचानता हूं। मैं तो उनके घर जाता था और एक दफा तो १८ बार गया था। मैं उसको तपश्चर्या मानता हूं। बाद में भी उन्होंने और मैंने एक चीज में दस्तखत किये थे और उसमें भी हम दोनों हिस्सेदार बन गये थे।

तब भी उनके साथ मीठी बातें होती थीं। इसलिए मैं तो उनसे, लियाकत-अली साहब से और उनके मंत्रिमण्डल से कहूंगा कि यह बात है कि आप जवाहरलाल जैसे-आदमी को कहते हैं कि आप धोखेबाजी करते हैं। जवाहर-लाल और उनकी सरकार को इसमें धोखेबाजी क्या करनी थी! मैं कहूंगा कि जवाहर तो किसीसे भी धोखा करनेवाला नहीं है, जैसा उसका नाम है वैसा उसका गुण है। उनकी सरकार में सरदार या जो दूसरे आदमी हैं उनको भी मैं पहचानता हूं। वे भी कोई धोखेबाज नहीं हैं। अगर वह काश्मीर से मशविरा करना चाहते हैं तो उसका यह मतलब नहीं है कि वह फुसला रहे हैं। जवाहरलाल तो पहले भी उनसे बातें करता था और अकेला शेख अब्दुल्ला के लिए उनसे लड़ता था। तो उसको इसमें धोखा क्या करना था! (प्रा० प्र०, २.११.४७)

... ...

वह आसानी से पिता, भाई, लेखक, यात्री, देशभक्त या अंतर्राष्ट्रीयता के रूप में प्रकाशमान हैं, तो भी पाठकों के सामने इन लेखों में से उनका जो रूप उभरेगा वह अपने देश और उसकी स्वतंत्रता के, जिसकी वेदी पर उन्होंने अपनी दूसरी सभी कामनाओं का बलिदान कर दिया है, निष्ठावान भक्त का रूप होगा। यह श्रेय उन्हें मिलना ही चाहिए कि वह किसी अन्य देश की सहायता की कीमत पर अपने देश की आजादी प्राप्त करना अपनी शान के खिलाफ समझेंगे। उनकी राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता-जैसी है। ('नेहरू : यौर नेबर' के प्राक्कथन से)

: ११३ :

मोतीलाल नेहरू

महासभा का सभापतित्व अब फूलों का कोमल ताज नहीं रह गया है। फूलों के दल तो दिनों-दिन गिरते जाते हैं और कांटे उघड़ते जाते हैं। अब इस कांटों के ताज को कौन धारण करेगा? बाप या बेटा? सैकड़ों लड़ाइयों के लड़ाका पंडित मोतीलाल नेहरू इस कांटों के ताज को पहनेंगे या संयम-नियम के पक्के जवान सिपाही पंडित जवाहरलाल नेहरू, जिन्होंने

अपनी योग्यता और महत्ता से देश के युवकों के हृदयों पर अधिकार कर लिया है ? श्रीयुत वल्लभभाई पटेल का नाम स्वभावत: ही सबकी जबान पर है। पंडितजी एक व्यक्तिगत पत्र में लिखते हैं कि इस समय तो वल्लभ-भाई पटेल को ही, उनकी वीरता के लिए, सभापति चुनना चाहिए और सरकार को यह दिखला देना चाहिए कि उनपर सारे राष्ट्र का विश्वास है। खैर, मगर अभी तो श्री वल्लभभाई का कोई प्रश्न ही नहीं हो सकता। इस समय उनके पास काम भी इतना पड़ा हुआ है कि वह बारडोली छोड़कर दूसरी ओर ध्यान ही नहीं दे सकते। और फिर दिसम्बर आने से पहले ही, संभव है कि वह सरकार के अनेक बंदीगृहों में से किसी एक में उसके अतिथि बनकर पहुंच जायं। मेरा अपना विचार तो यह है कि यह कांटों का ताज पंडित जवाहरलाल को ही मिलना चाहिए। भविष्य तो देश के युवकों के ही हाथ में होना चाहिए। मगर बंगाल तो अगले साल, जबकि बहुत-से तूफानों का भय है, पंडित मोतीलाल के ही हाथों महासभा की पतवार देना चाहता है। हम लोगों में आपस में फूट है और चारों ओर से हमें एक ऐसा शत्रु घेरे हुए है जो जितना शक्तिशाली है, उतना ही नीति-अनीति से लापरवा भी। बंगाल को इस समय किसी बड़े-बूढ़े की विशेष आवश्यकता है और वह भी ऐसे आदमी की जिसने, उसके गाढ़े अवसर पर, उसे संभाला हो। अगर सारे हिन्दुस्तान के लिए आगे सुख का समय नहीं आनेवाला है तो बंगाल के लिए तो और भी नहीं। इसके तो हजारों कारण हैं कि पंडित मोतीलालजी को ही क्यों यह कांटों का ताज धारण करना चाहिए। वह वीर हैं, उदार हैं, उनपर सभी दलों का विश्वास है, मुसलमान उन्हें अपना मित्र मानते हैं, उनके विरोधी भी उनका आदर करते हैं और अपनी जोरदार दलीलों से वह उन्हें प्राय: ही अपनी राय से सहमत कर लेते हैं और फिर इसके अलावा उनके स्वभाव में सन्धि और समझौते की भावना की ऐसी पुट भरी हुई है, जिससे वह किसी ऐसे राष्ट्र के अत्यन्त योग्य दूत होने लायक हैं, जिसे सम्मानित समझौते की आवश्यकता है और जो उसे करने के लिए तैयार है। इन्हीं बातों पर विचार करके अत्यन्त साहसी बंगाली देशभक्त पंडित मोतीलाल नेहरू को ही अगले वर्ष के लिए राष्ट्र का कर्णधार बनाना चाहते हैं। (हि० न०, २६.७.२८)

हमारे देश के इस बहादुर वीर के शव के सामने खड़े होकर गंगा और जमुना के किनारे हममें से हर पुरुष और स्त्री को यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि जबतक हिन्दुस्तान आजाद न होगा वे चैन न लेंगे, इसलिए कि यही वह काम है जो मोतीलालजी दिल से चाहते थे। इसी खातिर उन्होंने अपनी जान दे दी। ('कोई शिकायत नहीं,' पृष्ठ ७३)

... ...

मेरी हालत विधवा स्त्री से भी बुरी है। एक विधवा अपने पति की मृत्यु के बाद वफादारी से जीवन बिताकर अपने पति के अच्छे कामों का फल पा सकती है। मैं कुछ भी नहीं पा सकता। मोतीलालजी की मृत्यु से जो कुछ मैंने खोया है वह मेरा सदा के लिए नुकसान है।

('कोई शिकायत नहीं,' पृष्ठ ७३)

... ...

मोतीलालजी की मृत्यु हरेक देशभक्त के लिए ईर्ष्यास्पद होनी चाहिए; क्योंकि अपना सबकुछ न्यौछावर करके वह मरे हैं और अन्त समय तक देश का ही ध्यान करते रहे हैं। इस वीर की मृत्यु से हमारे अन्दर भी बलिदान की भावना आनी चाहिए। हममें से हरेक को चाहिए कि जिस स्वतन्त्रता के लिए वह उत्सुक थे और जो हमारे बहुत नजदीक आ पहुंची है, उसको प्राप्त करने के लिए अपना सर्वस्व नहीं तो कम-से-कम इतना बलिदान तो करें ही कि जिससे वह हमें प्राप्त हो जाय।

(मोतीलालजी की मृत्यु पर, ७ फरवरी को, इलाहाबाद में दिया सन्देश।)

... ...

पंडित मोतीलालजी की मृत्यु मेरे लिए उस वीर विधवा से भी ज्यादा कष्टकर है जिनके शोक में इन दिनों मैं भागीदार रहा हूं। मैं इस चोट को ईश्वर की महानता और कल्याणकारी स्वरूप के प्रति अपनी श्रद्धा की अतिरिक्त कसौटी मानता हूं। उनके लिए तो यह अच्छा ही हुआ। वह मरकर भी कहीं अधिक पूर्ण और वास्तविक रूपों में जीवित हैं। मैं परमात्मा से प्रार्थना करता हूं कि वह मुझे उस ध्येय के लिए काम करने की और अधिक निष्ठा प्रदान करे जिसके लिए इन पावनकारी दिनों में त्याग और बलिदान द्वारा

जीवन जीने लायक बनता है।

मित्रों ने मुझे सलाह दी है कि उनकी यादगार के लिए धन संग्रह किया जाय, जिस प्रकार कि स्वर्गीय हकीमसाहब अजमल खां, देशबन्धु चित्तरंजन दास और लाला लाजपतराय के लिए किया गया था। मैंने इस प्रलोभन पर संयम रखा है, कारण (१) मैं इस भार को उठा नहीं सकता; (२) मुझे किसी दिन भी यरवदा अथवा ऐसी ही किसी अन्य जगह विश्राम के लिए जाना पड़ सकता है; और (३) आज स्वर्गीय देशभक्त का सच्चा स्मारक यही खड़ा किया जा सकता है कि स्वराज्य की प्राप्ति के लिए और भी अधिक तीव्रता के साथ कार्य किया जाय। (यं० इं०, १९.२.३१)

... ...

मैं श्री मोतीलाल नेहरू इत्यादि की याद आपको दिला दूंगा, जिन्होंने अपनी कानूनी लियाकत बिल्कुल मुफ्त बांटी और अपने देश की बड़ी अच्छी तथा विश्वस्त सेवा की। आप मुझे शायद ताना देंगे कि वह लोग इस कारण ऐसा कर सके थे कि वह अपने व्यवसाय में बड़ी लम्बी फीस लेते थे। मैं इस तर्क को इस कारण नहीं मान सकता कि मनमोहन घोष के सिवा मेरा और सबसे परिचय रहा है। अधिक रुपया होने की वजह से इन लोगों ने भारत को आवश्यकता पड़ने पर अपनी योग्यता उदारतापूर्वक दी हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उसका उनकी आराम तथा विलास से रहने की योग्यता से कोई सम्बन्ध नहीं है। मैंने उनको बड़े सन्तोष से दीनतापूर्वक जीवन निर्वाह करते देखा है। (हि० न०, १२.११.३१)

... ...

स्वर्गीय मोतीलालजी के चित्र के उद्घाटन का जो सम्मान तुम लोगों ने मुझे दिया है, उसके लिए मैं तुम्हारा आभारी हूं। तुम्हारे पास उनकी छवि रहे और उनके पवित्र भावों को तुम सदा अपने हृदय में अंकित रखो, यह उचित ही है। यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि जैसा सम्बन्ध दो सगे-सहोदर भाइयों के बीच होता है, वैसा ही प्रगाढ़ प्रेम-सम्बन्ध मोतीलालजी के और मेरे बीच था। मोतीलालजी की देश-सेवा, मोतीलालजी का त्याग, मोतीलालजी का अपने पुत्र-पुत्रियों के प्रति अनुपम, इन सब बातों का परिचय जैसा मुझे था, लगभग वैसा ही तुम्हें भी होना चाहिए। जबसे

मुझे मोतीलालजी का प्रथम परिचय प्राप्त हुआ, तबसे उनके जीवन के अन्तिम समय तक उनके निकट संसर्ग में रहने का सद्भाग्य ईश्वर ने मुझे दिया था। मैंने देखा कि वह प्रतिक्षण स्वदेश हित का ही चिन्तन करते थे। उनके लिए स्वराज्य स्वप्न नहीं, बल्कि प्राण था। स्वराज्य की उन्हें सदा तृष्णा-पिपासा रही और वह दिन-दिन बढ़ती ही गई। ऐसे आदर्श देश-भक्त का चित्र अपने सम्मुख रखना उचित ही है।...इतनी आशा मुझे अवश्य है कि स्वर्गीय पंडितजी के गुणों का तुम लोग अनुकरण करोगे।... पंडित मोतीलालजी के सद्गुणों में एक गुण यह भी था कि वह अस्पृश्यता नहीं मानते थे। वह मानों एक राजपुरुष थे। उन्होंने तो बेहद रुपया कमाया, उसे सत्कार्यों में, स्वराज्य के कार्यों में लुटाया। मुझे उनके ऐसे दृष्टान्त मालूम हैं कि उनके हृदय में ऊंच-नीच का भाव था ही नहीं।

(ह० से०, २६.१२.३३)

... ...

उस जमाने में हमने विदेशी कपड़े के पहाड़ चिन-चिनकर जलो दिये थे और कोई यह नहीं कहता था कि इससे राष्ट्र की निधि बरबाद हो रही है। श्रीमती नायडू ने अपनी पेरिस की साड़ी जला दी थी और स्व० मोतीलालजी ने भी अपने विलायती कपड़ों में दियासलाई लगा दी थी। उनके पास तो आलमारी-की-आलमारियां विदेशी कपड़े थे। इसके बाद जब वह जेल गये तब उन्होंने मेरे पास एक खत भेजा था—आज वह खत मैं खोज नहीं सकता—पर उसमें था कि मैं सच्चा जीवन अब ही जी रहा हूं, आनन्दभवन में मेरे पास जो समृद्धि थी उससे मुझे यह सुख नहीं मिलता था। वहां उन्हें सिगार, शराब, गोश्त कुछ नहीं मिलता था। पूरा भोजन भी नहीं मिलता था, फिर भी उसमें उन्हें सुख मालूम हुआ। यह सही है कि उनकी यह चीज हमेशा नहीं चली। (प्रा० प्र०, २०.६.४७)

: ११४ :

सुशीला नैयर

सुशीलाबहन बहावलपुर चली गई है। बहावलपुर में दुःखी आदमी हैं। उनको देखने के लिए चली गई है...फ्रेंड्स सर्विस के लेसली क्रॉस के साथ चली गई है। फ्रेंड्स यूनिट में से किसीको भेजने का मैंने इरादा किया था, ताकि वह वहां लोगों को देखें, मिलें और मुझको वहां के हाल बता दें। उस वक्त सुशीलाबहन के जाने की बात नहीं थी, लेकिन जब सुशीलाबहन ने सुन लिया तो उसने मुझसे कहा कि इजाजत दे दो तो मैं क्राससाहब के साथ चली जाऊं। वह जब नोआखाली में काम करती थी तबसे वह उनको जानती थी। वह आखिर कुशल डाक्टर है और पंजाब के गुजरात की है। उसने भी काफी गंवाया है; क्योंकि उसकी तो वहां काफी जायदाद है, फिर भी दिल में कोई जहर पैदा नहीं हुआ है। तो उसने बताया कि मैं वहां क्यों जाना चाहती हूं; क्योंकि मैं पंजाबी बोली जानती हूं; हिन्दुस्तानी जानती हूं, उर्दू और अंग्रेजी भी जानती हूं, तो वहां मैं क्राससाहब को मदद दे सकूंगी। तो मैं यह सुनकर खुश हो गया। वहां खतरा तो है; लेकिन उसने कहा कि मुझको क्या खतरा है? ऐसा डरती तो नोआखाली क्यों जाती? पंजाब में बहुत लोग मर गये हैं, बिल्कुल मटियामेट हो गये हैं; लेकिन मेरा तो ऐसा नहीं है। खाना-पीना सब मिल जाता है। ईश्वर सब करता है। अगर आप भेज दें और क्राससाहब मुझे ले जायं तो वहां के लोगों को देख लूंगी। तो मैंने क्राससाहब से पूछा कि क्या आपके साथ सुशीलाबहन को भेजूं? तो वह खुश हो गये और कहा कि यह तो बड़ी अच्छी बात है। मैं उनके मारफत दूसरों से अच्छी तरह बातचीत कर सकूंगा। मित्रवर्ग में हिन्दुस्तानी जाननेवाला कोई रहे तो वह बड़ी भारी चीज हो जाती है। इससे बेहतर क्या हो सकता है? वह रेडक्रास के हैं...तो डाक्टर सुशीला क्राससाहब के साथ गई हैं या डाक्टर सुशीला के साथ क्राससाहब गये हैं यह पेचीदा प्रश्न हो जाता है। लेकिन कोई पेचीदा है नहीं, क्योंकि दोनों एक-दूसरे के दोस्त हैं और दोनों एक दूसरे को चाहते हैं, मोहब्बत करते हैं। वह सेवा-भाव से गये हैं, पैसा कमाना तो है नहीं। वह जो देखेंगे, मुझे

बतायंगे और सुशीलाबहन भी बतायंगी। मैं नहीं चाहता कि कोई ऐसा गुमान रखे कि वह तो डाक्टर हैं और खाससाहब दूसरे हैं। कौन ऊंचा है, कौन नीचा है, ऐसा कोई भेदभाव न करें। (प्रा० प्र०, २९.१.४८)

: ११५ :

यादवरकर पटवर्धन

"समुद्र की असीम अंधेरी गहराइयों में अनेक प्रकाशमान शुद्ध रत्न पड़े हैं। अनेक पुष्प वन में उत्पन्न होते हैं और खिलते हैं। उनपर किसीकी दृष्टि नहीं पड़ती और वह मरुस्थल की वायु में सुगन्ध फैलाकर नष्ट हो जाते हैं।"

मुझे एक कवि की इन पंक्तियों का स्मरण हो आता है जब मैं अपने इन प्रिय मित्र और साथी के बारे में सोचता हूं, जिनका ४ ता० को नागपुर में देहान्त हो गया। अपने निकटतम रिश्तेदारों और मित्रों के अलावा और किसीने उनकी मृत्यु पर आंसू नहीं बहाये। अमरावती के यादवरकर पटवर्धन को ख्याति नहीं मिली, किन्तु वह उनसे कम निष्ठावान राष्ट्र-सेवक नहीं थे जो जनता की दृष्टि में रहकर काम करते हैं और अत्यधिक उदार और बहुधा अविचारशील जन-समुदाय की प्रशंसा प्राप्त कर लेते हैं। पटवर्धन बम्बई विश्वविद्यालय के कानून के स्नातक थे, किन्तु उन्होंने वकालत कभी नहीं की। मेरा सबसे पहले १९१५ में उनसे परिचय प्राप्त हुआ। वह बराबर आश्रम में रहे। उनके चरित्र की सुन्दरता, सादगी, आत्म-विस्मृति, विनम्रता, सातत्य और सौंपे हुए कार्य के प्रति निष्ठा से बड़ा प्रभावित हुआ। उन्होंने एक वर्ष तक अवैतनिक रूप से यंग इण्डिया के लिए उपसम्पादक का काम किया। वह कांग्रेस अधिवेशन में हाजिर रहे और शोलापुर जाने और असहयोग-आन्दोलन के लिए काम करने की तैयारी कर रहे थे। किन्तु ईश्वर की कुछ और ही मर्जी थी। वह कुछ समय से बीमार थे, किन्तु हम सबको उम्मीद थी कि वह जल्दी ही अच्छे हो जायंगे। किन्तु कांग्रेस-सप्ताह में ही उनको बीमारी का दौरा पड़ा और वह बिस्तर नहीं छोड़ पाये। उन्होंने गीता के दूसरे अध्याय के अन्तिम

श्लोकों का पाठ करते-करते देह-त्याग किया। राष्ट्र के ऐसे अनेक मूक सेवक मृत्यु को गले लगाते हैं। मैं कह सकता हूं कि श्री पटवर्धन 'प्रभायुक्त शुद्धतम रत्न' थे। उनके मित्र उनका मूल्य जानते थे। ईश्वर उस महान आत्मा को शान्ति प्रदान करे। (यं० इं०, १२.१.२१)

: ११६ :

वल्लभभाई पटेल

श्रीयुत वल्लभभाई पटेल पुराने सिपाही हैं और सेवा के सिवा उनका दूसरा काम भी नहीं हैं। (हि० न०, १५.८.२७)

... ...

अभी जो भयंकर अफवाहें उड़ रही हैं उनको ध्यान में रखकर मुझे यह स्पष्ट कर देना आवश्यक मालूम होता है कि बारडोली से मेरा क्या सम्बन्ध है। पाठक जान लें कि बारडोली-सत्याग्रह के आरम्भ से ही मैं उसमें शामिल हूं। उसके नेता वल्लभभाई हैं। उन्हें जब कभी मेरी जरूरत हो, वह मुझे वहां ले जा सकते हैं। यह कोई बात नहीं कि उन्हें मेरी सलाह की आवश्यकता हो, तथापि कोई भी भारी काम करने से पहले वह मुझसे परामर्श करते हैं। पर वहां का सारा काम, चाहे वह छोटा हो या बड़े-से-बड़ा, वह अपनी जिम्मेदारी पर ही करते हैं। इस बात के विषय में मैंने उनसे पहले ही से समझौता कर लिया है कि मैं सभा आदि में नहीं जाऊंगा। मेरा शरीर अब इस लायक नहीं रहा कि मैं हरएक काम में दिलचस्पी ले सकूं। इसलिए उन्होंने यह प्रतिज्ञा कर ली है कि अहमदाबाद में या गुजरात में अन्यत्र बिना कारण वह मुझे नहीं ले जावेंगे, और इस प्रतिज्ञा का उन्होंने अक्षरशः पालन किया है। इस सत्याग्रह में उनके साथ मेरी सम्पूर्ण सहानुभूति रही है। अब तो गम्भीर स्थिति खड़ी होने की सम्भावना है और उसका सामना करने के लिए वल्लभभाई जो-जो करेंगे उसमें भी उनके साथ मेरी पूरी सहानुभूति रहेगी। यदि वह कहीं पकड़े गये तो बारडोली जाने के लिए भी मैं पूरी तरह तैयार हूं। उनके बारडोली में रहते वहां जाने अथवा अन्य किसी तरह सक्रिय भाग लेने की मुझे कोई जरूरत

उनकी बराबरी नहीं कर सकता। लिफाफे वह नापे बिना बनाते हैं और अंदाज से काटते हैं, मगर बराबर के निकलते हैं और फिर भी ऐसा नहीं लगता कि इसमें बहुत समय लगता है। उनकी व्यवस्था आश्चर्यजनक है। जो कुछ करना हो उसे याद रखने के लिए छोड़ते ही नहीं। जैसे आया वैसे ही कर डाला। कातना जबसे शुरू किया है, तबसे बराबर समय पर कातते हैं। इस तरह सूत में और गति में रोज सुधार होता जा रहा है। हाथ में लिया हुआ भूल जाने की बात तो शायद ही होती है। और जहां इतनी व्यवस्था हो, वहां धांधली तो हो ही कैसे? (म० डा०, २८.८.३२)

... ...

सरदार वल्लभभाई पटेल के साथ रहना मेरा बड़ा सौभाग्य था। उनकी अनुपम वीरता से मैं अच्छी तरह परिचित था, परंतु पिछले १६ महीने में जिस प्रकार रहा वैसा सौभाग्य मुझे कभी नहीं मिला था। जिस प्रकार उन्होंने मुझे स्नेह से ढक लिया वह मुझे मेरी मां की याद दिलाता है। मैं यह कभी नहीं जानता था कि उनमें मां के गुण भी हैं।...बारडोली और खेड़ा के किसानों के लिए उनकी चिन्ता मैं कभी नहीं भूल सकता।

(म० डा०)

... ...

दूसरी बात तो यह है कि हर जगह से शिकायतें आ रही हैं। यह ठीक था कि अंग्रेजी जमाने में तो जो देशी रियासतें थीं वे अपने दिल में आये वैसा करती थीं। थोड़ा-सा अंकुश तो अंग्रेजी सल्तनत रखती थी। उसको तो रखना ही था, क्योंकि उसको सल्तनत चलानी थी। आज तो वह चली गई है। हां, यह तो है कि आज सरदार पटेल हैं—उनके हाथ में उनका महकमा है, इसलिए वह तो कुछ करें? लेकिन वह बेचारे क्या कर सकते हैं? उनकी तो अपनी जबान पड़ी है—हिंदुस्तान की सेवा कर ली है, इसलिए सरदार बने हैं। लेकिन उनके पास तलवार नहीं, बंदूक नहीं, लश्कर नहीं। वह खुद थोड़े लश्कर हैं, वह कमांडर भी नहीं हैं कि उनका हुक्म चले।

(प्रा० प्रा०, २२.१०.४७)

... ...

पीछे सरदार का नाम आ जाता है। वे कहते हैं कि सरदार को हटा

दो, तुम अच्छे हो। पीछे सुनाते हैं कि जवाहर भी अच्छा है। तुम हकूमत में आ जाओ तो हकूमत अच्छी चले। सब अच्छे हैं, सरदार अच्छे नहीं हैं। तो मैं तो मुसलमानों से कहूंगा कि मुसलमान ऐसा कहेंगे तो कोई बात चलनी नहीं है। क्यों नहीं? क्योंकि आपका हाकिम वह मंत्रिमंडल है। हकूमत में न अकेला सरदार है और न जवाहर है। वह आपके नौकर हैं। उनको आप हटा सकते हैं। हां, ऐसा है कि सिर्फ मुसलमान तो हटा नहीं सकते हैं, लेकिन इतना तो करें कि सरदार जितनी गलती करते हैं—लोगों में आपस-आपस में बात करने से निपटता नहीं है—उनको बताओ। ऐसा नहीं कि उन्होंने यह बात कही, वह बात कही; लेकिन उन्होंने क्या किया, यह बताओ। मुझको बता दो। उनसे मैं मिलता रहता हूं और सुनता हूं तो मैं कह दूंगा। वही जवाहर, वही सरदार दोनों हकूमत चलाते हैं। जवाहर तो उनको निकाल सकते हैं, लेकिन ऐसा नहीं करते हैं तो कुछ है। वह उनकी तारीफ करते हैं। फिर मंत्रिमंडल है, वह हकूमत है। सरदार जो कुछ करता उसके लिए सारी हकूमत जवाबदार है। आप भी जवाबदार हैं; क्योंकि वह आपके नुमायंदे हैं।

...सरदार सीधी बात बोलनेवाले हैं। वह बोलते हैं तो कड़वी लगती है। वह सरदार की जीभ में है। मैंने उनसे कहा कि आपकी जीभ से कोई बात निकली कि कांटा हो गई। तो उनकी जीभ ही ऐसी है कि कांटा है; दिल वैसा नहीं है। उसका मैं गवाह हूं। उन्होंने कलकत्ते में कह दिया, लखनऊ में कह दिया कि सब मुसलमानों को यहां रहना है, रह सकते हैं। साथ ही मुझको यह भी कहा कि उन मुसलमानों का एतबार नहीं करता हूं, जो कल तक लीगवाले थे और अपनेको हिंदू-सिख का दुश्मन मानते थे; वह जब कल तक ऐसे थे तब आज एक रात में दोस्त कैसे बन सकते हैं? पीछे ऐसा है कि लीग रहेगी तो वे लोग किसकी मानेंगे—हमारी हकूमत की या पाकिस्तान की? लीग अभी भी वैसा ही कहती है तो उनको शक होता है। उनको शक करने का अधिकार है। सबको शक करने का अधिकार है। सरदार ने जो कहा है उसका सीधा अर्थ निकाल लें तो काम बन जाता है। जैसे कोई मेरा भाई है, लेकिन उसपर शक है तो क्या करूं? शक साबित हो तब काटूं, यही मैं कर सकता हूं। लेकिन मैं पहले से ही

भाई की बुराई करूं, ऐसा कैसे हो सकता है ? वह कहते हैं कि हमारे दिल में आज मुस्लिम लीग के मुसलमानों के बारे में एतबार नहीं है, उनपर कैसे भरोसा रखें ? मुसलमान सबूत दें कि वे ऐसे नहीं हैं। ऐसा करें तो सब अंजाम पहुंच जाता है। पीछे मुझे यह कहने का हक मिल जाता है कि हिंदू, सिख क्या करें। इस यूनियन में सरदार क्या करें, जवाहर क्या करे, उसमें कोई भी क्या करे, मैं क्या करूं ? (प्रा० प्र०, १३.१.४८)

... ...

"आपने कहा है कि मुसलमान भाई अपने डर की और अपनी असुर-रक्षितता की कहानी लेकर आपके पास आते हैं तो आप उन्हें कोई जवाब नहीं दे सकते। उनकी शिकायत है कि सरदार—जिनके हाथों में गृह-विभाग है—मुसलमानों के खिलाफ हैं। आपने यह भी कहा है कि सरदार पटेल पहले आपकी हां-में-हां मिलाया करते थे, 'जीहुजूर' कहलाते थे, मगर अब ऐसी हालत नहीं रही। इससे लोगों के मन पर यह असर होता है कि आप सरदार का हृदय पलटने के लिए उपवास कर रहे हैं। आपका उपवास गृह-विभाग की नीति की निंदा करता है। अगर आप इस चीज को साफ करेंगे तो अच्छा होगा।"

मैं समझता हूं कि मैं इस बात का साफ-साफ जवाब दे चुका हूं। मैंने जो कहा है, उसका एक ही अर्थ हो सकता है। जो अर्थ लगाया गया है, वह मेरी कल्पना में भी नहीं आया। अगर मुझे पता होता कि ऐसा अर्थ किया जा सकता है तो मैं पहले से इस चीज को साफ कर देता।

कई मुसलमान दोस्तों ने शिकायत की थी कि सरदार का रुख मुसलमानों के खिलाफ है। मैंने कुछ दुःख से उनकी बात सुनी, मगर कोई सफाई पेश नहीं की। उपवास शुरू होने के बाद मैंने अपने ऊपर जो रोक-थाम लगाई हुई थी वह चली गई। इसलिए मैंने टीकाकारों को कहा कि सरदार को मुझसे और पंडित नेहरू से अलग करके और मुझे और पंडित नेहरू को खामख्वाह आसमान पर चढ़ाकर वह गलती करते हैं।

इससे उनको फायदा नहीं पहुंच सकता। सरदार के बात करने के ढंग में एक तरह का अक्खड़पन है, जिससे कभी-कभी लोगों का दिल दुःख जाता है, अगरचे सरदार का इरादा किसीको दुखी बनाने का नहीं होता।

उनका दिल बहुत बड़ा है। उसमें सबके लिए जगह है। सो मैंने जो कहा, उसका मतलब यह था कि अपने जीवन भर के वफादार साथी को एक बेजा इलजाम से बरी कर दूं। मुझे यह भी डर था कि सुननेवाले कहीं यह न समझ बैठें कि मैं सरदार को अपना 'जीहुजूर' मानता हूं। सरदार को प्रेम से मेरा 'जीहुजूर' कहा जाता था। इसलिए मैंने सरदार की तारीफ करते समय कह दिया कि वह इतने शक्तिशाली और मन के मजबूत हैं कि वह किसी के 'जीहुजूर' हो ही नहीं सकते। जब वह मेरे 'जीहुजूर' कहलाते थे तब वह ऐसा कहने देते थे; क्योंकि जो कुछ मैं कहता था वह अपने-आप उनके गले उतर जाता था। वह अपने क्षेत्र में बहुत बड़े थे। अहमदाबाद म्युनिसिपैलिटी में उन्होंने शासन चलाने में बहुत काबलियत बताई थी। मगर वह इतने नम्र थे कि उन्होंने अपनी राजनैतिक तालीम मेरे नीचे शुरू की। उन्होंने उसका कारण मुझे बताया था कि जब मैं हिंदुस्तान में आया था उन दिनों जिस तरह का राज-काज हिंदुस्तान में चलता था, उसमें हिस्सा लेने का उन्हें मन नहीं होता था। मगर अब जब सत्ता उनके गले आ पड़ी तब उन्होंने देखा कि जिस अहिंसा को वह आज तक सफलतापूर्वक चला सके अब वह नहीं चला सकते। मैंने कहा है कि मैं समझ गया हूं कि जिस चीज को मैं और मेरे साथी अहिंसा कहा करते थे वह सच्ची अहिंसा न थी। वह तो नकली चीज थी और उसका नाम है निष्क्रिय प्रतिरोध। हां, किनके हाथों में निष्क्रिय प्रतिरोध किसी काम की चीज है? ज़रा सोचिये तो सही कि एक कमजोर आदमी जनता का प्रतिनिधि बने तो यह अपने मालिकों की हँसी और बेइज्जती ही करवा सकता है। मैं जानता हूं कि सरदार कभी उन्हें सौंपी हुई जिम्मेदारी को दगा नहीं दे सकते। वह उसका पतन बर्दाश्त नहीं कर सकते। मैं उम्मीद करता हूं कि यह सब सुनने के बाद कोई ऐसा ख्याल नहीं करेंगे कि मेरा उपवास गृह-विभाग की निंदा करनेवाला है। अगर कोई ऐसा खयाल करनेवाला है तो मैं उसको कहना चाहता हूं कि वह अपने-आपको नीचे गिराता है और अपने-आपको नुकसान पहुंचाता है, मुझे या सरदार को नहीं। (प्रा० प्र०, १५.१.४८)

... ...

सरदार ने बंबई में क्या कहा, उसे गौर से पढ़ें तो पता चल जायगा

कि सरदार और पंडित नेहरू दूर नहीं हैं, कहने का तरीका अलग हो सकता है, लेकिन करते एक ही चीज हैं। वह हिंदुस्तान या मुसलमान के दुश्मन नहीं हो सकते। जो मुसलमान का दुश्मन है वह हिंदुस्तान का भी दुश्मन है, इसमें मुझे कोई शक नहीं। (प्रा० प्र०, २०.१.४८)

: ११७ :

विट्ठलभाई जे० पटेल

पाठकों को एक खुशखबरी न सुनाने का मुझे खेद है। अब वह नीचे दिये गए श्रीयुत विट्ठलभाई पटेल और मेरे बीच के पत्र-व्यवहार से प्रकट होगा।

(१)

आर्य-भवन
सैंडहर्स्ट रोड, बंबई
१० मई, १९२९

प्रिय महात्माजी,

जब मैंने लेजिस्लेटिव असेम्बली का सभापतित्व स्वीकार किया था तो उस समय अपने मन-ही-मन निश्चय कर लिया था कि मेरे वेतन से जो कुछ बचत होगी, उसका किसी राष्ट्रोपकारी काम में उपयोग करूंगा। कई कारणों से, पहले ६ महीनों में मैं कुछ कहने-सुनने लायक रकम नहीं बचा सका। पिछले महीने से, मुझे कहते हुए खुशी होती है, कि मैं कठिनाइयों से पार हो गया हूं और एक भारी रकम बचा सकता हूं। मैं देखता हूं कि मुझे औसतन दो हजार रुपये महीने की जरूरत पड़ती है। इन्कम टैक्स देकर, मेरा माहवारी वेतन ३,६२५) रुपये है। इसलिए मैं चाहता हूं कि पिछले महीने से शुरू करके मैं हर महीने १,६२५) रुपये अलग निकाल दूं और इसका आप जिस काम में, जैसे चाहें, उपयोग करें। खैर, मेरे मन में इस विषय में कुछ विचार तो हैं, और समयानुसार मैं उनपर आपसे चर्चा करूंगा, मगर आप मुझसे उन विचारों में सहमत हों या नहीं, वह रकम आपके अधिकार में रहेगी। साथ में अप्रैल मास के वेतन में से मैं १६२५) रुपये का एक चैक भेजता हूं।

मुझे विश्वास है कि इस जिम्मेदारी को आप अस्वीकार नहीं करेंगे।

आपका,

(ह०) वी० जे० पटेल

(२)

'सुखडेल'

शिमला, ३१ मई, १६२६

प्रिय महात्माजी,

साथ में ४३२५) रु० का चेक भेजता हूं। इसमें १,६२५) रु० तो मई के मेरे वेतन में से मेरा हिस्सा है और २७००) रु० उस ३२००) रु० के बाकी हैं जो बंबई कार्पोरेशन के सभापतित्व का कार्यकाल समाप्त होने पर ५,०००) रु० की थैली मुझे भेंट करने के लिए इकट्ठे किये थे। आखिरी बार जब मैं आपसे साबरमती में मिला था तो मैंने आपको समझा दिया था कि इस रकम को जो मैंनें यों साधारणत: स्वराजदल के या बंबई राष्ट्रीय-म्युनिसिपल-दल के, ऐसे कामों के लिए खर्च करने का निश्चय किया था, जिन्हें मैं उचित समझता, अब उसे क्यों आपको देना चाहता हूं ताकि मेरे वेतन में से मेरी मासिक सहयता के कोष में वह मिला दिया जाय।

आपका,

(ह०) वी० जे० पटेल

(३)

आश्रम

साबरमती, २५-७-२६

प्रिय विट्ठलभाई,

मेरे पास आपके पत्र और सब मिलाकर ७,५७५) रु० के चेक मिले, जिसमें असेम्बली के प्रमुख के रूप में आपके तीन महीनों के वेतन के हिस्से हैं और ५०००) की थैली की बचत है। आप मुझे यह रकम किसी ऐसे देशोपकारी काम में खर्च करने को कहते हैं, जिसे मैं पसंद करूं। वह पत्र लिखने के बाद आपने मेरे साथ अपने सुन्दर दान के उपयोग के विषय में अपने विचारों की चर्चा करली है। मैंने इसपर खूब विचार किया है कि उस रकम का मैं सचमुच में क्या उपयोग करूं और अंत में इस निश्चय पर आया हूं कि

अभी हाल में तो उसे जमा होते जाने दूं। इसलिए आश्रम के एजेन्सी खाते में उसे ६ महीने की बंधी मुद्दत के लिए जमा करता जा रहा हूं, जिससे सूद की अच्छी रकम इकट्ठी हो सके और दलादली का झगड़ा खत्म होते ही कुछ पारस्परिक मित्रों की सहायता लेकर, आपकी और उनकी सलाह से किसी प्रशंसनीय राष्ट्रीय काम में लगाऊं।

इस बीच में मैं आपको इस उदार भाव के लिए, जिससे आप अपने वेतन का एक बड़ा भाग सार्वजनिक काम के लिए दे देते हैं आपको साधुवाद देता हूं। मैं आशा करता हूं कि आपका उदाहरण और लोगों पर असर करेगा।

आपका,

(ह०) मो० क० गांधी

(४)

२०, अकबर रोड

नई दिल्ली, ९ मार्च, १९२७

प्रिय महात्माजी,

जैसा कि आप जानते हैं, मैंने आपको पहले ही जैसा, पिछले अप्रैल मास के मेरे पत्र में बतलाये हुए काम के लिए, हर महीने कोई ऐसी रकम देने का निश्चय किया है, जो मैं अपने वेतन में से बचा सकूंगा। असेम्बली के सभापतित्व के सारे कार्य-काल भर, जहांतक संभव हो, मैं यही प्रबंध जारी रखना चाहता हूं।

फरवरी के अंत तक जो कुछ बचत हो सकी है, उसके लिए २०००) रु० का चेक साथ में भेजता हूं।

आपका,

(ह०) वी० जे० पटेल

यह पत्र-व्यवहार, श्रीयुत विट्ठलभाई पटेल की इच्छा से ही रुका रहा। चुनाव के दिनों में इसे प्रकाशित करने में उन्हें कुछ संकोच-सा मालूम हुआ। चुनावों के बाद भी मैं पिछले ही हफ्ते उनकी स्वीकृति पा सका। अगर इसके प्रकाशन में सार्वजनिक लाभ न होता तो मैं स्वयं इस झिझक को बढ़ावा ही देता। मैं जानता हूं कि विट्ठलभाई चाहते हैं कि लोग उनके उदाहरण की नकल करें। अगर किसी-न-किसी कारण से, हिंदुस्तान की स्थिति

के हिसाब से, बेहिसाब बड़े वेतन जरूर लेने ही पड़ें तो उनका एक अच्छा हिस्सा, सार्वजनिक लाभ के किसी काम के लिए, अलग निकालकर रखा जा सकता है। मैं जानता हूं कि ऐसे कितने ही बड़े वेतनोंवाले आदमी हैं जो अपनी आमदनी, अपनी व्यक्तिगत मौज में नहीं उड़ाते, मगर सार्वजनिक सेवा में लगाते हैं। मगर उसका खर्च अपनी ही इच्छा के अनुसार करते हैं। विट्ठलभाई ऐसे चंदों का एक विशेष कोष खोलना चाहते हैं, जिसका प्रबंध जाने-सुने प्रतिष्ठित पुरुष करें। अगर इस उद्देश्य को सफल होना है तो ट्रस्टियों का मंडल राष्ट्रीय हो और उसमें उन सभी दलों के प्रतिनिधि हों जो एक कार्यक्रम पर सहमत हो सकें। इसलिए जिन लोगों को यह प्रस्ताव पसंद हो, उनसे मैं आलोचनाएं और सूचनाएं मांगता हूं। काष की सारी जिम्मेदारी लेने या केवल उन्हीं कामों में उसका उपयोग करने की मेरी इच्छा नहीं है, जिनके लिए मैंने अपना जीवन उत्सर्ग किया हुआ है। मैं जानता हूं कि मैं विट्ठलभाई के महान उपहार का मतलब सबसे अच्छी तरह पूरा कर सकूंगा अगर मैं उन सबका सहयोग मांगू जो सहायता करने को तैयार हों। (हि० न०, १७.३.२७)

... ...

धारासभा के सभापति और सरकार के बीच के मतभेद का परिणाम चाहे जो हो, इतना तो सच है कि धारासभा ने श्री विट्ठलभाई पटेल को अपना सभापति चुनकर जो काम किया था उसके औचित्य का श्री पटेल ने अपने कार्य द्वारा जरूरत से ज्यादा प्रमाण दे दिया है। अपनी कठोर निष्पक्षता द्वारा उन्होंने अपने पद के सम्मान की रक्षा की है। साथ ही परंपरा द्वारा और कानून द्वारा जो मर्यादा उनके लिए बन चुकी है, उसके भीतर रहकर भी, राष्ट्रीय हित का एक भी अवसर उन्होंने हाथ से नहीं जाने दिया है। इस कारण सहज ही उनमें और सरकार में हर बार मतभेद पैदा होता गया है। फिर भी हर एक वक्त जीत उनकी ही हुई है। वह ऐसे अवसरों पर भी विजयी हुए हैं जब कि उपस्थित समस्या की विकटता के कारण ऐसा भ्रम होता था कि वह अपना सहज उदात्त स्वभाव कायम न रख सकेंगे। ऐसा होने पर भी दूसरे ही दिन उन्होंने स्वेच्छा से, उपयुक्त सम्मानपूर्ण शब्दों में प्रार्थना करते हुए अपनी गलती सुधार ली है। उन्होंने कभी अपने

हृदय के भाव छिपाये नहीं हैं। सभापति की हैसियत से निर्भीकता-पूर्वक कार्य-संचालन करके उन्होंने राष्ट्र की प्रतिष्ठा को बढ़ाया है।

अतएव यहां उनकी महान् सफलता के कारण की जांच करना अनुचित न होगा। उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं है। सादा जीवन बिताने के कारण उनकी आर्थिक जरूरतें बहुत थोड़ी हैं। यही कारण है कि न तो ऊंचा पद और न बड़ा वेतन ही उन्हें ललचा पाते हैं। अपनी इस विरक्ति के कारण उनका उद्यम घटा नहीं, बल्कि आश्चर्यकारक ढंग से बढ़ गया है, जिसके कारण इतने उच्च पद का कार्य-संचालन करने के लिए जिन नियमों और कार्य-प्रणाली का ज्ञान आवश्यक है, उसपर उनका अनन्य प्रभुत्व हो गया है। विट्ठलभाई पटेल के लिए राजनीति फुर्सत के वक्त का मनोरंजन नहीं है, वह तो उनके जीवन का प्रधान अंग बन गई है। अतएव उन्होंने राजनीति के अध्ययन में अपनी सारी बुद्धि और सारा समय खर्च कर दिया है। फलस्वरूप अपने क्षेत्र में उन्होंने अपने-आपको अजेय बना लिया है।

(हि० न०, १८.४.२९)

... ...

विट्ठलभाई पटेल ने अपनी आखिरी कारगुजारी द्वारा अपूर्व साहस और जागरूकता का परिचय दिया है। धारासभा के प्रति मुझे कभी मोह पैदा हुआ ही न था। अब तो वह पहले से भी ज्यादा बुरी मालूम होती है। इस धारासभा की वजह से हिन्दू-मुसलमानों में दुश्मनी बढ़ी है। नेताओं के स्वार्थ में वृद्धि हुई है। फिर भी अगर किसीका धारासभा में जाना सार्थक और सफल हुआ है तो वह विट्ठलभाई का ही। बड़ी धारासभा के अध्यक्ष के नाते उन्होंने अपना सारा जौहर जताया है और भारतवर्ष का गौरव बढ़ाया है। (हि० न०, २५.४.२९)

... ...

सन् १९१७ की गोधरा की राजनैतिक परिषद् के अवसर पर विट्ठलभाई को मैंने हरिजन-बस्ती में जो देखा था, वह दृश्य कभी भूलने का नहीं। राजनैतिक परिषद् के साथ-साथ गोधरा में दूसरे सम्मेलन भी किये जाते थे। उनमें एक सुधार-सम्मेलन भी वहां था। उसमें एक प्रस्ताव हरिजनों के सम्बन्ध का था। मैंने परिषद् में कहा कि जहां उंगलियों पर गिनने

लायक भी हरिजन मौजूद न हों वहां उस प्रस्ताव का रखना व्यर्थ है। इससे यह अच्छा होगा कि रात को हरिजन-बस्ती में जाकर वह प्रस्ताव पास किया जाय। सभा को यह बात पसन्द आ गई। हरिजन-बस्ती सवर्ण हिन्दुओं से खूब भर गई। गोधरा के इतिहास में यह बात अपूर्व थी। तिल रखने को जगह न थी। अब्बाससाहब, उनकी बेगमसाहिबा वगैरा तो थे ही, पर वहां मैंने एक दाढ़ीवाले भाई को कफनी, धोती और साधुओं का-सा कनटोप लगाये देखा। इस अजीब भेष में विट्ठलभाई को इससे पहले कभी नहीं देखा था। इसलिए मैं उन्हें झट से पहचान न सका। पर जब पहचाना तब तो हम एक-दूसरे से लिपट गये और खूब हँसे। इस भेष में विट्ठलभाई का एक नाटकीय स्वांग तो था ही; किन्तु इसके अन्दर उनकी सादगी और जनसाधारण में घुल-मिल जाने की एक कला भी थी। विट्ठल-भाई की वहां की उपस्थिति से मैंने उनके हरिजन-प्रेम का परिचय पाया। और फिर ज्यों-ज्यों उनका अधिक अनुभव मुझे होता गया, यह सिद्ध हुआ कि उनका उस दिन हरिजन-बस्ती में जाना शुद्ध हार्दिक था।

उनके अन्दर छुआछूत के लिए ज़रा भी जगह न थी। ऊंच-नीच-भाव उनमें नहीं था। उनका दृढ़ विश्वास था कि जो अधिकार या पद सवर्ण हिन्दुओं को प्राप्त हो सकें, वही सब हरिजनों को भी मिलने चाहिए। उनका यह विश्वास ही नहीं, बर्ताव भी इसी प्रकार का था। इसीसे मैं आशा करता हूं कि आगामी ९ नवम्बर को जब उनके शव का अग्नि-संस्कार भारत में होगा, उस दिन समस्त जनता के आंसुओं में हरिजन भी अपने श्रद्धापूर्ण आंसू मिलायेंगे। (ह० से०, १०.११.३३)

... ...

सिर्फ विट्ठलभाई का चित्र कालेज हाल में लटका देने से ही तुम लोग उत्तीर्ण नहीं हो सकते। उनसे ऋणमुक्त तो तुम तभी हो सकोगे जब उनकी निःस्वार्थता, उनकी सेवा-भावना और उनकी सादगी को तुम लोग ग्रहण करोगे। वह चाहते तो वकालत या दूसरा कोई अच्छा-सा धन्धा करके लाखों रुपया कमाकर मालामाल हो जाते। पर वह तो सारी जिन्दगी सादगी से ही रहे और अन्त में गरीबी की हालत में ही मरे। क्या ही अच्छा हो कि तुम लोग भी स्व० विट्ठलभाई पटेल का इसी तरह पदानुसरण करो।

('विद्यार्थियों से', पृष्ठ १७२)

: ११८ :

विजयालक्ष्मी पण्डित

आप सब श्रीमती विजयालक्ष्मी पंडित को जानते हैं। वह हिन्दुस्तानी नुमाइन्दा-मंडल की मुखिया इसलिए नहीं हैं कि पंडित जवाहरलाल की बहन हैं, बल्कि इसलिए हैं कि वह इसके लायक हैं और अपना काम होशियारी से करती हैं। (प्रा० प्र०, १६.११.४७)

: ११९ :

नागेश्वरराव पन्तलु

नागेश्वरराव में विनय है और सचाई कूट-कूटकर भरी है। मुझे उनका मित्र और साथी होने का गर्व है। मेरा जबसे उनके साथ परिचय हुआ है, मैंने उनमें यह विशेषता देखी है कि जिन्हें उनकी या उनकी सहायता की आवश्यकता होती है उनके हाथ में वह अपनी गर्दन दे देते हैं। उनके दाहिने हाथ का दिया हुआ उनके बांये हाथ को मालूम नहीं होता।

(ह० से०, १२.१.३४)

: १२० :

पेस्तनजी पादशाह

यहां मुझे पेस्तनजी पादशाह याद आते हैं। विलायत से ही उनका मेरा मधुर सम्बन्ध हो गया था। पेस्तनजी से मेरा परिचय लन्दन के अन्नाहारी भोजनालय में हुआ था। उनके भाई बरजोरजी एक 'सनकी' आदमी थे। मैंने उनकी ख्याति सुनी थी; पर मिला न था। मित्र लोग कहते, वह 'चक्रम' (सनकी) हैं। घोड़े पर दया खाकर ट्राम में नहीं बैठते, शतावधान की तरह स्मरण-शक्ति होने हुए भी डिग्री के फेर में नहीं पड़ते। इतने आजाद

मिजाज कि किसीके दम-झांसे में नहीं आते और पारसी होते हुए भी अन्ना-हारी ! पेस्तनजी की डिग्री इतनी बढ़ी हुई नहीं समझी जाती थी; पर फिर भी उनका बुद्धि-वैभव प्रसिद्ध था। विलायत में भी उनकी ऐसी ही ख्याति थी; परन्तु उनके मेरे सम्बन्ध का मूल तो था उनका अन्नाहार। उनके बुद्धि-वैभव का मुकाबला करना मेरे सामर्थ्य के बाहर था।

बम्बई मैंने पेस्तनजी को खोज निकाला। वह प्रोथोनोटरी थे। जब मैं मिला तब वह बृहत् गुजराती शब्द-कोश के काम में लगे हुए थे। दक्षिण अफ्रीका के काम में मदद लेने के सम्बन्ध में मैंने एक भी मित्र को टटोले बिना नहीं छोड़ा था। पेस्तनजी पादशाह ने तो मुझे ही उलटे दक्षिण अफ्रीका न जाने की सलाह दी—"मैं तो भला आपको क्या मदद दे सकता हूं; पर मुझे तो आपका ही वापस लौटना पसन्द नहीं। यहीं, अपने देश में ही, क्या कम काम है ? देखिये, अभी अपनी मातृ-भाषा की सेवा का ही कितना क्षेत्र सामने पड़ा हुआ है ? मुझे विज्ञान-सम्बन्धी शब्दों के पर्याय खोजने हैं। यह हुआ एक काम। देश की गरीबी का विचार कीजिये। हां, दक्षिण अफ्रीका में हमारे लोगों को कष्ट है; पर उसमें आप जैसे लोग खप जायं, यह मुझे बरदाश्त नहीं हो सकता। यदि हम यही राज-सत्ता अपने हाथ में ले सकें तो वहां उनकी मदद अपने-आप हो जायगी। आपको शायद मैं न समझा सकूंगा; परन्तु दूसरे सेवकों को आपके साथ ले जाने में मैं आपको हरगिज सहायता न दूंगा।" ये बातें मुझे अच्छी तो नहीं लगीं; परन्तु पेस्तनजी पादशाह के प्रति मेरा आदर बढ़ गया। उनका देश-प्रेम व भाषा-प्रेम देखकर मैं मुग्ध हो गया। उस प्रसंग की बदौलत मेरी उनकी प्रेम-गांठ मजबूत हो गई। उनके दृष्टि-बिन्दु को मैं ठीक-ठीक समझ गया, परन्तु दक्षिण अफ्रीका के काम को छोड़ने के बदले, उनकी दृष्टि से भी, मुझे तो उसीपर दृढ़ होना चाहिए—यह मेरा विचार हुआ। देश-प्रेमी एक भी अंग को, जहांतक हो, न छोड़ेगा, और मेरे सामने तो गीता का श्लोक तैयार ही था—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

(गीता ३।३५)

बढ़े-चढ़े पर-धर्म से घटिया स्वधर्म अच्छा है। स्वधर्म में मौत भी उत्तम है, किन्तु पर-धर्म तो भयकर्त्ता है। (आ० क०)

: १२१ :

रुस्तमजी जीवनजी पारसी

रुस्तमजी जीवनजी गोरखोदू के पुत्र ने डरबन से समुद्री तार द्वारा यह समाचार भेजा है कि उनके पिता का देहान्त हो गया। यह मेरी व्यक्तिगत हानि हुई है। वह एक मूल्यवान मवक्किल, प्रिय मित्र और वफादार साथी कार्यकर्ता थे। वह जितने सच्चे पारसी थे उतने ही सच्चे भारतीय थे। वह उतने ही सच्चे इन्सान भी थे। वह कट्टर पारसी थे, किन्तु उनका पारसी धर्म स्वयं मानवता जितना विशाल था। उन्होंने बिना किसी भेद-भाव के सबके साथ दोस्ती की। वह अधिकारियों के प्रति शिष्ट व्यवहार कर सकते थे, किन्तु जरूरत पड़ने पर वह अपनी बात पर अडिग भी रह सकते थे। उनका शब्द ही वचन के बराबर होता था। वह शेर के समान बहादुर थे। वह वचन देने में संकोच करते थे, किन्तु अगर उन्होंने वचन दे दिया तो उसका पालन करने का भरसक प्रयत्न करते थे। एक बार उन्होंने अपनेको सत्याग्रही घोषित किया, फिर तो आन्दोलन के कठिन-से-कठिन समय में भी वह विचलित नहीं हुए। उस समय भी नहीं, जबकि अन्न कहीं नज़र नहीं आता था। जब उन्होंने सत्याग्रही की प्रतिज्ञा ली, तब वह कोई नौजवान नहीं थे। वह अपने व्यावसायिक कामों से भी निश्चिन्त नहीं थे। किन्तु उन्होंने कितनी कीमत चुकानी पड़ेगी, इसका कोई हिसाब नहीं लगाया। उन्होंने बिना किसी शिकायत के सब नुकसान सहन किये। उन्होंने अपनी हैसियत से अधिक दिया, किन्तु बिना सोचे-समझे नहीं। उनका दान अत्यन्त उदार होता था। उन्होंने मस्जिदों, मदरसों और राष्ट्रीय शालाओं के लिए दान दिया। उनको दक्षिण अफ्रीका में सर्वत्र पारसी रुस्तमजी कहते थे और उन्हें अनेक नौजवानों की उन्नति का श्रेय प्राप्त है। व्यक्तिगत रूप में उनका बड़ा ऋणी हूं। दक्षिण अफ्रीका में मेरे अनेक दोस्त हैं। किन्तु उनसे अधिक घनिष्ठ दोस्त शायद ही कोई होगा। उन्होंने मुझे अपने घर

में उस समय शरण दी, जब लोगों ने मुझे मारा-पीटा था। मेरे और मेरे परिजनों के लिए उनका घर आश्रय-स्थल था। लोग आश्चर्य करते हैं कि मुझे पारसियों के प्रति पक्षपात क्यों है। मैं पक्षपाती नहीं हूं, किन्तु मैं आभारी हूं और उनके सराहनीय गुणों की साक्षी दे सकता हूं। जबतक पारसी रुस्तमजी की स्मृति मेरे हृदय में बनी रहेगी, तबतक इस मानव-समुदाय के प्रति मेरी आदर-भावना भी कायम रहेगी। अगर हमारे सार्वजनिक जीवन में अनेक रुस्तमजी हों तो हमको अपना लक्ष्य प्राप्त करने में अधिक समय नहीं लग सकता। उनकी आत्मा को शान्ति मिले और परमात्मा उनके दोनों पुत्रों को अपने महान पिता के पदचिह्नों पर चलने की शक्ति प्रदान करे। (यं० इं०, २०. ११. २४)

: १२२ :

चंगनचेरी पिल्ले

पाठकों को त्रावणकोर के श्री चंगनचेरी के परमेश्वरन् पिल्ले की मृत्यु का समाचार मिल गया होगा। वह एक सच्चे और सतत हरिजन सेवक थे। वह त्रावणकोर उच्च न्यायालय के अवसर-प्राप्त न्यायाधीश थे। वह हरिजन-सेवक-संघ की कार्य-समिति के सदस्य थे। वह एक अत्यन्त निर-भिमानी और स्नेही व्यक्ति थे। उनके मन्त्री ने उनकी मृत्यु का यह हृदय-स्पर्शी वर्णन भेजा है :

मैं अपना परिचय इस तरह देना चाहता हूं कि मैं स्वर्गीय श्री चंगन-चेरी के परमेश्वरन् पिल्ले का निजी मन्त्री था। यह पत्र मैं श्री चंगनचेरी की दुःखजनक मृत्यु का वर्णन करने के लिए लिख रहा हूं, जिसके बारे में आप पहले ही सुन चुके हैं।

नवम्बर १९३९ में मस्तिष्क के पक्षाघात के पहले प्रहार के बाद श्री चंगनचेरी फरवरी १९४० में इतने स्वस्थ हो गये थे कि इधर-उधर चल-फिर लेते थे। पिछले दिनों वह अपनी तन्दुरुस्ती का काफी खयाल रखते थे। उन्होंने ग्रीष्म कन्याकुमारी में बिताया। वहां से लौटने पर वह मन और शरीर से बिल्कुल ठीक दिखाई देते थे। उन्होंने एक नई मोटर गाड़ी

खरीदी थी और अक्सर शाम को समुद्र के किनारे जाया करते थे। अन्य दिनों वह शाम को टहल लेते थे। असल में उनका शरीर इतना चंगा हो गया था कि शायद ही पहले कभी इतना अच्छा रहा होगा। परन्तु शारीरिक सुधार के बावजूद उनकी मानसिक कमजोरी बनी रही। वह ठीक-ठीक बातचीत कर लेते थे, किन्तु कुछ व्यक्तियों के नाम नहीं बोल सकते थे और जब चाहते तब उनके नाम नहीं याद कर सकते थे। दस मिनट सिलसिलेवार बात करना उनके लिए असम्भव था। फिर भी उन्होंने उन सभी सार्वजनिक संस्थाओं में दिलचस्पी लेना शुरू किया, जिनके साथ सार्वजनिक जीवन से अवकाश लेने के बाद उनका सक्रिय सम्बन्ध रहा था। यह लिखना दिलचस्पी से खाली नहीं होगा कि अपनी मृत्यु से एक दिन पहले उन्होंने मुझे अपनी विदुर स्थित जागीर में भेजा, जहां एक कणि आश्रम, बुनाईशाला और प्राथमिक शाला चलते हैं। ये दो संस्थाएं और दस एकड़ भूमि उन्होंने कुछ वर्ष पहले हरिजन-सेवक-संघ को दान में दी थी। अर्थाभाव के कारण प्राथमिक शाला के अलावा दूसरी संस्थाएं काम नहीं कर रही थीं। मुझे उन्होंने इन संस्थाओं को देखने और उन्हें पुनर्जीवित करने की योजना बनाने के लिए भेजा था। मैंने योजना तैयार भी कर ली थी, किन्तु उसे उनके सामने रखने का अवसर नहीं मिला था। मृत्यु के एक दिन पहले वह शाम को सदा की भांति घूमने गये और विशेषता यह थी कि उनके साथ उनके छोटे बच्चे भी थे। शाम को साढ़े सात बजे घर लौटने के बाद उन्होंने अगले दिन एक दावत देने की योजना बनाई। जो मात्र जीवित रहने के लिए ही खाते थे, उनके लिए यह बात आश्चर्यजनक थी। मृत्यु के दिन सुबह उन्होंने एक ठेकेदार से अपनी शहर की जायदाद पर एक नई इमारत बनाने की योजना के बारे में चर्चा की। दुपहर को साढ़े बारह बजे उन्होंने शानदार दावत में हिस्सा लिया और झपकी लेने के लिए अपने सोने के कमरे में चले गये।

उनकी पत्नी भी उसी कमरे में थी। शाम को तीन बजे वह जागे तो उन्हें कुछ बेचैनी महसूस हुई। उनके हाथ और शरीर के दूसरे अंग कांपने लगे। उनकी हालत देखकर पास ही रहनेवाले डाक्टर को बुलाया गया। दस मिनट के भीतर डाक्टर आये तो उनकी नब्ज गायब थी। उनको एक

इंजेक्शन दिया गया, किन्तु कोई असर नहीं हुआ। डाक्टर दूसरा इंजेक्शन देने की तैयारी कर रहे थे कि मौत के सही हाथों ने इस महान् नेता को धर दबाया। यह खयाल किया जाता है कि उनकी मृत्यु मस्तिष्क के पक्षाघात के एक और प्रहार के कारण हुई जो इस बार घातक सिद्ध हुआ। ३० जून को शाम के तीन बजे उनका देहान्त हुआ।

अन्तिम संस्कार रात के साढ़े ग्यारह बजे उनका पूजापुरई जायदाद पर किया गया। स्वर्गीय नेता को श्रद्धांजलि भेंट करने के लिए बड़ी संख्या में लोग एकत्र हुए थे। वह अपने पीछे अपनी पत्नी और आठ बच्चे छोड़ गये हैं। सबसे बड़ी लड़की है और उसका हाल में ही विवाह हुआ था।

मैं यह भी लिख दूं कि अगले दिन सवेरे सर सी० पी० रामास्वामी अय्यर ने शोक-संदेश भेजा था।

यहां लोगों का यह खयाल है कि त्रावणकोर में ऐसा प्रतिभाशाली व्यक्ति दूसरा नहीं हुआ। उनका अपने समय की सभी सार्वजनिक प्रवृत्तियों से सम्पर्क रहा। सारा देश उनके लिए शोक मना रहा है।

मृत्यु ने भोज का आयोजन कराया। श्री पिल्ले के मन्त्री ने ठीक ही लिखा है कि वह जीने के लिए खाते थे। किन्तु जब ईश्वर हमको अनजाने पकड़ना चाहता है तो हमारी बुद्धि को भ्रम में डाल देता है। हममें से कोई भी यह दावा नहीं कर सकता कि हम स्वर्गीय सेवक से ज्यादा अच्छे साबित होंगे। यह हमारे लिए श्रेयस्कर होगा अगर हम इस महान् हरिजन-सेवक की तरह अपने जीवन का अन्त कर सकें। परमात्मा उनकी आत्मा को आशीर्वाद और उनकी विधवा और परिवार को यह हानि सहन करने की शक्ति दे। मैं आशा करूंगा कि वे उनके पदचिह्नों पर चलेंगे। (ह०, १३.७.४०)

: १२३ :

जी० परमेश्वरन् पिल्ले

यहां मुझे बड़ी-से-बड़ी सहायता स्वर्गीय जी० परमेश्वरन् पिल्ले से मिली। वह 'मद्रास स्टैंडर्ड' के सम्पादक थे। उन्होंने इस प्रश्न का अच्छा

अध्ययन कर लिया था। वह बार-बार अपने दफ्तर में बुलाते और सलाह देते। 'हिन्दू' के जी० सुब्रह्मण्यम् से भी मिला था। उन्होंने तथा डा० सुब्रह्मण्यम् ने भी पूरी-पूरी हमदर्दी दिखाई; परन्तु जी० परमेश्वरन् पिल्ले ने तो अपना अखबार इस काम के लिए मानो मेरे हवाले ही कर दिया और मैंने भी दिल खोलकर उसका उपयोग किया। (आ० क०)

: १२४ :

पुरुषोत्तम (बापू गायधनी)

श्रीयुत जी० वी केतकर ने महान् वीरता की एक घटना का हाल भेजा है, जो यहां उल्लेखनीय है :

"श्रीयुत पुरुषोत्तम, जो बापू गायधनी के नाम से अधिक पहचाने जाते हैं, नासिक के एक नौजवान कार्यकर्ता थे। पिछले कुछ वर्षों से वह नासिक की गुलालवाडी सार्वजनिक व्यायामशाला के सहायक मन्त्री का काम कर रहे थे। वह समय-सयम पर महासभा और स्वदेशी प्रचार के कामों में भी हाथ बंटाया करते थे। ४ अप्रैल के दिन नासिक में एक मकान में आग लगी। बापू गायधनी ने आग बुझाने के काम में बहुत अधिक मेहनत की। यह मालूम होने पर कि मकान में बालक रह गये हैं, परिणाम की तनिक भी चिन्ता न करके, वह मकान में घुस पड़े और बच्चों को निकाल लाये। ढोरों को बचाने के लिए वह फिर से घर में घुसे। बदकिस्मती से इस वक्त तक आग चारों ओर फैल चुकी थी। एक जलता हुआ पाट अर्राकर उनके सर पर फट पड़ा। वह बुरी तरह जल गये और शरीर कई जगह घायल हो गया। घायल दशा में वह सिविल अस्पताल पहुंचाये गए, जहां ११वीं अप्रैल को उनका स्वर्गवास हो गया।"

उनके माता-पिता को, अगर वे जीवित हैं, अपने बहादुर पुत्र के लिए गर्व होना चाहिए। बापू गायधनी ऐसी भव्य मृत्यु पाकर अमर हो गये हैं। (हि० न०, ३०.४.३१)

: १२५ :

सरदार पृथ्वीसिंह

'हरिजन' के पाठक जानते हैं कि सरदार पृथ्वीसिंह पच्चीस साल के बाद आजाद हुए हैं। इन पच्चीस सालों का एक भाग तो उन्होंने जेल में बिताया और सोलह साल फकीरी की हालत में इधर-उधर छिपते हुए। उन सोलह साल की जिन्दगी को वह आजादी की जिन्दगी नहीं कह सकते, जबकि खुफिया पुलिस उनके पीछे लगी रहती थी और जब जैसा अवसर हो उसके अनुसार वह नये-नये नाम रखते और नये-नये भेष धारण करते रहते थे। पाठकों को याद होगा कि पिछले साल जब मैं स्वास्थ्य-सुधार के लिए जुहू में था तब पृथ्वीसिंह ने मुझसे मिलकर अपने पिछले पापों को स्वीकार करने और भविष्य में मेरे आदेशानुसार अपना जीवन बनाने का निश्चय किया। मैंने उन्हें सलाह दी कि पुलिस को आत्म-समर्पण कर दो और अपने पिछले पापों से मुक्त होने के लिए स्वेच्छा-पूर्वक जेल के नियमों का पालन करनेवाले कैदी बन जाओ। मैंने उनसे कहा था कि मैं तुम्हें रिहा कराने की कोशिश तो करूंगा, लेकिन तुम्हें यह न समझना चाहिए कि मैं उसमें सफल हो ही जाऊंगा, बल्कि जरूरत हो तो अपना शेष जीवन जेल में काटने में ही सन्तोष करना चाहिए। बड़ी प्रसन्नता और सच्चे जी के साथ वह आजन्म कारावास भुगतने के लिए तैयार हो गये। सच्चे जी से उन्होंने यह सच्चाई कबूल कर ली कि स्वेच्छा-पूर्वक कैद से भी देश की शायद उतनी ही सेवा होगी, जितनी कि जेल से बाहर रहकर की जा सकती है। मैं बड़ी खुशी के साथ यह कह सकता हूं कि वह अपनी बात के पक्के रहे हैं। पाठक जानते हैं कि महादेव देसाई ने रावलपिण्डी जेल में उनसे मिलने के बाद उस मुलाकात का वर्णन करते हुए उन्हें सौ-फीसदी आदर्श कैदी बतलाया था। वह अपने जेलरों के प्रिय बन गये हैं और जेलरों ने उनमें जो विश्वास किया उसके लिए उन्हें कभी पछताना नहीं पड़ा। वहां उन्होंने ऊन और सूत की कताई सीखी और ऊन-कताई का काम ऐसी मेहनत से किया कि उनका हट्टा-कट्टा शरीर भी लगातार परिश्रम से थक जाता था। सरदार पृथ्वीसिंह के आदर्श जेल-जीवन के बारे में पहले प्यारेलाल ने और

फिर महादेव देसाई ने जो कुछ कहा उसपर से मैंने अपने कर्तव्य का निश्चय कर लिया। महादेव देसाई को इस बात का पूरा विश्वास हो गया कि उनके मामले में वह सफलता के साथ सर सिकन्दर हयातखां से बातचीत कर सकते हैं। मैंने उन्हें इसकी आज्ञा दे दी। सर सिकन्दर भी बड़ी उदारता से पेश आये। महादेव ने जो कुछ कहा उसकी सचाई से, जिसकी पुष्टि पृथ्वीसिंह जिन जेलों में रहे उनके अफसरों द्वारा प्राप्त रिपोर्टों से भी होती थी, वह प्रभावित हुए। महादेव ने इसके लिए वाइसराय-भवन के भी द्वार खटखटाये। इस सबका फल यह हुआ कि २२ सितम्बर को अधिकारियों ने सरदार पृथ्वीसिंह को लाकर मेरे पास छोड़ दिया। मैंने उनका स्वागत करते हुए कहा—"तुमने अपनेको एक जेल से दूसरी जेल में बदल दिया है, जो किसी कदर ज्यादा ही सख्त है।" उन्होंने हँसकर अपनी हार्दिक स्वीकृति प्रकट की। वह जानते हैं कि वह कसौटी पर कसे जा रहे हैं। अपने देश की आजादी के लिए एकमात्र हिंसा में उनका पक्का विश्वास रहा। उन्होंने ऐसे-ऐसे साहसपूर्ण काम किये हैं, जिनकी बराबरी चाहे कोई कर सके; लेकिन उनसे बढ़कर किसी क्रान्तिकारी ने नहीं किया है। उनका जीवन अद्भुत घटनाओं से भरा हुआ है। लेकिन धीरज के साथ आत्म-निरीक्षण करने से उन्हें मालूम पड़ा कि मूल-भूत रूप में उनका जीवन असत्यपूर्ण है और असत्य से सच्ची मुक्ति कभी नहीं हो सकती। लुका-छिपी के उनके जीवन में जो मोहकता थी और उनके साहसपूर्ण कार्यों से चकाचौंध होकर उनके मित्र उनकी जो सहायता करते थे, उसके बावजूद वह लुका-छिपी के ऐसे असत्यपूर्ण जीवन से ऊब गये। सैकड़ों नौजवानों को उन्होंने जो व्यायाम सिखलाया, उससे उन्हें कोई सन्तोष नहीं हुआ। सौभाग्यवश उन्हें दक्षिणामूर्ति के नानाभाई जैसे साथी मिल गये। उन्होंने उनके कदम मेरी तरफ मोड़े। मैंने उनसे कह दिया कि मुझे जबतक सन्तोष न होगा, जबतक कि वह सक्रिय रूप में अहिंसा के ऐसे उदाहरण न बन जायं जैसा कि मैं कभी भी हो सकता हूं। मैं तो सक्रिय रूप में कभी पूरा हिंसक नहीं रहा, बल्कि हिंसा की जो भावना मुझमें रही वह कायरों की-सी ही थी। लेकिन वह तो हिंसा के मूर्तरूप ही रहे हैं। अब अगर उन्होंने अहिंसा को हृदयंगम कर लिया है तो उनकी अहिंसा पहले की उनकी हिंसा से

अधिक अद्‌भुत और शाश्वत रूप में समृद्ध होनी चाहिए। ईश्वर की कृपा से उन्हें इस लोकोक्ति को पूरा करके बतलाना चाहिए कि "जो जितना अधिक पापी होता है वह उतना ही बड़ा सन्त बनता है।" उन्होंने मुझे अपनी डायरी के वह प्रामाणिक पृष्ठ दिखलाये हैं, जिनमें उन्होंने स्वेच्छापूर्ण कैदी के रूप में बिताई अपनी पहली रात का मृत्यु के रूप में वर्णन किया है। उनमें से नीचे लिखे महत्वपूर्ण वाक्य मैं यहां देता हूं :

"आज मेरे आत्म-समर्पण का दिन है, जबकि दैवी आदेश से प्रेरित होकर मैं ऐसी हरेक वस्तु का समर्पण करता हूं जिसे कि मैं अपनी कह सकूं। पच्चीस साल तक मैंने सब खतरों का सामना करते हुए ऐसा प्रकाश पाने के लिए सख्त मेहनत की है जो मुझे सेवा का मार्ग बतला सके। काफी अनुभववाला क्रान्तिकारी होने के कारण मैं अपनी सफलताओं पर गर्व करता था। १९ मई का दिन मेरे जीवन में एक महत्वपूर्ण दिन है। यह वह दिन है जब मुझे यह महसूस हो गया है कि उसी चले हुए रास्ते पर चलकर मैं न तो अपने राष्ट्र को समृद्ध कर सकूंगा और न मानवता के उद्धार में ही अपनी कोई देन दे सकूंगा। १९ मई का यह दिन मेरे जीवन में सबसे बड़े साहस का दिन है। वर्तमान जीवन का मेरे लिए न कोई आकर्षण है और न कोई अर्थ। मुझे नये जीवन में प्रवेश करना ही चाहिए। मृत्यु का आलिंगन किये बिना भला मैं उसे कैसे पा सकता हूं? लेकिन मृत्यु का आलिंगन करना कोई उद्देश्य नहीं है। उद्देश्य तो नया जीवन ही है। किन्तु मृत्यु के सिवा और कैसे मैं उसे पा सकता हूं? तर्क की इसमें विशेष गुंजाइश नहीं है। यह तो श्रद्धा थी, जिसने मुझे चुनाव का रास्ता बतलाया।"

क्या अच्छा हो कि यदि सरदार को जो आजादी अब मिली है वह इस बात को सिद्ध कर दे कि उनका यह नोट कर्म कल्पना की उपज नहीं, बल्कि छटपटाती हुई आत्मा का प्रदर्शन है। (ह० से०, ३०.९.३९)

: १२६ :

हेनरी पोलक

तीसरे मित्र पोलक हैं। वेस्ट की तरह इनके साथ भी मेरा परिचय भोजन-गृह में हुआ। वह ट्रांसवाल के 'क्रिटिक' के उप-सम्पादक की जगह छोड़कर 'इण्डियन ओपीनियन' में आये थे। सब कोई जानते हैं कि उन्होंने युद्ध (सत्याग्रह) के लिए इंग्लैंड और सारे भारतवर्ष में भ्रमण किया था। रिच विलायत गये कि मैंने उन्हें फिनिक्स में अपने दफ्तर में बुला लिया। वहां आर्टिकल्स दिये और ये भी वकील बन गये। बाद में उन्होंने शादी की। मिसेज पोलक को भी भारतवर्ष जानता है। इस महिला ने भी अपने युद्ध के काम में पति की बड़ी सहायता की थी। एक दिन भी उसमें विघ्न नहीं डाला। और यद्यपि आज वे दोनों असहयोग में हमारा साथ नहीं दे रहे हैं, तथापि वे यथाशक्ति भारत की सेवा अब भी किया ही करते हैं।

(द० अ० स०, १९२५)

... ...

गोखले की इच्छा थी कि पोलक भारतवर्ष जाकर उनकी कुछ सहायता करें। मि० पोलक का स्वभाव ही ऐसा है कि वह जहां कहीं रहें, मनुष्य के लिए उपयोगी हो जाते हैं। जिस काम को वह उठाते हैं उसीमें तन्मय हो जाते हैं। इसलिए उनको भारतवर्ष भेजने की तैयारियां चल रही थीं। मैंने तो लिख दिया था कि वह चले जायं। पर बिना मुझसे मिले, सभी सूचनाएं प्रत्यक्ष मेरे मुंह से सुने बिना ही वह जाना नहीं चाहते थे। इसलिए उन्होंने इस सफर में ही मुझसे मिल लेने की इजाजत मांगी। मैंने उन्हें तार से उत्तर दिया—"गिरफ्तार हो जाने की जोखिम उठाना चाहें तो चले आयें।" सिपाही सभी आवश्यक जोखिमों का स्वागत कर लेते हैं। यह युद्ध तो ऐसा था कि सरकार यदि सबको पकड़ना चाहती तो सभीको गिरफ्तार हो जाना चाहिए था। जबतक सरकार गिरफ्तार नहीं करती है तबतक गिरफ्तार होने के लिए सरल और नीतियुक्त कोशिशें करते जाना धर्म था। इसलिए मि० पोलक अपनी गिरफ्तारी की जोखिम उठाकर भी आ पहुंचे।

हम लोग हेडलबर्ग के करीब पहुंच चुके थे। नजदीकवाले स्टेशन से

उतरकर वह हमें वहीं मिले। हमारी बातचीत हो रही थी। अभी वह पूरी भी नहीं हो पाई थी। दोपहर के तीन बजे होंगे। हम दोनों दल के मुंहाने पर थे। दूसरे साथी भी हमारी बातें सुन रहे थे। शाम को मि० पोलक को डरबन जानेवाली ट्रेन पकड़नी थी। किन्तु रामचन्द्रजी जैसे महापुरुष तक को राजतिलक के समय वनवास मिला। फिर पोलक कौन होते थे? हमारी बातचीत हो रही थी कि एक घोड़ा-गाड़ी सामने आकर ठहर गई। उसमें एशियाई विभाग के उच्च अधिकारी मि० चमनी और एक पुलिस अधिकारी भी थे। दोनों नीचे उतरे। मुझे ज़रा दूर ले जाकर कहा, "मैं आपको गिरफ्तार करता हूं।" इस तरह चार दिन में मैं तीन बार पकड़ा गया। मैंने पूछा—"इस दल को?"

"यह सब होता रहेगा।"

मैं कुछ न बोला। केवल अपने गिरफ्तार होने की खबर देने का समय ही मुझे दिया गया। मैंने पोलक से कह दिया कि वह दल के साथ जायं।

(द० अ० स०, १९२५)

... ...

जिस तरह वेस्ट से मेरी मुलाकात निरामिष भोजनालय में हुई, उसी तरह पोलक से भी हो गई। एक दिन मेरे खाने की मेज से दूर की मेज पर एक नवयुवक भोजन कर रहा था। उसने मुझसे मिलने की इच्छा से अपना नाम मुझ तक पहुंचाया। मैंने उन्हें अपनी मेज पर खाने के लिए बुलाया और वह आये।

"मैं 'क्रिटिक' का उप-संपादक हूं। प्लेग-सम्बन्धी आपका पत्र पढ़ने के बाद आपसे मिलने की मुझे बड़ी उत्कंठा हुई। आज आपसे मिलने का अवसर मिला है।"

मि० पोलक के शुद्ध भाव ने मुझे उनकी ओर खींचा। उस रात को हमारा एक-दूसरे से परिचय हो गया और जीवन-सम्बन्धी अपने विचारों में हम दोनों को बहुत साम्य दिखाई दिया। सादा जीवन उन्हें पसन्द था। किसी बात के पट जाने के बाद तुरन्त उसपर अमल करने की उनकी शक्ति आश्चर्यजनक मालूम हुई। उन्होंने अपने जीवन में कितने ही परिवर्तन तो एकदम कर डाले। (आ० क०, १९२७)

फिनिक्स जैसी संस्था स्थापित करने के बाद मैं खुद थोड़े ही समय उसमें रह सका। इस बात पर मुझे हमेशा बड़ा दुःख रहा है। उसकी स्थापना के समय मेरी यह कल्पना थी कि मैं भी वहीं बसूंगा। वहीं रहकर जो कुछ सेवा हो सकेगी वह करूंगा और फिनिक्स की सफलता को ही अपनी सेवा समझूंगा; परन्तु इन विचारों के अनुसार निश्चित व्यवहार न हो सका।

हमारी धारणा यह थी कि हम लोग खुद मेहनत करके अपनी रोजी कमायंगे, इसलिए छापेखाने के आसपास हरेक निवासी को तीन-तीन एकड़ जमीन का टुकड़ा दिया गया। इसमें एक टुकड़ा मेरे लिए भी नापा गया। हम सब लोगों की इच्छा के खिलाफ उनपर टीन के घर बनाये गए। इच्छा तो हमारी यह थी कि हम मिट्टी और फूस के, किसानों के लायक अथवा ईंट के मकान बनायें, पर वह न हो सका। उसमें अधिक रुपया लगता था और अधिक समय भी जाता था। फिर सब लोग इस बात के लिए आतुर थे कि कब अपने घर बसा लें और काम में लग जायं।

यद्यपि 'इण्डियन ओपीनियन' के संपादक तो मनसुखलाल नाजर ही माने जाते थे, तथापि वह इस योजना में सम्मिलित नहीं हुए थे। उनका घर डरबन में ही था। डरबन में 'इण्डियन ओपीनियन' की एक छोटी-सी शाखा भी थी।

छापेखाने में कम्पोज करने यानी अक्षर जमाने के लिए यद्यपि वैतनिक कार्यकर्त्ता थे, फिर भी उसमें दृष्टि यह रखी गई थी कि अक्षर जमाने की क्रिया सब संस्थावासी जान लें और करें। क्योंकि यह है तो आसान, पर इसमें समय बहुत जाता है, इसलिए जो लोग कम्पोज करना नहीं जानते थे वे सब तैयार हो गये। मैं इस काम में अन्त तक सबसे ज्यादा पिछड़ा रहा और मगनलाल गांधी सबसे आगे निकल गये। मेरा हमेशा यह मत रहा है कि उन्हें खुद अपनी शक्ति की जानकारी नहीं रहती थी। उन्होंने इससे पहले छापेखाने का कोई काम नहीं किया था, फिर भी वह एक कुशल कम्पोजीटर बन गये और अपनी गति भी बहुत बढ़ा ली। इतना ही नहीं, बल्कि थोड़े ही समय में छापेखाने की सब क्रियाओं में काफी प्रवीणता प्राप्त

करके, उन्होंने मुझे आश्चर्य-चकित कर दिया।

यह काम अभी ठिकाने लगा ही न था, मकान भी अभी तैयार न हुए थे कि इतने में ही इस नये रचे कुटुम्ब को छोड़कर मुझे जोहान्सबर्ग भागना पड़ा। ऐसी हालत न थी कि मैं वहां का काम बहुत समय तक यों ही पटक रखता।

जोहान्सबर्ग आकर मैंने पोलक को इस महत्वपूर्ण परिवर्तन की सूचना दी। अपनी दी हुई पुस्तक का[1] यह परिणाम देखकर उनके आनन्द की सीमा न रही। उन्होंने बड़ी उमंग के साथ पूछा—"तो क्या मैं भी इसमें किसी तरह योग नहीं दे सकता?"

मैंने कहा—"हां क्यों नहीं; अवश्य दे सकते हैं। आप चाहें तो इस योजना में भी शरीक हो सकते हैं।"

"मुझे आप शामिल कर लें तो मुझे तैयार ही समझिये।" पोलक ने जवाब दिया।

उनकी इस दृढ़ता ने मुझे मुग्ध कर लिया। पोलक ने 'क्रिटिक' के मालिक को एक महीने का नोटिस देकर अपना इस्तीफा पेश कर दिया और मियाद खतम होने पर फिनिक्स आ पहुंचे। अपनी मिलनसारी से उन्होंने सबका मन हर लिया और हमारे कुटुम्बी बनकर वहां बस गये। सादगी तो उनके रगोरेशे में भरी हुई थी, इसलिए उन्हें फिनिक्स का जीवन ज़रा भी अटपटा या कठिन न मालूम हुआ, बल्कि स्वाभाविक और रुचिकर जान पड़ा।

पर खुद मैं ही उन्हें वहां अधिक समय तक न रख सका। मि० रिच ने विलायत में रहकर कानून के अध्ययन को पूरा करने का निश्चय किया। दफ्तर के काम का बोझा मुझ अकेले के बस का न था। इसलिए मैंने पोलक से दफ्तर में रहने और वकालत करने के लिए कहा। इसमें मैंने यह सोचा था कि उनके वकील हो जाने के बाद अन्त को हम दोनों फिनिक्स में आ पहुंचेंगे।

हमारी ये सब कल्पनाएं अन्त को झूठी साबित हुईं; परन्तु पोलक के स्वभाव में एक प्रकार की ऐसी सरलता थी कि जिसपर उनका विश्वास

[1] रस्किन की 'अनटु दिस लास्ट'

बैठ जाता उसके साथ वह हुज्जत न करते और उसकी सम्मति के अनुकूल चलने का प्रयत्न करते। पोलक ने मुझे लिखा—"मुझे तो यही जीवन पसंद है और मैं यहीं सुखी हूं। मुझे आशा है कि हम इस संस्था का खूब विकास कर सकेंगे। परन्तु यदि आपका यह खयाल हो कि मेरे वहां आने से हमारे आदर्श जल्दी सफल होंगे तो मैं आने को भी तैयार हूं।"

मैंने इस पत्र का स्वागत किया और पोलक फिनिक्स छोड़कर जोहान्सबर्ग आये और मेरे दफ्तर में मेरे सहायक का काम करने लगे।

(आ० क०, १९२७)

... ...

पोलक को मैंने अपने साथ रहने का निमन्त्रण दिया और हम सगे भाई की तरह रहने लगे। पोलक का विवाह जिस देवी के साथ हुआ उससे उनकी मैत्री बहुत समय से थी। उचित समय पर विवाह कर लेने का निश्चय दोनों ने कर रखा था; परन्तु मुझे याद पड़ता है कि पोलक कुछ रुपया जुटा लेने की फिराक में थे। रस्किन के ग्रंथों का अध्ययन और विचारों का मनन उन्होंने मुझसे बहुत अधिक कर रखा था; परन्तु पश्चिम के वातावरण में रस्किन के विचारों के अनुसार जीवन बिताने की कल्पना मुश्किल से ही हो सकती थी। एक रोज मैंने उनसे कहा, "जिसके साथ प्रेम-गांठ बंध गई है उसका वियोग केवल धनाभाव से सहना उचित नहीं है। इस तरह अगर विचार किया जाय तब तो कोई गरीब बेचारा विवाह कर ही नहीं सकता। फिर आप तो मेरे साथ रहते हैं, इसलिए घर-खर्च का खयाल ही नहीं है। सो मुझे तो यही उचित मालूम पड़ता है कि आप शादी कर लें।"

पोलक से मुझे कभी कोई बात दुबारा कहने का मौका नहीं आया। उन्हें तुरन्त मेरी दलील पट गई। भावी श्रीमती पोलक विलायत में थीं, उनके साथ चिट्ठी-पत्री हुई। वह सहमत हुईं और थोड़े ही महीनों में वह विवाह के लिए जोहान्सबर्ग आ गईं।

विवाह में खर्च कुछ भी नहीं करना पड़ा। विवाह के लिए खास कपड़े तक नहीं बनाये गए और धर्म-विधि की भी कोई आवश्यकता नहीं समझी। श्रीमती पोलक जन्मतः ईसाई और पोलक यहूदी थे। दोनों नीति-धर्म के माननेवाले थे।

परन्तु इस विवाह के समय एक मनोरंजक घटना हो गई थी। ट्रांसवाल में जो कर्मचारी गोरों के विवाह की रजिस्ट्री करता वह काले के विवाह की नहीं करता था। इस विवाह में दोनों का पुरोहित या साक्षी मैं ही था। हम चाहते तो किसी गोरे मित्र की भी तजबीज कर सकते थे; परन्तु पोलक इस बात को बरदाश्त नहीं कर सकते थे। इसलिए हम तीनों उस कर्मचारी के पास गये। जिस विवाह का मध्यस्थ एक काला आदमी हो उसमें वर-वधू दोनों गोरे ही होंगे, इस बात का विश्वास सहसा उस कर्मचारी को कैसे हो सकता था? उसने कहा कि मैं जांच करने के बाद विवाह रजिस्टर करूंगा। दूसरे दिन बड़े दिन का त्यौहार था। विवाह की सारी तैयारी किये हुए वर-वधू के विवाह की रजिस्ट्री की तारीख का इस तरह बदला जाना सबको बड़ा नागवार गुजरा। बड़े मजिस्ट्रेट से मेरा परिचय था। वह इस विभाग का अफसर था। मैं इस दम्पती को लेकर उनके पास गया। किस्सा सुनकर वह हँसा और चिट्ठी लिख दी। तब जाकर यह विवाह रजिस्टर हुआ।

आजतक तो थोड़े-बहुत परिचित गोरे पुरुष ही हम लोगों के साथ रहे थे; पर अब एक अपरिचित अंग्रेज महिला हमारे परिवार में दाखिल हुई।

(आ० क०, १६२७)

... ...

पोलक से बढ़कर ईमानदार अंग्रेज और तुम्हें कहां मिलेगा? तुम उसके समागम में खूब आये हो। यह आदमी तो साफ मानता है कि अंग्रेजों ने इस देश का भला ही किया है। फिर दूसरे ऐसा माने तो इसमें आश्चर्य ही क्या? यह तो ईसाई मिशन की वृत्ति है।

(म० डा० भाग २, ६/६.१३)

... ...

"वह (पोलक) बहुत जल्दी चिढ़ जाता था। वह और श्रीमती पोलक पहले मित्र थे। इथीकल सोसाइटी (Ethical Society) के सदस्य बने, वहां से मित्रता शुरू हुई, आखिर मैंने उनकी शादी कराई। वह सोचते थे कि कुछ पैसे हो जायं तब शादी करें। मगर मैंने कहा, "यह निकम्मी बात है, और पैसे की जरूरत हो तो मैं भी तो तुम्हारे पास पड़ा हूं न!" पोलक

का यह प्रेम-सम्बन्ध था। मगर वह कई बार अपना संतुलन खो बैठता था। वैसे तो श्रीमती पोलक दो की चार सुनानेवाली थी, मगर जब पोलक गुस्से में होता था तो उससे बड़े प्रेम से पेश आती थी। कहती, "तुम्हें हुआ क्या है?" और हँस देती थी। मैं कहा करता था कि यह क्या बात है कि पहले तो तुम इतने मित्र थे, और अब शादी हो गई है तो क्या लड़ना ही चाहिए? जैसे मैंने तुम्हारी शादी कराई है वैसे ही तलाक भी करवाना होगा क्या? श्रीमती पोलक की कार्य-कुशलता का नतीजा यह है कि वह आज एक दूसरे को पूजते हैं और मुझे छोड़ दिया है। (का० क०, १९.९.४२)

: १२७ :

फकीरी

फकीरी की मौत तो ऐसी हुई जो आश्रम को शोभा देनेवाली नहीं कही जा सकती। आश्रम अभी नया था। फकीरी पर आश्रम के संस्कार न पड़े थे। फिर भी फकीरी बहादुर लड़का था। मेरी टीका है कि वह अपने खाऊ-पन की बलि हो गया। उसकी मृत्यु मेरी परीक्षा थी। मुझे ऐसा याद है कि आखिरी दिन उसकी बगल में सारी रात मैं ही बैठा रहा।

सवेरे मुझे गुरुकुल जाने के लिए ट्रेन पकड़नी थी। उसे अरथी पर सुलाकर, पत्थर का कलेजा करके मैंने स्टेशन का रास्ता लिया। फकीरी के बाप ने फकीरी और उसके तीन भाइयों को यह समझकर मुझे सौंपा था कि मैं फकीरी और दूसरों के बीच भेद न करूंगा। फकीरी गया तो उसके तीन भाइयों को भी मैं खो बैठा। ('आश्रमवासियों से', ३०.५.३२)

: १२८ :

रेवरेंड चार्ल्स फिलिप्स

डोक के ही जैसा सम्बन्ध रखनेवाले और बहुत भारी सहायता करने-वाले एक और पादरी सज्जन थे। उनका नाम था रेवरेंड चार्ल्स फिलिप्स। बहुत वर्ष पहले वह ट्रान्सवाल में कांग्रीगेशनल मिनिस्टर थे। उनकी सुशीला

स्त्री भी उनकी बड़ी सहायता करती। (द० अ० स०, १६२५)

: १२६ :

जमनालाल बजाज

मनुष्य के जीते हुए उसकी जीवनी का प्रकट होना सामान्यतया अयोग्य है; परन्तु इसमें अपवाद भी है। जमनालालजी को मैं मुमुक्षु या आत्मार्थी समझता हूं। ऐसे पुरुषों की जीवनी में से दूसरों को कुछ-न-कुछ नैतिक लाभ मिलता है। इस दृष्टि से इस जीवनी के प्रकट करने के औचित्य के लिए मुझसे पूछा गया तब मैंने इसको उचित माना। इसके एक-दो प्रकरण मैंने सुने हैं। इसपर से मेरा विश्वास है कि इसमें अतिशयता या अयोग्य स्तुति नहीं है। मैं आशा करता हूं कि जिन्होंने सेवाधर्म को स्वीकार किया है उनको जमनालालजी के जीवन में बहुत-सी बातें अनुकरणीय प्रतीत होंगी। ('सेठ जमनालाल बजाज' से)

... ...

उनको नजरबन्द रखना तो समझ में आ जाता है, क्योंकि वह उस हुक्म की अदूली करना चाहते हैं जो उनके अपने जन्म-प्रदेश में प्रवेश करने से रोकता है। अधिकारियों को यह मालूम है कि सेठजी एक आदर्श कैदी हैं, वह जेल के नियंत्रण का पूरी तरह पालन करने में विश्वास रखते हैं। उन्हें जिस प्रकार बाहर की सारी दुनिया से अलग कर दिया गया है, क्या यह अत्याचार और निर्दयता नहीं है? (ह० से०, ६. ५. ३६)

... ...

सेठ जमनालाल बजाज को छीनकर काल ने हमारे बीच से एक शक्तिशाली व्यक्ति को छीन लिया है। जब-जब मैंने धनवानों के लिए यह लिखा कि वह लोक-कल्याण की दृष्टि से अपने धन के ट्रस्टी बन जायं तब-तब मेरे सामने सदा ही इस वणिक्शिरोमणि का उदाहरण मुख्य रहा। अगर वह अपनी संपत्ति के आदर्श ट्रस्टी नहीं बन पाये तो इसमें दोष उनका नहीं था। मैंने जानबूझकर उनको रोका। मैं नहीं चाहता था कि वह उत्साह में आकर ऐसा कोई काम कर लें, जिसके लिए बाद में शांत मन से सोचने पर

उन्हें पछताना पड़े। उनकी सादगी तो उनकी अपनी ही चीज थी। अपने लिए उन्होंने जितने भी घर बनाये, वे उनके घर नहीं रहे, धर्मशाला बन गये। सत्याग्रही के नाते उनका दान सर्वोत्तम रहा। राजनैतिक प्रश्नों की चर्चा में वह अपनी राय दृढ़तापूर्वक व्यक्त करते थे। उनके निर्णय पक्के हुआ करते थे। त्याग की दृष्टि से उनका अंतिम कार्य सर्वश्रेष्ठ रहा। वह किसी ऐसे रचनात्मक काम में लग जाना चाहते थे, जिसमें वह अपनी पूरी योग्यता के साथ अपने जीवन का शेष भाग तन्मय होकर बिता सकें। देश के पशुधन की रक्षा का काम उन्होंने अपने लिए चुना था और गाय को उसका प्रतीक माना था। इस काम में वह इतनी एकाग्रता और लगन के साथ जुट गये थे कि जिसकी कोई मिसाल नहीं। उनकी उदारता में जाति, धर्म या वर्ण की संकुचितता को कोई स्थान न था। वह एक ऐसी साधना में लगे हुए थे, जो काम-काजी आदमी के लिए विरल है। विचार-संयम उनकी एक बड़ी साधना थी। वह सदा ही अपनेको तस्कर विचारों से बचाने की कोशिश में रहते थे। उनके अवसान से वसुन्धरा का एक रत्न कम हो गया है। उनको खोकर देश ने अपना एक वीर-से-वीर सेवक खोया है। जिस कार्य के लिए उन्होंने अपना शेष जीवन समर्पित कर दिया था, उसे अब उनकी विधवा जानकीदेवी ने स्वयं करने का निश्चय किया है। उन्होंने अपनी समस्त निजी संपत्ति को, जो करीब ढाई लाख के आस-पास है, कृष्णार्पण कर दिया है। ईश्वर उन्हें अपने इस अंगीकृत कार्य में सफल होने की शक्ति दे। (ह० से०, १५.२.४२)

... ...

[जमनालालजी अकेले एक व्यक्ति ही नहीं थे। वह सच्चे अर्थ में देश की एक संस्था थे। उनके आकस्मिक स्वर्गवास के बाद गांधीजी ने तय किया कि उनकी तमाम सार्वजनिक प्रवृत्तियों को पहले की तरह अखंड रूप में चलाये रखना ही उनका सच्चा स्मारक हो सकता है। इस हेतु को सफल बनाने के लिए उन्होंने जमनालालजी के करीब दोसौ ऐसे मित्रों को, जिन्हें उनके जीवन-कार्य से सहानुभूति थी, अपनी सही से निमंत्रण भेजकर सलाह-मशविरे के लिए वर्धा बुलाया। जमनालालजी के राष्ट्र-भाषा-प्रचार के सिद्धांतों को ध्यान में रखकर निमंत्रण-पत्र हिंदी और उर्दू दोनों लिपियों में

छापा गया था। वर्धा के नवभारत विद्यालय में २० और २१ फरवरी को दोपहर इस निमित्त से आये हुए भाई-बहनों की दो सभाएं हुईं। इस अवसर पर गांधीजी ने जो भाषण किया वह अपनी मिसाल आप ही है। उनके मुंह से ऐसे वचन इस प्रकार के अवसर पर शायद पहले कभी सुनने में नहीं आये। रुपये-पैसे द्वारा ईंट-पत्थर का स्मारक बनाने की बात को छोड़कर जमनालालजी की मृत्यु को आत्मोन्नति का और उनके जीवन-कार्य को आगे बढ़ाने का एक साधन बना लेने की सलाह देते हुए उन्होंने वहां एकत्र मित्र-मंडल से कहा—]

आज का-सा अवसर मेरे जीवन में इससे पहले कभी नहीं आया था और जहांतक मैं सोच पाता हूं आगे भी कभी नहीं आयेगा। आप देखते हैं कि जो कार्रवाई आज हम यहां करने जा रहे हैं उसके लिए कोई सभापति नहीं चुना गया है। मैं तो सभापति हूं ही नहीं। क्यों नहीं हूं, सो आप खुद ही थोड़े समय में समझ जाइयेगा।

कहा जाता है कि मेरे साथ जमनालालजी का सम्बन्ध करीब-करीब तभी से शुरू हुआ जबसे मैंने हिन्दुस्तान के सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया। उन्होंने मेरे सभी कामों को पूरी तरह अपना लिया था, यहांतक कि मुझे कुछ करना ही नहीं पड़ता था। ज्योंही मैं किसी नये काम को शुरू करता वह उसका बोझ खुद उठा लेते थे। इस तरह मुझे निश्चिंत कर देना, मानो उनका जीवन-कार्य ही बन गया था। यों हमारा काम मजे में चल रहा था, लेकिन अब तो वह खुद ही चले गये हैं और उनके सब कामों को चलाने का भार मेरे कन्धों पर आ पड़ा है। इसलिए मैंने सोचा कि मैं उनके उन सब मित्रों को जो उनके अनेकानेक सेवा-कार्यों में सहायक होते रहते थे, यहां बुलाऊं और उनसे निवेदन करूं कि वह इस असह्य बोझ को उठाने में अपनी ताकत भर मेरी मदद करके इसे हलका करें। आज मैं आपके सामने एक भिक्षुक की हैसियत से यहां खड़ा हूं। फिर इस सभा का सभापति कैसे बन सकता हूं?

अपना भिक्षापात्र लेकर मैं आपके सामने खड़ा होता हूं। लेकिन मैं धन-दौलत की भीख नहीं मांगता। वैसी भीख भी मैंने जीवन में खूब मांगी है। गरीब की कौड़ी और अमीरों के करोड़ों की मुझे जरूरत नहीं है।

लेकिन आज जो काम मुझे करना है उसमें रुपये-पैसे की कम ही जरूरत है। अगर मैं चाहता तो आज के दिन जमनालालजी के सब धनिक मित्रों को यहां इकट्ठा करके उनपर दबाव डाल सकता था, उनकी खुशामद कर सकता था और उनकी भावनाओं को द्रवित करके थैलियों के मुंह खुलवा सकता था। यह धन्धा भी मैंने अपने जीवन में जी-भरकर किया है और वह मुझे अच्छी तरह आता भी हैं। लेकिन वही सब आज मैं यहां करने बैठता तो उस व्यक्ति के नाम को बड़ा धब्बा लगता। मुझे अपना कर्तव्य देकर वह चल बसा है, जो मेरे पास आया तो मेरी परीक्षा लेने को, मगर पुत्र बनकर बैठ गया और मेरा सारा बोझ उठाता रहा। मुझे जो भिक्षा आज आपसे मांगनी है वह तो यह है कि जमनालालजी के उठ जाने से जो बोझ बढ़ गया है उसको उठाने में कौन-कौन मेरी मदद करेंगे? अकेले एक आदमी की मदद से काम नहीं चलेगा। मदद तो सबको मिलकर देनी होगी और काम बांट लेना होगा।

इस सम्बन्ध में आगे कुछ कहने के पहले मैं आपको यह बता दूं कि अभी तक मैंने क्या किया है। ११ फरवरी को जब मैं जमनालालजी के द्वार पर पहुंचा तो उनका देहान्त हो चुका था। मेरे पास वर्धा से सन्देशा तो सिर्फ यही आया था कि खून का दौरा कम करने की दवा भेजें। मैं दवा भेजकर अपने दिल की तसल्ली कर सकता था। लेकिन उस दिन मैंने महसूस किया कि नहीं, मुझे खुद ही जाना चाहिए। जब वहां पहुंचा तो मामला कुछ और ही पाया। मैं उस अवसर पर निर्दयी बन गया। जानकीदेवी तो पति के शव के साथ सती होने की बात करती थी। मैंने कहा कि सचमुच सती बनना है तो जीती-जागती सती बन जाओ। धन का जितना त्याग कर सको कर दो। यह तो उनके लिए एक मामूली बात थी। आखिर धन से वह कितना सुख और आराम भोग सकती थी? लेकिन दूसरी चीज उतनी आसान नहीं थी। सम्भव है, वह भी उतनी आसान न हो। मैंने कहा कि वह अपने पति का स्थान ले लें। उन्हें संकोच हुआ, फिर भी मैंने उनसे प्रतिज्ञा करा ही ली। इतना कठोर मैं बन गया।

इस तरह जानकीदेवी ने तो त्याग की प्रतिज्ञा ले ली। लेकिन फिर मैंने सोचा कि उनके लड़के-लड़कियों और दामाद वगैरा को भी ऐसा

ही त्याग करना चाहिए। मैं उनके साथ भी कठोर हो गया। मैंने उनसे कहा, "बेशक आप जमनालालजी की तरह व्यापार कीजिये; लेकिन उसमें उनकी विशेषता को निबाहते रहिये, याने व्यापार भी सेवा-भाव अथवा धर्मभाव से कीजिये। जितना कमायें, नीति-पूर्वक कमाइये और उसे खर्च भी पुण्य कार्य के लिए कीजिये। अपने ऐश-आराम के लिए नहीं, यानी आप अपने कमाए धन के भी संरक्षक बनकर रहिये।

जमनालालजी करीब ६ लाख रुपया अपने लड़कों के पास जोड़ गये थे ताकि वे उसका उपयोग सेवार्थ करें। यानी इससे मेरे जैसे भिखारियों की झोलियां भरें। लड़के कह सकते थे कि एक बार हमें जी-भरकर ऐश-आराम करने दीजिये, फिर हम त्याग भी करते रहेंगे। लेकिन नहीं, एक-दो दिन के गम्भीर विचार के बाद उन्होंने वह सारी रकम सेवा-कार्य के लिए दे दी। इसके सिवा जमनालालजी के जीवन-काल में कांग्रेसजनों के और दूसरे कार्यकर्ताओं के आतिथ्य पर हर साल करीब बीस हजार रुपया खर्च होता था। उन्होंने इसको भी पहले की तरह जारी रखने का निश्चय किया और सारे खर्च की जवाबदारी बच्छराज जमनालाल कम्पनी की तरफ से अपने कन्धों पर उठा ली। सेठजी ने बजाजवाड़ी का एक हिस्सा जानकीदेवी के लिए और बच्चों के लिए रखा था। लेकिन उनके परिवारवालों ने यह तय किया कि उनमें से कोई उन बंगलों में नहीं रहेंगे। उनका प्रयोग सिर्फ अतिथि-सत्कार के लिए अथवा सार्वजनिक काम के लिए ही होगा। वह खुद तो अभी गोपुरी में ही रहना पसन्द करते हैं।

इस तरह शुभ संकल्पों के साथ यह काम शुरू हुआ है। जमनालालजी की आंख बन्द होते ही मैंने उनके बोझ का बंटवारा कर लिया है। आप देखेंगे कि जमनालालजी के कामों की फेहरिस्त आपको भेजी गई है। उसमें उनके आखिरी काम को पहला स्थान मिला है। यह काम स्वराज-प्राप्ति के काम से भी कठिन है। स्वराज्य मिलने से वह अपने-आप ही नहीं हो जायगा। यह सिर्फ पैसे से होनेवाला काम नहीं। मैं इस बात का साक्षी हूं कि आजीवन अलौकिक निष्ठा से काम करनेवाले उस व्यक्ति ने किस अपूर्व निष्ठा से इस काम को शुरू किया था। इन्हें इस तरह काम करते देख एक दिन सहज ही मेरे मुंह से निकल गया था कि जिस वेग से वह इस काम को कर

रहे हैं उसको उनका शरीर सह सकेगा या नहीं ? कहीं बीच में ही वह धोखा तो नहीं दे जायगा ! आज मेरा वह कथन भविष्य वाणी सिद्ध हुआ है, मानो उस समय भगवान ही मेरे मुंह से बोल रहे थे। सारांश यह कि यह काम पैसे से नहीं, एक निष्ठा से होनेवाला है। जानकीदेवी ने जो ढाई लाख रकम दान की है उसमें से ढाई हजार रुपये खादी के काम में खर्च करने का वह पहले ही संकल्प कर चुकी थीं। इसके सिवा वर्धा में एक प्रसूतिगृह बनाने की उनकी इच्छा थी। कुछ रुपया उसमें लगेगा। बाकी करीब सवा दो लाख गोमाता के काम के लिए रह जाता है। बीस-पच्चीस हजार रुपया अखिल गोसेवा संघ का था, वह भी आज हमारे पास है। जानकीदेवी के दान की रकम के साथ मिलकर यह रकम हमारी आज की आवश्यकता के लिए काफी है; लेकिन कार्यकर्त्ता काफी नहीं हैं। गोसेवा का काम आज तक जिस तरह चला उससे न जमनालालजी को संतोष था, न मुझे। इस काम को संतोषजनक रूप में चलाने के लिए मुझे आपकी तन, मन, धन से मदद मिलनी चाहिए। जबतक यह न हो जायगा मुझे चैन न पड़ेगा। असल में वारिस तो उन्हें मेरा बनना चाहिए था; पर वह तो चले गये और जी गये। अब परीक्षा मेरी है। मैं एक नये रूप में उनका वारिस बन गया हूं। यानी उनके सारे-के-सारे कामों को मैंने अपने जिम्मे ले लिया है। लेकिन यह तो एक ऐसी चीज है जिसके वारिस आप सब बन सकते हैं। जब आप सब मिलकर इन कामों को उठा लेंगे तो वह पहले से भी ज्यादा व्यवस्थित और संतोषजनक रीति से चलेंगे और तभी मैं इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो पाऊंगा।

जमनालालजी तो बड़भागी थे। उनकी तरह हम भी अपनेको बड़भागी साबित कर सकते हैं, बशर्ते कि जो चीज उनके रहते हमें साफ नहीं दिखाई दी वह उनके बाद हमें साफ दिखाई देने लगे। जो जाग्रति हममें उनके जीवित रहते नहीं आई वह अब सबमें आ जाय। यह सब कठिन है। मगर एक तरह से आसान भी है। अगर आप यह कठिन काम कर सकते हैं तो करें। परन्तु मैं नहीं चाहता कि आप कुछ शरमा-शरमी करें। इससे तो आप जमनालालजी के प्रति अपनी सच्ची श्रद्धा का सबूत नहीं दे सकेंगे। लेकिन बिना किसी संकोच के सोच-समझकर उनके काम में थोड़ी-सी मदद

पहुंचायेंगे तो आप यहां से एक बड़ा काम करके चले जायंगे।

उनका सबसे बड़ा काम गोसेवा का था। वैसे तो यह काम पहले भी चलता था; लेकिन धीमी चाल से। इसमें उन्हें सन्तोष न था। उन्होंने इसे तीव्र गति से चलाना चाहा, और इतनी तीव्रता से चलाया कि खुद ही चल बसे! अगर हमें गाय को जिन्दा रखना है तो हमें भी इसी तरह उसकी सेवा में अपने प्राण होमने होंगे। इसी तीव्रता से काम करना होगा। अगर हम गाय को बचा पाये तो हम भी बच जायंगे। इसका एक रास्ता तो वह है जो पश्चिमवालों ने अख्तियार कर रखा है। यानी उसको बेचें और उसकी मिट्टी से अपना पेट भरकर मोटे-ताजे बनें। परन्तु उनका यह न्याय न मुझे मंजूर है, न आपको और न जमनालालजी को। इसलिए इसकी जो मर्यादा उन्होंने अपने लिए बनाई थी उसके अन्दर रहकर ही हमें काम करना होगा।...जमनालालजी हमें अपना रास्ता बता गये हैं। शायद आपको मालूम हुआ होगा कि उन्होंने गोसेवा की दो योजनाएं तैयार की थीं। एक सारे देश के लिए, दूसरी वर्धा के लिए।...

... ...

अब दूसरी चीज लीजिये। मिसाल के तौर पर खादी के काम में उनकी दिलचस्पी मुझसे कम न थी। खादी के लिए जितना समय मैंने दिया उतना ही उन्होंने भी दिया। उन्होंने इस काम के पीछे मुझसे कम बुद्धि खर्च नहीं की थी। इसलिए कार्यकर्त्ता भी वह ही ढूंढ़-ढूंढ़कर मेरे पास लाया करते थे। थोड़े में यह कह लीजिये कि अगर मैंने खादी का मंत्र दिया तो जमनालालजी ने उसको मूर्त रूप दिया। खादी का काम कुछ होने के बाद मैं तो जेल में जा बैठा, मगर वह जानते थे कि मेरे नजदीक खादी ही में स्वराज्य है। अगर उन्होंने तुरन्त ही उसमें रत होकर उसे संगठित रूप न दिया होता तो मेरी गैरहाजिरी में सारा काम तीन-तेरह हो जाता।

यही बात ग्रामोद्योग की थी। उन्होंने इसके लिए तो मगनवाड़ी दी ही थी। साथ ही उसके सामने की कुछ जमीन भी वह मगनवाड़ी के लिए खरीदने का संकल्प कर चुके थे। अब चि० कमलनयन ने वह जमीन भी मगनवाड़ी को दे दी है। ग्रामोद्योग का काम इतना व्यापक है कि इसमें अटूट रुपया खर्च किया जा सकता है।...

एक बात और जमनालालजी कई बार कहा करते थे कि लोग और सब जगह तो खादी पहनकर चले जाते हैं; लेकिन बैंक में नहीं जाते। अगर बैंक में वह अपनी मारवाड़ी पगड़ी पहनकर न जायं तो उनके ख्याल में इसमें उनकी प्रतिष्ठा की हानि होती है। मगर खुद जमनालालजी ने कभी इसकी कोई चर्चा नहीं की। फिर उसका नतीजा कुछ भी क्यों न हुआ हो! अतः मैं यह चाहता हूं कि हममें इतनी स्वतन्त्रता और इतना आत्मगौरव पैदा हो जाना चाहिए कि हम अपनी खादी की पोशाक में हर जगह बिना झिझक के जा सकें।

आज हमारे सिर पर एक बहुत बड़ा संकट मंडरा रहा है। सिंगापुर, गया, रंगून जाता नज़र आता है। खुद कलकत्ता खतरे में है। ऐसी हालत में अगर कल से कोई दूसरी ताकत हिन्दुस्तान में आ पहुंचे तो क्या पहले की तरह हम फिर अपने व्यापार के लालच से उसकी खुशामद करने लग जायंगे और अपनी स्वतन्त्रता उनके हाथों बेच देंगे? अथवा यह कहेंगे कि हम इनकी गुलामी से निकलकर आपकी सरदारी को स्वीकार करना नहीं चाहते? जमनालालजी की आत्मा आज हमसे पूछती है! इस सम्बन्ध में उनका अपना क्या जवाब होता, सो तो मैं उतनी ही अच्छी तरह से जानता हूं जितना अपनेको जानता हूं।...

... ...

अबतक इस देश की आजादी को खोने में व्यापारी-समाज की खास जिम्मेवारी रही है। जमनालालजी को यह चीज बराबर खटका करती थी। इसीलिए आज आपके सामने मुझे यह सारी बातें रखनी पड़ी हैं।...

जमनालालजी के दूसरे कामों के बारे में मैं आपका इस वक्त ज्यादा समय नहीं लेना चाहता। वे सब आपकी आंखों के सामने ही हैं। महिला-आश्रम को ही लीजिये। यह उनकी अपनी एक विशेष कृति है। उन्हींकी कल्पना के अनुसार यह अबतक काम करता रहा है। जमनालालजी के सामने सवाल यह था कि जो लोग देश के काम में जुटकर भिखारी बन जाते हैं, उनके बाल-बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध हो? उन्होंने कहा कि

ही तालीम मिल सकेगी। बस, इसी खयाल से महिला-आश्रम की स्थापना हुई। आज इस आश्रम के लिए एक त्यागी और सुशिक्षित महिला की आवश्यकता है। आप इस आवश्यकता की पूर्ति में सहायक हो सकते हैं। बुनियादी तालीम और हरिजन सेवक संघ के काम का भी यही हाल है। आप इनमें शरीक हो सकते हैं। हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए उनके दिल में खास लगन थी। उनके अन्दर साम्प्रदायिक द्वेष की बू तक न थी। आप उनके जीवन से इस गुण को ग्रहण कर सकते हैं।...

जमनालालजी का स्मृति-स्तम्भ खड़ा करके हम उनकी याद को चिरस्थायी नहीं बना सकते। स्तम्भ पर खुदे हुए शिला-लेख को तो लोग पढ़कर थोड़े ही समय में भूल जायंगे, परन्तु जिस आदमी ने दुनिया के लिए इतना कुछ किया है उसके काम को चिरस्थायी रखने का संकल्प कोई कर लें तो वह उनका सच्चा स्मारक हो रहेगा। किन्तु उसके लिए मैं जबरदस्ती नहीं करना चाहता और न मैं आपसे ही वैसी कोई आशा रखता हूं। जिसे जो कुछ भी करना हो आत्मोन्नति के लिए करे। अगर दिखावे के लिए कुछ भी होगा तो उससे मुझे और जमनालालजी की आत्मा को उल्टा कष्ट ही होगा।

[इसपर कई सूचनाएं गांधीजी के सामने रखी गईं, परन्तु वे उन्हें पसन्द न आईं। अपनी मनोदशा को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने पुनः जोरदार शब्दों में कहा—]

मैंने आज जान-बूझकर अनियमित ढंग से सारा काम चलाया है; क्योंकि मैं इस काम में थोड़ी भी कृत्रिमता नहीं चाहता। मैं इसे अपने जीवन का एक अत्यन्त गम्भीर अवसर मानता हूं। जो शुद्ध धर्म-भावना अन्तिम समय में जमनालालजी की थी उसे मैं कायम रखना चाहता हूं। इसलिए जिसे जो कुछ करना हो उसी भावना से करें। एकान्त में बैठें, अन्तर्मुख बनें और ईश्वर को साक्षी रखकर जो संकल्प करना हो करें।

(सेवाग्राम, २८.२.४२)

... ...

मैं क्या सन्देश भेजूं? जमनालालजी की स्तुति करूं? कैसे करूं? मेरे हाथ कट गये हैं। जिसका द्वारपाल गया है वह उसके लिए क्या लिख सकता

है ? ('समाज-सेवक' से)

... ...

बाईस वर्ष पहले की बात है। तीस साल का एक नवयुवक मेरे पास आया और बोला—"मैं आपसे कुछ मांगना चाहता हूं।"

मैंने आश्चर्य के साथ कहा—"मांगो। चीज मेरे बस की होगी तो मैं दूंगा।"

नवयुवक ने कहा—"आप मुझे अपने देवदास की तरह मानिये।"

मैंने कहा—"मान लिया। लेकिन इसमें तुमने मांगा क्या ? दरअसल तो तुमने दिया और मैंने कमाया।"

यह नवयुवक जमनालाल थे।

वह किस तरह मेरे पुत्र बनकर रहे, सो तो हिन्दुस्तानवालों ने कुछ-कुछ अपनी आंखों देखा है। जहांतक मैं जानता हूं, मैं कह सकता हूं कि ऐसा पुत्र आज तक शायद किसीको नहीं मिला।

यों तो मेरे अनेक पुत्र और पुत्रियां हैं, क्योंकि वे सब पुत्रवत् कुछ-न-कुछ काम करते हैं। लेकिन जमनालाल तो अपनी इच्छा से पुत्र बने थे और उन्होंने अपना सर्वस्व दे दिया था। मेरी ऐसी एक भी प्रवृत्ति नहीं थी, जिसमें उन्होंने दिल से पूरी-पूरी सहायता न की हो। और वह सभी कीमती साबित हुई, क्योंकि उनके पास बुद्धि की तीव्रता और व्यवहार की चतुरता दोनों का सुन्दर सुमेल था। धन तो कुबेर के भंडार-सा था।

मेरे सब काम अच्छी तरह चलते हैं या नहीं, मेरा समय कोई नष्ट तो नहीं करता, मेरा स्वास्थ्य अच्छा रहता है या नहीं, मुझे आर्थिक सहायता बराबर मिलती है या नहीं, इसकी फिक्र उनको बराबर रहा करती थी। कार्यकर्त्ताओं को लाना भी उन्हींका काम था। अब ऐसा दूसरा पुत्र मैं कहां से लाऊं ? जिस रोज मरे उसी रोज जानकीदेवी के साथ वह मेरे पास आनेवाले थे। कई बातों का निर्णय करना था, लेकिन भगवान को कुछ और ही मंजूर रहा। ऐसे पुत्र के उठ जाने से बाप पंगु बनता ही है। यही हाल आज मेरा है। जो हाल मगनलाल के जाने से हुआ था, वह ही ईश्वर ने इस बार फिर मेरे किया है। इसमें भी उसकी कोई छिपी कृपा ही है। वह मेरी और भी परीक्षा करना चाहता है। करे। उत्तीर्ण होने की शक्ति भी वही

देगा। (ह० से०, २२.४.४२)

... ...

गांधीजी ने आते ही जमनालालजी के सिर पर हाथ रखा। जमनालालजी की धर्मपत्नी, श्री जानकीदेवी, तो कुछ हक्की-बक्की-सी रह गई थीं। गांधीजी को देखते ही वह आशा की तरंगों में उछलने लगीं—

"बापूजी, ओ बापूजी ! आप पास में होते तो यह न मरते। मैंने आपको इनकी तबीयत बिगड़ते ही जल्दी खबर क्यों न भेज दी। इन्हें जिंदा कर दीजिये। क्या आप इन्हें जिला नहीं सकते ?" गांधीजी ने कहा—

जानकी, अब तुम्हें रोना नहीं है। तुम्हें तो हँसना है और बच्चों को हँसाना है। जमनालाल तो जिन्दा ही है। जिसका यश अमर है तो फिर उसकी मृत्यु कैसी ! उसकी मृत्यु तो तभी हो सकती है जब तुम उसका मार्ग अनुसरण करने से मुंह मोड़ो। जमनालाल ने परमार्थ की जिन्दगी बिताई। तुम्हारी जैसी साध्वी स्त्री उसे मिली, तो फिर रोना कैसा ! जो काम उसने अपने कन्धों पर लिया था उसे अब तुम सम्भालो। उसी ध्येय के लिए तुम अपने-आपको सम्पूर्णतया अर्पण कर दो। और जमनालाल जिन्दा ही है, ऐसा मानो। तुम जानती हो कि मृत सत्यवान को सावित्री ने अपने तप से पुनर्जीवित कर लिया था। वह पुनर्जीवन शरीर का क्या हो सकता था ? शरीर तो नाशवान ही है। सावित्री ने अपने तप से सत्यवान के तप को सदा के लिए अमरत्व दे दिया। यही सावित्री-सत्यवान की कथा का सच्चा अर्थ है। तुम भी अपने तप से अपने पति के यश को जागृत रखोगी, तो फिर जमनालाल जिन्दा ही है, ऐसा हम मान सकते हैं।

"बापूजी, मैं तो अपने-आपको अर्पण करने को तैयार हूं। पर मेरी शक्ति ही क्या ? मेरा तप ही क्या ? मैं उनके काम को कैसे चलाऊंगी ? कैसे उनके तप को जागृत रखूंगी ? आप इन्हें मरने मत दीजिये। आप क्या इन्हें जिला नहीं सकते ? तो क्या यह मर ही गये। क्या अब बोलेंगे नहीं।"

मैं तुम्हें झूठा धीरज नहीं देने आया हूं। जमनालाल का शरीर मर गया; पर असल जमनालाल तो जिंदा ही है और आगे के लिए उसे जिन्दा रखना हमारा काम है। ('जमनालालजी,' पृष्ठ १०)

शाम को घूमते समय अंग्रेजी न जाननेवालों की बातें चलीं। चर्चा मीराबहन ने चलाई थी। मैंने कहा, "जमनालालजी भी तो अंग्रेजी नहीं जानते थे, मगर वह अपना काम खासा चला लेते थे।" बापू कहने लगे—

मगर जमनालाल अंग्रेजी की बातें सब समझ लेता था। अंग्रेजी में प्रस्ताव वगैरा आते थे, उनमें वह एक भी चीज छोड़ता नहीं था। व्याकरण नहीं जानता था, मगर शब्दों का उपयोग ठीक जानता था। इसलिए अपने भाषणों वगैरा का तर्जुमा दुरुस्त किया करता था। उसके जैसा बारीकी से हरेक चीज को पकड़नेवाले आदमी भाग्य से ही कहीं मिलता है। जमनालाल किसी चीज को वर्किंग कमेटी में छोड़ता नहीं था। वह बुद्धिशाली था और व्यवहार-कुशल भी। वह अपनी जगह पर अद्वितीय था।"

(का० का०, २६.६.४२)

••• ••• •••

मैंने कहा, "मगर आज हमारे पास ट्रस्टीशिप का कोई नमूना है तो जमनालालजी का है। जमनालालजी की बहुत चीजें सेवा के काम में इस्तेमाल होती थीं। कितनी ही जायदाद उन्होंने दे भी डाली। तो भी उनके मन में यह तो था ही कि वह देते हैं—दान करते हैं।" बापू कहने लगे :

जमनालालजी ने महा प्रयत्न किया, मगर वह पूरी तरह से ट्रस्टी बन नहीं सके। वह उनकी अपूर्णता का नतीजा था। (का० क०,३.१२.४२)

: १३० :

बहादुरजी

ब्रिटेन और भारत के परस्पर देन, राष्ट्रीय ऋण के सम्बन्ध में जांच करने के लिए कांग्रेस-महासमिति ने जो समिति नियत की थी, उसकी रिपोर्ट, विशेषकर वर्तमान अवसर पर, एक अत्यन्त महत्व का लेख है। राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस का कोई भी सेवक उसकी एक प्रति रखे बिना न रहेगा। श्री बहादुरजी, भूलाभाई देसाई, खुशाल शाह और श्री कुमारप्पा अपने इस प्रेम के परिश्रम के लिए राष्ट्र के साभार अभिनन्दन के अधिकारी हैं।

श्री भूलाभाई देसाई, दोनों ही एक बार एडवोकेट जनरल थे। उन्होंने एडवोकेट-जनरल के पद का उपयोग किया है, यह बात योंही छोड़ दी जाय, तो दोनों धूम-धाम से चलनेवाले धन्धे के व्यवसायी और अनुभवी कानून विशेषज्ञ हैं। एडवोकेट-जनरल के पद ने इनकी प्रतिष्ठा में कुछ वृद्धि की है, ऐसी कुछ बात नहीं है। यह तो उनकी प्रतिष्ठा की और उनके व्यवसाय में उनका जो पद है, उसकी स्वीकृति मात्र है। खुशाल शाह भारत-प्रख्यात अर्थ-शास्त्री हैं, कितनी ही बहुमूल्य पुस्तकों के लेखक है और बहुत वर्ष तक, आज अभी तक, बम्बई यूनिवर्सिटी में अर्थशास्त्र के अध्यापक थे। यह तीनों सज्जन सदैव काम में घिरे रहते हैं, इसलिए राष्ट्रीय महासभा के सौंपे हुए इस उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य के लिए समय देना उनके लिए कुछ ऐसा-वैसा साधारण त्याग नहीं था। रिपोर्ट के लेखकों का यह परिचय मैंने इसलिए दिया है कि विदेशी पाठक जान सकें कि यह रिपोर्ट उथले राजनीतिज्ञों का लिखा हुआ लेख नहीं, वरन जो लोग प्रचुर प्रतिष्ठावाले हैं, और जो धांधलीबाज उपदेशक नहीं, वरन् स्वयं जिस विषय के ज्ञाता है, उसीपर लिखनेवाले और अपने शब्दों को तौल-तौलकर व्यवहार में लानेवालों की यह कृति है। (हिं० न० ६.८.३१)

: १३१ :

लाला बांकेदयाल

एक सम्वाददाता लिखते हैं—

"मुझे यकीन है, आपको यह जानकर हार्दिक दुःख होगा कि लाला बांकेदयाल, जो साप्ताहिक 'झंग सियाल' के सम्पादक और पंजाब के एक निःस्वार्थ कांग्रेस कार्यकर्ता थे अब नहीं रहे। वह श्रीनगर अपना स्वास्थ्य सुधार करने के लिए गये थे और वहीं उनका अचानक देहान्त हो गया। इससे उनके मित्रों को बड़ा धक्का लगा है। वह करीब एक साल से बीमार थे। गत मार्च में पण्डित मदनमोहन मालवीय ने उनको कुछ महीने पूरा आराम करने के लिए राजी कर लिया था। जबतक वह अपना काम फिर से शुरू न करें तबतक के लिए मालवीयजी ने उनके लिए साठ रुपया

मासिक की व्यवस्था करने का वचन दिया था। यह कितने दुःख की बात है कि वह इस उदार सहायता का तीन महीने से अधिक लाभ नहीं उठा सके, और ईश्वर के घर से आखिरी बुलावा आ गया। शायद आपको याद होगा कि वह आपके प्राइवेट सेक्रेटरी रहे थे और फौजी कानून के अत्याचारों के सम्बन्ध में निकलनेवाली कांग्रेस की रिपोर्ट के लिए पंजाब के कुछ गांवों से उन्होंने प्रमाण एकत्र करने और उनको छांटने का काम किया था। उनका आपके साथ जो यह संक्षिप्त सहवास रहा, उसे वह बड़ी श्रद्धा के साथ याद करते थे और कहते थे कि यह उनके जीवन का सबसे सुखद समय था। उनकी सेवाओं की स्वीकृति और स्मृति के रूप में आपने उनको अपने हस्ताक्षरों में हिन्दी में एक पत्र लिखकर दिया था, जिसमें आपने अपने पंजाब के प्रवास के समय उनके काम की सराहना की थी। उन्होंने इस स्मृति-चिह्न को हमेशा अपनी अत्यन्त मूल्यवान निधि समझा। उनका १९ जुलाई को श्रीनगर के राजकीय अस्पताल में देहान्त हुआ जहां उनका आपरेशन हुआ था। लाला बांकेदयालजी ने गरीबी की जिन्दगी बिताई। उन्हें भूखों भी मरना पड़ा। वह इतने स्वाभिमानी थे कि उन्होंने अपने मित्रों के आगे भी कभी हाथ नहीं फैलाया। उनके चले जाने के बाद उनके परिवार के लोगों की देखभाल करनेवाला कोई नहीं रह गया है। वह अपने पीछे दो लड़कियां, पत्नी और बूढ़ी मां छोड़ गये हैं। उन सबको अत्यन्त अभाव का सामना करना पड़ रहा है। क्या आप उनके आश्रितों का कष्ट दूर कराने के लिए पंजाब कांग्रेस को अथवा किन्हीं उदार व्यक्तियों को प्रेरित करेंगे। बांकेदयाल जैसे आजीवन कार्यकर्ता और निःस्वार्थ देशभक्त इससे कुछ अधिक के अधिकारी हैं।"

मुझे लाला बांकेदयाल का अच्छी तरह स्मरण है जब मैं कांग्रेस की ओर से फौजी कानून-सम्बन्धी अत्याचारों की जांच करने के लिए पंजाब गया था। संवाददाता ने उनकी सेवाओं के बारे में जो कुछ लिखा है, उसकी मैं पुष्टि कर सकता हूं। मैं स्वर्गस्थ के कुटुम्ब के प्रति समवेदना प्रकट करता हूं। इसमें सन्देह नहीं कि पंजाब के सम्पन्न कांग्रेस जनों को उनके परिवार की स्थिति की जांच करना चाहिए और उसके लिए आवश्यक प्रबन्ध करना चाहिए। सभी देशभक्त कार्यकर्ताओं को यह अनुभव होना चाहिए

कि उनकी सच्ची सेवा ही उनके पीछे रह जानेवाले आश्रितों के लिए निश्चित बीमे का काम देगी। राहत स्थानीय ही मिलनी चाहिए। यह ठीक नहीं कि कराची के देशभक्त के परिवार का भरण-पोषण डिब्रुगढ़ से करना पड़े। (यं० इं०, ८.८.२९)

: १३२ :

ब्रजलाल

ब्रजलाल बड़ी उम्र में, शुद्ध सेवा-भाव से आश्रम में आये थे और सेवा करते हुए ही मृत्यु का आलिंगन करके अमर हो गये और आश्रम के लिए शोभा रूप हुए। एक लड़के का घड़ा कुएं से निकालते हुए डोर में फंसकर फिसल गये और प्राण तजे। ('यरवदा मन्दिर से' ३०.५.३२)

: १३३ :

अब्दुलबारी

जैसी हिन्दुओं के बारे में चेतावनियां मुझे दी गई हैं, वैसी ही मुसलमानों के विषय में भी मिली हैं। यहां मैं सिर्फ तीन ही नाम पेश करूंगा। मौलाना अब्दुलबारी साहब एक धर्मोन्मत्त हिन्दू द्वेष्टा के रूप में मेरे सामने पेश किये गए हैं। मुझे उनके कितने ही लेख दिखाये गए हैं, जिन्हें मैं समझ नहीं सकता। मैंने तो उनसे इस विषय में पूछताछ भी की है; क्योंकि वह तो खुदा के एक भोले-भाले बच्चे हैं। मैंने उसके अन्दर किसी तरह का छल-कपट नहीं देखा। बहुत बार वह बिना विचारे कह डालते हैं, जिससे उनके अभिन्न मित्रों को भी परेशानी उठानी पड़ती है। पर वह कड़वी बातें कह बैठने में जितनी जल्दी करते हैं उतनी जल्दी अपनी भूल के लिए क्षमा मांगने को भी तैयार रहते हैं। जिस वक्त जो बात बोलते हैं उस वक्त वह सच्चे दिल से बोलते हैं। उनका क्रोध और उनकी क्षमा दोनों सच्चे दिल से होती हैं। एक बार वह मौलाना मुहम्मदअली पर बिना उचित कारण के बिगड़ बैठे। मैं उस समय उनका अतिथि था। उनके मन में लगा तो

उन्होंने मुझे भी कुछ सख्त-सुस्त कह डाला। उसी समय वह मौ० मुहम्मद अली और मैं कानपुर जाने के लिए स्टेशन जाने की तैयारी में थे। हमारे विदा हो जाने के बाद उन्हें लगा कि उन्होंने हमारे साथ अनुचित बरताव किया है। मौ० मुहम्मदअली के साथ सचमुच अनुचित बरताव किया गया था। मेरे साथ नहीं। पर उन्होंने तो हम दोनों के पास कानपुर में अपनी तरफ से कुछ लोगों को भेजकर हम दोनों से माफी मांगी। इस बात से वह मेरी नजरों में ऊंचे उठ गये। ऐसा होते हुए भी मैं स्वीकार करता हूं कि मौलानासाहब किसी वक्त एक खतरनाक दोस्त का काम दे सकते है। पर मेरा मतलब यह है कि ऐसा होते हुए भी वह दोस्त ही रहेंगे। उनके पास 'खाने के और, दिखाने के और' यह बात नहीं है। उनके दिल में कोई दांव-पेंच नहीं है। ऐसे मित्र में सहस्रों दोष होते हुए भी मैं उनकी गोदी में अपना सिर रखकर चैन से सोऊंगा, क्योंकि मैं जानता हूं ये छिपाकर वार कभी न करेंगे। (हि० न०, १.६.२४)

: १३४ :

बाल्डविन

सबसे ज्यादा साफ बात करनेवाला बाल्डविन है। उसे मैंने कहा कि मेरी यह दलील है कि अंग्रेजी राज से हमारा कुछ भी भला नहीं हुआ। तब वह कहने लगा, मुझे कहना चाहिए कि हमारे लोगों ने हिन्दुस्तान में जो कुछ किया है उसके लिए मुझे गर्व है। और इसमें आश्चर्य ही क्या? रामकृष्ण भाण्डारकर अक्षरशः मानते थे कि एक मामूली टामी (अंग्रेज सिपाही) भी हमसे बढ़कर है। (म० डा०, ४. ७. ३२)

... ...

बाल्डविन तो मुझसे मिलना ही नहीं चाहता था। सर सैमुएल होर ने उससे मिलने का प्रबन्ध कर दिया। वह भी लार्ड लिनलिथगो की तरह बाह्य शिष्टाचार खूब बरतता था। बाल्डविन के पास तो मैं पन्द्रह मिनट भी नहीं बैठा। मैंने अपना केस रखने की कोशिश की। बताया कि हम तो ऐसा मानते हैं कि अंग्रेजी राज्य में हिन्द का हमेशा अहित ही रहा है। आप

लोगों से हमने कुछ सीखा है, मगर वह आप लोगों के सम्पर्क में आने के कारण। आप राजा न होते और हम आपके सम्पर्क में आते तब भी सीखते—तब शायद ज्यादा सीखते। आपके पास सुन्दर भाषा है। उसमें इतना काम किया गया है, इतना साहित्य लिखा गया है। उसकी हमें कदर है। हम हिन्दुस्तान में सीमित होकर नहीं रहना चाहते। सारे जगत के साथ सम्बन्ध रखना चाहते हैं, मगर आजाद होकर। हमें स्वतन्त्रता चाहिए। अंग्रेजी भाषा में 'इंडिपेन्डेन्स' शब्द का जो अर्थ है, वह स्वतन्त्रता हमें चाहिए, किसी खास तरह की नहीं; क्योंकि हम मानते हैं कि हिन्दुस्तान में अंग्रेजी राज बुरी चीज़ है। वह कहने लगा, इसमें हमारा मतभेद है, मुझे तो अपनी कौम का और भारत में अपने शासन का गर्व है। मैंने कहा, "ऐसा है तो मुझे आपसे और कुछ नहीं कहना।" (का० क०, ३. १२. ४२)

: १३५ :

बालासुंदरम्

'नेटाल इंडियन कांग्रेस' में यद्यपि उपनिवेशों में जन्मे भारतीयों ने प्रवेश किया था, कार्कुन लोग शरीक हुए थे, फिर भी उसमें अभी मजूर गिर-मिटिया लोग सम्मिलित न हुए थे। कांग्रेस अभी उनकी न हुई थी। वह चन्दा देकर, उसके सदस्य होकर, उसे अपना न सके थे। कांग्रेस के प्रति उनका प्रेम पैदा तभी हो सकता था, जब कांग्रेस उनकी सेवा करे। ऐसा अवसर अपने-आप आ गया और सो भी ऐसे समय, जबकि खुद मैं अथवा कांग्रेस उसके लिए मुश्किल से तैयार थी; क्योंकि अभी मुझे वकालत शुरू किये दो-चार महीने भी मुश्किल से हुए होंगे। कांग्रेस भी बाल्यावस्था में ही थी। इन्हीं दिनों एक दिन एक मदरासी हाथ में फेंटा रखकर रोता हुआ मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। कपड़े उसके फटे-पुराने थे। उसका शरीर कांप रहा था। सामने के दो दांत टूटे हुए थे और मुंह से खून बह रहा था। उसके मालिक ने उसे बेदर्दी से पीटा था। मैंने अपने मुंशी से, जो तामिल जानता था, उसकी हालत पुछवाई। बालासुंदरम् एक प्रतिष्ठित गोरे के यहां मजूरी करता था। मालिक किसी बात पर उसपर बिगड़ पड़ा और

आग-बबूला होकर उसने उसे बुरी तरह पीट डाला, जिससे बालासुंदरम् के दो दांत टूट गये।

मैंने उसे डाक्टर के यहां भेजा। उस समय गोरे डाक्टर भी वहां थे। मुझे चोट-सम्बन्धी प्रमाण-पत्र की जरूरत थी। उसे लेकर मैं बालासुन्दरम् को अदालत में ले गया। बालासुन्दरम् ने अपना हलफिया बयान लिखवाया। पढ़कर मजिस्ट्रेट को मालिक पर बड़ा गुस्सा आया। उसने मालिक को तलब करने का हुक्म दिया।

मेरी इच्छा यह न थी कि मालिक को सजा हो जाय। मुझे तो सिर्फ बालासुन्दरम् को उसके यहां से छुड़वाना था। मैंने गिरमिट-सम्बन्धी कानून को अच्छी तरह देख लिया। मामूली नौकर यदि नौकरी छोड़ दे तो मालिक उसपर दीवानी दावा कर सकता है, फौजदारी में नहीं ले जा सकता। गिरमिट और मामूली नौकरी में यों बड़ा फर्क था; पर उसमें मुख्य बात यह थी कि गिरमिटया यदि मालिक को छोड़ दे तो वह फौजदारी जुर्म समझा जाता था और इसलिए उसे कैद भोगनी पड़ती। इसी कारण सर विलियम विलसन हंटर ने इस हालत को 'गुलामी' जैसा बताया है। गुलाम की तरह गिरमिटिया मालिक की संपत्ति समझा जाता। बालासुन्दरम् को मालिक के चंगुल से छुड़ाने के दो ही उपाय थे : या तो गिरमिटियों का अफसर, जो कानून के अनुसार उनका रक्षक समझा जाता था, गिरमिट रद कर दे, या दूसरे के नाम पर चढ़ा दे अथवा मालिक खुद उसे छोड़ने के लिए तैयार हो जाय। मैं मालिक से मिला और उससे कहा—"मैं आपको सजा कराना नहीं चाहता। आप जानते हैं कि उसे सख्त चोट पहुंची है। यदि आप उसकी गिरमिट दूसरे के नाम चढ़ाने को तैयार होते हों तो मुझे सन्तोष हो जायगा।" मालिक भी यही चाहता था। फिर मैं उस रक्षक अफसर से मिला। उसने भी रजामन्दी तो जाहिर की; पर इस शर्त पर कि मैं बालासुन्दरम् के लिए नया मालिक ढूंढ़ दूं।

अब मुझे नया अंग्रेज मालिक खोजना था। भारतीय लोग गिरमिटियों को रख नहीं सकते थे। अभी थोड़े ही अंग्रेजों से मेरी जान-पहचान हो पाई थी। फिर भी एक से जाकर मिला। उसने मुझपर मेहरबानी करके बालासुन्दरम् को रखना मंजूर कर लिया। मैंने कृतज्ञता प्रदर्शित की। मजिस्ट्रेट

ने मालिक को अपराधी करार दिया और यह बात नोट कर ली कि अपराधी ने बालासुन्दरम् की गिरमिट दूसरों के नाम पर चढ़ा देना स्वीकार किया है।

बालासुन्दरम् के मामले की बात गिरमिटियों में चारों ओर फैल गई और मैं उनके बन्धु के नाम से प्रसिद्ध हो गया। मुझे यह सम्बन्ध प्रिय हुआ। फलत: मेरे दफ्तर में गिरमिटियों की बाढ़ आने लगी और मुझे उनके सुख-दुःख जानने की बड़ी सुविधा मिल गई।

बालासुन्दरम् के मामले की ध्वनि ठेठ मदरास तक जा पहुंची। उस इलाके के जिन-जिन जगहों से लोग नेटाल की गिरमिट में गये, उन्हें गिरमिटियों ने इस बात का परिचय कराया। मामला कोई इतना महत्त्वपूर्ण न था, फिर भी लोगों को यह बात नई मालूम हुई कि उनके लिए कोई सार्वजनिक कार्यकर्ता तैयार हो गया है। इस बात से उन्हें तसल्ली और उत्साह मिला।

मैंने लिखा है कि बालासुन्दरम् अपना फेंटा उतारकर उसे अपने हाथ में रखकर मेरे सामने आया था। इस दृश्य में बड़ा ही करुण रस भरा हुआ है। यह हमें नीचा दिखानेवाली बात है। मेरी पगड़ी उतारने की घटना पाठकों को मालूम ही है। कोई भी गिरमिटिया तथा दूसरा नवागत हिन्दुस्तानी किसी गोरे के यहां जाता तो उसके सम्मान के लिए पगड़ी उतार लेता—फिर टोपी हो, या पगड़ी, अथवा फेंटा हो। दोनों हाथों से सलाम करना काफी न था। बालासुन्दरम् ने सोचा कि मेरे सामने भी इसी तरह जाया जाता होगा। बालासुन्दरम् का यह दृश्य मेरे लिए पहला अनुभव था। मैं शर्मिन्दा हुआ। मैंने बालासुन्दरम् से कहा, "पहले फेंटा सिर पर बांध लो।" बड़े संकोच से उसने फेंटा बांधा; पर मैंने देखा कि इससे उसे बड़ी खुशी हुई। मैं अबतक यह गुत्थी न सुलझा सका कि दूसरों को नीचे झुकाकर लोग उसमें अपना सम्मान किस तरह मान सकते होंगे।

(आ० क०, १९२७)

: १३६ :

घनश्यामदास बिड़ला

बल्लभभाई—"मगर पुरुषोत्तमदास और बिड़ला का क्या हाल है?"
बापू ने कहा : ये लोग होर को कोई वचन दे चुके हों, ऐसी बात नहीं है। मगर कमजोरी आ गई होगी। बिड़ला होर के हाथ बिक जाय तो उसे आत्म-हत्या करनी चाहिए। और अभी तो मालवीयजी बाहर बैठे हैं। बिड़ला मालवीयजी से पूछे बिना एक कदम भी रखे ऐसा आदमी नहीं है। नहीं, मुझे भरोसा है कि व्यापारियों में ये लोग नहीं हैं।

(म० डा०, १५.७.३२)

... ...

इस संस्था का जन्म सेठ शिवनारायणजी के दो पौत्र रामेश्वरदास और घनश्यामदास की पढ़ने की इच्छा में से हुआ। सेठजी को यह अच्छा नहीं लगा कि केवल उनके पौत्र ही पढ़ें और गांव के दूसरे लड़कों को इसका लाभ न मिले। पांच रुपये मासिक का उन्होंने एक शिक्षक रखा और बिड़ला पाठशाला खोल दी। इसी बीज में से निकलकर यह महावृक्ष इतना बड़ा हुआ है। स्वार्थ के साथ परोपकार का मेल साधना बिड़ला-बन्धुओं के स्वभाव में उतरा है। शिक्षण, आरोग्य आदि में अधिक-से-अधिक दिलचस्पी सेठ घनश्यामदास ने ली और पिलानी की विशाल शिक्षण-संस्था में घनश्यामदासजी ने जो रस लिया, अपनी बुद्धि लगाई और ध्यान दिया, उसके लिए संस्था उनकी आभारी है। सर मॉरिस ग्वायर वगैरह यह संस्था देख आये हैं और उन्होंने इसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। इस कालेज को सब तरह से आदर्श कालेज बनाने का घनश्यामदासजी का बरसों से प्रयास चल रहा है। पर चूंकि पिलानी एक देशी रियासत के अन्तर्गत है, इसलिए सब धीमे-धीमे ही होता है। आशा है कि देशी अच्छी शिक्षण-प्रवृत्ति को जयपुर राज्य पूरा प्रोत्साहन देगा और कालेज को पूर्ण बनाने की इजाजत भी तुरन्त दे देगा। मेरा मत है कि इतनी व्यवस्था और ध्यान से चलनेवाली संस्थाएं हिन्दुस्तान में थोड़ी ही हैं।

कालेज में जितनी चीजों का मेल किया गया है, दूसरी जगह वह शायद ही देखने में आयेगा। (ह० से०, २७.७.४०)

: १३७ :

बृजकिशोर

बृजकिशोरबाबू दरभंगा से और राजेन्द्रबाबू पुरी से यहां आये। यहां जो मैंने देखा तो यह लखनऊवाले बृजकिशोरप्रसाद नहीं थे। उनके अन्दर बिहारी की नम्रता, सादगी, भलमनसी और साधारण श्रद्धा देखकर मेरा हृदय हर्ष से फूल उठा। बिहारी वकील-मंडल का उनके प्रति आदर-भाव देखकर मुझे आनन्द और आश्चर्य दोनों हुए।

तबसे इस वकील-मंडल और मेरे बीच जन्म-भर के लिए स्नेह-गांठ बंध गई। बृजकिशोरबाबू ने मुझे सब बातों से वाकिफ करा दिया। वह गरीब किसानों की तरफ से मुकदमे लड़ते थे। ऐसे दो मुकदमे उस समय चल रहे थे। ऐसे मुकदमों के द्वारा वह कुछ व्यक्तियों को राहत दिलाते थे; पर कभी-कभी इसमें भी असफल हो जाते थे। इन भोले-भाले किसानों से वह फीस लिया करते थे। त्यागी होते हुए भी बृजकिशोरबाबू या राजेंद्र-बाबू फीस लेने में संकोच न करते थे। "पेशे के काम में अगर फीस न लें तो हमारा घर-खर्च नहीं चल सकता और हम लोगों की मदद भी नहीं कर सकते।"—यह उनकी दलील थी। उनकी तथा बंगाल-बिहार के बैरिस्टरों की फीस के कल्पनातीत अंक सुनकर मैं तो चकित रह गया। "...को हमने 'ओपीनियन' के लिए दस हजार रुपये दिये।" हजारों के सिवाय तो मैंने बात ही नहीं सुनी।

इस मित्र-मंडल ने इस विषय में मेरा मीठा उलाहना प्रेम के साथ सुना। उन्होंने उसका उलटा अर्थ नहीं लगाया।

मैंने कहा—"इन मुकदमों की मिसलें देखने के बाद मेरी तो यह इच्छा होती है कि हम यह मुकदमेबाजी अब छोड़ दें। ऐसे मुकदमों से बहुत कम लाभ होता है। जहां प्रजा इतनी कुचली जाती है, जहां सब लोग इतने भयभीत रहते हैं वहां [illegible] से।

सच्चा इलाज तो है लोगों के दिल से डर को निकाल देना। इसलिए अब जबतक यह 'तीन कठिया' प्रथा मिट नहीं जाती तबतक हम आराम से नहीं बैठ सकते। मैं तो अभी दो दिन में जितना देख सकूं, देखने के लिए आया हूं, परंतु मैं देखता हूं कि इस काम में दो वर्ष भी लग सकते हैं; परंतु इतने समय की भी जरूरत हो तो मैं देने के लिए तैयार हूं। यह तो मुझे सूझ रहा है कि मुझे क्या करना चाहिए; परंतु आपकी मदद की जरूरत है।"

मैंने देखा कि बृजकिशोरबाबू निश्चित विचार के आदमी हैं। उन्होंने शांति के साथ उत्तर दिया—"हमसे जो-कुछ बन सकेगी वह मदद हम जरूर करेंगे; परंतु हमें आप बतलाइये कि आप किस तरह की मदद चाहते हैं।"

हम लोग रात-भर बैठकर इस विषय पर विचार करते रहे। मैंने कहा—"मुझे आपकी वकालत की सहायता की जरूरत कम होगी। आप जैसों से मैं लेखक और दुभाषिये के रूप में सहायता चाहता हूं। संभव है, इस काम में जेल जाने की भी नौबत आ जाय। यदि आप इस जोखिम में पड़ सकें तो मैं इसे पसंद करूंगा; परंतु यदि आप न पड़ना चाहें तो भी कोई बात नहीं। वकालत को अनिश्चित समय के लिए बंद करके लेखक के रूप में काम करना भी मेरी कुछ कम मांग नहीं है। यहां की बोली समझने में मुझे बहुत दिक्कत पड़ती है। कागज-पत्र सब उर्दू या कैथी में लिखे होते हैं, जिन्हें मैं पढ़ नहीं सकता। उनके अनुवाद की मैं आपसे आशा रखता हूं। रुपये देकर यह काम कराना चाहें तो वह अपने सामर्थ्य के बाहर है। यह सब सेवा-भाव से बिना पैसे के होना चाहिए।"

बृजकिशोरबाबू मेरी बात को समझ तो गये; परंतु उन्होंने मुझसे तथा अपने साथियों से जिरह शुरू की। मेरी बातों का फलितार्थ उन्हें बताया। मुझसे पूछा—"आपके अंदाज में कबतक वकीलों को यह त्याग करना चाहिए, कितना करना चाहिए, थोड़े-थोड़े लोग थोड़ी-थोड़ी अवधि के लिए आते रहें तो काम चलेगा या नहीं?" इत्यादि। वकीलों से उन्होंने पूछा कि आप लोग कितना-कितना त्याग कर सकेंगे?

अंत में उन्होंने अपना यह निश्चय प्रकट किया—"हम इतने लोग तो

जिस समय चाहेंगे आपके पास हाजिर रहेंगे। जेल जाने की बात अलबत्ता हमारे लिए नई है; पर उसकी भी हिम्मत करने की हम कोशिश करेंगे।"

(आ० क०, १६२७)

... ...

बृजकिशोरबाबू और राजेन्द्रबाबू की जोड़ी अद्वितीय थी। उन्होंने प्रेम से मुझे ऐसा अपंग बना दिया था कि उनके बिना मैं एक कदम भी आगे न रख सकता था। (आ० क०, १६२७)

: १३८ :

ए० डब्ल्यू० बेकर

मि० बेकर वकील और साथ ही कट्टर पादरी भी थे। अभी वह मौजूद हैं। अब तो सिर्फ पादरी का ही काम करते हैं। वकालत छोड़ दी है। खा-पीकर सुखी हैं। अबतक मुझसे चिट्ठी-पत्री करते रहते हैं। चिट्ठी-पत्री का विषय एक ही होता है। ईसाई धर्म की उत्तमता की चर्चा वह भिन्न-भिन्न रूप में अपने पत्रों में किया करते हैं और यह प्रतिपादन करते हैं कि ईसा-मसीह को ईश्वर का एकमात्र पुत्र तथा तारनहार माने बिना परम शान्ति कभी नहीं मिल सकती।

हमारी पहली ही मुलाकात में मि० बेकर ने धर्म-सम्बन्धी मेरी मनोदशा जान ली। मैंने उनसे कहा—"जन्मतः मैं हिन्दू हूं; पर मुझे उस धर्म का विशेष ज्ञान नहीं। दूसरे धर्मों का ज्ञान भी कम है। मैं कहां हूं, मुझे क्या मानना चाहिए, यह सब नहीं जानता। अपने धर्म का गहरा अध्ययन करना चाहता हूं। दूसरे धर्मों का भी यथाशक्ति अध्ययन करने का विचार है।"

यह सब सुनकर मि० बेकर प्रसन्न हुए और मुझसे कहा—"मैं खुद 'दक्षिण अफ्रीका जनरल मिशन' का एक डाइरेक्टर हूं। मैंने अपने खर्च से एक गिरजा बनाया है। उसमें मैं समय-समय पर धर्म-सम्बन्धी व्याख्यान दिया करता हूं। मैं रंग-भेद नहीं मानता। मेरे साथ और लोग भी काम करनेवाले हैं। हमेशा एक बजे हम कुछ समय के लिए मिलते हैं और आत्मा

की शान्ति तथा प्रकाश (ज्ञान के उदय) के लिए प्रार्थना करते हैं। उसमें आप आया करेंगे तो मुझे खुशी होगी। वहां अपने साथियों का भी परिचय आपसे कराऊंगा। वे सब आपसे मिलकर प्रसन्न होंगे और मुझे विश्वास है कि आपको भी उनका समागम प्रिय होगा। आपको कुछ धर्म पुस्तकें भी मैं पढ़ने के लिए दूंगा; परन्तु सच्ची पुस्तक तो बाइबिल ही है। मैं खास तौर पर सिफारिश करता हूं कि आप इसे पढ़ें।"

मैंने मि० बेकर को धन्यवाद दिया और कहा कि जहांतक हो सकेगा आपके मण्डल में एक बजे प्रार्थना के लिए आया करूंगा।

(आ० क०, १९२७)

... ...

मेरे भविष्य के सम्बन्ध में मि० बेकर की चिन्ता दिन-दिन बढ़ती जा रही थी। वह मुझे वेलिंग्टन कन्वेंशन में ले गये। प्रोटेस्टेंट ईसाइयों में, कुछ-कुछ वर्षों बाद, धर्म-जागृति अर्थात् आत्मशुद्धि के लिए विशेष प्रयत्न किये जाते हैं। इसे धर्म की पुन: प्रतिष्ठा अथवा धर्म का पुनरुद्धार कहा करते हैं। ऐसा एक सम्मेलन वेलिंग्टन में था। उसके सभापति वहां के प्रख्यात धर्म-निष्ठ पादरी रेवरंड एंड्रू मरे थे। मि० बेकर को ऐसी आशा थी कि इस सम्मेलन में होनेवाली जागृति, वहां आनेवाले लोगों का धार्मिक उत्साह, उनका शुद्ध भाव, मुझपर ऐसा गहरा असर डालेगा कि मैं ईसाई हुए विना न रह सकूंगा।

परन्तु मि० बेकर का अन्तिम आधार था प्रार्थना-बल। प्रार्थना पर उनकी भारी श्रद्धा थी। उनका विश्वास था कि अन्त:करण-पूर्वक की गई प्रार्थना को ईश्वर अवश्य सुनता है। वह कहते, "प्रार्थना के ही बल पर मुलर (एक विख्यात भावुक ईसाई) जैसे लोगों का काम चलता है।" प्रार्थना की यह महिमा मैंने तटस्थ भाव से सुनी। मैंने उनसे कहा कि मेरा अन्तरात्मा पुकार उठे कि मुझे ईसाई हो जाना चाहिए तो दुनिया की कोई शक्ति मुझे रोक नहीं सकती। अन्तरात्मा की पुकार के अनुसार चलने की आदत तो मैं कितने ही वर्षों से डाल चुका था। अन्तरात्मा के अधीन होते हुए मुझे आनन्द आता। उसके विपरीत आचरण करना मुझे कठिन और दुःखदाई मालूम होता था।

हम वेलिंग्टन गये। मुझे 'श्यामल साथी' को साथ रखना मि० बेकर के लिए भारी पड़ा। कई बार उन्हें मेरे कारण असुविधा भोगनी पड़ती। रास्ते में हमें मुकाम करना पड़ा था; क्योंकि मि० बेकर का संघ रविवार को सफर न करता था और बीच में रविवार पड़ गया था। बीच में तथा स्टेशन पर मुझे होटलवाले ने होटल में ठहरने से तथा चख-चख होने के बाद ठहरने पर भी भोजनालय में भोजन करने देने से इन्कार कर दिया; पर मि० बेकर आसानी से हार माननेवाले न थे। वह होटल में ठहरनेवालों के हक पर अड़े रहे; परन्तु मैंने उनकी कठिनाइयों का अनुभव किया। वेलिंग्टन में भी मैं उनके पास ही ठहरा था। वहां उन्हें छोटी-छोटी-सी बातों में असुविधा होती थी। वह उन्हें ढांकने का शुभ प्रयत्न करते थे; फिर भी वह मेरे ध्यान में आ जाया करती थीं। (आ० क०, १९२७)

: १३९ :

एनी बेसन्ट

हम ऐसे कई बूढ़ों को जानते हैं जिनमें जवानी की उद्यम-प्रियता पाई जाती है और कई ऐसे नौजवानों को देखते हैं, जो जवान होते हुए भी उद्यम की दृष्टि से बूढ़ों के समान शिथिल होते हैं। विदुषी एनी बेसन्ट वृद्ध होती हुई भी जवान के बराबर काम करती हैं। समय की पाबन्दी और सुरक्षा में उनकी बराबरी करनेवाले बहुत थोड़े आदमी पाये जाते हैं। जोश में भी वह किसीसे भी कम नहीं है। (हि० न०, ७. ३. २९)

: १४० :

सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी

यह देखकर मुझे दुःख होता है कि बाबू सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी की आवाज आज सुनाई नहीं देती है। उनके और मेरे मतों के बीच आज उत्तर और दक्षिण ध्रुवों के जितना अन्तर है। पर मतों के बीच अन्तर होने से ही पर-

है जब मैं बालक था तब सुरेन्द्रनाथ देश की वह सेवा कर रहे थे, जिसका हमें कृतज्ञ होना चाहिए। (कलकत्ता-भाषण, १२. १२. २०)

... ...

'बंगाल के देव' सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी से तो मिलना ही था। उनसे जब मैं मिलने गया तब दूसरे मिलनेवाले उन्हें घेरे हुए थे। उन्होंने कहा, "मुझे अंदेशा है कि आपकी बात में यहां के लोग दिलचस्पी न लेंगे। आप देखते ही हैं कि यहां हम लोगों को कम मुसीबतें नहीं हैं। फिर भी आपको तो भर-सक कुछ-न-कुछ करना ही है। इस काम में आपको महाराजाओं की मदद की जरूरत होगी। 'ब्रिटिश इंडिया एसोसियेशन' के प्रतिनिधियों से मिलियेगा। राजा सर प्यारीमोहन मुकर्जी और महाराजा टागोर से भी मिलियेगा। दोनों उदार हृदय हैं और सार्वजनिक कामों में अच्छा भाग लेते हैं।" मैं इन सज्जनों से मिला; पर वहां मेरी दाल न गली। दोनों ने कहा, "कलकत्ता में सभा करना आसान बात नहीं; पर यदि करना ही हो तो उसका बहुत-कुछ दारोमदार सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी पर है।" (आ० क०, १६२७)

... ...

सर सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी की मृत्यु क्या हुई मानों भारत के राजनैतिक जीवन से ऐसा पुरुष उठ गया जो अपने व्यक्तित्व की गहरी छाप उसपर छोड़ गया है। नये आदर्श और नई आशाएं ली हुई जनता की नजरों में यदि वह पीछे हट गये तो क्या हुआ? हमारा वर्तमान हमारे भूतकाल का ही तो परिणाम है। सर सुरेन्द्रनाथ जैसे पथ-प्रदर्शक लोगों के बहुमूल्य कार्य के बिना वर्तमान समय के आदर्श और उच्च आकांक्षाओं का होना सम्भव ही न था। एक ऐसा समय था जबकि विद्यार्थी लोग उनको अपना आराध्य देव समझते थे, जबकि देश के राष्ट्रीय कामों में उनकी सलाह लेना अनिवार्य समझा जाता था और उनके वक्तृत्व से लोग मन्त्र-मुग्ध-से हो जाते थे। जब हमें बंग-भंग के समय की दिल दहला देनेवाली घटनाओं का स्मरण होता है तब उसके साथ ही सर सुरेन्द्र की उस समय की गई अनुपम सेवाओं की स्मृति, कृतज्ञता और अभिमान-पूर्वक हुए बिना नहीं रह सकती। ऐसे ही समय में सर सुरेन्द्रनाथ को अपने कृतज्ञ देश-बन्धुओं से 'कभी न झुकनेवाला'

कभी डांवाडोल न हुए, कभी निराश न हुए। वह अपनी पूरी शक्ति के साथ उस आन्दोलन में कूद पड़े थे। उनके उत्साह से सारे बंगाल में उत्साह फैल गया। सरकार की 'नान्यथा' को 'अन्यथा' करने के दृढ़ संकल्प में वह अचल रहे। उन्होंने हमको हिम्मत और दृढ़ता की शिक्षा दी। उन्होंने हमें मदान्ध अधिकारियों से 'नहीं' कहना सिखलाया।

राजनैतिक क्षेत्र के अनुसार ही शिक्षा-विभाग में भी उनका काम बहुत ऊंचे दरजे का था। रिपन कालेज के द्वारा हजारों विद्यार्थियों को उनकी सीधी देख-रेख और लगातार असर में रहने के कारण बड़ी उदार शिक्षा मिली। अपने नियमित जीवन के कारण वह हमेशा तन्दुरुस्त और सशक्त बने रहे और उन्हें दीर्घ जीवन—हिन्दुस्तान में समझा जानेवाला दीर्घ जीवन—मिला। अन्त समय तक वह अपनी मानसिक शक्तियों को कायम रख सके। सतहत्तर वर्ष की उम्र में अपने दैनिक 'बंगाली' पत्र का सम्पादन-भार लेना कोई मामूली शक्ति का काम न था। अपनी मानसिक और शारीरिक शक्ति कायम रहने के सम्बन्ध में उनकी ऐसी दृढ़ धारणा थी कि दो मास पहले जब मुझे बारकपुर में उनसे मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था तब उन्होंने मुझसे कहा था कि मैं इक्यानवे वर्ष की आयु तक जीवित रहने की उम्मीद करता हूं। इसके बाद मुझे जीने की इच्छा नहीं है; क्योंकि उसके बाद मेरी शक्ति कायम न रह सकेगी। पर भाग्य ने तो उसका उल्टा कर दिखाया। बिना सूचना दिये ही उसने उन्हें हमसे छीन लिया। किसीको इसकी कल्पना तक न थी। गुरुवार ता० ६ के प्रातःकाल तक उनकी मृत्यु का कोई चिह्न दिखाई नहीं दिया। यद्यपि आज उनका शरीर हमारे बीच में नहीं है तो उनकी देश-सेवा तो कभी भुलाई नहीं जा सकती। वर्तमान भारत के निर्माण करनेवालों में उनका नाम सदा अमर रहेगा।

(हिं० न०, २०. ८. २५)

: १४१ :

जनरल बोथा

दक्षिण अफ्रीका का जनरल बोथा कौन था? वह भी तो बारडोली के किसानों के समान एक किसान ही था। वह ४०,००० भेड़ें रखता था। भेड़ों की परीक्षा करने में उसके जैसा कोई चतुर न था। यद्यपि उसकी कीर्ति तो योद्धा की हैसियत से फैली; पर उसके जीवन में लड़ने के प्रसंग तो बहुत कम आये। उसके जीवन का अधिकांश भाग रचनात्मक कामों में ही व्यतीत हुआ। इतना भारी व्यवसाय करने के लिए कितने रचना-कौशल की जरूरत पड़ी होगी। ('विजयी बारडोली,' पृष्ठ ३९)

: १४२ :

सुभाषचन्द्र बोस

प्र०—क्या सुभाषबाबू का यह कहना सही नहीं है कि कांग्रेस के सत्ताधारी नेताओं की—जिनमें आप भी शामिल हैं—मनोवृत्ति सुधारवादी और नरम है?

उ०—अवश्य सही है। दादाभाई नौरोजी एक महान सुधारवादी थे। गोखले नरम दल के महान् प्रतिनिधि थे। इसी तरह बंबई प्रांत के बेताज के बादशाह फिरोजशाह मेहता और सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी भी नरम थे। अपने समय में वे ही राष्ट्र के लिए लड़नेवाले थे। हम उन्हींके उत्तराधिकारी हैं। वे न होते तो हम भी न होते। सुभाषबाबू आगे बढ़ने की अधीरता में यह भूल जाते हैं कि मेरे जैसे लोग सुधारवादी और नरम मनोवृत्ति होते हुए भी उनके साथ देशभक्ति में होड़ लगा सकते हैं। मगर मैंने उनसे कहा है कि आपके सामने जवानी है, आपमें जवानी का जोश होना ही चाहिए। मैंने या और किसीने उनका हाथ नहीं पकड़ रखा है वह ऐसे आदमी भी नहीं है, जिन्हें पकड़कर रखा जा सके। उन्हें उनकी दूरंदेशी ने रोक रखा है और इस तरह वह भी उतने ही सुधारवादी और नरम हैं जितना मैं हूं। अंतर इतना ही है

के जोश में वह नहीं देख सकते। सुभाषबाबू और मेरा दृष्टिकोण अलग-अलग होते हुए और उनपर कांग्रेस की तरफ से प्रतिबंध होने पर भी मेरा निमंत्रण है कि वह शांत युद्ध में अपना जौहर बतायें तो फिर भी लेखक देखेंगे कि मैं उनके पीछे-पीछे चल रहा हूं। मैं उनसे आगे निकल गया तो वह मेरे पीछे-पीछे चलेंगे, यह मुझे भरोसा है। मगर मुझे तो इसी आशा पर जीना है कि हम अपना समान ध्येय दूसरी लड़ाई के बिना ही प्राप्त कर लेंगे।

वर्धा लौटते हुए नागपुर-स्टेशन पर एक नवयुवक ने यह सवाल पूछा कि कार्य-समिति ने सुभाषबाबू की गिरफ्तारी की तरफ क्यों कुछ ध्यान नहीं दिया? चूंकि सोमवार का दिन था, मेरा मौन चल रहा था, मैंने कुछ भी जवाब नहीं दिया। मगर नवयुवक का यह प्रश्न मुझे ठीक लगा। मैंने उसे ध्यान में रख लिया। मेरे दिल में ज़रा भी शक नहीं कि हजारों नहीं तो सैकड़ों लोग यही सवाल, जो इस नवयुवक ने नागपुर-स्टेशन पर पूछा, अपने दिल में पूछ रहे होंगे। और यह बात है भी ठीक। सुभाषबाबू दो बार लगातार कांग्रेस के राष्ट्रपति चुने जाचुके हैं। अपनी जिंदगी में उन्होंने भारी आत्म-बलिदान किया है। वह एक जन्म-जात नेता हैं। मगर सिर्फ इस वजह से कि उनमें ये सब गुण हैं, यह साबित नहीं होता कि उनकी गिरफ्तारी के विरुद्ध कार्य-समिति अपनी आवाज़ ऊंची करे। हां, यदि गुण-दोष का विचार करने के बाद कार्य-समिति को ऐसा लगे कि अमुक गिरफ्तारी निंदा के योग्य है तो वह जरूर उसकी ओर अपना ध्यान देगी। मगर सुभाषबाबू ने कांग्रेस की आज्ञा से सरकारी कानून को भंग नहीं किया। उन्होंने तो खुद कार्य-समिति की आज्ञा का भी, साफ ऐलान के साथ और छाती ठोककर, उल्लंघन किया है। अगर उन्होंने इस घड़ी कोई दूसरी-तीसरी बिना पर लड़ाई के लिए कार्य-समिति से आज्ञा मांगी होती तो मेरा विचार है कि वह उसे देने से इन्कार ही करती। सुभाषबाबू ने जो सवाल उठाया, वैसे तो उससे भी बड़े महत्त्व के सैकड़ों सवाल शायद देश में मिलेंगे। मगर देश ने इस समय केवल एक प्रश्न पर, यानी स्वतंत्रता के प्रश्न पर अपना सारा ध्यान जमा दिया है। अवसर आने पर इस सिलसिले में सत्याग्रह शुरू करने के लिए तैयारियां भी की जा रही हैं। इसलिए सुभाषबाबू ने जो कदम उठाया है अगर उसके बारे

वह अपनी नापसंदगी प्रकट करे। मगर उसे यह नहीं करना था। मैं भी चाहता तो इस नवयुवक के सवाल को जवाब दिये बिना ही रख छोड़ता। मगर मुझे लगा कि इस गिरफ्तारी को इसके ठीक रूप में जनता के आगे रखने में कुछ नुकसान नहीं। श्री सुभाषबाबू-जैसे बड़े आदमी की गिरफ्तारी कोई ऐसी-वैसी बात नहीं है। मगर सुभाषबाबू ने अपनी युद्ध की योजना खूब सोच-विचार के बाद और साहस के साथ गढ़ी है। उनके ख्याल में उनका रास्ता सर्वोत्तम है। वह ईमानदारी से यह मानते हैं कि कार्य-समिति गलत रास्ते पर है, और 'टाल-मटोल' की नीति से कुछ भला होनेवाला नहीं। उन्होंने साफ शब्दों में मुझसे कह दिया था कि जो काम कार्य-समिति न कर सकी वह उसे करके बतायेंगे। उनका धीरज चला गया था और विलंब वह सहन नहीं कर सकते थे। मैंने जब उनसे कहा कि अगर उनकी योजना के परिणामस्वरूप मेरी जिंदगी में स्वराज मिल गया तो सबसे पहले उन्हें मेरी तरफ से धन्यवाद का तार मिलेगा। और अगर उनके उठाये हुए युद्ध के दरमियान मेरा विचार उनके जैसा हो गया तो मैं खुले दिल से उनका नेतृत्व स्वीकार करने का ऐलान करूंगा और उनके झंडे के नीचे बतौर एक सिपाही के आकर खुद भरती हो जाऊंगा। लेकिन इसके साथ-साथ मैंने उन्हें यह चेतावनी भी दी थी कि वह गलत रास्ते पर चढ़े हैं।

मगर मेरी राय कुछ बहुत मानी नहीं रखती। जबतक श्री सुभाषबाबू किसी एक रास्ते को ठीक समझते हैं तबतक उस रास्ते पर डटे रहने का उनका अधिकार और धर्म है, चाहे कांग्रेस को वह पसंद हो या न हो। मैंने उनसे कहा कि यह अधिक ठीक होगा कि वह कांग्रेस में से बिलकुल निकल जायं, मगर मेरी राय उन्हें जंची नहीं। लेकिन यह सब कुछ होते हुए भी अगर उनका प्रयत्न सफल हो और हिंदुस्तान को स्वतंत्रता मिल जाय तो उनका कांग्रेस के विरुद्ध विद्रोह करना ठीक ही सिद्ध होगा और कांग्रेस न सिर्फ उनके इस विद्रोह को क्षमा ही करेगी, बल्कि देश के तारनहार के तौर पर वह उनका स्वागत भी करेगी।

सत्याग्रह के युद्ध में आग्रह करके जेल जाना प्रशंसनीय गिना जाता है। इसलिए देश के समान्य कानून भंग करने की वजह से किसीको कैद की सजा

फ्तारी होने पर सविनय-भंग करनेवालों को धन्यवाद देने और दूसरे कांग्रेस वादियों को उनका अनुकरण करने का निमंत्रण देने की प्रथा रही है। यह स्पष्ट है कि सुभाषबाबू के बारे में कार्य-समिति ऐसा नहीं कर सकती थी। मैं यहां यह भी कह दूं कि देश में जगह-जगह जो गिरफ्तारियां आज हो रही हैं—और उनमें प्रख्यात कांग्रेस के सदस्य भी शामिल हैं—उनके बारे में भी कार्य-समिति ने कोई कारंवाई नहीं की। इसका मतलब यह नहीं कि कार्य-समिति को इससे आघात नहीं पहुंचा, मगर जीवन-संग्राम में कई एक अन्यायों का मूक सहन करना कभी-कभी धर्म हो जाता है। अगर वह इरादतन सहन किया जाय तो उसमें से एक बड़ी शक्ति पैदा होगी। (ह० से०, १३.७.४०)

... ...

नेताजी के जीवन से जो सबसे बड़ी शिक्षा ली जा सकती है वह है उनकी अपने अनुयायियों में ऐक्यभावना की प्रेरणाविधि, जिससे कि वह सब साम्प्रदायिक तथा प्रांतीय बंधनों से मुक्त रह सके और एक समान उद्देश्य के लिए अपना रक्त बहा सके। उनकी अनुपम सफलता उन्हें निस्संदेह इतिहास के पन्नों में अमर रखेगी।

नेताजी के प्रत्येक अनुगामी ने, भारत लौटने पर मुझसे मिले, निर्विवाद रूप से यह कहा कि नेताजी का प्रभाव उनपर जादू-सा करता था और वह उनके अधीन एकमात्र भारत की आजादी प्राप्त करने के उद्देश्य से काम करते थे। उनके दिलों में सांप्रदायिक और प्रांतीय या और कोई भी भेद-भाव कभी भी अंकुरित नहीं हुआ था।

नेताजी एक महान गुणवान पुरुष थे। वह व्युत्पन्नमति और प्रतिभा-सम्पन्न थे। उन्होंने आई० सी० एस० की परीक्षा उत्तीर्ण की; किन्तु नौकरी उन्होंने नहीं की। भारत लौटने पर वह देशबन्धुदास से प्रभावित हुए और कलकत्ता कार्पोरेशन के मुख्य एक्जीक्यूटिव आफिसर नियुक्त हुए। बाद में वह राष्ट्रीय महासभा के भी दो बार राष्ट्रपति बने; परन्तु उनकी उल्लेखनीय सफलताओं में, भारत से बाहर के, उस समय के कार्य हैं, जब वह देश से भागे और काबुल, इटली, जर्मनी और अन्य देशों से होकर अंत में जापान पहुंचे। विदेशी चाहे कुछ भी कहें; पर मैं विश्वास के साथ यह अवश्य

भागने को अपराध मानता है। 'समरथ को नहिं दोष गुसाईं'—सन्त तुलसीदास के इस कथन के अनुसार नेताजी पर भागने का दोष नहीं लगाया जा सकता। जब सर्वप्रथम उन्होंने सेना तैयार की तो उसकी तुच्छ संख्या की उन्होंने कोई चिन्ता नहीं की। उनका निश्चय था कि संख्या चाहे कितनी ही कम क्यों न हो; पर भारत को आजाद कराने के लिए उन्हें सामर्थ्य भर यत्न करना ही चाहिए।

नेताजी का सबसे महान् और स्थिर रहनेवाला कार्य था सब प्रकार के जातीय और वर्णभेद का उन्मूलन। वह केवल बंगाली ही नहीं थे। उन्होंने अपने-आपको कभी सवर्ण हिन्दू नहीं समझा। वह आमूलचूल भारतीय थे। इससे अधिक क्या कि उन्होंने अपने अनुगामियों में भी यही आग प्रज्वलित की, जिससे प्रेरित होकर वह उनकी उपस्थिति में सभी भेद-भाव भूल गये थे और एकसूत्र होकर काम करते थे। ('नेताजी : हिज लाइफ एण्ड वर्क')

... ...

एक बात और। वह यह कि जो आजाद हिन्द फौज सुभाषबाबू ने बनाई थी और उसके लिए हम सब सुभाषबाबू की होशियारी, बहादुरी की तारीफ करते हैं और तारीफ करने की बात है; क्योंकि जब वह हिन्दुस्तान से बाहर था तब उसने सोचा कि चलो, थोड़ा फौजी काम भी कर लूं। वह कोई लड़वैया तो था नहीं। एक मामूली हिन्दुस्तानी था। जैसे दूसरे वकील, बैरिस्टर रहते हैं वैसे सुभाषबाबू भी थे। फौज की कोई तालीम तो पाई नहीं थी। हां, सिविल सर्विस में जैसा आमतौर पर होता है, थोड़ी घुड़सवारी सीख ली होगी। लेकिन पीछे उन्होंने फौजी-शास्त्र थोड़ा पढ़ लिया होगा। इस प्रकार उनके मातहत जो सेना बनी थी, मैं सुनता हूं कि उसके दो बड़े अफसर, जिनसे मैं जेल में तथा उसके बाहर भी मिला था, काश्मीर पर हमला करनेवालों से मिले हुए हैं। यह मुझको बहुत चुभता है। ये सुभाषबाबू के मातहत खास काम करनेवाले थे और हमेशा उनके साथ रहा करते थे। सुभाषबाबू लश्कर से कोई बात छिपाकर रख तो सकते नहीं थे; क्योंकि उन्हें उनके मारफत काम लेना पड़ता था। वह आज लुटेरों के सरदार होकर जाते हैं तो मुझको चुभता है। अगर उनको अखबार मिलते हैं या जो हैं

आवाज उनको पहुंचाता हूं कि आप इसमें क्यों पड़ते हैं और सुभाषबाबू के नाम को क्यों डुबाते हैं ? आप ऐसा क्यों करते हैं कि हिन्दू का पक्ष लें या मुसलमान का पक्ष लें ? आपको तो जातिभेद करना नहीं चाहिए। सुभाष-बाबू तो ऐसे थे नहीं। उनके साथ हिन्दू-मुसलमान, सिख, पारसी, ईसाई, हरिजन आदि सब रहते थे। वहां न हरिजन का भेद था, न इतरजन का। वहां तो हिन्दुस्तानियों में जात-पांत का कोई भेदभाव था ही नहीं। यों तो सब अपने धर्म पर कायम थे, कोई धर्म तो छोड़ बैठे थे नहीं। लेकिन सुभाष बाबू ने कब्जा कर लिया था, उनके चित्त का हरण कर लिया था, शरीर का हरण नहीं किया था। ऐसा तो चलता नहीं था कि अगर आजाद हिन्द फौज में शामिल नहीं होता है तो काटो। लोगों को इस तरह काटकर वह हिन्दुस्तान को रिहाई दिलानेवाले नहीं थे। इस तरह मे वड़े हुए और बड़प्पन पाया। तब आप इतने छोटे क्यों बनते हैं और इस छोटे काम में क्यों पड़ते हैं ? अगर कुछ करना ही है तो सारे हिन्दुस्तान के लिए करो। वहां जो मुसलमान हैं, अफरीदी हैं, उनको कहें कि यह जाहिलपन क्यों करना ? लोगों को लूटना और देहातों को जलाना क्या ? चलो, महाराजा से मिलें, शेख अब्दुल्ला से मिलें, उनको चिट्ठी लिखें कि हम आपसे मिलना चाहते हैं, हम यहां कोई लूट करने तो आये नहीं हैं। आप इस्लाम को दबाते हैं, इसलिए आपको बताने आये हैं। यह तो मैं समझ सकता हूं। तब तो आप सुभाषबाबू का नाम उज्ज्वल करेंगे और उन अफरीदी लोगों के सच्चे शिक्षक बनेंगे। अफरीदी लोग कैसे रहते हैं, उनमें भी लुटेरे हैं या नहीं हैं, यह मैं नहीं जानता हूं। लेकिन मेरी निगाह में वे भी इन्सान हैं। उनके दिल में भी वही ईश्वर या खुदा है, इसलिए वे सब मेरे भाई हैं। अगर मैं उनमें रहूं तो उनसे कहूंगा कि लूट क्या करना, एक-दूसरे पर गुस्सा क्या करना ! मैं यह तो कहता नहा कि तुम्हारे पास जो बन्दूकें या तलवारें हैं, उन्हें छोड़ दो। उनको रखो; लेकिन जो दूसरे लोग डरे हुए हैं, मुफलिस हैं, औरतें हैं, बच्चे हैं, उनको बचाने के लिए। उसमें क्या है, चाहे वह हिन्दू हों या मुसलमान। तो मैं कहूंगा कि ये जो अफसर हैं, जिनका नाम मैंने सुन लिया है, वह सुभाषबाबू का नाम याद करें। वह तो मर गये, लेकिन उनका नाम नहीं मरा, काम तो नहीं मरा। (प्रा० प्र० २-११-४७)

आज सुभाषबाबू की जन्म-तिथि है। मैंने कह दिया है कि मैं तो किसी-की जन्म-तिथि या मृत्यु-तिथि याद नहीं रखता। वह आदत मेरी नहीं है। सुभाषबाबू की तिथि की मुझे याद दिलाई गई। उससे मैं राजी हुआ। उसका भी एक खास कारण है। वह हिंसा के पुजारी थे। मैं अहिंसा का पुजारी हूं। पर इसमें क्या ? मेरे पास गुण की ही कीमत है। तुलसीदासजी ने कहा है न :

"जड़-चेतन गुन-दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत-हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार॥"

हंस जैसे पानी को छोड़कर दूध ले लेता है, वैसे ही हमें भी करना चाहिए। मनुष्यमात्र में गुण और दोष दोनों भरे पड़े हैं। हमें गुणों को ग्रहण करना चाहिए। दोषों को भूल जाना चाहिए। सुभाषबाबू बड़े देश-प्रेमी थे। उन्होंने देश के लिए अपनी जान की बाजी लगा दी थी और वह करके भी बता दिया। वह सेनापति बने। उनकी फौज में हिन्दू, मुसलमान, पारसी, सिख सब थे। सब बंगाली ही थे, ऐसा भी नहीं था। उनमें न प्रान्तीयता थी, न रंग-भेद, न जाति-भेद। वह सेनापति थे, इसलिए उन्हें ज्यादा सहूलियत लेनी या देनी चाहिए, ऐसा भी नहीं था : (प्रा०, प्र०, २३.१.४८)

: १४३ :

भगवान्‌दास

जब काशी विद्यापीठ के अध्यापक कृपलानी और उनके विद्यार्थी पकड़े गये, मैंने अपने मित्रों से कहा था, "क्या ही अच्छा हो, यदि बाबू भगवान्-दास गिरफ्तार हो जायं। आखिर अध्यापक कृपलानी बनारस के रहनेवाले हैं। लेकिन बाबू भगवान्‌दास नहीं पकड़े जायंगे।" उस समय मुझे यह पता नहीं था कि बाबू भगवान्‌दास ही उस पुस्तिका के रचयिता थे, जिसे अध्या-पक कृपलानी बेच रहे थे। पुस्तक लिखने में लेखक ने बड़ी सावधानी से काम लिया था। दूसरे ही दिन उनके पुत्र का शुभ संवाद मुझे मिला कि बाबूजी

हैं——ऐसे असहयोगी जो मनसा, वाचा, कर्मणा हमेशा हिंसा से दूर रहते हैं। आप संस्कृत साहित्य के अच्छे पंडित हैं। बड़े ही धर्मनिष्ठ हैं। जमींदार हैं। श्रीमती बेसेंट यदि सेंट्रल हिन्दू कालेज की जन्मदात्री हैं तो बाबू भगवान्‌दास उसके निर्माता हैं। अतएव उनकी गिरफ्तारी एक ऐसा बलिदान है जो ईश्वर को रुचिकर हुए बिना नहीं रह सकता। और वह पतित-पावनी विश्वनाथपुरी इससे अच्छा बलिदान और क्या करती ? अखबारों के पढ़नेवाले लोग जानते ही होंगे कि बाबू भगवान्‌दास महासभा के द्वारा स्वराज्य की योजना तैयार कराने का प्रयत्न कर रहे थे। उसके लिए आप स्वयं भी दीर्घ परिश्रम कर रहे थे। आपने मुझे कितने ही सूचक प्रश्नों की एक लम्बी सूची भेजी है, जिसपर मैं इन वर्तमान घटनाओं के कारण अभी तक कोई कार्रवाई नहीं कर सका। दंगा-फसाद न होने देने की वह बड़ी चिन्ता रखते थे। यदि उनकी गिरफ्तारी से भी सरकार की हिंसाकांड को न्यौता देने की उत्सुकता का पता न चलता हो तो मैं नहीं कह सकता कि किस बात से चलेगा ! (हि० न०, २५.१२.२१)

: १४४ :

गोकुलभाई भट्ट

सिरोही राजपूताने की एक रियासत है, जिसकी आबादी १,८६,६३९ और आमदनी ९, ७०, ०००)रु० है। अखबारों में इसकी चर्चा उस लाठी-चार्ज के लिए हुई है, जो एक सभा में और कहते हैं कि बिना किसी उत्तेजना के किया गया। श्री गोकुलभाई भट्ट से, जो सिरोही के ही रहनेवाले हैं और एक सुयोग्य अध्यापक तथा वफादार कांग्रेस-कार्यकर्त्ता के रूप में जिन्होंने प्रसिद्धि पाई है, मुझे इस घटना की प्रामाणिक जानकारी मिली है। वह अहिंसा की भावना में ओतप्रोत हैं। हाल ही में वह सिरोही गये हैं और प्रजा के लिए प्राथमिक अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

(ह० से०, २३.९.३९)

: १४५ :

भंसाली

सुबह घूमते समय भंसालीभाई की बातें होती रहीं। मेरे मन में उनकी साधुता के प्रति बहुत मान रहा है। बापू क बाद मेरी नजर में भंसालीभाई ही साधु हैं। बापू कहने लगे—

मैं उसे अपने से ऊंचा समझता हूं। तीनों काल निर्भय रहता है। यह साधु का लक्षण है। वह जो कर सकता है, मैं नहीं कर सकता।

मैंने पूछा, "भंसालीभाई को क्या लगता होगा ?" बोले—

कुछ नहीं, वह तो महाभारत को भी घोटकर पी गया है। महाराष्ट्रियों में धर्म-ग्रंथों से अद्भुत नतीजे निकालने की विलक्षण क्षमता है।

(का० क०, २४.११.४२)

... ...

भंसासी की मृत्यु की खबर आयेगी तो मेरा हृदय कांप भले ही उठे, मगर खुशी से नाचेगा भी। ऐसी संपूर्ण अहिंसक मृत्यु आज तक हुई ही नहीं है। भंसाली को मैं जानता हूं। उसके हृदय में वैरभाव का लेश भी नहीं है। हमारे लोगों में इतना मैल भरा है कि उसे निकालने के लिए कइयों को तो जल मरना होगा। (का० क०, २४.१२.४२)

: १४६ :

बड़े भाई

बड़े भाई ने तो मुझपर बहुतेरी आशाएं बांध रखी थीं। उन्हें धन का, कीर्ति का और ऊंचे पद का लोभ बहुत था। उनका हृदय बादशाह के जैसा था। उदारता उड़ाऊपन तक उन्हें ले जाती। इससे तथा उनके भोलेपन के कारण मित्र बनाते उन्हें देर न लगती। उन मित्रों के द्वारा उन्होंने मेरे लिए मुकदमे लाने की तजवीज कर रखी थी। उन्होंने यह भी मान लिया था कि मैं खब रुपया कमाने लगूंगा और इस भरोसे पर उन्होंने घर का खर्च

उन्होंने कसर न उठा रखी थी।

इधर जाति का झगड़ा अभी खड़ा ही था। उसमें दो दल हो गये थे। एक दल ने मुझे तुरंत जाति में ले लिया। दूसरा न लेने के पक्ष में अटल रहा। जाति में ले लेनेवाले दल को संतुष्ट करने के लिए, राजकोट पहुंचने के पहले, भाईसाहब मुझे नासिक ले गये। वहां गंगा-स्नान कराया और राजकोट में पहुंचते ही जाति-भोज दिया गया।

यह बात मुझे रुचिकर न हुई। बड़े भाई का मेरे प्रति अगाध प्रेम था। मेरा खयाल है कि मेरी भक्ति भी वैसी ही थी। इसलिए उनकी इच्छा को आज्ञा मानकर मैं यंत्र की तरह बिना समझे, उसके अनुकूल होता चला गया।

(आ० क०, १६२७)

... ...

'ट्रस्टी' यों करोड़ों की सम्पत्ति रखते हैं, फिर भी उसकी एक पाई पर भी उनका अधिकार नहीं होता। इसी तरह मुमुक्षु को अपना आचरण रखना चाहिए--यह पाठ मैंने गीताजी से सीखा। अपरिग्रही होने के लिए, सम-भाव रखने के लिए, हेतु का और हृदय का परिवर्तन आवश्यक है, यह बात मुझे दीप की तरह स्पष्ट दिखाई देने लगी। बस, तुरंत रेवाशंकर भाई को लिखा कि बीमे की पालिसी बंद कर दीजिये। कुछ रुपया वापस मिल जाय तो ठीक, नहीं तो खैर। बाल-बच्चों और गृहिणी की रक्षा वह ईश्वर करेगा जिसने उनको और हमको पैदा किया है। यह आशय मेरे उस पत्र का था। पिता के समान अपने बड़े भाई को लिखा--"आज तक मैं जो कुछ बचाता रहा आपके अर्पण करता रहा। अब मेरी आशा छोड़ दीजिये। अब जो-कुछ बच रहेगा वह यहींके सार्वजनिक कामों में लगेगा।"

इस बात का औचित्य मैं भाईसाहब को जल्दी न समझा सका। शुरू में तो उन्होंने बड़े कड़े शब्दों में अपने प्रति मेरे धर्म का उपदेश दिया--"पिताजी से बढ़कर अक्ल दिखाने की तुम्हें जरूरत नहीं। क्या पिताजी अपने कुटुंब का पालन-पोषण नहीं करते थे? तुम्हें भी उसी तरह घर-बार सम्हालना चाहिए।" आदि। मैंने विनयपूर्वक उत्तर दिया--"मैं तो वही काम कर रहा हूं, जो पिताजी करते थे। यदि कुटुंब की व्याख्या हम ज़रा

जायगा ।"

अब भाईसाहब ने मेरी आशा छोड़ दी। करीब-करीब अ-बोला ही रखा। मुझे इससे दुःख हुआ, परंतु जिस बात को मैंने अपना धर्म मान लिया, उसे यदि छोड़ता हूं तो उससे भी अधिक दुःख होता था। अतएव मैंने उस थोड़े दुःख को सहन कर लिया। फिर भी भाईसाहब के प्रति मेरी भक्ति उसी तरह निर्मल और प्रचंड रही। मैं जानता था कि भाईसाहब के इस दुःख का मूल है उनका प्रेम-भाव। उन्हें रुपये-पैसे के सद्व्यवहार की अधिक चाह थी।

पर अपने अंतिम दिनों में भाईसाहब मुझपर पसीज गये थे। जब वह मृत्यु-शैया पर थे तब उन्होंने मुझे सूचित कराया कि मेरा कार्य ही उचित और धर्म्य था। उनका पत्र बड़ा ही करुणाजनक था। यदि पिता पुत्र से माफी मांग सकता हो तो उन्होंने उसमें मुझसे माफी मांगी थी। लिखा कि मेरे लड़कों का तुम अपने ढंग से लालन-पालन और शिक्षण करना। वह मुझसे मिलने के लिए बड़े अधीर हो गये थे। मुझे तार दिया। मैंने तार द्वारा उत्तर दिया—"जरूर आजाइये।" पर हमारा मिलाप ईश्वर को मंजूर न था।

अपने पुत्रों के लिए जो इच्छा उन्होंने प्रदर्शित की थी वह भी पूरी न हुई। भाईसाहब ने देश में ही अपना शरीर छोड़ा था। लड़कों पर उनके पूर्व-जीवन का असर पड़ चुका था। उनके संस्कारों में परिवर्तन न हो पाया। मैं उन्हें अपने पास न खींच सका। (आ० क०, १९२७)

: १४७ :

रामकृष्ण भांडारकर

रामकृष्ण भांडारकर मुझसे उसी तरह पेश आये, जिस तरह पिता पुत्र से पेश आता है। मैं दोपहर के समय उनके यहां गया था। ऐसे समय भी मैं अपना काम कर रहा था, यह बात इस परिश्रमी शास्त्रज्ञ को प्रिय हुई और तटस्थ अध्यक्ष बनाने के मेरे आग्रह पर ('दैट्स इट', 'दैट्स इट') 'यही

बातचीत के अन्त में उन्होंने कहा—

"तुम किसीसे भी पूछोगे तो वह कह देगा कि आजकल में किसी भी राजनैतिक काम में नहीं पड़ता हूं; परन्तु तुमको में विमुख नहीं कर सकता। तुम्हारा मामला इतना मजबूत है और तुम्हारा उद्यम इतना स्तुत्य है कि में तुम्हारी सभा में आने से इन्कार नहीं कर सकता। श्रीयुत तिलक और श्रीयुत गोखले से तुम मिल ही लिये हो, यह अच्छा हुआ। उनसे कहना कि दोनों पक्ष जिस सभा में मुझे बुलावेंगे, आ मैं लाऊंगा और अध्यक्ष का स्थान ग्रहण कर लूंगा। समय के बारे में मुझसे पूछने की आवश्यकता नहीं। जो समय दोनों पक्षों को अनुकूल होगा उसकी पाबन्दी मैं कर लूंगा।"

यह कहकर मुझे धन्यवाद और आशीर्वाद देकर उन्होंने विदा किया।

(आ० क०, १९२७)

: १४८ :

गोपीचन्द भार्गव

डॉ० गोपीचन्द मेरे साथी कार्यकर्ता हैं। मैं उन्हें बहुत मानता हूं। मैं बरसों से उन्हें एक योग्य संयोजक के नाते जानता हूं, जिनका पंजाबियों पर बड़ा प्रभाव है। उन्होंने हरिजन-सेवक-संघ, अखिल भारत चरखा-संघ और अखिल भारत ग्रामोद्योग-संघ के लिए काफी काम किया है। मुझे यह नहीं सोचना चाहिए कि पूर्वी पंजाब का काम उनकी ताकत के बाहर है। लेकिन अगर पानीपत उनकी कार्य-कुशलता का नमूना न हो तो यह उनकी सरकार के लिए बड़ी बदनामी की बात है। पहले से बिना सूचना दिये इतने निराश्रित पानीपत में क्यों उतारे गये? उन्हें ठहराने के लिए वहां नाकाफी बन्दोबस्त क्यों है? अफसरों को पहले से यह सूचना क्यों नहीं दी जानी चाहिए कि कौन और कितने निराश्रित पानीपत भेजे जा रहे हैं? उसके साथ ही कल मुझे यह सूचना मिली है कि गुड़गांव जिले में तीन लाख ऐसे मुसलमान हैं, जिन्होंने डरकर अपना घर-बार छोड़ दिया है। आम सड़क के दोनों तरफ खुले में इस आशा से पड़े हैं कि उन्हें अपने औरत, बच्चों और मवेशियों के साथ पंजाब की कड़ी सर्दी में तीनसौ मील का रास्ता ...

करना है। मैं इस बात पर विश्वास नहीं करता। मेरा खयाल है कि मुझे दोस्तों ने जो बात सुनाई है उसमें कुछ गलती है। अभी भी मैं आशा करता हूं कि यह बात गलत है या बढ़ा-चढ़ाकर कही गई है। लेकिन पानीपत में मैंने जो कुछ देखा, उससे मेरा यह अविश्वास डिग गया है। फिर भी मुझे आशा है कि डा० गोपीचन्द और उनकी केबिनेट समय रहते चेत जायंगे और तबतक चैन नहीं लेंगे, जबतक सारे निराश्रितों की अच्छी देखभाल का पूरा इन्तजाम नहीं हो जाता। यह बन्दोबस्त दूरंदेशी और हद दरजे की सावधानी से ही किया जा सकता है। (प्रा० प्र०, १०.११.४७)

: १४९ :

दो सच्चरित्र भारतवासी

मवक्किलों की तो मेरे आस-पास भीड़ ही लगी रहती थी। इनमें से लगभग सब या तो बिहार इत्यादि उत्तर तरफ के, या तामिल-तेलगू इत्यादि दक्षिण प्रदेश के लोग थे। वह पहली गिरगिट में आये थे और अब मुक्त होकर स्वतन्त्र पेशा कर रहे हैं।

इन लोगों ने अपने दुःखों को मिटाने के लिए भारतीय व्यापारी वर्ग में अलग अपना एक मंडल बनाया था। उसमें कितने ही बड़े सच्चे दिल के उदारभाव रखनेवाले और सच्चरित्र भारतवासी थे। उनके अध्यक्ष का नाम था श्री जैरामसिंह और अध्यक्ष न रहते हुए भी अध्यक्ष के जैसे ही दूसरे सज्जन थे श्री बदरी। अब दोनों स्वर्गवासी हो चुके हैं। दोनों की तरफ से मुझे अतिशय सहायता मिली थी। श्री बदरी के परिचय में मैं बहुत ज्यादा आया था और उन्होंने सत्याग्रह में आगे बढ़कर हिस्सा लिया था। इन तथा ऐसे भाइयों के द्वारा मैं उत्तर-दक्षिण के बहु-संख्यक भारतवासियों के गाढ़ सम्पर्क में आया और मैं केवल उनका वकील ही नहीं, बल्कि भाई बनकर रहा और उनके तीनों प्रकार के दुःखों में उनका साझी हुआ। सेठ अब्दुल्ला ने मुझे 'गांधी' नाम से सम्बोधित करने से इन्कार कर दिया। और 'साहब' तो मुझे कहता और मानता ही कौन? इसलिए उन्होंने एक बड़ा ही प्रिय [illegible] । [illegible] अब लोग 'भाई' कहकर पुकारने लगे। [illegible] ना म

अन्त तक दक्षिण अफ्रीका में चला। पर जब यह गिरमिट-मुक्त भारतीय मुझे 'भाई' कहकर बुलाते तब मुझे उसमें एक खास मिठास मालूम होती थी। (आ० क०)

: १५० :

ज्वालाप्रसाद मंडेलिया

महान हरिजन-सेवक श्री ज्वालाप्रसाद मंडेलिया अब इस लोक में नहीं हैं। केन्द्रीय हरिजन-सेवक-संघ के वह कोषाध्यक्ष थे। और फिर उस कार्य के कोषाध्यक्ष जो उन्हें प्राणों के समान प्रिय था। आजकल प्रायः जिस अर्थ में धनी शब्द का प्रयोग होता है, वह वैसे धनी नहीं कहे जा सकते। पर वह बिड़ला मिल्स, दिल्ली के सेक्रेटरी थे, और वहां उन्होंने जो कुछ कमाया, जो कुछ उनके पास था, वह सब दान कर गये। अपने जीवन-काल में उन्होंने परोपकारी कार्यों में दिल खोलकर पैसा दिया। वह एक जन्मसिद्ध सुधारक थे। विधवाओं का उद्धार-कार्य उन्हें उतना ही प्रिय था, जितना कि हरिजनों का और अपनी वसीयत में वह इन्हीं दोनों के लिए अपना सर्वस्व दान कर गये हैं। (ह० से०, २.८.३५)

: १५१ :

मजहरुलहक

मौलाना मजहरुलहक और मैं एक साथ लंदन में पढ़ते थे। उसके बाद हम बम्बई में १९१५ की कांग्रेस में मिले थे। उस साल वह मुसलिम लीग के सभापति थे। उन्होंने पुरानी पहचान निकालकर जब कभी मैं पटना आऊं तो अपने यहां ठहरने का निमन्त्रण दिया था। इस निमन्त्रण के आधार पर मैंने उन्हें चिट्ठी लिखी और अपने काम का परिचय भी दिया। वह तुरन्त अपनी मोटर लेकर आये और मुझसे अपने यहां चलने का आग्रह करने लगे। इसके लिए मैंने उनको धन्यवाद दिया और कहा—"मुझे अपने जाने के स्थान पर पहली ट्रेन से रवाना कर दीजिये। रेलवे गाइड से मकाम का

मुझे कुछ पता नहीं लग सकता।" उन्होंने राजकुमार शुक्ल के साथ बात की और कहा कि पहले मुजफ्फरपुर जाना चाहिए। उसी दिन शाम को मुजफ्फरपुर की गाड़ी जाती थी। उसमें उन्होंने मुझे रवाना कर दिया।

(आ० क०, १९२७)

... ...

मौलाना मजहरुलहक ने मेरे सहायक के रूप में अपना हक लिखवा रखा था और महीने में एक-दो बार आकर मुझसे मिल जाया करते। उस समय के उनके ठाट-बाट और शान में तथा आज की सादगी में जमीन-आसमान का अन्तर है। वह हम लोगों में आकर अपने हृदय को मिला जाते परन्तु अपने साहबी ठाट-बाट के कारण बाहर के लोगों को वह हमसे भिन्न मालूम होते थे। (आ० क०)

: १५२ :

डा० मथुरादास

मोगा के डाक्टर मथुरादास के नेत्र-यज्ञ मैंने कभी देखे नहीं थे। उनकी कला के बारे में काफी सुना था। पिछले महीने के अन्त में स्वर्गीय जमनालालजी के निमंत्रण से डाक्टर मथुरादास अपने साथियों को लेकर वर्धा आये थे। दो दिन में उन्होंने करीब तीनसौ अन्धों को आखें दीं।

इस यज्ञ का आरम्भ रेवाड़ी के भगवद्भक्ति आश्रम से हुआ है। आश्रम के साथ जमनालालजी का सम्बन्ध होने के कारण इस बार उन्होंने वर्धा में यह यज्ञ कराया। डाक्टर मथुरादास की कला और परिश्रम को देखकर मेरा सिर झुक गया। वह एक मिनट में एक आंख का मोतियाबिन्दु निकालते हैं। शायद ही कभी असफल होते होंगे। यह सारा काम वह मुफ्त करते हैं और हजारों को आंख देते हैं।

डाक्टरजी का कहना है कि नाक काटने की 'बीमारी' की तरह मोतियाबिन्दु की बीमारी भी हिन्दुस्तान में ही ज्यादा देखने में आती है। इसलिए इस तरह के आपरेशन करनेवालों में, सारी दुनिया के अन्दर, डाक्टरजी का स्थान बहुत ऊंचा है। अब तो डाक्टरजी का अनुसरण दूसरे

भी कर रहे हैं, और होना भी यही चाहिए। डाक्टर और वैद्य तो परोपकार के पुतले होने चाहिए।

जिस तरह व्यापारी अपने व्यापार के लिए मुस्तैद रहता है, उसी तरह जमनालालजी भी हमेशा पारमार्थिक कामों को अपनाने में मुस्तैद रहा करते थे। इसीलिए उन्होंने अपने कामों में नेत्रयज्ञ की योजना को भी स्थान दे रखा था। परमार्थ या लोक-सेवा ही आजकल उनका पेशा बन गया था। उनकी इच्छा थी कि मध्यप्रान्त में ऐसे नेत्रयज्ञ बार-बार हुआ करें। आशा है, उनकी इस इच्छा की पूर्ति बराबर होती रहेगी। डाक्टर मथुरादास तो ऐसे यज्ञों के लिए हमेशा तैयार ही रहते हैं।

(कलकत्ता जाते हुए १७.२.४२; ह० से०, २२.२.४२)

: १५३ :

किशोरलाल मशरूवाला

वह एक पुराने कार्यकर्ता हैं और अभी-अभी तक गुजरात विद्यापीठ के महामात्र (रजिस्ट्रार) थे। किन्तु बीमारी के कारण उन्हें उस पद का त्याग करना पड़ा है। भारत में चुपचाप काम करनेवाले कार्यकर्ताओं में से वह एक अत्यन्त विचारशील पुरुष हैं। हरेक शब्द को वह तौल-तौलकर लिखते और बोलते भी हैं। (हि० न०, २६.५.२७)

... ...

किशोरलाल मशरूवाला हमारे विरले कार्यकर्ताओं में से एक हैं। काम करते हुए वह कभी थकते नहीं। वह अत्यन्त जागरूक रहते हैं। उनकी जाग्रत दृष्टि से ब्यौरे की कोई भी बात नहीं छूट पाती। वह एक तत्ववेत्ता हैं और गुजराती के एक लोकप्रिय लेखक। गुजराती के वह जैसे विद्वान हैं वैसे ही मराठी के भी हैं। वह जातीय, सांप्रदायिक या प्रान्तीय अहंकार या दुराग्रह से बिलकुल मुक्त हैं। वह एक स्वतन्त्र चिंतक हैं। वह राजनीतिज्ञ नहीं, एक पैदाइशी समाज-सुधारक हैं। समस्त धर्मों के विद्यार्थी हैं। उनमें धार्मिक कट्टरता का कोई चिह्न नहीं। वह जिम्मेदारी ओढ़ने और विज्ञा-

जिम्मेदारी ले लेने पर उसे उनकी अपेक्षा अधिक पूर्णता के साथ पूरा कर सके। बड़ी मुश्किलों से मैं उन्हें गांधी-सेवा-संघ का अध्यक्ष बनने को राजी कर सका था। उनकी परिश्रमशीलता और सरल श्रद्धा के कारण ही संघ को इतनी महत्ता और उपयोगिता प्राप्त हुई। उन्होंने अपने स्वास्थ के प्रति पूरी लापरवाही (मैं सार्वजनिक कार्यकर्ता में इसे कोई गुण नहीं, बल्कि अवगुण मानता हूं) रखकर सदा अपना द्वार सत्यशोधकों के लिए खुला रखा। कोई आश्चर्य नहीं कि इस सबसे वह संघ के एक अभिन्न अंग बन गये। असीम सावधानी के साथ उन्होंने संघ के लिए एक ऐसा विधान बनाया जो ऐसी किसी संस्था के लिए नमूने का काम दे सकता है।

(ह० से०, २.३.४०)

... ...

श्री किशोरलाल ने एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा है। अगर उनका शरीर काम दे तो वह उस तरह की और चीज लिख सकते हैं। उनके ग्रन्थ को शास्त्र कहना शायद ठीक न हो, तो भी वह शास्त्र के नजदीक की चीज है, ऐसा तो माना जा सकता है। लेकिन इस वक्त जैसी उनकी तन्दुरुस्ती है, उसे देखते हुए मैं मानता हूं कि वह इस बोझ को उठा नहीं सकेंगे। मैं तो उठाने को कहूंगा ही नहीं। वह भी अपने समय को व्यर्थ नहीं जाने देते। अनेक मित्रों के जीवन की समस्याओं को सुलझाने में उनका बहुत-सा समय बीत जाता है और दिन डूबे वह लस्त होकर पड़ जाते हैं। (ह० से०, ३.३.४६)

: १५४ :

जमशेद महता

जमशेद महता को पवित्र व्यक्ति मानता हूं। (म० डा०, १०.१०.३२)

: १५५ :

ब्रजलाल महता

ब्रह्मदेश में धनोपार्जन के लिए जाकर रहनेवाले अनेक हिन्दुस्तानी ह। उनमें से कुछने धन्धे के साथ सेवा को भी स्थान दिया है। उनमें से एक ब्रजलाल महता थे। कुछ ही दिन पहले उनका स्वर्गवास हो गया। वह महासभा का काम करते थे, पर हमें उसका पता नहीं। उनके पास दो पैसे थे। वह हरेक फण्ड में कुछ-न-कुछ देते और दूसरों से दिलवाते। लेकिन इसके लिए वह पूरी सम्मान की इच्छा नहीं रखते थे। दरिद्रनारायण के वह भक्त थे। खादी पर उनकी पूरी श्रद्धा थी और चर्खा-संघ के वह प्रतिनिधि थे। जिसे सम्मान की, पुरस्कार की, इच्छा नहीं, जो सेवा के लिए ही सेवा करता है, वह वन्दनीय है। भाई ब्रजलाल महता ऐसों में ही थे। उनके कुटुंब को धन्यवाद। (हि० न०, ६.८.३१)

: १५६ :

दाऊद महमद

पहले सेठ दाऊद महमद का परिचय सुना दूं। वह नेटाल इण्डियन कांग्रेस के अध्यक्ष और दक्षिण अफ्रीका में आये हुए व्यापारियों में सबसे पुराने थे। वह सूरती सुन्नत जमात के बोहरा थे। बड़े ही चतुर पुरुष। इस बात में उनकी बराबरी करनेवाले बहुत ही थोड़े भारतीय मैंने दक्षिण अफ्रीका में देखे। उनकी ग्राहक-शक्ति बड़ी तेज थी। अक्षर-ज्ञान तो मामूली-सा था। पर अनुभव से अंग्रेजी और डच भी वह अच्छी तरह बोल सकते थे। अंग्रेजी व्यापारियों के साथ अपना काम चलाने में उन्हें ज़रा भी कठिनाई नहीं पड़ती थी। उनकी दानशीलता प्रसिद्ध थी। नित्य पचास महमान से कम तो उनके यहां होते ही नहीं थे। कौमी चन्दों में उनका नाम अग्रसरों में रहता। उनके एक लड़का था। लड़का क्या था, एक अमूल्य रत्न था। चारित्र्य में उनसे भी श्रेष्ठ और हृदय स्फटिक के समान। उसके चारित्र्य-वेग को दाऊद ने कभी नहीं रोका। दाऊद सेठ अपने लड़के की

पूजा करते थे, यह अत्युक्ति नहीं, यथार्थ सत्य है। वह चाहते थे कि उनका एक भी ऐब हसन को नहीं लगने पावे। इंगलैंड भेजकर उन्होंने उसे बढ़िया शिक्षा दी। पर दुर्भाग्य से दाऊद सेठ उस लड़के से भरी जवानी में हाथ धो बैठे। हसन को क्षय ने घेरा और उसका प्राण हरण कर लिया। वह घाव कभी नहीं भरा। हसन के साथ-साथ भारतीय जनता की बड़ी-बड़ी आशाएं मिट्टी में मिल गईं। हसन के लिए हिन्दू और मुसलमान दोनों अपनी दाहिनी-बाईं आंखों के समान थे। उसका सत्य तेजस्वी था। आज दाऊद सेठ भी नहीं रहे! (द० अ० स०, पृष्ठ ४२)

: १५७ :

महमूदाबाद के महाराजासाहब

महराजासाहब महमूदाबाद की मृत्यु से एक ऐसा व्यक्ति हमारे बीच से उठ गया, जिसकी बुद्धिमत्ता की राष्ट्र के जीवन में इस समय बड़ी जरूरत थी। वह हिन्दू-मुस्लिम एकता की स्थापना के लिए हृदय से उत्सुक थे। उनपर भरोसा किया जा सकता था कि राष्ट्रीय मामलों में उनसे ठोस और अच्छी सलाह मिलेगी। मैं स्वर्गस्थ के कुटुंब के प्रति सादर समवेदना प्रकट करता हूं। (यं० इ०, २८.५.३१)

: १५८ :

बाई फातमा महेताब

न्यूकासल में द्राविड़ बहनों को जेल जाते देखकर बाई फातमा महेताब से न रहा गया। वह भी अपनी मां और सात वर्ष के बच्चे को लेकर जेल जाने के लिए निकल पड़ीं। मां-बेटी तो गिरफ्तार हो गईं, पर सरकार ने बच्चे को अन्दर लेने से साफ इन्कार कर दिया। पुलिस ने बाई फातमा की उंगलियों की छाप लेने की खूब कोशिश की; पर वह निडर रहीं और अखीर तक उन्होंने पुलिस को अपनी उंगलियों की छाप नहीं दी।

(द० अ० स०, पृष्ठ १५३)

: १५९ :

राजा महेन्द्रप्रताप

राजा महेन्द्रप्रताप एक बड़े भारी देशभक्त हैं। इन भलेमानस ने निर्वासित रहना ही पसन्द कर लिया है। इन्होंने वृन्दावन की अपनी सुन्दर जागीर शिक्षा-कार्य के लिए समर्पित कर दी है। वृन्दावन का प्रेम-महाविद्यालय, जो आजकल आचार्य जुगलकिशोरजी की अध्यक्षता में चल रहा है, इन्हींकी सृष्टि है। (हि० न०, २५.७.२९)

: १६० :

लुई माउन्टबेटन

माउन्टबेटन यदि गवर्नर-जनरल बनते हैं तो वह हिन्दुस्तान के खिदमतगार या नौकर ही बनते हैं। आप कह सकते हैं कि यह तो बच्चों को फुसलाने की-सी बात हुई। जो माउन्टबेटन इंगलैंड के शाही घराने से संबंध रखते हैं वह क्या तुम्हारी नौकरी करनेवाले हैं, आप तो धोखा देते हैं! मुझे आपको धोखा देकर माउन्टबेटन से कोई इनाम नहीं चाहिए। मैं तो आज तक उनसे लड़ता आया हूं तो आज उनकी खुशामद करने की मुझे क्या जरूरत पड़ी है? आप शायद यह कहेंगे कि कांग्रेसी नेता उनके फुसलावे में आ गये हैं। इसका मतलब यह हुआ कि जवाहरलालजी, सरदार और राजाजी ऐसे पागल हैं कि अपना सब नूर गंवाकर बैठे हैं, वह खुशामदी बन गये हैं। मैं वहांतक नहीं जा सकता। यह तो सही है कि मैं जो चाहता था वह नहीं बना और बहुत दफा मैं यह कह भी चुका हूं। मगर मैं हर चीज का सीधा मतलब निकालता हूं। हम लोग माउन्टबेटन को गवर्नर-जनरल बनाते हैं, इसीलिए तो वह बनते हैं। यदि हम न चाहते तो वह नहीं बन सकते। परन्तु जिन्नासाहब ने यह सोचा होगा कि सारी दुनिया कैसे मानेगी कि मैंने पाकिस्तान ले लिया, इसलिए मैं क्यों न गवर्नर-जनरल बनूं! हमें इसपर ईर्ष्या क्या करना और गुस्सा भी क्या करना! उनको गवर्नर-जनरल बनकर यह सारी दुनिया को बताना है कि इस्लाम क्या चीज है। यह

देखना है कि वह वहां के खादिम बनते हैं या बादशाह।...

अखबारों से मुझे मालूम हुआ कि पहले हिन्दुस्तान और पाकिस्तान—दोनों के लिए एक ही गवर्नर-जनरल रखना तय हुआ था। मगर बाद में जिन्नासाहब मुकर गये। तब कौन उन्हें पाकिस्तान का गवर्नर-जनरल बनने से रोकनेवाला था? मेरी निगाह में उन्होंने ठीक नहीं किया। एक दफा जब उन्होंने कहा था तो माउन्टबेटन को बनने देते और पीछे यदि कोई गोलमाल होता तो उनको हटा देते। परन्तु अब इस्लाम की परीक्षा जिन्नासाहब के मार्फत होनेवाली है। सारी दुनिया के सामने वह पाकिस्तान स्टेट के गवर्नर-जनरल बन रहे हैं। अतः पाकिस्तान की खूबियां ही देखने में आनी चाहिए। कांग्रेस तो हमेशा अंग्रेजों से लड़ती आई है। जवाहरलालजी तो सीधे आदमी हैं, मगर सदरार तो हमेशा लड़नेवाले हैं। वह तो मेरे साथ लड़ते थे कि तू इनका एतबार करता है। जब वही इनके दाव में आ गये तो आपकी-हमारी बात ही क्या है! जब वह यह कबूल करते हैं कि वाइसराय गवर्नर-जनरल बनकर रहें तो हमें कबूल करने में क्या संकोच है? हम देखते हैं कि वह हिन्दुस्तान के खादिम बनकर गवर्नर-जनरल हो रहे हैं या दगा देने के लिए। एक नया अनुभव हमको मिलेगा। अतः इसमें दूरन्देशी है और फिर हम कुछ खोते तो हैं ही नहीं। आखिर डोमीनियन स्टेटस भी हमने उनके कहने पर स्वीकार किया है। वह एक बहुत बड़े एडमिरल हैं, बड़ी लड़ाई लड़नेवाले हैं। उनको हम रखें तो सही। यदि कोई बुराई निकली तो हम उनसे लड़ लेंगे।

... ...

जब मैं वाइसराय से मिलने गया था तब उन्होंने मुझसे कहा कि जिस लड़के से एलिजाबेथ की सगाई हुई वह मेरे लड़के जैसा ही है। आशा है, कल आप आशीर्वाद के तौर पर कुछ शब्द लिखेंगे। सो परसों जब वाइसराय की लड़की यहां आई तब मैंने उनके हाथ मुबारकबादी का एक खत लिखकर भेज दिया। कितनी सादी लड़की है वह। प्रार्थना के समय मैंने उसे कुर्सी पर बैठने के लिए कहा, मगर कुर्सी पर न बैठकर वह हमारे साथ ही दरी पर बैठ गई। और फिर राजकुमारी अमृतकौर ने तो आज मुझे यह भी बताया कि जिस लड़की की सगाई हुई है वही इंगलैंड की रानी

बनेगी, क्योंकि बादशाह के कोई लड़का नहीं है। वाइसराय के भी कोई लड़का नहीं है। खैर, वाइसराय अगर बुरा होता तो मैं आशीर्वाद लिखकर क्यों भेजता? मैं उसे बुरा नहीं मानता। उनकी जगह अगर जवाहरलालजी या सरदार पटेल गवर्नर-जनरल बनकर बैठ जाते तो उन्होंने बहुत खतरनाक काम किया होता। इसके अलावा गवर्नर-जनरल के हाथ में किसी प्रकार की सत्ता नहीं होगी। जवाहरलालजी या उसकी केबिनट जो कहेगी वही उसको करना होगा। उसको तो केवल अपने दस्तखत देने होंगे।

मगर लार्ड माउन्टबेटन एक बड़ा आदमी है और अंग्रेज शैतानियत ही कर सकते हैं, ऐसा हम लोगों का खयाल बन गया है। तो माउन्टबेटन को भी अपनी शराफत और इन्साफ-पसन्दी का सबूत देना होगा, और मुझे विश्वास है कि वह इन्साफ करने के लिए ही यहां आया है।

(प्रा० प्र०, १२.७.४७)

: १६१ :

लेडी माउंटबेटन

लेडी माउन्टबेटन मुझसे मिलने आई थीं। वह दया की देवी बन गई हैं। वह हमेशा दोनों उपनिवेशों का दौरा किया करती हैं, अलग-अलग छावनियों में निराश्रितों से मिलती हैं, बीमारों और दुःखियों को देखती हैं और इस तरह जितना भी ढाढ़स उन्हें बंधा सकती हैं, बंधाने की कोशिश करती हैं। (प्रा० प्र०, ८.११.४७)

: १६२ :

माता-पिता

मेरे पिताजी कुटुम्ब-प्रेमी, सत्यप्रिय, शूर और उदार परन्तु साथ ही क्रोधी थे। मेरा खयाल है, कुछ विषयासक्त भी रहे होंगे। उनका अन्तिम विवाह चालीस वर्ष की अवस्था के बाद हुआ था। वह रिश्वत से सदा दूर रहते थे और इसी कारण अच्छा न्याय करते थे, ऐसी प्रसिद्धि उनकी हमारे

कुटुम्ब में तथा बाहर भी थी। वह राज्य के बड़े वफादार थे। एक बार असिस्टेंट पोलिटिकल एजेंट ने राजकोट के ठाकुरसाहब से अपमान-जनक शब्द कहे तो उन्होंने उसका सामना किया। साहब बिगड़े और कबा गांधी-जी से कहा, मांफी मांगो। उन्होंने साफ इन्कार कर दिया। इससे कुछ घंटे के लिए उन्हें हवालात में भी रहना पड़ा। पर वह टस-से-मस न हुए। तब साहब को उन्हें छोड़ देने का हुक्म देना पड़ा।

पिताजी को धन जोड़ने का लोभ न था। इससे हम भाइयों के लिए वह बहुत थोड़ी संपत्ति छोड़ गये थे।

पिताजी ने शिक्षा अनुभव द्वारा प्राप्त की थी। आज की अपर प्राइमरी के बराबर उनकी पढ़ाई हुई थी। इतिहास, भूगोल बिल्कुल नहीं पढ़े थे। फिर भी व्यावहारिक ज्ञान इतने ऊंचे दर्जे का था कि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्रश्नों को हल करने में अथवा हजार आदमियों में काम लेने में उन्हें कठिनाई न होती थी। धार्मिक शिक्षा नहीं के बराबर हुई थी। परंतु मंदिरों में जाने से, कथा-पुराण सुनने से, जो धर्मज्ञान असंख्य हिंदुओं को सहज ही मिलता रहता है, वह उन्हें था। अपने अंतिम दिनों में एक विद्वान् ब्राह्मण की सलाह से, जो कि हमारे कुटुंब के मित्र थे, उन्होंने गीता-पाठ शुरू किया था, और नित्य कुछ श्लोक पूजा के समय ऊंचे स्वर से पाठ किया करते थे।

माताजी साध्वी स्त्री थीं, ऐसी छाप मेरे दिल पर पड़ी है। वह बहुत भावुक थीं। पूजा-पाठ किये बिना कभी भोजन न करतीं, हमेशा हवेली—वैष्णव मंदिर—जाया करतीं। जबसे मैंने होश संभाला, मुझे याद नहीं पड़ता कि उन्होंने कभी चातुर्मास छोड़ा हो। कठिन-से-कठिन व्रत वह लिया करतीं और उन्हें निर्विघ्न पूरा करतीं। बीमार पड़ जाने पर भी वह व्रत न छोड़तीं। ऐसा एक समय मुझे याद है, जब उन्होंने चांद्रायणव्रत किया था। बीच में बीमार पड़ गईं, पर व्रत न छोड़ा। चातुर्मास में एक बार भोजन करना तो उनके लिए मामूली बात थी। इतने से संतोष न मानकर एक बार चातुर्मास में उन्होंने हर तीसरे दिन उपवास किया। एक साथ दो-तीन उपवास तो उनके लिए एक मामूली बात थी। एक चातुर्मास में उन्होंने ऐसा व्रत लिया कि सूर्यनारायण के दर्शन होने पर ही भोजन किया जाय। इस चौमासे में हम लड़के लोग आसमान की तरफ देखा करते कि

कब सूरज दिखाई पड़े और कब मां खाना खायं। सब लोग जानते हैं कि चौमासे में बहुत बार सूर्य-दर्शन मुश्किल से होते हैं। मुझे ऐसे दिन याद हैं, जबकि हमने सूर्य को निकला हुआ देखकर पुकारा है—"मां-मां, वह सूरज निकला।" और जबतक मां जल्दी-जल्दी दौड़कर आती है, सूरज छिप जाता था। मां यह कहती हुई वापस जाती कि "खैर, कोई बात नहीं, ईश्वर नहीं चाहता कि आज खाना मिले," और अपने कामों में मशगूल हो जाती।

माताजी व्यवहार-कुशल थीं। राजदरबार की सब बातें जानती थीं। रनवास में उनकी बुद्धिमत्ता ठीक-ठीक आंकी जाती थी। जब मैं बच्चा था, मुझे दरबारगढ़ में कभी-कभी वह साथ ले जातीं और 'बा-मां साहेब' (ठाकुर साहब की विधवा माता) के साथ उनके कितने ही संवाद मुझे अब भी याद हैं। (आ० क०, १९२७)

... ...

सिगरेट के टुकड़े चुराने तथा उसके लिए नौकर के पैसे चुराने से बढ़कर चोरी का एक दोष मुझसे हुआ है और उसे मैं इससे ज्यादा गंभीर समझता हूं। बीड़ी का चस्का तब लगा जब मेरी उम्र १२-१३ साल की होगी। शायद इससे भी कम हो। दूसरी चोरी के समय १५ वर्ष की रही होगी। यह चोरी थी मेरे मांसाहारी भाई के सोने के कड़े के टुकड़े की। उन्होंने २५) के लगभग कर्जा कर रखा था। हम दोनों भाई इस सोच में पड़े कि यह चुकावें किस तरह। मेरे भाई के हाथ में सोने का एक ठोस कड़ा था। उसमें से एक तोला काटना कठिन न था।

कड़ा कटा। कर्ज चुका, पर मेरे लिए यह घटना असह्य हो गई। आगे से कदापि चोरी न करने का मैंने निश्चय किया। मन में आया कि पिताजी के सामने जाकर चोरी कबूल कर लूं। पर उनके सामने मुंह खुलना मुश्किल था। यह डर तो न था कि पिताजी खुद मुझे पीटने लगेंगे, क्योंकि मुझे नहीं याद पड़ता कि उन्होंने हम भाइयों में से कभी किसीको पीटा हो। पर यह खटका जरूर था कि वह खुद बड़ा संताप करेंगे, शायद अपना सिर भी पीट लें। तथापि मैंने मन में कहा—"यह जोखिम उठाकर भी अपनी बुराई कबूल कर लेनी चाहिए, इसके बिना शुद्धि नहीं हो सकती।"

अंत में यह निश्चय किया कि चिट्ठी लिखकर अपना दोष स्वीकार कर लूं। मैंने चिट्ठी लिखकर खुद ही उन्हें दी। चिट्ठी में सारा दोष कबूल किया था और उसके लिए सजा चाही थी। आजिजी के साथ यह प्रार्थना की थी कि आगे मैं कभी ऐसा न करूंगा।

पिताजी को चिट्ठी देते हुए मेरे हाथ कांप रहे थे। उस समय वह भगंदर की बीमारी से पीड़ित थे। अतः खटिया के बजाय लकड़ी के तख्तों पर उनका बिछौना रहता था। उनके सामने जाकर बैठ गया।

उन्होंने चिट्ठी पढ़ी। आंखों से मोती के बूंद टपकने लगे। चिट्ठी भीग गई। थोड़ी देर के लिए उन्होंने आंखें मूंद ली। चिट्ठी फाड़ डाली। चिट्ठी पढ़ने को जो वह उठ बैठे थे सो फिर लेट गये।

मैं भी रोया। पिताजी के दुःख को अनुभव किया। यदि मैं चितेरा होता तो आज भी उस चित्र को हूबहू खींच सकता। मेरी आंखों के सामने आज भी वह दृश्य ज्यों-का-त्यों दिखाई दे रहा है।

इस मोती-बिंदु के प्रेमवाण ने मुझे बींध डाला। मैं शुद्ध हो गया। इस प्रेम को तो वही जान सकता है, जिसे उसका अनुभव हुआ है—

रामबाण वाग्यांरे होय ते जाणे[1]

मेरे लिए यह अहिंसा का पदार्थ-पाठ था। उस समय तो मुझे इसमें पितृ-वात्सल्य से अधिक कुछ न दिखाई दिया; पर आज मैं इसे शुद्ध अहिंसा के नाम से पहचान सका हूं। ऐसी अहिंसा जब व्यापक रूप ग्रहण करती है तब उसके स्पर्श से कौन अलिप्त रह सकता है? ऐसी व्यापक अहिंसा के बल को नापना असंभव है।

ऐसी शांतिमय क्षमा पिताजी के स्वभाव के प्रतिकूल थी। मैंने तो यह अंदाज किया था कि वह गुस्सा होंगे, सख्त-सुस्त कहेंगे, शायद अपना सिर भी पीट लें। पर उन्होंने तो असीम शांति का परिचय दिया। मैं मानता हूं कि यह अपने दोष को शुद्ध हृदय से मंजूर कर लेने का परिणाम था।

जो मनुष्य अधिकारी व्यक्ति के सामने स्वेच्छापूर्वक अपने दोष शुद्ध हृदय से कह देता है और फिर कभी न करने की प्रतिज्ञा करता है, वह मानों शुद्धतम प्रायश्चित्त करता है। मैं जानता हूं कि मेरी इस दोष-स्वीकृति से

[1] प्रेम-बाण से जो बिंधा हो, वही उसके प्रभाव को जानता है—अनु०

पिताजी मेरे संबंध में निःशंक हो गये और इनका महाप्रेम मेरे प्रति और भी बढ़ गया। (आ० क०, १९२७)

... ...

मुझे तो अपनी माता की गोद में ही अपना धर्म सिखाया गया था। मेरी माता तो बिना पढ़ी-लिखी थी। अपने दस्तखत भी नहीं कर सकती थी। छोटा-सा नाम था और वह भी लिखना नहीं सीखा था। हमको तो वह पढ़ने के लिए स्कूल भेज देती थी और खुद पढ़ी नहीं थी। उन दिनों शिक्षक रखकर कोई पढ़ता नहीं था और यह भी काठियावाड़-जैसे जंगली प्रदेश में। यह मैं ७० साल पहले की बात करता हूं। पिताजी एक दीवान तो थे, मगर उस जमाने में दीवान कोई बहुत अंग्रेजी पढ़ा-लिखा थोड़े ही होता था। वह तो एक अंगरखा पहनते थे और पांवों में सादी जूतियां होती थीं। पतलून का तो नाम भी नहीं जानते थे। परंतु इस हालत में भी मेरी मां मुझे यह सिखाती थी कि बेटा, तुझे रामनाम लेना चाहिए। वह मेरा धर्म जानती थी। (प्रा० प्र०, २८.६.४७)

... ...

जब हम बच्चे थे तब मेरी मां कहती थी कि नवरात्रि को खाना नहीं खाना चाहिए। अगर खाना ही है तो फल खाओ, ज्यादा-से-ज्यादा दूध पियो; लेकिन अनाज मत खाओ। अगर सचमुच पूरा-का-पूरा उपवास करो तो सबसे अच्छा है। मेरी मां तो बड़ी उपवास करनेवाली थी, जिसका मैं तो कोई मुकाबला नहीं कर सकता था। मेरे बड़े भाई तो मुकाबला कर ही नहीं सकते थे—मैं थोड़ा-सा मुकाबला करता था। लेकिन उसमें उपवास करने की जो शक्ति थी उसके सामने मैं एक खिलौना हूं, बच्चा हूं।
(प्रा० प्र०, २२.१०.४७)

: १६३ :

दो माताएं

इस समय हड़ताल पूरे जोर में थी। पुरुषों की तरह उसमें स्त्रियां भी शामिल होती जा रही थीं। उनमें दो माताएं अपने बच्चों को साथ में लिये

हुए थीं। एक बच्चे को कूचे में जाड़ा हो गया और वह मृत्यु की गोद में जा सोया। दूसरी का बालक एक नाला पार करते हुए गोद में से पानी में गिरकर डूब गया। पर माता निराश नहीं हुई। दोनों ने अपनी कूच को उसी प्रकार शुरू रखा। एक ने कहा :

"हम मरे हुओं का शोक करके क्या करेंगी ? इससे वे कहीं लौटकर थोड़े ही आ सकते हैं ! हमारा धर्म तो है जीवितों की सेवा करना।"

उस शान्त वीरता के, ऐसी असीम आस्तिकता के और अगाध ज्ञान के कई उदाहरण मैंने उन गरीबों में देखे। (द० अ० स०, पृष्ठ १५३-४)

: १६४ :

वी० पी० माधवराव

उस दिन बंगलोर में पचासी वर्ष की अवस्था में श्री वी० पी० माधवराव का स्वर्गवास हो गया। मैं दिवंगत आत्मा के शोकाकुल परिवार के साथ सादर समवेदना प्रकट करता हूं। श्री माधवराव त्रावणकोर, बड़ौदा और मैसूर राज्य के दीवान रह चुके थे। अवकाश ग्रहण करने के बाद वह अपना समय समाज-सेवा में लगाया करते थे। यद्यपि वह इतने वृद्ध हो गये थे तो भी स्थानीय हरिजन-सेवक-संघ का अध्यक्ष-पद उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया था। ईश्वर उनकी स्वर्गीय आत्मा को शाश्वत शांति प्रदान करे। (ह० से०, २१.१२.३४)

: १६५ :

गोविन्द मालवीय

पंडित मदनमोहन मालवीयजी के सबसे छोटे पुत्र गोविन्द तथा उनके भतीजे कृष्णकान्त मालवीय एक बार पकड़े गये, सजा पाई और छोड़ दिये गये। व्याख्यान देने के कारण अब दुबारा गिरफ्तार किये गए हैं और उन्हें दो वर्ष की कठोर कैद की सजा दी गई है। इसे मैं भारतवर्ष का सद्भाग्य मानता हूं। श्री मालवीयजी के पुत्र का असहयोग के कारण जेल जाना

तो हमें प्राचीन धर्म की याद दिलाता है। श्री गोविन्दजी ने मालवीयजी से आज्ञा प्राप्त करने में किसी बात की कसर नहीं रखी। जहांतक उनसे कहा गया तहांतक उन्होंने अपने पूज्य पिताजी की इच्छा का आदर किया। पिता ने पुत्र को पूरी स्वतन्त्रता दे रखी थी। जब पं० जवाहरलाल नेहरू आदि के पकड़े जाने पर श्री गोविन्द से न रहा गया तब उन्होंने अपने पिता को एक बड़ा ही विनयपूर्ण पत्र लिखा और आप रणांगण में कूद पड़े। मैं जानता हूं कि गोविन्द की पितृ-भक्ति में ज़रा भी कमी नहीं हुई। मुझे दृढ़ विश्वास है कि पंडितजी के दिल में भी गोविन्द की इस कृति के विषय में ज़रा भी रोष नहीं है। इन पिता-पुत्र का सम्बन्ध ऐसा ही मीठा रहा है और रहेगा। इस प्रकार इस स्वराज्य-यज्ञ में सब लोग अपनी-अपनी अंतरात्मा की पुकार के अनुसार काम कर रहे हैं और हम पिता-पुत्र को जुदा-जुदा मैदान में देख रहे हैं। ये सब धर्म-जागृति के, स्वराज्य के ही चिह्न हैं।

(हि० न०, ८.१.२२)

: १६६ :

मदनमोहन मालवीय

पं० मदनमोहन मालवीय का नाम तो जनता पर जादू कर देता है। देश-सेवा में जितना आत्म-त्याग तथा परिश्रम पंडितजी ने किया है वह सब जानते हैं। (१६२० की विशेष कांग्रेस के एक भाषण का अंश—१५.६.२०)

... ...

इसी समय मुझे बनारस की घटना का भी स्मरण आ गया है। पंडित मदनमोहनमालवीय पर जो कटाक्ष किया जा रहा है उससे जनता की अवस्था का पता चलता है। यदि इस देश में किसीका स्वप्न में भी अनादर नहीं होना चाहिए तो वह पंडितजी हैं। पंजाब की जो सेवाएं उन्होंने की हैं वे अभी तजी हैं। यह केवल उन्हींके परिश्रम का फल है कि काशी विश्वविद्यालय की स्थापना हुई है। उनकी देश-भक्ति भी किसीसे कम नहीं है। वह इतने सज्जन हैं कि उनसे भूल हो ही नहीं सकती। यदि उनकी समझ में हम लोगों की बातें नहीं आ रही हैं और वह अपने आदर्श को छोड़कर हम लोगों के दल

में शामिल नहीं हो रहे हैं तो हम देश का दुर्भाग्य कहेंगे, इसमें उनका कोई दोष नहीं है। उनका जिस तरह अपमान किया गया है उसे पढ़कर हार्दिक दुःख होता है। यदि संस्कृत के विद्यार्थी अथवा संन्यासी छात्रों ने धरना देकर मार्ग में बाधा डालना उचित समझा था तो पंडितजी का भी यह कर्तव्य था कि वह उस मामले में हस्तक्षेप करते और सहयोगी विद्यार्थियों के लिए मार्ग दिलवाते। यदि पुलिस ने प्रधान कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर लिया तो उसने कोई बुराई नहीं की। उसकी कार्रवाई सर्वथा उचित थी। (यं इं०, १६.३.२१)

... ...

यह असहयोग-संग्राम अपने ढंग निराला ही है। कितने ही परिवारों में इसके बदौलत मतभेद और कृति-भेद उत्पन्न हो गया है। यह इसका सबसे अद्भुत प्रभाव है। और तिसमें भी मालवीय-परिवार में इसने जो द्विविधा-भाव उत्पन्न कर दिया है वह तो विशेष रूप से उल्लेख योग्य है। मेरी राय में तो यह भारतवासियों के लिए सहिष्णुता और सविनय कानून-भंग का खासा वस्तु-पाठ ही है। श्री मालवीयजी की सहिष्णुता तो वास्तव में अनुपम है। मैं इस बात को जानता हूं कि वह जेल को निमन्त्रण देने के खिलाफ हैं। मैं यह भी जानता हूं कि यदि वह उसके कायल होते तो वह ऐसे आदमी नहीं हैं जो उससे दुम दबाते। और जब उनके दुःख की मात्रा हद दर्जे तक पहुंच जायगी और जबकि मेरी तरह उनका भी विश्वास ब्रिटिश न्याय से पूरा-पूरा उठ जायगा तब यदि वह जेल को निमन्त्रण देने में सबसे आगे बढ़ जायं तो मुझे तनिक भी आश्चर्य न होगा। परन्तु यद्यपि वह आज स्वयं सविनय कानून-भंग के विरुद्ध हैं तथापि उन्होंने कभी उन लोगों के भी संकल्पों में हस्तक्षेप नहीं किया जो उनके आत्मीय हैं और जिनपर अपने प्रेम अथवा बड़े-बूढ़े होने के कारण उनकी अदम्य सत्ता है। बल्कि इसके विपरीत उन्होंने अपने पुत्रों को अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार बरतने की पूरी आजादी दे दी है। गोविन्द के सविनय कानून-भंग का उदाहरण मेरी दृष्टि में एक संग्रहणीय रत्न के सदृश है। पंडितजी ने अपने मृदुल-मधुर ढंग से अपने उस वीर पुत्र को इस मार्ग से हटाने का बहुत-कुछ प्रयत्न किया। गोविन्द ने भी अन्त तक अपने पूज्य पिता की इच्छा के अनुसार चलने का

भरसक प्रयत्न किया। उसने ईश्वर से प्रार्थना की कि मुझे मार्ग बता। वह परस्पर-विरुद्ध कर्तव्यों की कैंची में फंस गया। नेहरू-परिवार की गिरफ्तारी का गोविन्द पर बड़ा असर हुआ और अपने विशाल हृदय पिताजी का आशीष प्राप्त करके उसने इस रणक्षेत्र में कूद पड़ने का निश्चय किया। जेलों ने भी गोविन्द से बढ़कर हर्षपूर्ण हृदय शायद किसीका न देखा होगा! यह साहस के साथ कहा जा सकता है कि अपनी इस सविनय कानून-भंग की कृति के द्वारा गोविन्द ने अपने देश की तरह अपने पूज्य पिताजी के प्रति भी अपनी कर्तव्य-परायणता सिद्ध की है। बालकों के कर्तव्य-परायण सविनय कानून-भंग में गोविन्द की यह कृति हमारे समय के लिए एक नमूना है। मुझे यकीन है कि इससे पिता-पुत्र के बीच किसी तरह की अनबन नहीं है। बल्कि शायद मालवीयजी, गोविन्द के जेल को स्वीकार करने के पहले की अपेक्षा, अब उसके विषय में अधिक अभिमान रखते होंगे। ऐसे ही सत्ययुक्त कार्यों के द्वारा मुझे इस युद्ध की धार्मिक प्रकृति का प्रमाण मिलता है।

(हि० न०, १५. १.२२)

... ...

मुझे पंडित मालवीय के बारे में चेतावनी दी गई है। उनपर यह इल्जाम है कि उनकी बातें बड़ी गहरी छुपी हुई होती हैं। कहा जाता है कि वह मुसलमानों के शुभचिन्तक नहीं हैं, यहांतक कि वह मेरे पद से ईर्ष्या करनेवाले बताये जाते हैं। जबसे १९१५ में हिन्दुस्तान आया तबसे मेरा उनके साथ बहुत समागम है और मैं उन्हें अच्छी तरह जानता हूं। मेरा उनके साथ गहरा परिचय रहता है। उन्हें मैं हिन्दू-संसार के श्रेष्ठ व्यक्तियों में मानता हूं। कट्टर और पुराने खयालात के होते हुए भी बड़े उदार विचार रखते हैं। वह मुसलमानों के दुश्मन नहीं हैं। उनका किसीसे ईर्ष्या रखना असम्भव है। उनकी उदारता ऐसी है कि उसमें उनके दुश्मनों के लिए भी जगह है। उन्हें कभी शासन की चाह न रही और जो शासन आज उनके पास है वह उनकी मातृभूमि की आज तक की लम्बी और अखंड सेवा का फल है। ऐसी सेवा का दावा हममें से बहुत कम लोग कर सकते हैं। उनकी और मेरी विशेषता अलग-अलग है, लेकिन हम दोनों एक दूसरे को सगे भाई-सा प्यार करते हैं। मेरे और उनके बीच कभी ज़रा बिगाड़ न हुआ।

हमारे रास्ते जुदे-जुदे हैं। इसलिए हमारे बीच स्पर्धा और डाह का सवाल पैदा ही नहीं हो सकता। (हि० न०, १.६.२४)

... ...

एक पाठक पूछते हैं :

"आपने करांची में विषय-समिति को दक्षिण भारत के सदस्यों को कार्य-समिति में न रखने का कारण तो समझाया, पर यह नहीं बताया कि मालवीयजी को क्यों अलग रखा।"

बात इतनी स्पष्ट थी कि किसीने कुछ पूछा ही नहीं। मालवीयजी का अपमान करने का तो इसमें कोई सवाल हो नहीं सकता। वह अपमान से परे हैं। कोई भी संस्था उन्हें अपना सदस्य बनाकर उनकी स्थिति या उनके महत्त्व को बढ़ा नहीं सकती। हां, उनकी सदस्यता से संस्था की प्रतिष्ठा बढ़ सकती है। कार्यसमिति ने जानबूझकर उन्हें अलग रखा, जिससे समय पड़ने पर उनकी स्वतन्त्रता और काम करने की आजादी कायम या सुरक्षित रहे। सदस्य न होते हुए भी, जबसे नेता लोग छूटे हैं, वह बराबर कार्य-समिति की बैठकों में उपस्थित रहे हैं। चूंकि कार्य-समिति में उनका काम मूल्यवान रहा है, सदस्यों ने यह सोचा कि उन्हें समिति के अनुशासन में ले लेना कहीं उनके लिए कष्टप्रद न सिद्ध हो। डॉक्टर अंसारी तो मालवीयजी को समिति में रखने के लिए इतने उत्सुक थे कि उनके लिए स्वयं हट जाना उन्हें पसन्द था। पर जिस विचार का मैं ऊपर जिक्र कर आया हूं, जमनालालजी ने उसे ऐसे प्रभावशाली ढंग से समिति के सामने रखा था कि डाक्टर अन्सारी को भी इस बात के लिए राजी होना पड़ा कि मालवीयजी अलग रखे जायं। इस व्यवस्था से समिति अपनी बैठकों में मालवीयजी की सलाह से लाभ भी उठा सकती है और साथ ही उनकी कार्य-स्वतन्त्रता में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती। गोलमेज-परिषद् में उन्हें अलग से निमंत्रित करके तो सरकार ने भी समाज में उनकी अद्वितीय स्थिति को स्वीकार किया है। (हि० न०, १६.४.३१)

... ...

बिरला को पत्र लिखते हुए हिन्दी में लिखा—

आशावाद और भोलेपन में मैं भेद करता हूं। पंडितजी में दोनों हैं।

दृष्टि-मर्यादा पर निराशा के चिह्न होते हुए भी और जानते हुए भी जो आशा रखता है वह आशावादी है। यह गुण पण्डितजी में काफी मात्रा में है। आशा की बातें कोई कह देते और उसपर विश्वास लाना वह भोलापन है। यह भी पंडितजी में है। उसे मैं त्याज्य समझता हूं। पंडितजी महान व्यक्ति हैं, इसलिए उनको ऐसे भोलेपन से हानि नहीं हुई है। हमें ऐसे भोलेपन का अनुकरण कभी नहीं करना चाहिए। आशावाद अन्तर्नाद पर निर्भर है, भोलापन बाह्य बातों पर। (म० डा०, २७.५.३२)

... ...

देश के सार्वजनिक जीवन को उनकी बहुत बड़ी देन है। उनका सबसे बड़ा कार्य हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस है। इस विद्यालय के प्रेम से हमें हार्दिक प्रेम है। महामना मालवीयजी ने उसके लिए जब कभी मेरी सेवाएं चाही हैं, मैंने दी हैं।

मालवीयजी एक सफल व महान् भिखारियों में से एक हैं, विश्वविद्यालय के लिए कितना चन्दा कर सकते हैं, इसका अनुमान उस अपील से किया जा सकता है, जो उन्होंने केवल पांच करोड़ रुपये के लिए निकाली थी। ('विद्यार्थियों से,' पृष्ठ २९२)

... ...

आप जानते हैं कि मालवीयजी महाराज के साथ मेरा कितना गाढ़ा सम्बन्ध है। अगर उनका कोई काम मुझसे हो सकता है तो मुझे उसका अभिमान रहता है और अगर मैं उसे कर सकूं तो अपनेको कृतार्थ समझता हूं। इसलिए जब सर राधाकृष्णन् का पत्र मुझे मिला तो मैंने निमंत्रण स्वीकार कर लिया। यहां आना मेरे लिए तो एक तीर्थ में आने के समान है।

यह विश्वविद्यालय मालवीयजी महाराज का सबसे बड़ा और प्राणप्रिय कार्य है। उन्होंने हिन्दुस्तान की बहुत-बहुत सेवाएं की हैं, इससे आज कोई इन्कार नहीं कर सकता। लेकिन मेरा अपना खयाल यह है कि उनके महान् कार्यों में इस कार्य का महत्त्व सबसे ज्यादा रहेगा। पच्चीस साल पहले, जब इस विश्वविद्यालय की नींव डाली गई थी, तब भी मालवीयजी महाराज के आग्रह और खिंचाव से मैं यहां आ पहुंचा था। उस समय तो मैं यह सोच भी न सकता था कि जहां बड़े-बड़े राजा-महाराजा और खुद

वाइसराय आनेवाले हैं, वहां मुझ जैसे फकीर की क्या जरूरत हो सकती है। तब तो मैं 'महात्मा' भी नहीं बना था।

उस समय भी मालवीयजी महाराज की कृपादृष्टि मुझपर थी। कहीं भी कोई सेवक हो, वह उसे ढूंढ़ निकालते हैं और किसी-न-किसी तरह अपने पास खींच ही लाते हैं। यह उनका सदा का धंधा है।

लोग मालवीयजी महाराज की बड़ी प्रशंसा करते हैं। आज भी आपने उनकी कुछ प्रशंसा सुनी है। वह सब तरह उसके लायक हैं। मैं जानता हूं कि हिन्दू विश्वविद्यालय का कितना बड़ा विस्तार है। संसार में मालवीयजी से बढ़कर कोई भिक्षुक नहीं। जो काम उनके सामने आ जाता है, उसके लिए—अपने लिए नहीं—उनकी भिक्षा की झोली का मुंह हमेशा खुला रहता है। वह हमेशा मांगा ही करते हैं, और परमात्मा की भी उनपर बड़ी दया है कि जहां जाते हैं, उन्हें पैसे मिल ही जाते हैं, तिसपर भी उनकी भूख कभी नहीं बुझती। उनका भिक्षा-पात्र सदा खाली रहता है। उन्होंने विश्वविद्यालय के लिए एक करोड़ इकट्ठा करने की प्रतिज्ञा की थी। एक करोड़ की जगह डेढ़ करोड़ दस लाख रुपया इकट्ठा हो गया, मगर उनका पेट नहीं भरा। अभी-अभी उन्होंने मुझसे कान में कहा है कि आज के हमारे सभापति महाराजासाहब दरभंगा ने उनको एक खासी बड़ी रकम दान में और दी है।

मैं जानता हूं कि मालवीयजी महाराज स्वयं किस तरह रहते हैं। यह मेरा सौभाग्य है कि उनके जीवन का कोई पहलू मुझसे छिपा नहीं। उनकी सादगी, उनकी सरलता, उनकी पवित्रता और उनके प्रेम से मैं भली-भांति परिचित हूं। उनके इन गुणों में से आप जितना कुछ ले सकें, जरूर लें। विद्यार्थियों के लिए तो उनके जीवन की बहुतेरी बातें सीखने लायक हैं। मगर मुझे डर है कि उन्होंने जितना सीखना चाहिए, सीखा नहीं है। यह आपका और हमारा दुर्भाग्य है। इसमें उनका कोई कसूर नहीं। धूप में रहकर भी कोई सूरज का तेज न पा सके तो उसमें सूरज बेचारे का क्या दोष? वह तो अपनी तरफ से सबको गर्मी पहुंचाता रहता है; पर अगर कोई उसे लेना ही न चाहे और ठंड में रहकर ठिठुरता फिरे तो सूरज भी उसके लिए क्या करे? मालवीयजी महाराज के इतने निकट रहकर भी

अगर आप उनके जीवन से सादगी, त्याग, देशभक्ति, उदारता और विश्व-व्यापी प्रेम आदि सद्गुणों का अपने जीवन में अनुकरण न कर सके तो कहिये, आपसे बढ़कर अभागा और कौन होगा ? (ह० से०, २१.१.४२)

... ...

अंग्रेजी में एक कहावत है—"राजा गया, राजा हमेशा जियो !" ठीक यही भारत-भूषण मालवीयजी महाराज के लिए कहा जा सकता है—"मालवीयजी गये, मालवीयजी अमर हों !" मालवीयजी हिन्दुस्तान के लिए पैदा हुए और हिन्दुस्तान के लिए किये गए अपने कामों में जीते हैं। उनके काम बहुत हैं। बहुत बड़े हैं। उनमें सबसे बड़ा हिन्दू-विश्वविद्यालय है। गलती से उसे हम बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी के नाम से पहचानते हैं। उस नाम के लिए दोष मालवीयजी महाराज का नहीं, उनके पैरोकारों का रहा है। मालवीयजी महाराज दासानुदास थे। दास लोग जैसा करते थे, वैसा वह करने देते थे। मुझे पता है कि यह अनुकूलता उनके स्वभाव में भरी थी। यहांतक कि बाज दफा वह दोष का रूप ले लेती थी; लेकिन 'समरथ को नहिं दोष गुसाईं' वाली बात मालवीय महाराज के बारे में भी कही जा सकती है। उनका प्रिय नाम तो हिन्दू-विश्वविद्यालय ही था। और यह सुधार तो अब भी करने योग्य है। इस विद्यालय का हरेक पत्थर शुद्ध हिन्दू-धर्म का प्रतिबिम्ब होना चाहिए। एक भी मकान पश्चिम के जड़वाद की निशानी न हो; बल्कि अध्यात्म की निशानी हो। और जैसे मकान हों, वैसे ही शिक्षक और विद्यार्थी भी हों। आज हैं ? प्रत्येक विद्यार्थी शुद्ध धर्म की जीवित प्रतिमा है ? नहीं है, तो क्यों नहीं है ? इस विश्वविद्यालय की परीक्षा विद्यार्थियों की संख्या से नहीं, बल्कि उनके हिन्दूधर्म की प्रतिमा होने से ही हो सकती है, फिर भले वह थोड़े ही क्यों न हों।

मैं जानता हूं कि यह काम कठिन है। लेकिन यही इस विद्यालय की जड़ है। अगर यह ऐसा नहीं है तो कुछ नहीं है। इसलिए स्वर्गीय मालवीय-जी के पुत्रों का और उनके अनुयायियों का धर्म स्पष्ट है। जगत में हिन्दू-धर्म का क्या स्थान है ? उसमें आज क्या दोष हैं ? वे कैसे दूर किये जा सकते हैं ? मालवीयजी महाराज के भक्तों का कर्त्तव्य है कि वह इन प्रश्नों को हल करें। मालवीयजी अपनी स्मृति को छोड़ गये हैं। उसको स्थायी

रूप देना और उसका विकास करना उसका श्रेष्ठ स्मृति-स्तम्भ होगा।

विश्वविद्यालय के लिए स्व० मालवीयजी ने काफी द्रव्य इकट्ठा किया था, लेकिन बाकी भी काफी रहा है। इस काम में तो हरेक आदमी हाथ बंटा सकता है।

यह तो हुई उनकी बाह्यप्रवृत्ति। उनका आन्तरिक जीवन विशुद्ध था। वह दया के भंडार थे। उनका शास्त्रीय ज्ञान बड़ा था। भागवत उनकी प्रिय पुस्तक थी। वह सजग कथाकार थे। उनकी स्मरण-शक्ति तेजस्विनी थी। जीवन शुद्ध था, सादा था।

उनकी राजनीति को और दूसरी अनेक प्रवृत्तियों को छोड़ देता हूं। जिन्होंने अपना सारा जीवन सेवा को अर्पित किया था और जो अनेक विभूतियां रखते थे, उनकी प्रवृति की मर्यादा हो नहीं सकती। मैंने तो उनमें से चिरस्थायी चीजें ही देने का संकल्प किया था। जो लोग विश्वविद्यालय को शुद्ध बनाने में मदद देना चाहते हैं, वे मालवीयजी महाराज के अंतरजीवन का मनन और अनुसरण करने की कोशिश करें। (ह० से०, ८.१२.४६)

... ...

मालवीयजी महाराज ने भी हिन्दी के लिए बहुत काम किया था। मगर उर्दू जबान को काट डालो, ऐसा कहते मैंने उनको कभी नहीं सुना।

(प्रा० प्र०, १५.१०.४७)

: १६७ :

हसन मिरजा

...ऐसा आदर्श मि० हसन मिरजा ने पेश किया था। मिस्टर हसन मिरजा को फेफड़े का बहुत बुरा रोग है। वह हैं भी नाजुकमिजाज आदमी। तथापि जब-जब जो काम उन्हें मिला, उन्होंने खुशी से उसे किया। इतना ही नहीं, बल्कि अपनी बीमारी की परवा भी न की। एक बार एक काफिर दारोगा ने उन्हें बड़े दारोगा का पाखाना साफ करने पर रख दिया। उन्होंने तुरन्त ही उस काम को मंजूर कर लिया। यह काम उन्होंने कभी न किया था। इससे उन्हें कै हो गई। उन्होंने उसकी भी परवा न की। जिस समय

वह दूसरा पाखाना साफ कर रहे थे मैं वहां जा पहुंचा। देखते ही मैं आश्चर्य से सन्न हो गया। मेरे मन में उनके विषय में प्रेम उमड़ उठा। ('मेरे जेल के अनुभव,' पृष्ठ ४२)

: १६८ :

मीराबहन

मीराबहन का जीवन तो सब बहनों के लिए विचार करने योग्य बन गया है। उसके हिन्दी पत्र वहां आते होंगे। मेरे नाम जो पत्र आते हैं उनसे मैं देखता हूं कि उसने अपनी सरलता और प्रेमपूर्ण स्वभाव से गुरुकुल की बालाओं के मन हर लिये हैं। वह लड़कियों में खूब घुलमिल गई है और उन्हें पींजना-कातना अच्छी तरह सिखा रही है। अपना एक पल भी व्यर्थ नहीं जाने देती। इस निष्ठा, इस त्याग और इस पवित्रता की आशा मैं तुम बहनों से रखता हूं। ('बापू के पत्र', पृष्ठ ५)

... ...

मीराबहन के तमाम पत्र मैं चि० मगनलाल को भेजा करता हूं। मैं चाहता हूं कि उन्हें तुम सब बहन ध्यान से सुनो, समझो और विचारो। मेरी नज़र में इस समय हमारे पास वह एक आदर्श कुमारी है।

('बापू के पत्र')

... ...

"बापू, आपकी उत्तम सेवा किस तरह कर सकती हूं, यह विचार मेरे मन से कभी निकलता ही नहीं है। मैं विचार करती हूं, अपने मन को समझाती हूं और भगवान से प्रार्थना करती हूं, मगर अंत में मेरे अंतर की गुफा में से एक ही आवाज उठती है। जब आपको हमारे बीच से उठा लिया जाता है, जैसे कि जेल में, तब मैं आपके बाहरी कामों में पूरे जोश के साथ पड़ सकती हूं। कुछ भी शंका या कुछ भी मुश्किल पैदा नहीं होती। मगर जब आप हमारे पास होते हैं, तब एक असाधारण प्रबल वृत्ति चुपचाप आपकी निजी सेवा में ही डूबे रहने की प्रेरणा मुझे करती रहती है। और कोई काम करने का प्रयत्न करना मुझे मिथ्या लगता है, रास्ता भूलने जैसा

लगता है। ऐसा लगता है कि आपकी निजी सेवा करने में सफलता मिले, तो ही उन बाहरी कामों को करने की शक्ति आये। ऐसा लगता है कि एक चीज दूसरी की पूरक है। कोई मुझे हमेशा भीतर-ही-भीतर कहा करता है कि मैं जो खिचकर आपके पास चली आई हूं, सो आपकी सेवा करने के लिए ही आई हूं। यह वृत्ति इतनी ज्यादा प्रबल है कि मैं उससे छूट नहीं सकती। यह बात मानने के लिए आपसे कहना भी कठिन है, क्योंकि इस बात की सचाई का पूरा सबूत तो आपके अवसान के बाद ही मिल सकता है। इसलिए मुझे इतना कहकर ही रुक जाना पड़ता है कि यह एक वृत्ति है। इतनी बात मैं निश्चित जानती हूं कि इस बार की लड़ाई में मेरा बल, मेरी शक्ति मेरी भीतरी शांति और सुख पिछली बार से कहीं ज्यादा रहे हैं। इसका एक यही कारण है कि इस बार मैं अपनी वृत्ति के अनुसार काम कर सकी हूं। सिर्फ आपके पहले छूटने के बाद एक बार थोड़े समय के लिए मैं दुःखी हो गई थी। इस बार यहां (जेल में) आने से पहले मेरा स्वास्थ्य नष्ट होने को ही था, मगर इस बात का इस प्रश्न के साथ कोई वास्ता नहीं है। इसका कारण तो सिर्फ ताकत से ज्यादा काम करना ही था। मैंने देखा कि मैं थोड़े दिन में पकड़ी जानेवाली हूं इसलिए मैंने अपनी शक्ति ऊंच-नीच देखे बिना ही खर्च करना शुरू कर दिया। मैं जानती थी कि मुझे जबर्दस्ती आराम मिलने ही वाला है। और मेरे पास काम का इतना ढेर पड़ा था कि ज्यादा सोच-विचार करने की गुंजायश नहीं थी।

"कौन जाने, यह सब भ्रम ही तो न हो ? मगर स्त्री तो अपनी मनोवृत्ति से ही चलती है न ? उसका बल बुद्धि के बजाय वृत्ति के अधिकार पर चलने में ही है। वह अपने स्वभाव को प्रकट कर सके तभी उसकी सच्ची शक्ति काबू में की जा सकती है और सेवा में लगाई जा सकती है। एक आप ही मेरे काम और आप ही मेरे आदर्श हैं, इसके सिवा सारी दुनिया में मेरा और कोई विचार और कोई चिंता या और कोई चाह नहीं है। इस जीवन में यह काम पूरा करने के लिए और अगले जीवन में इस आदर्श तक पहुंचने के लिए क्या भगवान मेरी प्रार्थना नहीं सुनेंगे ? किसलिए वह मेरी वृत्तियों को गलत रास्ते पर जाने देंगे ? क्या वह ही मुझे गहरे अंधेरे से आपके प्रकाशमय मार्ग पर खींच नहीं लाये ? यह सब मैं आपके सामने

तर्क करने के लिए नहीं लिख रही हूं। लेकिन जेल में आने के बाद असली चीज समझने के लिए मैं जो निरंतर प्रयत्न कर रही हूं, उससे जो कुछ मुझे सूझा है वह आपके सामने रख देने के लिए ही लिख रही हूं।"

उसे बापू ने जवाब दिया :

तूने अपने लिए जो कुछ लिखा है वह मैं समझ सकता हूं और उसकी कदर करता हूं। एक मामले में मैं तुझे निश्चिन्त कर ही दूं। मेरे जेल से निकलने के बाद जरूर तू मेरे साथ ही रहेगी और मेरी सेवा का अपना असल काम फिर शुरू कर देगी। मैं साफ देख सकता हूं कि तेरी आत्मा के आविर्भाव के लिए यही एक मार्ग है। पहले मैंने ऐसा किया है, मगर अब अपनी सेवा के काम से तुझे वंचित रखने का अपराध मैं नहीं करूंगा। भूतकाल में जो कुछ हुआ है उसका विचार करता हूं तब मुझे एक बड़ा संतोष यह रहता है कि मैंने तेरे प्रति जो कुछ किया है वह तेरे लिए गहरे प्रेम और तेरे भले की भावना से प्रेरित होकर किया है। मगर मैं देख सकता हूं कि 'स्वराज' का काम 'सुराज्य' नहीं दे सकता। एक गुजराती कहावत है कि 'धणी ने सूझे ढांकणीमां ने पड़ोसी ने न सूझे आरसीमां'। ये दोनों कहावतें सब जगह लागू नहीं की जा सकतीं। हां, तेरे मामले में तो दोनों ही अच्छी तरह लागू होती हैं। इसलिए आइंदा मेरी तरफ से कोई दखल नहीं दिया जायगा, यह पूरा भरोसा रखना। और मेरी सेवा तुझसे ज्यादा प्रेम के साथ कौन कर सकता है?" (म० डा०, ८.४.३२)

... ...

वह विशुद्ध आत्मा है। उसमें आत्मत्याग की अपार शक्ति है।

(म० डा०, २३.६.३२)

... ...

तू लिखती है कि तेरा मन ठिकाने नहीं, इसलिए पत्र नहीं लिखेगी। यह भी विकार की निशानी है। विकार का अर्थ अच्छी तरह समझने की जरूरत है। क्रोध करना भी एक विकार ही है। मन में अनेक प्रकार की इच्छाएं होते रहना भी विकार है। इसलिए, यह पहनूं, यह ओढूं, या खाऊं या न खाऊं, यह विकार है, और विवाह की इच्छा हो या विवाह की इच्छा हुए बिना बराबर के लड़कों का संग अच्छा लगे, उनके साथ गुप्त बातें अच्छी

लगें, उन्हें छूना अच्छा लगे, उनके साथ दिल्लगी करना अच्छा लगे तो यह भी विकार है। यह आखिरी विकार एक भयंकर विकार माना जाता है। लेकिन इनमें से कोई भी विकार जबतक होता है तबतक स्त्री को मासिक धर्म होगा और पुरुष को मासिक धर्म नहीं तो दूसरा कुछ होता ही है। इस अर्थ में मीराबहन भी विकार-रहित नहीं कहा जा सकती। इसीसे उसे अभी तक मासिक धर्म होता है। इसमें वह कोई पाप नहीं करती। वह तो बहुत ऊंची पहुंच गई है। वह अपने तमाम विकारों को दूर करने के लिए लड़ रही है। पुरुष-संग-रूपी इच्छा का विकार तो उसमें से साफ चला गया है। मगर उसमें क्रोध है, राग है, अनेक इच्छाएं हैं। इन सबको भी रोकने की कोशिश करती है। (म० डा०, ११.६.३२)

... ...

मीराबहन तो आश्रमवासी रही। घर-बार, माता-पिता का त्याग करके आई। उसको तो जो चीज प्यारेलाल को लागू होती है उससे भी ज्यादा लागू होती है। वह यद्यपि अपनेको मेरी लड़की कहती है, मगर उसका भी तो अपना स्वतंत्र स्थान बन गया है। अपने-आप उसको लगता है कि उसे नहीं लिखना चाहिए तो अलग बात थी। (का० क०, २४.६.४२)

... ...

सुबह घूमते समय मैंने बापू से मीराबहन की बकरीवाली बात कही। कहने लगे:

मीराबहन में एक बड़ा गुण है। उसके निकट मनुष्य, पशु, वृक्षों और फूलों में कोई फर्क नहीं है। उसे बकरियों से बातें करते तो तूने सुना होगा। फूल-पत्तों से भी वह बातें करती है। और कल रात उसने बिना किसीके कहे वह सब तेरे लिए किया।

मैंने कहा, "उनमें गुण तो भरे ही हैं, नहीं तो अपने राजा समान पिता के घर को छोड़कर वह यहां भागकर क्यों आतीं।" बापू बोले: हां, यह बात तो है। (का० क०, ३०.६.४२)

... ...

मीराबहन आज यह विचार कर रही हैं कि सारी दुनिया में कैसे शांति

हो सकती है। उनकी मान्यता है कि पहले कुछ नेता रूस जावें, फिर हर गांव से कुछ किसान वहां भेजे जावें, वह आकर बाकी लोगों में प्रचार करें। मीराबहन का दिमाग आज रूस और मार्क्स से ही भरा हुआ है। बापू कह रहे थे :

यह एक छोटी-सी मिसाल है कि कैसे उसका मन एक बालक की भांति कल्पना के घोड़े पर सवार होकर कहां-से-कहां पहुंच जाता है, नहीं तो आज इस जेल में बैठे हुए रूस जाने का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है? और फिर क्या हम इतने कंगाल हैं कि रूस जाने के सिवा और कुछ कर ही नहीं सकते? (का० क०, २६.११.४२)

... ...

इसके भोलेपन और इसकी कल्पना-शक्ति का कोई पार नहीं है।
(का० क०, १३.३.४४)

... ...

एक बात यह भी है कि हमारे यहां पूरी खूराक तो पैदा नहीं होती है। तब लोगों को कहना कि वह जमीन को बो लें, उसमें से पैदा हो जायगी। बात तो सच्ची है, लेकिन उसके लिए बाहर से जो बनी-बनाई खाद आती है, जिसको कि रसायन खाद बोलते हैं, उसमें हम चन्द करोड़ रुपये मुफ्त के दे देते हैं या ऐसा कहो कि जमीन को बिगाड़ने के लिए वह पैसे देते हैं। यह मेरा कहना नहीं है, मैं तो वह जानता ही नहीं; लेकिन जो इसका ज्ञान रखते हैं वह ऐसा कहते हैं। मीराबहन ने ही यह सब किया है और उसने ही इस चीज को जानकर लोगों को इकट्ठा किया। उसको शौक है और वह सचमुच किसान बन गई है। (प्रा० प्र०, १०.१२.४७)

: १६९ :

रामास्वामी मुदालियर

वहां के (मैसूर के) दीवान श्री रामास्वामी मुदालियर तो बहुत बड़े आदमी हैं। उन्होंने सारी दुनिया में भ्रमण किया है। उन्होंने समझा कि आखिर कबतक लोगों दमन करते रहेंगे? ऐसा कबतक चल सकता है?

नतीजा यह हुआ कि जो लोग कैद में चले गये थे वे छूट गये और मैसूर राज्य और उसके लोगों के बीच एक सुलहनामा हो गया। लोगों की जो बाकानून शर्तें थीं वे राज्य की तरफ से स्वीकृत हो गईं। मैसूर में यह जो कुछ हुआ उसके लिए वहां के राजा, दीवानसाहब और लोगों को धन्य-वाद देना चाहिए। राज्य ने वहां लोगों को राजी रखकर ही काम चलाना कबूल कर लिया है। (प्रा० प्र०, १६.१०.४७)

: १७० :

नरोत्तम मुरारजी

सेठ नरोत्तम मुरारजी की दुखद मृत्यु के कारण हममें से एक प्रसिद्ध व्यापारी उठ गया है। सेठ नरोत्तम मुरारजी में देश-भक्ति और व्यापारिक महत्वाकांक्षा, दोनों बातें एक साथ पाई जाती थीं। पूंजीपति होते हुए भी वह मजदूरों के साथ दया का—मनुष्यता का—व्यवहार करते थे। सिंधिया स्टीम नेविगेशन कम्पनी खड़ी करने में उन्होंने जिस साहस का परिचय दिया था, उससे महत्वाकांक्षा के साथ उनकी देश-भक्ति का भी परिचय मिलता है। उनका दान विशाल, विवेकपूर्ण और आधुनिक आवश्यकताओं के अनुकूल होता था। देश की वर्तमान अवस्था में इस सपूत के चल बसने से भारत-माता की बड़ी क्षति हुई है। अब उनके कार्य का सारा बोझा उनके नौजवान और उदीयमान पुत्र के सिर आ पड़ा है। लेकिन मैं जानता हूं कि श्री शान्तिकुमार भी अपने सुप्रसिद्ध पिता के समान ही देश-भक्त हैं और सम्भवतः अपने पिता के बहुसंख्यक कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों से अधिकतर प्रेम करते हैं। मैं उनके, उनकी बूढ़ी दादी मां के और दूसरे सब कुटुंबियों के प्रति हृदय से समवेदना प्रकट करता हूं, जिनके निकट परिचय में आने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है। (हि० न० २१.११.२६)

: १७१ :

शान्तिकुमार मुरारजी

आज हम सोलापुर में हैं। यह बड़ा शहर है। यहां पांच मिलें हैं। उनमें सबसे बड़ी मुरारजी गोकुलदास की है। उनके पोते शान्तिकुमार उम्र में तो अभी नवयुवक हैं, परन्तु उनकी आत्मा महान है। वह खुद खादी-प्रेमी हैं और खादी ही पहनते हैं। यह कोई उनका सबसे बड़ा गुण है, यह नहीं कहना चाहता। उनमें दया है, उदारता है, नम्रता है, ईश्वर-परायणता है, सत्य है। जैसा नाम है वैसे ही गुण रखते हैं। शान्ति की मूर्ति हैं। करोड़-पति के यहां ऐसा रत्न है, यह देखकर मुझे बहुत आनन्द होता है।

('बापू के पत्र', पृष्ठ १६)

: १७२ :

बेगम मुहम्मदअली

मौलाना मुहम्मदअली की बेगमसाहबा के धीरज को देखकर मैं तो दंग रह जाता हूं। वाल्टेर में जब उनके पति मौलानासाहब गिरफ्तार हुए तब वह उनसे मिलने गई थीं और जब मिलकर लौटीं तब मैंने उनसे पूछा कि आपके दिल को घबराहट तो नहीं होती? उन्होंने कहा—

"नहीं मुझे जरा भी घबराहट नहीं। पकड़े जानेवाले तो थे ही। यह तो उनका धर्म था।"

मैंने उनकी आवाज में भी घबराहट नहीं पाई। उसके बाद से वह हमारे ही साथ घूमकर अपनी हिम्मत का परिचय दे रही हैं। औरतों के जलसों में और मर्दों के भी जलसे में वह बुर्का ओढ़कर आती हैं और थोड़े में परन्तु ऐसा भाषण करती हैं कि वह ठेठ दिल की तह तक पैठ जाता है। वह सबको शान्ति कायम रखने, चरखा कातने, और खादी पहनने के लिए सिफारिश करती हैं और स्मर्ना के लिए मुसलमानों से चन्दा भी मांगती हैं। कुछ ही महीने पहले तक उनके बनाव-सिंगार की हद नहीं थी। महीन कपड़े के बिना काम नहीं चलता था। पर आज वह मोटी खादी का हरा रंगा हुआ झगा

पहनती हैं। हिन्दू स्त्रियों की बनिस्बत मुसलमान स्त्रियों को अधिक कपड़े पहनने पड़ते हैं। उसमें भी बेगमसाहबा का बदन हल्का नहीं है। तो भी वह अपने धर्म के लिए इस तरह तपस्या कर रही हैं। इसका फल यह हो रहा है कि उनका दर्शन करने के लिए अब जगह-जगह पर, मुसलमान बहनें आया करती हैं। (हि० न०, ३०.६.२१)

... ...

बेगम मुहम्मदअली ने अंगोरा फण्ड के लिए जहां-जहां से रुपया प्राप्त किया है वहां से शायद मौलानासाहब भी न ले पाते। यह बात मैं पहले ही कह चुका हूं कि उनका भाषण तो मौलानासाहब से भी बढ़िया होता है।
(हि० न०, २५.१२.२१)

: १७३ :

मेरीमैन

मेरा तो खयाल है कि संसार में ऐसा एक भी स्थान और जाति नहीं कि जिससे यथासमय और संस्कृति मिलने पर बढ़िया-से-बढ़िया मनुष्य-पुष्प न पैदा होते हों। दक्षिण अफ्रीका में सभी स्थानों पर मैं इसके उदाहरण सौभाग्यवश देख चुका हूं। पर केपकालोनी में मुझे इसके उदाहरण अधिक संख्या में मिले। उनमें सबसे अधिक विद्वान और विख्यात हैं श्री मेरीमैन। इन्हें लोग दक्षिण अफ्रीका के ग्लैडस्टन कहते हैं। केपकालोनी में आप अध्यक्ष भी रह चुके हैं। यदि श्री मेरीमैन के जैसे श्रेष्ठ नहीं तो उनसे दूसरे नम्बर में वहां के श्राईनर और मोल्टोनों के परिवार हैं।

श्री मेरीमैन और ये दोनों परिवार हमेशा हबशियों का पक्ष लेते और जब-जब उनके हकों पर हमला होता तब-तब उसके लिए वह झगड़ते। और यद्यपि वे सब भारतीयों और हबशी लोगों को भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखते तथापि उनकी प्रेम-धारा भारतीयों की ओर भी अवश्य बहती। उनकी दलील यह थी कि हबशी लोग गोरों के पहले से यहां रह रहे हैं और उनकी यह मातृ-भूमि है। इसलिए उनका स्वाभाविक अधिकार गोरों से नहीं छीना जा सकता। किन्तु प्रतिस्पर्धा के भय से बचने के लिए यदि भारतीयों के

खिलाफ कुछ कानून बनाये जायं तो वह बिल्कुल अन्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता। पर इतने पर भी उनका हृदय तो हमेशा भारतीयों की ओर ही झुकता। स्वर्गीय गोपालकृष्ण गोखले जब दक्षिण अफ्रीका पधारे थे तब उनके सम्मान में केपटाउन हाल में जो सभा बुलाई गई थी उसके अध्यक्ष श्री श्राईनर ही थे। श्री मेरीमैन ने भी उनसे बड़े प्रेम और विनय-पूर्वक बातचीत की और भारतीयों के प्रति अपना प्रेम-भाव दर्शाया।

(द० अ० स०, पृष्ठ ५६)

: १७४ :

फिरोजशाह मेहता

मैं सर फिरोजशाह से मिला। मैं उनसे चकाचौंध होने के लिए तैयार ही था। उनके नाम के साथ लगे बड़े-बड़े विशेषण मैंने सुन रखे थे। 'बम्बई के शेर', 'बम्बई के बेताज के बादशाह' से मिलना था। परन्तु बादशाह ने मुझे भयभीत नहीं किया। जिस प्रकार पिता अपने जवान पुत्र से प्रेम के साथ मिलता है उसी प्रकार वह मुझसे मिले। उनके चेम्बर में उनसे मिलना था। अनुयायियों से तो वह सदा घिरे हुए रहते ही थे। वाच्छा थे; कामा थे। उनसे मेरा परिचय कराया। वाच्छा का नाम मैंने सुना था, वह फिरोज-शाह के दाहिने हाथ माने जाते थे। अंक-शास्त्री के नाम से वीरचन्द गांधी ने मुझे उनका परिचय कराया था। उन्होंने कहा—"गांधी, हम फिर भी मिलेंगे।"

कुल दो ही मिनट में यह सब होगया। सर फिरोजशाह ने मेरी बात सुन ली। न्यायमूर्ति रानडे और तैयबजी से मिलने की भी बात मैंने कही। उन्होंने कहा—"गांधी, तुम्हारे काम के लिए मुझे एक सभा करनी होगी। तुम्हारे काम में जरूर मदद देना चाहिए।" मुंशी की ओर देखकर सभा का दिन निश्चय करने के लिए कहा। दिन तय हुआ और मुझे छुट्टी मिली। कहा—"सभा के एक दिन पहले मुझसे मिल लेना।" मैं निश्चिन्त होकर मन में फूलता हुआ अपने घर गया। (अ० क०, १९२७)

बहनोई के देहान्त के दूसरे ही दिन मुझे सभा के लिए बम्बई जाना था। मुझे इतना समय न मिला था कि अपने भाषण की तैयारी कर रखता। जागरण करते-करते थक रहा था। आवाज भी भारी हो रही थी। यह विचार करता हुआ कि ईश्वर किसी तरह निबाह लेगा, मैं बम्बई गया। भाषण लिखकर ले जाने का तो मुझे स्वप्न में भी ख्याल न हुआ था।

सभा की तिथि के एक दिन पहले शाम को पांच बजे आज्ञानुसार मैं सर फिरोजशाह के दफ्तर में हाजिर हुआ।

"गांधी, तुम्हारा भाषण तैयार है न?" उन्होंने पूछा।

"नहीं तो, मैंने जबानी ही भाषण देने का इरादा कर रखा है।" मैंने डरते-डरते उत्तर दिया।

"बंबई में ऐसा न चलेगा। यहां की रिपोर्टिंग खराब है। और यदि तुम चाहते हो कि इस सभा से लाभ हो तो तुम्हारा भाषण लिखित ही होना चाहिए। और रातों-रात छपा लेना चाहिए। रात ही को भाषण लिख सकोगे न?"

मैं पसोपेश में पड़ा; परन्तु मैंने लिखने की कोशिश करना स्वीकार किया।

"तो मुंशी तुमसे भाषण लेने कब आवें?" बम्बई के सिंह बोले।

"ग्यारह बजे।" मैंने उत्तर दिया।

सर फिरोजशाह ने मुंशी को हुक्म दिया कि उतने बजे जाकर मुझसे भाषण ले आवे और रातों-रात उसे छपा ले। इसके बाद मुझे विदा किया।

दूसरे दिन मैं सभा में गया। मैंने देखा कि उनकी लिखित भाषण पढ़ने की सलाह कितनी बुद्धिमत्तापूर्ण थी। फ़ामजी कावसजी इंस्टीट्यूट के हाल में सभा थी। मैंने सुन रखा था कि सर फिरोजशाह के भाषण में सभा-भवन में खड़े रहने को जगह न मिलती थी। इसमें विद्यार्थी लोग खूब दिलचस्पी लेते थे।

ऐसी सभा का मुझे यह पहला अनुभव था। मुझे विश्वास हो गया कि मेरी आवाज लोगों तक नहीं पहुंच सकती। कांपते-कांपते मैंने अपना भाषण शुरू किया। सर फिरोजशाह मुझे उत्साहित करते जाते—"हां, जरा और ऊंची आवाज में।" ज्यों-ज्यों वह ऐसा कहते त्यों-त्यों मेरी आवाज गिरती जाती थी।

मेरे पुराने मित्र केशवराव देशपांडे मेरी मदद के लिए दौड़े। मैंने उनके हाथ में भाषण सौंपकर छुट्टी पाई। उनकी आवाज थी तो बुलंद; पर प्रेक्षक क्यों सुनने लगें? 'वाच्छा,' 'वाच्छा', की पुकार से हाल गूंज उठा। अब वाच्छा उठे। उन्होंने देशपांडे के हाथ से कागज लिया और मेरा काम बन गया। सभा में तुरन्त सन्नाटा छा गया और लोगों ने अथ से इति तक भाषण सुना। मामूल के मुताबिक प्रसंगानुसार 'शर्म'-'शर्म' की अथवा करतल ध्वनि हुई। सभा के इस फल से मैं खुश हुआ।

सर फिरोजशाह को भाषण पसन्द आया। मुझे गंगा नहाने के बराबर सन्तोष हुआ। (आ० क०, १६२७)

: १७५ :

डा० मेहता

डॉ० मेहता के पैर का घाव जहरीला हो गया और उनका पांव कटवा देना पड़ा। तार आया है कि इससे उनकी स्थिति गम्भीर हो गई है। सुबह आपरेशन अच्छा हो गया। यह तार आया था कि हालत सन्तोषजनक है। इसपर बापू ने वापस तार दिया था—"बड़ी खुशी हुई। रोज तार देते रहिये।" यह बात हो रही थी कि डॉक्टर में बर्दास्त करने की ताकत है कि इतने में दूसरा तार आया—डॉक्टर को खूब बुखार है। फिर तार आया—डॉक्टर को निमोनिया है और हालत नाजुक है। इसके बाद भी बापू ने कहा—"रतिलाल और मगन की तकदीर से अब भी जी जायं तो कह नहीं सकते।" इस तरह बापू के मुंह से भी मानवोचित उद्गार निकल जाते थे।

(म० डा०, ३. ८. ३२)

... ...

आज डॉक्टर मेहता के देहावसान का तार आया। कल रात को ६-४५ पर शरीर छोड़ा। बापू को कितनी चोट लगी, इसका अंदाज इस तार से हो सकता है—

ईश्वर की इच्छा! तुम्हें और माताजी को आश्वासन। पिताजी की उदात्त परम्पराओं की यानी व्यापार में ईमानदारी, महमानदारी में उदा-

रता और दानशील स्वभाव, इन सबकी रक्षा करना। सरदार और महादेव शोक में मेरे साथ शरीक हैं। मेरी तो कहूं ही क्या ? उम्र भर के वफादार दोस्त की जुदाई दिल में चुभ रही है। मुझे सब हाल बताते रहना। ईश्वर तुम सबका भला करे।

बेचारे ने दो महीने पहले तो सत्याग्रह में शामिल होने की इजाजत मांगी थी और उसे नवंबर में बापू से मिलने की आशा थी। मणिलाल रेवाशंकर जगजीवन को पत्र में लिखा :

सुन्दर भवन के अब बर्बाद होने का खतरा पैदा हो गया है। तुम सबको डॉक्टर का वियोग खटकेगा ही। मगर मेरी हालत अजीब है। डॉक्टर से ज्यादा मित्र इस संसार में मेरा कोई नहीं था। मेरे लिए वह जिन्दा ही हैं। मगर यहां बैठा हुआ मैं उनके भवन को अविच्छिन्न रखने में लगभग कुछ भी भाग नहीं ले सकता, यह मुझे खटकता है। तुम जो कुछ कर सकते हो कर लेना। डॉक्टर का नाम अमर रखने के काम में तुम कहांतक भाग ले सकते हो, यह लिखना।

नानालाल मेहता को :

डॉक्टर के चले जाने से मेरी हालत तुम सबसे ज्यादा खराब हो गई है। मुझे यह खटकता है कि जिसे मैं अपना सबसे पुराना साथी या मित्र कहता हूं, वह जाता रहे और मैं पिंजड़े में बन्द होने से उसके पीछे कुछ भी न कर सकूं। मगर इसमें भी ईश्वर का भेद है, कृपा भी हो। मैं नहीं जानता कि डॉक्टर का भवन आबाद रखने की तुम्हारी कहांतक शक्ति है। जितनी हो उसे काम में लेना। डॉक्टर का नाम निष्कलंक रहे और उनके गुण उनके लड़के कायम रखें, यह देखने की बात है।

बड़े लड़के छगनलाल को :

डॉक्टर के स्वर्गवास का सच्चा खयाल अबसे तुम्हारे बरताव में जाहिर होना चाहिए। डॉक्टर के कई सद्गुण ही उनका असली वसीयतनामा है। वह तुम्हारा उत्तराधिकार है। तुमसे छोटे भाइयों को जरा भी क्लेश न होना चाहिए। मेरा उम्र भर का साथी जा रहा है तब मैं अपंग जैसी हालत में (जेल में) हूं, यह मुझे खटकता है नहीं तो मैं इस वक्त तुम्हारे पास खड़ा होता। शायद डॉक्टर की आखिरी सांस मेरी गोद में निकली होती। मगर

ईश्वर हमारा सोचा हुआ सब होने नहीं देता। इसलिए मैं उतना ही करूंगा, जितना डाक के जरिए हो सकता है।

पोलक को :

डॉ मेहता चल बसे। मैंने अपना उम्रभर का वफादार मित्र खो दिया। वैसे मेरे लिए वह जीते-जी से भी मरने के बाद ज्यादा जीवित हैं, क्योंकि अब मैं उनके तमाम अच्छे गुणों को ज्यादा याद करूंगा। यह स्मरण एक पवित्र थाती है। मगनलाल के नाम का पत्र इसके साथ भेजता हूं। मैं चाहता हूं कि तुम उसे पिता के योग्य बनने में पूरी मदद दो। मैंने उसे सलाह तो दी है कि चिन्ता न करे और पढ़ाई में लगा रहे। कितने ही समय से डॉ० मेहता शरीर से जर्जर हो गये थे, फिर भी उनकी शुरू की व्यवहार-दक्षता ज्यों-की-त्यों बाकी थी। इसलिए उन्होंने मगनलाल की पढ़ाई के लिए रुपए का इन्तजाम किया ही होगा। मगनलाल जानता होगा। मुझे दुःख है कि इस समय मैं उन लोगों के बीच नहीं हूं। मगर मेरा सोचा हुआ नहीं, सदा उसीका सोचा हुआ होवे।

रात को सोते समय बापू कहने लगे :

ज्ञान भी इतना ज्यादा पक्का होने की जरूरत है कि बुद्धि से मन को मनाने का थोड़ा ही असर हो। जानते हैं कि डॉक्टर को जीना नहीं था, वह शरीर नाश होने लायक था और उसका नाश हो गया। फिर भी इतनी बेचैनी किसलिए ?

मैंने कहा—"अपने प्रियजनों की या जिनके साथ वर्षों निकट संबंध में बीते हों उनकी मौत का समाचार सुनकर यदि उनका स्मरण बार-बार होने लगे तो इसमें अस्वाभाविक क्या है ?" बापू बोले :

स्मरण तो हो, परंतु दुःख किसलिए हो ? मौत और शादी में किसलिए फर्क होना चाहिए ? विवाह का प्रसंग याद करके आनंद-ही-आनंद होता है, वैसे ही मृत्यु से होनेवाले स्मरणों से आनंद क्यों नहीं होना चाहिए ? मेरी बेचैनी मगनलाल की मौत से भी कुछ ज्यादा है। कारण इतना ही है कि मैं बाहर होता तो इस परिवार को अच्छी तरह संभाल लेता। मगर यह भी गलत ही है। यह अपंग हालत ठीक क्यों न हो ?

डाक्टर के उदात्त गुणों को याद करके उनका तर्पण किया। (म० डा०,

४.८.३२)

: १७६ :

मेहरबाबा

वह जबरदस्त आदमी है। वह किसीको ढूंढ़ने नहीं जाते, मगर लोग उनके पास चले आते हैं, रुपया चला आता है, विलायत से किसी स्टार ने बुलाया तो चले गये। अमरीका से धनवानों ने बुलाया तो चले गये। और उनका असर क्यों न पड़े? सात वर्ष से मौन और फिर भी कोई पागल नहीं। इतनी-सी बात भी लोगों को आकर्षित करने के लिए काफी है।

मैंने कहा—"उन्होंने अपनी पुस्तक पढ़ने को दी थी, वह आपको कैसी लगी?" बापू :

उसमें असाधारण तो कोई बात थी नहीं। और अंग्रेजी में लिखी थी। उनके शिष्य ने उनके विचार दर्ज किये थे, इसलिए गड़बड़ घोटाला-सा हो गया था। मैंने उन्हें सुझाया कि आपको लिखना हो तो गुजराती में लिखिये या अपनी मादरी जबान फारसी में लिखिये। हम पराई भाषा में क्यों लिखें? उन्हें यह सूचना पसंद आई।

मैंने कहा—"उनकी मुखमुद्रा पर एक तरह की प्रसन्नता है।" बापू बोले :

हां, जरूर है। और उनका दावा भी है कि उन्हें सदा आनंद-ही-आनंद है। वह मानते हैं कि उन्हें साक्षात्कार हुआ है। वह बाल-ब्रह्मचारी हैं और उनका कहना है कि उन्हें विकार नहीं होते। और मुझे वह सच्चे आदमी मालूम होते हैं। उनमें आडंबर तो है ही नहीं। (म० डा०)

: १७७ :

रेम्जे मैक्डोनल्ड

वल्लभभाई—"कुछ भी हो, मैक्डोनल्ड सब निगल जायगा। और पंच-फैसला भी हमारे खिलाफ ही होनेवाला है।"

बापू—"अभी मुझे मैक्डोनल्ड से आशा है कि वह विरोध करेगा।"

वल्लभभाई—"नहीं जी, वह क्या विरोध करेगा! ये सब बिल्कुल नंगे लोग हैं।"

बापू—"तो भी इस आदमी के अपने उसूल हैं।"

वल्लभभाई—"उसूल हों तो इस तरह अनुदारों के हाथों में बिक जाय? उसे देश पर से हुकूमत छोड़नी ही नहीं है।"

बापू—"छोड़नी तो नहीं है, मगर इसमें उसका स्वार्थ नहीं है। सिर्फ लास्की, होरेबिन और ब्रॉकवे जैसे थोड़े-से आदमियों के सिवा छोड़ना तो कोई नहीं चाहता। बेन, लीज और स्मिथ वगैरह सब मैक्डोनल्ड जैसे ही हैं। मैं तो इतना ही कहता हूं कि यह आदमी देश का हित देखकर अनुदारों में मिला है। अब यह आदमी पंच-फैसला देने की बात रोके हुए है। वह सारी जिंदगी के उसूलों को ताक में नहीं रख सकता।"

मैं—"तो क्या मुसलमानों को अलग मताधिकार नहीं देने देगा?"

बापू—"यह तो देने देगा, लेकिन अस्पृश्यों के लिए अलग मताधिकार वह सहन नहीं कर सकेगा।"

मैं—"क्या वह सचमुच यह बात समझा भी है।"

बापू—"जरूर, वह सब समझता है। जिसे साइमन कमीशन ने समझ लिया, उसे क्या वह नहीं समझेगा? वह कहेगा कि मैंने तुम्हें आर्डिनेन्स निकालने दिया, बयान देने दिया; लेकिन अब मैं तुम्हारे साथ और नहीं चल सकता। इसीलिए उसने अभी तक निर्णय रोक रखा है। होर तो कुछ भी करे मुझे आश्चर्य नहीं होगा। उसे तो किसी भी तरह देश को कुचलना है। इसके लिए मुसलमानों को जो भी देना जरूरी होगा वह देने को तैयार रहेगा।" (म० डा०, ६.७.३२)

: १७८ :

मोतीलाल

बढवाण स्टेशन पर दर्जी मोतीलाल, जो वहां के एक प्रसिद्ध प्रजा-सेवक माने जाते थे, मुझसे मिलने आये। उन्होंने मुझसे वीरमगाम की जकात की

जांच का तथा उसके संबंध में होनेवाली तकलीफों का जिक्र किया। मुझे बुखार चढ़ रहा था। इसलिए बात करने की इच्छा कम ही थी। मैंने थोड़े में ही उत्तर दिया :

"आप जेल जाने के लिए तैयार हैं?"

इस समय मैंने मोतीलाल को वैसा ही एक युवक समझा, जो बिना विचारे उत्साह में 'हां' कर लेते हैं, परंतु उन्होंने बड़ी दृढ़ता के साथ उत्तर दिया—

"हां, जरूर जेल जायंगे; पर आपको हमारा अगुआ बनना पड़ेगा। काठियावाड़ी की हैसियत से आपपर हमारा पहला हक है। अभी तो हम आपको नहीं रोक सकते, परंतु वापस लौटते समय आपको बढवाण जरूर उतरना पड़ेगा। यहां के युवकों का काम और उत्साह देखकर आप खुश होंगे। आप जब चाहें तब अपनी सेना में हमें भर्ती कर सकेंगे।"

उस दिन से मोतीलाल पर मेरी नज़र ठहर गई। उनके साथियों ने उनकी स्तुति करते हुए कहा :

"यह तो दर्जीभाई हैं। पर अपने हुनर में बड़े तेज हैं। रोज एक घंटा काम करके प्रति मास कोई पंद्रह रुपये अपने खर्च के लायक पैदा कर लेते हैं। शेष सारा समय सार्वजनिक सेवा में लगाते हैं और हम सब पढ़े-लिखे लोगों को राह दिखाते हैं और शर्मिंदा करते हैं।"

बाद को भाई मोतीलाल से मेरा बहुत साबका पड़ा था और मैंने देखा कि उनकी इस स्तुति में अत्युक्ति न थी। सत्याग्रह-आश्रम की स्थापना के बाद वह हर महीने कुछ दिन आकर वहां रह जाते। बच्चों को सीना सिखाते और आश्रम में सीने का काम भी कर जाते। वीरमगाम की कुछ-न-कुछ बात वह रोज सुनाते। मुसाफिरों को उससे जो कष्ट होते थे वह इन्हें नागवार हो रहे थे। इन मोतीलाल को बीमारी भर जवानी में ही खा गई और बढवाण उनके बिना सूना हो गया। (आ० क०, १९२७)

: १७९ :

भील-नेता मोतीलाल

श्रीयुत मणिकलाल कुठारी लिखते हैं :

"आपको याद होगा कि सन् १९२२ में राजपूताना के भीलों की हाजत पर लिखते हुए आपने 'यंग इंडिया' में भील-नेता मोतीलाल को माफ करने की सिफारिश की थी। सन् १९२४ में राजपूताना के ए० जी० जी०, सर आर० ई० हालेंड ने सारे मामले पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करके और उस समय के राजपूताने के शांतिमय वातावरण का खयाल करके सम्बन्धित राज्यों को सलाह दी थी कि वह मोतीलाल को क्षमा कर दें, जिससे कुछ समय बाद उनके प्रभाव का उपयोग पिछड़ी हुई और अज्ञान भील-जाति के सामाजिक सुधार में हो सके। मुझे पता चला है कि राजपूताने की तमाम देशी रियासतों ने, जिसमें मेवाड़ भी शामिल है, इस प्रस्ताव को मंजूर किया था और सर आर० ई० हालेंड एवं उनके उत्तराधिकारी लेफ्टीनेन्ट कर्नल पैटरसन ने भी मुझसे स्पष्ट ही कहा था कि मैं बम्बई सरकार को अधिकारपूर्वक कह सकता हूं कि अगर बम्बई प्रान्त की ईडर, दांता वगैरह रियासतें मोतीलाल को क्षमा कर दें तो राजपूताने को कोई आपत्ति न होगी। लेकिन आज मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि मेवाड़-जैसी रियासत बिना मुकदमा चलाये मोतीलालजी को गिरफ्तार किये है।

"अधिकारी कहते हैं कि आपने मोतीलाल से बेताल्लुकी जाहिर कर दी थी। मुझे विश्वास है कि यह बात सच नहीं है। मैं मानता हूं कि आप उनके प्रत्यक्ष परिचय में आये हैं और उनके काम के बारे में भी कुछ जानते हैं। अतएव मैं आपसे प्रार्थना करूंगा कि आप कृपा कर इस गलतफहमी को दूर करेंगे और मेवाड़ दरबार को इस मामले में सहानुभूतिपूर्वक विचार करने और मोतीलाल को छोड़ देने की सलाह देंगे।"

पाठकगण शायद ही मोतीलाल को जानते हों। वह एक भोले-भाले, अपढ़ समाज-सुधारक और राजपूताना के भीलों के सेवक हैं। उनकी बड़ी इच्छा है कि भील लोग मांस और मदिरा का त्याग कर दें। एक समय उनका भीलों पर बहुत ज्यादा प्रभाव था। और आज भी, यद्यपि प्रभाव

उतना ज्यादा नहीं है, उस जाति के लोग बड़े आदर से उनका नाम लेते हैं, क्योंकि मोतीलाल के कारण ही उनमें काफी सामाजिक सुधार हो सका था। यरवदा-जेल से छूटने के बाद मुझे मोतीलाल से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वह न पढ़े-लिखे हैं और न ज्यादा किसीसे बात ही करते हैं। वह एकमात्र काम करना जानते हैं और अपने में तथा अपने लोगों में विश्वास करना जानते हैं। जो लोग कहते हैं कि १९२२ में मैंने उन पर अविश्वास-सा प्रकट किया था, मुझे डर है कि वह सत्य को छिपाना चाहते हैं। १९२२ में जब मैंने सुना कि वह मेरे नाम का उपयोग करते हैं, मैंने कहा था कि उन्हें ऐसा करने का कोई अधिकार नहीं है। लेकिन उसके बाद और विशेषकर जब मुझे उनके कार्य का कुछ परिचय प्राप्त हुआ तब तो मैंने बड़े ज़ोरों से इस बात की सिफारिश की थी कि उन्हें क्षमा कर दिया जाय। मैंने तो अपने सन्तोष के लिए यह भी मान लिया था कि सर आर० ई० हालैंड की सिफारिश में 'यंग इंडिया' की पंक्तियों का भी कुछ हाथ होगा। चाहे कुछ ही क्यों न हो, मुझे आशा थी कि मोतीलाल को क्षमा मिल गई होगी और १९२२ की घटना को सम्बन्धित राज्य अब तक भूल चुके होंगे। इसी कारण मुझे यह जानकर आश्चर्य होता है कि मेवाड़ राज्य ने उन्हें किसी दूसरे नये अभियोग के लिए नहीं, बल्कि १९२२ वाले पुराने आरोपों के कारण ही फिर से गिरफ्तार करके कैद में रख छोड़ा है। मुझे विश्वास है कि मेवाड़ राज्य यह नहीं भूलेगा कि अगर उसने भीलों के प्यारे नेता को ज्यादा समय तक कैद में रख छोड़ा तो भोले-भाले भील राज्य पर अविश्वास का आरोप करेंगे; क्योंकि वह तो मानते थे कि उनके नेता को क्षमा कर दिया गया है। जहांतक मैं जानता हूं, मोतीलाल ने ऐसा कोई काम नहीं किया है, जिसके कारण वह कैद में रखे जायं। अतएव मैं विश्वास करता हूं कि यह भोला-भाला और सच्चा सुधारक शीघ्र ही कैद से छोड़ दिया जायगा और अपने लोगों में समाज-सुधार का काम करने के लिए उसे प्रोत्साहित किया जायगा।

(हिं० न०, ५.८.२९)

: १८० :

हसरत मोहानी

मौलाना हसरत मोहानी हम लोगों में बड़े जीवट के आदमी हैं। वह जितने धीर हैं उतने ही दृढ़ भी हैं और स्पष्टवादी भी वह उसी तरह हैं। ब्रिटिश सरकार के प्रति तथा अंग्रेजों के प्रति उनके हृदय में घृणा के जो भाव भरे हैं उसके सामने उन्हें मोपलों के आचरण में कोई दोष नहीं दिखाई देता। मौलानासाहब का कहना है कि युद्ध के समय जो कुछ किया जाय सब ठीक और उचित है। उनका पक्का विश्वास है कि मोपलों ने धर्म के लिए ही यह संग्राम किया है और इसलिए मोपलों के ऊपर किसी तरह का दोषारोपण नहीं किया जा सकता। धर्म और सदाचार का यह परिच्छिन्न रूप है। पर मौलाना हसरत मोहानी की दृष्टि में धर्म के नाम पर अधर्माचरण भी धार्मिक है। जहांतक मैं जानता हूं, इस्लाम धर्म इस तरह की बातों का प्रतिपादक नहीं है। इस सम्बन्ध में मैंने अनेक मुसलमानों से भी बातचीत की है। वह भी मौलानासाहब के मत से सहमत नहीं हैं। मैं अपने मलाबार के साथियों से यही कहूंगा कि वह मौलाना की बात न सुनें। यद्यपि धर्म के बारे में उनका इस तरह का विचित्र मत है तथापि मैं जानता हूं कि हिन्दू-मुस्लिम-एकता और राष्ट्रीयता का उनसे बढ़कर कट्टर समर्थक दूसरा नहीं है। उनका हृदय उनकी बुद्धि से कहीं उत्तम है। पर इस समय वह गलत मार्ग पर जा रहा है। (यं० इं०, भाग ३, पृष्ठ ७३३)

: १८१ :

एन० जी० रंगा

प्रोफेसर रंगा एक ऐसे साथी और कार्यकर्त्ता हैं, जिन्हें एक लम्बे अर्से से जानने का सौभाग्य मुझे प्राप्त है। वह बहादुर और अच्छे स्वभाववाले हैं। (ह० से, १३.४.४०)

: १८२ :

रविशंकर

श्री रविशंकर व्यास खेड़ा जिले के एक साहसी सुधारक हैं, जिन्होंने वहां के बहादुर पर अनपढ़ राजपूतों को कई बुराइयों से मुक्त किया है।

(हि० न०, १०.४.३०)

... ...

भाई रविशंकर की सेवा को लेखक नाममात्र की समझते हैं। यह त्याग की मूर्ति यदि नाम की ही सेवा करती है तो काम की सेवा कौन करता है, मैं नहीं जानता। (हि० न०, १४.५.३१)

: १८३ :

अब्दुर रहीम

...राष्ट्र का काम न तो सर अब्दुर रहीम और न हकीमसाहब अजमलखां के बिना चल सकता है। सर अब्दुर रहीम, जिन्होंने कि गोखले के साथ-साथ, जब कि वह इसलिंग्टन-कमीशन के सदस्य थे, गुरुतापूर्ण नोट लिखा था, अपने देश के दुश्मन नहीं हैं। यदि उनका खयाल है कि हिन्दुओं के साथ मुसलमानों का बराबरी दर्जे पर स्पर्धा करने के बिना मुल्क तरक्की नहीं कर सकता तो उनको दोषी कौन ठहरा सकता है। मुमकिन है कि वह गलत तरीके अख्तियार किये हुए हों, लेकिन वह आजादी के इच्छुक जरूर हैं।... (हि० न०, ९.९.२६)

: १८४ :

चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

अभी बिल गजट में प्रकाशित नहीं हुआ था। मेरा शरीर था तो निर्बल, किन्तु मैंने लम्बे सफर का खतरा मोल लिया। अभी ऊंची आवाज से बोलने की शक्ति नहीं आई थी। खड़े होकर बोलने की शक्ति जो तबसे गई सो

अबतक नहीं आई है। खड़े होकर बोलते ही थोड़ी देर में सारा शरीर कांपने लगता लौर छाती और पेट में घबराहट मालूम होने लगती है; किन्तु मुझे ऐसा लगा कि मद्रास से आये हुए निमंत्रण को अवश्य स्वीकार करना चाहिए। दक्षिण के प्रान्त उस समय मुझे घर के समान ही लगते थे। दक्षिण अफ्रीका के सम्बन्ध के कारण मैं मानता आया हूं कि तामिल-तेलुगू आदि दक्षिण प्रान्त के लोगों पर मेरा कुछ हक है और अबतक ऐसा नहीं लगा है कि मैंने यह विचार करने में ज़रा भी भूल की है। आमंत्रण स्वर्गीय श्री कस्तूरी रंगा ऐयंगर की ओर से आया था। मद्रास जाते ही मुझे जान पड़ा कि इस आमन्त्रण के पीछे श्री राजगोपालाचार्य थे। श्री राजगोपालाचार्य के साथ मेरा यह पहला परिचय माना जा सकता है। पहली ही बार हम दोनों ने एक-दूसरे को यहां देखा।

सार्वजनिक काम में ज्यादा भाग लेने के इरादे से और श्री कस्तूरी रंगा ऐयंगर आदि मित्रों की मांग से वह सेलम छोड़कर मद्रास वकालत करनेवाले थे। मुझे उन्हींके यहां ठहराने की व्यवस्था की गई थी। मुझे दो-एक दिन बाद मालूम हुआ कि मैं उन्हींके घर ठहराया गया हूं। वह बंगला श्री कस्तूरी रंगा ऐयंगर का होने के कारण मैंने यही मान लिया था कि मैं उन्हींका अतिथि हूं। महादेव देसाई ने मेरी यह भूल सुधारी। राजगोपालाचार्य दूर-ही-दूर रहते थे। किन्तु महादेव ने उनसे भली-भांति परिचय कर लिया था। महादेव ने मुझे चेताया, "आपको श्री राजगोपालाचार्य से परिचय कर लेना चाहिए।"

मैंने परिचय किया। उनके साथ रोज ही लड़ाई के संगठन की सलाह किया करता था। सभाओं के अलावा मुझे और कुछ सूझता ही नहीं था। रौलेट बिल अगर कानून बन जाय तो उसका सविनय-भंग कैसे हो? सविनय-भंग का अवसर तो तभी मिल सकता था, जब सरकार देती। दूसरे किन कानूनों का सविनय-भंग हो सकता है। उसकी मर्यादा क्या निश्चित हो? ऐसी ही चर्चाएं होती थीं।

...यों सलाह-मशविरा हो रहा था कि इसी बीच खबर आई कि बिल कानून बनकर गजट में प्रकाशित हो गया है। जिस दिन यह खबर मिली, उस रात को मैं विचार करता हुआ सो गया। भोर मैं बड़े सवेरे उठ खड़ा

हुआ। अभी अर्द्ध-निद्रा होगी कि मुझे स्वप्न में एक विचार सूझा। सवेरे ही मैंने श्री राजगोपालाचार्य को बुलाया और बात की :

"मुझे रात को स्वप्न में विचार आया कि इस कानून के जवाब में हमें सारे देश से हड़ताल करने के लिए कहना चाहिए। सत्याग्रह आत्मशुद्धि की लड़ाई है। यह धार्मिक लड़ाई है। धर्म-कार्य को शुद्धि से शुरू करना ठीक लगता है। एक दिन सभी लोग उपवास करें और काम-धंधा बंद रखें। मुसलमान भाई रोजा के अलावा और उपवास नहीं रखते। इसलिए चौबीस घंटे का उपवास रखने की सलाह देनी चाहिए। यह तो नहीं कहा जा सकता कि इसमें सभी प्रांत शामिल होंगे या नहीं। बंबई, मद्रास, बिहार और सिंध की आशा तो मुझे अवश्य है; पर इतनी जगहों में भी अगर ठीक हड़ताल हो जाय तो हमें संतोष मान लेना चाहिए।"

यह तजवीज श्री राजगोपालाचार्य को बहुत पसंद आई। फिर तुरंत ही दूसरे मित्रों के सामने भी रखी। सबने इसका स्वागत किया। मैंने एक छोटा-सा नोटिस तैयार कर लिया। पहले सन १९१९ के मार्च की ३० तारीख रखी गई थी, किंतु बाद में ६ अप्रैल कर दी गई। लोगों को खबर बहुत थोड़े दिन पहले दी गई थी। कार्य तुरंत करने की आवश्यकता समझी गई थी। अतः तैयारी के लिए लंबी मियाद देने की गुंजायश ही नहीं थी। पर कौन जाने कैसे सारा संगठन हो गया! सारे हिंदुस्तान में शहरों में और गांवों में हड़ताल हुई। यह दृश्य भव्य था! (आ० क०, १९२७)

... ...

आज सुबह (२१-८-३२) फिर निर्णय (सांप्रदायिक निर्णय) पर बातें हुईं। जयकर, सप्रू और चिंतामणि की रायों पर चर्चा हुई। बापू कहने लगे—यह आशा रख सकते हैं कि जयकर सप्रू से यहां अलग हो जायंगे।

वल्लभभाई—बहुत आशा रखने जैसी बात नहीं है।

बापू—आशा इसलिए रख सकते हैं कि विलायत में भी इस मामले में इनके विचार अलग ही रहे थे। वैसे तो क्या पता?

वल्लभभाई—चिंतामणि ने इस बार अच्छी तरह शोभा बढ़ाई।

बापू—क्योंकि चिंतामणि हिंदुस्तानी हैं, जबकि सप्रू का मानस यूरोपियन है। चिंतामणि समझते हैं कि इस निर्णय में ही बहुत-कुछ विधान आ

जाता है। सप्रू यह मानते हैं कि विधान मिल गया तो फिर इन बातों की चिंता ही नहीं। किसी भी हिन्दुस्तानी को समझाने की जरूरत नहीं होगी कि कितना ही अच्छा विधान गुंडों के हाथ में दिया जाय तो उसकी दुर्गति ही होगी। और इस निर्णय से विधान गुंडों के ही हाथ में दिया जा रहा है। अभी तो केन्द्रीय सरकार का बाकी है। ये केन्द्रीय सरकार को एक धधकता हुआ कुंड बना डालेंगे और कहेंगे कि अब इसमें पड़ो और जल मरो।

मालवीयजी और राजगोपालाचार्य को आज अगर इस चीज का पता चले तो वे क्या कर सकते हैं? थोड़े ही दिन की तो बात है न? मेरे खयाल से मालवीयजी और राजाजी को भी इस बात से थोड़ा धक्का लगने की जरूरत है। राजाजी तो इतनी तेज बुद्धि के हैं कि उन्हें फौरन मालूम हो जायगा कि इस आदमी ने यह कदम कैसे उठाया। यह बात ऐसे आघात से ही समझ में आ जायगी। (म० डा०)

... ...

राजाजी तो सोना हैं। उनकी बात दुनिया के किसी भी हिस्से में मानी जायगी। (म० डा०, १५.१२.३२)

... ...

प्रस्ताव[1] बनानेवाले राजाजी थे। जितना यकीन मुझको था कि मैं सही रास्ते पर हूं उतना ही यकीन उनको था कि उनका रास्ता सही रास्ता है। उनकी दृढ़ता, हिम्मत और नम्रता ने कई लोगों को उनकी तरफ खींच लिया। इनमें सरदार पटेल एक बहुत भारी शिकार थे। अगर मैं राजाजी को रोकता तो वह अपना प्रस्ताव कमेटी के सामने लाने का विचार तक न करते। मगर मैं अपने साथियों को भी उनकी दृढ़ता, ईमानदारी और आत्म-विश्वास के लिए वही साख देता हूं, जो मैं अपने लिए चाहता हूं। मैं बहुत दिनों से देख रहा था कि हमारे सामने देश की राजनैतिक समस्याओं के बारे में हमारा मत एक दूसरे से दूर हट रहा था। वह मुझे यह कहने की इजाजत नहीं देते कि वह अहिंसा से दूर हटे हैं। उनका यह दावा है कि उनकी अहिंसा ही उन्हें इस प्रस्ताव तक ले गई है। उनको लगता है कि दिन-

[1] दिल्ली-प्रस्ताव, जिसमें सहयोग तथा एक अस्थायी राष्ट्रीय सरकार स्थापित करने की मांग की गई थ ।

रात अहिंसा के ही विचार में डूबे रहने से मुझपर एक प्रकार का भूत सवार हो गया है। उनको प्रायः ऐसा लगता है कि मेरा दृष्टिकोण धुंधला हो गया है। मेरे प्रत्युत्तर में यह कहने से कि उनकी दृष्टि धुंधली हो गई है, कोई फायदा नहीं था, अगरचे हँसी-हँसी में मैंने उनसे ऐसा कह भी दिया। मेरे पास सिवाय मेरी श्रद्धा के दूसरा कोई सबून नहीं है कि मैं उनकी मुझसे उलटी श्रद्धा का दावे से विरोध कर सकूं। ऐसा करना साफ बाहियात बात होगी। मैं वर्धा में ही कार्य-समिति को अपने साथ नहीं रख सका था और इसलिए मैं उनसे अलग हो गया।

मुझे यह दीपक की तरह स्पष्ट दीख गया था कि अगर वह लोग मेरी बात स्वीकार नहीं कर सकते थे तो उनके पास राजाजी की बात मानने के सिवाय दूसरा चारा ही नहीं था। सो यद्यपि मैं नहीं मानता था कि राजाजी सरासर गलती पर हैं, मैंने उनको उनका प्रयत्न जारी रखने को उत्तेजन दिया। आदर्श, धैर्य, चतुराई और विरोधियों की भावना के प्रति मान बताकर आखिर उन्होंने बहुमत पाया। पांच सदस्य तटस्थ रहे, उन्होंने वोट नहीं दिया। (ह० से०, १३. ७. ४०)

... ...

राजाजी के साथ दीर्घकाल से मेरा निकट का परिचय है। मैं जानता हूं कि वह एक ऐसे वीर पुरुष हैं कि उनको किसी के सहारे की जरूरत नहीं। वह ऐसे अनाशक्त हैं कि बहुत घंटे तो छोड़ो, बहुत मिनट तक भी मानहानि की ग्लानि दिल में नहीं रख सकते। मैं यह भी जानता हूं कि उनमें सुन्दर विनोद-वृत्ति है, इसलिए अगर उनकी कोई हँसी भी करे तो वह बुरा नहीं मानेंगे। इसलिए मेरा यह इकरार निजी सन्तोष के लिए ही माना जाय।

मैं खुले तौर पर कह चुका हूं कि अगर मैंने राजाजी को उत्तेजन न दिया होता तो नई दिल्ली में जो प्रस्ताव उन्होंने पेश किया वह न करते। उनकी तीव्र बुद्धि और प्रमाणिकता के लिए मुझे बड़ा आदर है। इसलिए जब उन्होंने एक चौंकानेवाले आत्मविश्वास के साथ कहा कि "इस विषय में अहिंसा के अर्थ व प्रयोग के बारे में मेरा अभिप्राय ही सच्चा है, आपका बिलकुल गलत," तो मैं अपने अर्थ के बारे में खुद संदिग्ध बन गया और मैंने लगाम ढीली छोड़कर राजाजी को उनके विचार के अनुसार चलने को

प्रोत्साहित किया। निर्बल आदमी अकस्मात से ही न्याय करता है। इसके विपरीत मजबूत और अहिंसक आदमी अन्याय अकस्मात से करता है। मैंने राजाजी को ऐसी स्थिति में डाल दिया कि उनकी हँसी हुई और निर्दय टीका का शिकार उन्हें बनना पड़ा। मेरे दिल में शक नहीं कि नई दिल्ली का प्रस्ताव रद होने से कांग्रेस बड़े खतरे से बच गई है। लेकिन राजाजी ऐसा नहीं मानते। वह तो अब भी मानते हैं कि उन्होंने जो किया वही ठीक था। एक नेता के लिए और खास तौर पर जब वह राजाजी की कोटि के हों, अच्छा नहीं कि उनके किये-कराये पर इस तरह पानी फिर जाय। अगर उनकी चलती तो जो प्रस्ताव आज देश के सामने पेश हुआ है वह भिन्न प्रकार का ही होता और मैं आज कांग्रेस के अन्दर नहीं, बाहर ही होता; क्योंकि वर्धा-प्रस्ताव के कुदरती परिणामरूप दिल्ली का प्रस्ताव पास होने से पहले ही मैं तो कांग्रेस से निकल चुका था।...

मेरी आशा है कि मैंने जनता को यह साबित करने के लिए काफी मसाला दे दिया है कि राजाजी ने जो कुछ किया उसमें वीरता थी और वह करने का उन्हें अधिकार था। उसमें से जो गलती पैदा हुई उसके लिए जिम्मेदार मैं हूं।

जो अभिप्राय मैंने राजाजी के नई दिल्लीवाले प्रस्ताव के बारे में दिया है, वही मैं उनकी 'स्पोर्टिंग ऑफर' के बारे में भी रखता हूं। अगर पूना का प्रस्ताव ठीक मान लिया जाय तो फिर 'स्पोर्टिंग ऑफर' के बारे में शंका नहीं हो सकती। यह बात याद रखनी चाहिए कि मुस्लिम लीग एक बड़ी संस्था है और हिन्दुस्तान की मुस्लिम प्रजा के ऊपर उसका काफी प्रभाव है। कांग्रेस ने इससे पहले उससे काफी व्यवहार किया है, और मुझे ज़रा भी शक नहीं है कि वह फिर भी करेगी। हमारे हिसाब से कायदे आजम चाहे कितनी ही गलती पर क्यों न हों, हमें चाहिए कि जैसे हम खुद अपनी प्रामाणिकता के बारे में दावा करते हैं, वैसे ही उनकी प्रामाणिकता को भी कबूल करें। जब लड़ाई के बादल बिखर जायंगे और हिन्दुस्तान अपना आजादी का जन्मसिद्ध अधिकार पा लेगा, तब मुझे शक नहीं कि कांग्रेसी लोग किसी मुसलमान, सिख, ईसाई या पारसी को अपने प्रधान मन्त्री के तौर पर वैसे ही सहर्ष स्वीकार करेंगे जैसे कि एक हिन्दू को। इतना ही नहीं वह कांग्रेसी

न भी हो तो भी वैसे ही और किसी प्रकार के धर्म-वर्ण के भेद के बिना उसे आदर करेंगे। मुझे पूरा विश्वास है कि राजाजी की तजबीज का यही अर्थ था। आजकल की भड़की हुई रागद्वेषादि की ज्वाला जब ठंडी पड़ जायगी तब राजाजी के टीकाकार मेरे अभिप्राय को स्वीकार करेंगे। एक देशसेवक के बारे में गलत राय बना लेना उचित नहीं है और खास तौर पर जबकि वह राजाजी के दर्जे का देशसेवक हो। राजाजी के बारे में जो उल्टा मत बांधा गया है उससे उन्हें भले ही कुछ भी नुकसान न हुआ हो मगर कौम अपने सच्चे सेवकों के बारे में इस तरह उलटा और गलत अभिप्राय बांधकर अपने-आपको उनकी सेवा से जरूर वंचित करती है और अपने पांव पर कुल्हाड़ी मारती है। (ह० से०, २८.६.४०)

... ...

इसमें कोई शक नहीं कि राजाजी ने आज एक ऐसे काम को हाथ में लिया है, जिसकी वजह से वह अपने साथियों से जुदा पड़ गये हैं। मगर उनके सख्त-से-सख्त दुश्मन भी उनकी इस प्रवृत्ति में स्वार्थ के उद्देश्य का आरोप उनपर नहीं लगायेंगे। कार्य करने की उनकी शक्ति अद्भुत है। वह जिस चीज को हाथ में लेते हैं, उसीमें अपनेको डुबा देने की उनकी तबीयत है। आज जिस तरह वह अपने विचारों का प्रचार करने में जुट गये हैं, वह भी उनके इसी स्वभाव का सूचक हैं। उनकी अनन्यता और उत्साह सराहने योग्य है। इससे उनके प्रति हमारा आदर-भाव और भी बढ़ना चाहिए और वह जो कुछ कहें, उसे अदब के साथ हमें सुनना चाहिए। उनका उद्देश्य ऊंचे-से-ऊंचा है। हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयत्न एक उच्च वस्तु है और जापानियों के हमले से देश को बचा लेने का प्रयत्न भी उतनी ही ऊंची चीज है। उनकी राय में ये दोनों चीजें एक दूसरे के साथ गुंथी हुई हैं।

गुंडापन राजाजी की दलीलों का कोई जवाब नहीं। उनकी सभाओं में हुल्लड़बाजी करना घोर असहिष्णुता का एक चिह्न है। अगर हम दूसरे पक्ष को सुनने के लिए तैयार न हुए तो लोकतन्त्रवाद का विकास होना असम्भव है।...इसलिए उन तमाम लोगों से जो राजाजी की सभाओं में हुल्लड़बाजी करते हैं, मेरा नम्र निवेदन है कि वे आइन्दा ऐसा न करें; बल्कि उनकी बातों को वह उस ध्यान और धीरज से सुनें जिसके कि वह

योग्य हैं।

पाठक मेरी इस मान्यता को जानते हैं कि राजाजी गलती पर हैं। वह एक मिथ्या चीज का वातावरण पैदा कर रहे हैं। वह खुद पाकिस्तान को नहीं मानते और न वह राष्ट्रवादी मुसलमान या दूसरे लोग ही मानते हैं, जो अलग होने के अधिकार को स्वीकार करना चाहते हैं। परन्तु इन सब लोगों का कहना है कि मुस्लिम लीग से उसकी अलग होने की मांग छुड़वाने का यही एक रास्ता है। मुझे आश्चर्य होता है कि बहुत-से मुसलमान एक ऐसी स्वीकृति से खुश हो रहे हैं, जिसकी कुछ भी कीमत होने के बारे में शंका है।...अगर वह तमाम लोग, जो मानते हैं कि आज और हमेशा के लिए हिन्दुस्तान ही उनका वतन है, उसे उपस्थित संकट से और आगे सिर पर मंडराते हुए खतरे से बचाने में अपना पूरा हिस्सा अदा करें तो इन दोनों भयों के पूरी तरह मिट जाने के बाद वह समय आयेगा, जब हम पाकिस्तान की या दूसरे 'स्तानों' की भी बातें करेंगे और या तो सुलह और शान्ति के साथ या लड़कर इसका फैसला कर लेंगे। कोई तीसरा पक्ष हमारी किस्मत का फैसला नहीं कर सकता और न उसे इसका अधिकार ही है। इसका फैसला या तो दलील से होगा, या तलवार से। राजाजी का सराहनीय और देशभक्तिपूर्ण आग्रह अगर दूसरा कोई ऐसा रास्ता खोल दे जिसका खुद उन्हें या और किसीको भी ज्ञान नहीं तो बात दूसरी है। नहीं तो उनका तरीका हमें एक ऐसी अंधी गली में ले जाकर छोड़ेगा कि जिसमें न आगे जाने का रास्ता है और न पीछे हटने की गुंजाइश। मगर हमारे बीच इन बातों में मतभेद का कुछ भी नतीजा क्यों न हो, मेरी विनती तो आपसी सहिष्णुता और आदरभाव के लिए है। (ह० से०, ३१.५.४२)

... ...

राजाजी की माटुंगा (बम्बई) वाली सभा में जो हुल्लड़बाजी हुई, उसका विवरण पढ़ने से दिल को चोट पहुंचती है। क्या राजाजी अब किसी तरह के सम्मान के अधिकारी ही नहीं रहे, और सो भी इसलिए कि उन्होंने एक ऐसे विचार को अपनाया है, जो लोकमत के विरुद्ध जान पड़ता है? वह निमन्त्रण पाकर ही माटुंगा गये थे। जनता को उनकी बात शान्तिपूर्वक सुननी चाहिए थी। जो उनके विचारों से सहमत नहीं [illegible]

अनुपस्थित रह सकते थे; लेकिन सभा में शामिल होने के बाद तो उनका यह कर्तव्य था कि वे उनकी बात चुपचाप सुनें। हां, सभा समाप्त होने पर वे उनसे प्रश्न पूछ सकते थे और जिरह कर सकते थे। उनपर कोलतार छिड़कने और सभा में गड़बड़ी मचानेवालों ने अपने हाथों अपना अपमान किया है और अपने कार्य को हानि पहुंचाई है। उनका तरीका न तो स्वराज्य-प्राप्ति का तरीका है, न 'अखंड हिन्दुस्तान!' की स्थापना का तरीका है। आशा है, माटुंगा की यह बर्बरता, हुल्लड़बाजी अपने ढंग की आखिरी चीज होगी। इस अवसर पर, जो राजाजी की कसौटी का अवसर था, उन्होंने जिस दृढ़ता, खामोशी, खुशमिजाजी और हाजिर-जवाबी का परिचय दिया, वह उनके अनुरूप ही था। अपने इन गुणों के कारण राजाजी को नये अनुयायी चाहे न मिलें, उनके प्रशंसकों की संख्या तो बढ़ी ही होगी; क्योंकि जनता आम तौर पर किसी चर्चास्पद समस्या की तह में नहीं पैठा करती। वह तो स्वभाव से वीरपूजक होती है और राजाजी में वीरोचित गुणों की कमी कभी रही नहीं। (ह० से०, ५.७.४२)

... ...

पलनी से लौटते हुए श्री राजाजी और श्री गोपालस्वामी के खिलाफ एक खत मुझे दिया गया। उसमें यह भी लिखा था कि ये दोनों मेरे पास लोगों को नहीं आने देते, जिन्हें इनसे शिकायत है। मैं जानता हूं कि यह सच नहीं। तो भी जो मुझसे महत्त्व की बात करना या मुझे लिखना चाहे, उसे कोई भी रोक नहीं सकता। इस खत का मेरे पास पहुंचना ही यह प्रमाणित करता है। श्री कामराज नादर मेरे साथ स्पेशल रेल में थे। पलनी के मन्दिर में भी वह मेरे साथ रहे। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि यात्रा में राजाजी और गोपालस्वामी मेरे बहुत ही समीप थे। यात्रा का प्रबंध उन्होंने किया था राजाजी मेरे सबसे पुराने मित्रों में से हैं और कहा जाता था कि अपने जीवन में मेरे आदर्शों का पालन वह ही सबसे बढ़कर करते थे। मैं जानता हूं कि १९४२ में उनका मुझसे मतभेद हुआ। मेरे दिल में उनके लिए इस बात का आदर है कि उन्होंने खुली सभा में मेरा विरोध किया। वह बड़े समाज-सुधारक हैं और जो मानते हैं, उसे निडर होकर करते हैं। उनकी दयानतदारी और राजनैतिक बुद्धिमानी से कोई इन्कार

नहीं कर सकता। इसलिए दुःख की बात है कि उनके विरुद्ध आज एक गुट बन गया है और मद्रास के कांग्रेसी हल्कों में इस गुट का असर है। लेकिन आम जनता का प्रेम राजाजी के साथ है। मैं इतना मूर्ख या इतना घमंडी नहीं हूं कि यह न समझ पाऊं कि यात्रा के रास्ते में दर्शन के लिए जो जनता लाखों की संख्या में जमा हुई थी उसका कारण बहुत हद तक राजाजी का प्रभाव ही था। दक्षिण देश के कांग्रेसी वही करें, जो उनकी राय में ठीक हो, लेकिन मैं अपना कर्तव्य समझता हूं कि उन्हें चेतावनी दूं कि वह राजाजी की सेवा को इस वक्त हाथ से जाने न दें, क्योंकि दूसरा कोई उनकी तरह उसे कर नहीं सकेगा। (ह० से० १०.२.४६)

: १८५ :

राजेन्द्रप्रसाद

बृजकिशोरबाबू और राजेन्द्रबाबू की जोड़ी अद्वितीय थी। उन्होंने प्रेम से मुझे ऐसा अपंग बना दिया था कि उनके बिना मैं एक कदम भी आगे न रख सकता था। (आ० क०)

... ...

मेरे साथ काम करनेवालों में राजेन्द्रप्रसाद सबसे अच्छों में एक हैं। वह जब कभी चाहें मुझे सेवा के लिए बुला सकते हैं। हरिजन-कार्य उनका उतना ही है जितना मेरा और उसी तरह बिहार का काम मेरा उतना ही है जितना उनका; परंतु परमात्मा ने उन्हें बिहार की सहायता के लिए बुलाया है। ('देशपूज्य श्री राजेन्द्रप्रसाद')

... ...

यह पुस्तक पूरी तो मैं नहीं पढ़ सका हूं। लेकिन इतना जान सका हूं कि यह राजेन्द्रबाबू के जीवन का सरल वर्णन है। जांच करने पर मुझे प्रतीति हुई है कि इस पुस्तक में जो हकीकत दी गई है वह सच है, कोई अतिशयोक्ति नहीं है। राजेन्द्रबाबू के पवित्र चरित्र को पढ़कर कौन कृतार्थ नहीं होगा। ('देशपूज्य श्री राजेन्द्रप्रसाद')

राजेन्द्रबाबू हमारे उत्कृष्ट सहकारियों में से हैं।

('राष्ट्रवाणी,' ३.१२.४५)

... ...

राजेन्द्रबाबू का त्याग हमारे देश के लिए गौरव की वस्तु है। नेतृत्व के लिए इन्हींके समान आचरण चाहिए। राजेन्द्रबाबू का जैसा विनम्रतापूर्वक व्यवहार है और प्रभाव है वैसा कहीं भी किसी भी नेता का नहीं है।

('राष्ट्रवाणी')

: १८६ :

महादेव गोविन्द रानडे

जैसा कि स्व० गोखले कहा करते थे, रानडे की तीक्ष्ण दृष्टि से एक भी चीज नहीं बची थी और जिस चीज से उनके देशवासियों को यत्किंचित् भी लाभ पहुंच सकता था, उसे उन्होंने कभी अपने मन में नगण्य नहीं समझा। (ह० से०, २७.६.३५)

: १८७ :

रमाबाई रानडे

रमाबाई रानडे का नाम जितना दक्षिण में प्रसिद्ध है उतना हिंदुस्तान में नहीं। इस देवी ने स्वर्गीय न्यायमूर्ति रानडे के नाम को सुशोभित कर दिया है। उनकी मृत्यु से हिंदू-संसार की बड़ी हानि हुई है।

रमाबाई ने अपने वैधव्य को जिस प्रकार सुशोभित किया है उस प्रकार बहुत कम बहनों ने किया होगा। पूना के सेवासदन में एक हजार लड़कियां और स्त्रियां अनेक प्रकार की शिक्षा प्राप्त करती हैं। यह सेवासदन आज जिस गौरव को प्राप्त हुआ है वह रमाबाई की अनन्य भक्ति के बिना उसे कभी न प्राप्त हो पाता। रमाबाई ने एक ही कार्य के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया था।

वैधव्य का अर्थ ही है अनन्य भक्ति। पातिव्रत के मानी हैं शुद्ध वफा-

दारी। मामूली वफादारी का संबंध देह के साथ है। अतएव देह के साथ ही उसका अन्त हो जाता है। वैधव्य में जो वफादारी है वह आत्मा के प्रति है। वैधव्य को धर्म-स्थान देकर हिंदूधर्म ने यह सिद्ध कर दिया है कि विवाह वास्तव में शरीर का नहीं, बल्कि आत्मा का होता है। रमाबाई ने रानडे की आत्मा के साथ विवाह किया था। अतएव उन्होंने उस आत्म-संबंध को अखंडित रखा। और इसीलिए रमाबाई ने उन कामों में, जो रानडे को प्रिय थे, अपने से होने लायक एक काम को उठा लिया है और उसमें अपना सर्वस्व लगाकर वैधव्य का पूरा अर्थ समाज को समझाया। ऐसा करके रमाबाई ने स्त्री-जाति की भारी सेवा की है। जब मैं सासून अस्पताल में था तब कर्नल मैडक ने मुझसे कहा था कि अच्छी हिंदुस्तानी दाई केवल इसी अस्पताल में शिक्षा पाती है। ये तमाम दाइयां सेवासदन के द्वारा तैयार होती हैं और उनकी मांग सारे हिंदुस्तान से आती है। विधवाएं यदि कार्य-क्षेत्र में उतरें तो अच्छे काम करने के अनेक स्थान उनके लिए हैं। केवल चरखे का ही काम इतना है कि वह सैकड़ों विधवाओं का सारा समय ले सकता है। और वह अनुभव किस विधवा को नहीं हुआ कि चरखा गरीबों का रखवाला है! यह तो मैंने एक ऐसा काम सुझाया जो सर्व-व्यापक और परम कल्याणकारी है। ऐसे अनेक काम हैं, जिनमें धनिक विधवाएं गरीब विधवाओं तथा अन्य बहनों को तैयार करने में अपना समय लगा सकती हैं। (हि० न० ४.५.२४)

: १८८ :

श्रीमद् राजचन्द्रभाई

मेरे जीवन पर श्रीमद् राजचन्द्रभाई का ऐसा स्थायी प्रभाव पड़ा है कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता। उनके विषय में मेरे गहरे विचार हैं। मैं कितने ही वर्षों से भारत में धार्मिक पुरुषों की शोध में हूं, परंतु मैंने ऐसा धार्मिक पुरुष भारत में अबतक नहीं देखा, जो श्रीमद् राजचन्द्रभाई के साथ प्रतिस्पर्धा कर सके। उनमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति थी, ढोंग, पक्षपात या राग-द्वेष न थे। उनमें एक ऐसी महान् शक्ति थी जिसके द्वारा वह प्राप्त

हुए प्रसंग का पूर्ण लाभ उठा सकते थे। उनके लेख अंग्रेज तत्वज्ञानियों की अपेक्षा भी विचक्षण, भावनामय और आत्मदर्शी हैं। यूरोप के तत्व-ज्ञानियों में मैं टाल्स्टाय को पहली श्रेणी का और रस्किन को दूसरी श्रेणी का विद्वान् समझता हूं, परन्तु श्रीमद् राजचन्द्रभाई का अनुभव इन दोनों से भी बढ़ा-चढ़ा था। इन महापुरुषों के जीवन के लेखों को अवकाश के समय पढ़ेंगे तो आपपर उनका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ेगा। वह प्राय: कहा करते थे कि मैं किसी बाड़े का नहीं हूं और न किसी बाड़े में रहना ही चाहता हूं। यह सब तो उपधर्म—मर्यादित—हैं और धर्म तो असीम है कि जिसकी व्याख्या हो ही नहीं सकती। यह अपने जवाहरात के धंधे से विरक्त होते कि तुरन्त पुस्तक हाथ में लेते। यदि उनकी इच्छा होती तो उनमें ऐसी शक्ति थी कि वह एक अच्छे प्रतिभाशाली वैरिस्टर, जज या वाइसराय हो सकते थे। यह अतिशयोक्ति नहीं, किन्तु मेरे मन पर उनकी छाप है। इनकी विचक्षणता दूसरे पर अपनी छाप लगा देती थी।

(राजचन्द्र-जयन्ती, अहमदाबाद में सभापति-पद से दिया गया भाषण)

... ...

मेरे जीवन पर मुख्यता से श्रीमद् राजचन्द्र की छाप पड़ी है। महात्मा टाल्स्टाय और रस्किन की अपेक्षा भी श्रीमद् राजचन्द्र ने मुझपर गहरा प्रभाव डाला है। (राजचन्द्र-जयन्ती, बढवाण के भाषण से)

... ...

जिनका पुण्य-स्मरण करने के लिए हम लोग आये हुए हैं, उनके हम लोग पुजारी हैं। मैं भी उनका पुजारी हूं।

वह दया, धर्म की मूर्ति थे। उन्होंने दया-धर्म समझा था और उसे अपने जीवन में उतारा था।

मैंने यह बहुत बार कहा और लिखा है कि मैंने अपने जीवन में बहुतों से बहुत-कुछ ग्रहण किया है। पर सबसे अधिक यदि मैंने किसीके जीवन में से ग्रहण किया हो तो वह कविश्री (श्रीमद् राजचन्द्र) के जीवन में से ग्रहण किया है। दया-धर्म भी मैंने उन्हींके जीवन में से सीखा है।

बहुत-से प्रसंगों में तो हमें जड़ होकर वैसी ही प्रवृत्ति करनी चाहिए। शुद्ध जड़ और चैतन्य में भेद नहीं के बराबर है। सारा जगत जड़रूप ही

देख पड़ता है। आत्मा तो कभी क्वचित् ही प्रकाशित होता है। ऐसा व्यवहार अलौकिक पुरुषों का होता है और यह मैंने देखा है कि ऐसा व्यवहार श्रीमद् राजचन्द्रभाई का था।

वह बहुत बार कहा करते थे कि मेरे शरीर में चारों ओर से कोई बरछी भोंक दे तो मैं उसे सह सकता हूं, पर जगत में झूठ, पाखंड, अत्याचार चल रहा है, धर्म के नाम से जो अधर्म हो रहा है उसकी बरछी मुझसे सही नहीं जाती। अत्याचारों से उन्हें अकुलाते मैंने बहुत बार देखा है। वह सारे जगत को अपने कुटुम्ब के जैसा समझते थे। अपने भाई या बहन की मौत से जितना दुःख हमें होता है उतना ही दुःख उन्हें संसार में दुःख और मृत्यु देखकर होता था।...

राजचन्द्रभाई का शरीर जो इतनी छोटी उम्र में छूट गया इसका कारण भी मुझे यही जान पड़ता है। यह ठीक है कि उनके शरीर में दर्द घर किये हुए था, पर जगत के ताप का जो दर्द उन्हें था वह उनके लिए असह्य था। उनके देह में केवल शारीरिक ही दर्द होता तो उसे उन्होंने अवश्य जीत लिया होता, पर उन्हें तो जान पड़ा कि ऐसे विषम काल में आत्म-दर्शन कैसे हो सकता है, यह दया-धर्म की निशानी है।

वह कहा करते थे कि जैनधर्म श्रावकों के हाथों में न गया होता तो इसके तत्वों को देखकर जगत चकित हो जाता। ये बनिये लोग तो जैन-धर्म को गंदला कर रहे हैं। ये लोग कीड़ी नगरा पूरते हैं। मुंह में कभी मच्छर चला जाय तो इन्हें दुःख होता है। ऐसी छोटी-छोटी धर्म-क्रियाओं को ये लोग पालते हैं। यह धर्म-क्रिया का पालन इनके लिए अच्छा है, पर जो लोग यह समझते हैं कि ऐसी क्रियाओं का पालन ही धर्म की परिसीमा है वे धर्म की नीची-से-नीची श्रेणी में ही हैं। यह धर्म पतितों का है, पुण्य-वानों का नहीं है। इसीपर से बहुत-से श्रावक कहते हैं कि राजचन्द्र को धर्म का मान नहीं था। वह दंभी थे, अहंकारी थे। पर मैं खुद तो जानता हूं कि दंभ या अहंकार का उनमें नाम भी न था।

(राजचन्द्र-जयन्ती, अहमदाबाद में दिया गया भाषण १५.११.२१)

... ...

बम्बई-बन्दर पर समुद्र क्षुब्ध था। जून-जुलाई में हिंद-महासागर में यह

कोई नई बात नहीं होती। अदन से ही समुद्र का यह हाल था। सब लोग बीमार पड़ गये थे—अकेला मैं मौज में रहा था। तूफान देखने के लिए डेक पर रहता और भीग भी जाता।

माताजी के दर्शन करने के लिए मैं अधीर हो रहा था। जब हम डेक पर पहुंचे तो मेरे बड़े भाई वहां मौजूद थे। उन्होंने डाक्टर मेहता तथा उनके बड़े भाई से जान-पहचान कर ली थी। डाक्टर चाहते थे कि मैं उन्हींके घर ठहरूं, सो वह मुझे वहीं लिवा ले गये। इस तरह विलायत में जो सम्बन्ध बंधा था वह देश में भी कायम रहा। यही नहीं, बल्कि अधिक दृढ़ होकर दोनों परिवारों में फैला।...

डाक्टर मेहता ने अपने घर के जिन लोगों से परिचय कराया, उनमें से एक का जिक्र यहां किये बिना नहीं रह सकता। उनके भाई रेवाशंकर जगजीवन के साथ तो जीवन भर के लिए स्नेह-गांठ बंध गई; परन्तु जिसकी बात मैं कहना चहता हूं वह तो हैं कवि रायचन्द अथवा राजचन्द्र। वह डाक्टरसाहब के बड़े भाई के दामाद थे और रेवाशंकर जगजीवन की दूकान के भागीदार तथा कार्यकर्ता थे। उनकी अवस्था उस समय २५ वर्ष से अधिक न थी। फिर भी पहली ही मुलाकात में मैंने यह देख लिया कि वह चरित्रवान् और ज्ञानी थे। वह शतावधानी माने जाते थे। डाक्टर मेहता ने कहा कि इनके शतावधान का नमूना देखना। मैंने अपने भाषा-ज्ञान का भंडार खाली कर दिया और कविजी ने मेरे कहे तमाम शब्दों को उसी नियम से कह सुनाया, जिस नियम से मैंने कहा था। इस सामर्थ्य पर मुझे ईर्ष्या तो हुई; किन्तु उसपर मैं मुग्ध न हो पाया। जिस चीज पर मैं मुग्ध हुआ उसका परिचय तो मुझे पीछे जाकर हुआ। वह था उनका विशाल शास्त्र-ज्ञान, उनका निर्मल चरित्र और आत्म-दर्शन करने की उनकी भारी उत्कंठा। मैंने आगे चलकर तो यह भी जाना कि केवल आत्म-दर्शन करने के लिए वह अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे।

हसतां रमतां प्रगट हरि देखूं रे
मारुं जीव्युं सफल तव लेखूं रे;
मुक्तानंद नो नाथ विहारी रे

ओघा जीवनदोरी अमारी रे।[1]

मुक्तानन्द का यह वचन उनकी जबान पर तो रहता ही था; पर उनके हृदय में अंकित हो रहा था।

खुद हजारों का व्यापार करते, हीरे-मोती की परख करते, व्यापार की गुत्थियां सुलझाते, पर वह बातें उनका विषय न थीं। उनका विषय, उनका पुरुषार्थ तो आत्म-साक्षात्कार—हरिदर्शन—था। दुकान पर और कोई चीज हो या न हो, एक-न-एक धर्म-पुस्तक और डायरी जरूर रहा करती। व्यापार की बात जहां खतम हुई कि धर्म-पुस्तक खुलती अथवा रोजनामचे पर कलम चलने लगती। उनके लेखों का संग्रह गुजराती में प्रकाशित हुआ है। उसका अधिकांश इस रोजनामचे के ही आधार पर लिखा गया है। जो मनुष्य लाखों के सौदे की बात करके तुरन्त आत्मज्ञान की गूढ़ बातें लिखने बैठ जाता है वह व्यापारी की श्रेणी का नहीं, बल्कि शुद्ध ज्ञानी की कोटि का है। उनके सम्बन्ध में यह अनुभव मुझे एक बार नहीं, अनेक बार हुआ है। मैंने उन्हें कभी गाफिल नहीं पाया। मेरे साथ उनका कुछ स्वार्थ न था। मैं उनके बहुत निकट समागम में आया हूं। मैं उस वक्त एक ठलुवा बैरिस्टर था। पर जब मैं उनकी दूकान पर पहुंच जाता तो वह धर्म-वार्ता के सिवा दूसरी कोई बात न करते। इस समय तक मैं अपने जीवन की दिशा न देख पाया था। यह भी नहीं कह सकते कि धर्म-वार्ताओं में मेरा मन लगता था। फिर भी मैं कह सकता हूं कि राजचन्द्रभाई की धर्म-वार्ता मैं चाव से सुनता था। उनके बाद मैं कितने ही धर्माचार्यों के सम्पर्क में आया हूं, प्रत्येक धर्म के आचार्यों से मिलने का मैंने प्रयत्न भी किया है; पर जो छाप मेरे दिल पर राजचन्द्रभाई की पड़ी, वह किसीकी न पड़ सकी। उनकी कितनी ही बातें मेरे ठेठ अन्तस्तल तक पहुंच जाती। उनकी बुद्धि को मैं आदर की दृष्टि से देखता था। उनकी प्रामाणिकता पर भी मेरा उतना ही आदर-भाव था और इसमें मैं जानता था कि वह जान-बूझकर उल्टे रास्ते नहीं ले जायंगे एवं मुझे वही बात कहेंगे, जिसे वह अपने जी में ठीक समझते होंगे। इस कारण मैं अपनी आध्यात्मिक कठिनाइयों में उनकी सहायता लेता।

---

[1] भावार्थ यह कि मैं अपना जीवन तभी सफल समझूंगा, जब मैं हँसते-खेलते ईश्वर को अपने सामने देखूंगा। निश्चयपूर्वक वही मुक्तानन्द की जीवन-डोरी है।—अनु०

रायचन्दभाई के प्रति इतना आदर-भाव रखते हुए भी मैं उन्हें धर्म-गुरु का स्थान अपने हृदय में न दे सका। धर्म-गुरु की तो खोज मेरी अब-तक चल रही है।

हिन्दू-धर्म में गुरुपद को जो महत्त्व दिया गया है उसे मैं मानता हूं। 'गुरु बिन होत न ज्ञान' यह वचन बहुतांश में सच है, अक्षर-ज्ञान देनेवाला शिक्षक यदि अधकचरा हो तो एक बार काम चल सकता है, परन्तु आत्म-दर्शन करनेवाले अधूरे शिक्षक से हरगिज काम नहीं चलाया जा सकता।...

इसीलिए रायचन्दभाई को मैं यद्यपि अपने हृदय का स्वामी न बना सका, तथापि हम लोग आगे चलकर देखेंगे कि उनका सहारा मुझे समय-समय पर कैसा मिलता रहता है। यहां तो इतना ही कहना बस होगा कि मेरे जीवन पर गहरा असर डालनेवाले तीन आधुनिक मनुष्य हैं—रायचंद-भाई ने अपने सजीव संसर्ग से, टॉल्स्टाय ने 'स्वर्ग तुम्हारे हृदय में है' नामक पुस्तक द्वारा तथा रस्किन ने 'अनटु दिस लास्ट'—'सर्वोदय' नामक पुस्तक से मुझे चकित कर दिया है। (आ० क०, १९२७)

... ...

ईसा को मैं त्यागी, महात्मा, दैवी शिक्षक मान सकता था; परन्तु एक अद्वितीय पुरुष नहीं। ईसा की मत्यु से संसार को एक भारी उदाहरण मिला, परन्तु उसकी मृत्यु में कोई गुह्य चमत्कार-प्रभाव था, इस बात को मेरा हृदय न मान सकता था। ईसाइयों के पवित्र जीवन में से मुझे कोई ऐसी बात न मिली जो दूसरे धर्मवालों के जीवन में न मिलती थी। उनकी तरह दूसरे धर्मवालों के जीवन में भी परिवर्तन होता हुआ मैंने देखा था। सिद्धांत की दृष्टि से ईसाई-सिद्धांतों में मुझे अलौकिकता न दिखाई दी। त्याग की दृष्टि से हिन्दू-धर्मवालों का त्याग मुझे बढ़कर मालूम हुआ। अतः ईसाई-धर्म को मैं सम्पूर्ण अथवा सर्वोपरि धर्म न मान सका।

अपना यह हृदय-मंथन मैंने, समय पाकर, ईसाई मित्रों के सामने रखा। उसका जवाब वह सन्तोषजनक न दे सके।

परन्तु एक ओर जहां मैं ईसाई-धर्म को ग्रहण न कर सका वहां दूसरी ओर हिन्दू-धर्म की सम्पूर्णता अथवा सर्वोपरिता का भी निश्चय मैं इस समय तक न कर सका। हिन्दू-धर्म की त्रुटियां मेरी आंखों के सामने घूमा करतीं।

अस्पृश्यता यदि हिन्दू-धर्म का अंग हो तो वह मुझे सड़ा हुआ अथवा बढ़ा हुआ मालूम हुआ। अनेक सम्प्रदायों और जात-पांत का अस्तित्व मेरी समझ में न आया। वेद ही ईश्वर-प्रणीत है, इसका क्या अर्थ ? वेद यदि ईश्वर-प्रणीत है तो फिर कुरान और बाइबिल क्यों नहीं ?

जिस प्रकार ईसाई मित्र मुझपर असर डालने का उद्योग कर रहे थे; उसी प्रकार मुसलमान मित्र भी कोशिश कर रहे थे। अब्दुल्ला सेठ मुझे इस्लाम का अध्ययन करने के लिए ललचा रहे थे। उसकी खूबियों की चर्चा तो वह हमेशा करते रहते।

मैंने अपनी दिक्कतें रायचन्दभाई को लिखीं। हिन्दुस्तान में दूसरे धर्म-शास्त्रियों से भी पत्र-व्यवहार किया। उनके उत्तर भी आये; परन्तु रायचन्दभाई के पत्र ने मुझे कुछ शांति दी। उन्होंने लिखा कि धीरज रखो और हिन्दू-धर्म का गहरा अध्ययन करो। उनके एक वाक्य का भावार्थ यह था—"हिन्दू-धर्म में जो सूक्ष्म और गूढ़ विचार हैं, जो आत्मा का निरीक्षण है, दया है, वह दूसरे धर्म में नहीं है—निष्पक्ष होकर विचार करते हुए मैं इस परिणाम पर पहुंचा हूं।"

...मेरा अध्ययन मुझे ऐसी दिशा में ले गया जिसे ईसाई मित्र न चाहते थे। एडवर्ड मेटलैंड के साथ मेरा पत्र-व्यवहार काफी समय तक रहा। कवि (रायचन्द) के साथ तो अन्त तक रहा। उन्होंने कितनी ही पुस्तकें भेजीं। उन्हें भी पढ़ गया। उनमें 'पंचीकरण', 'मणिरत्न माला', 'योगवाशिष्ठ' का मुमुक्षु-प्रकरण, हरिभद्र सूरि का 'षड्‌दर्शन समुच्चय' इत्यादि थे।

(आ० क० १९२७)

... ...

मैं जिनके पवित्र संस्मरण लिखना आरम्भ करता हूं, उन स्वर्गीय राजचन्द्र की आज जन्मतिथि है। कार्तिक पूर्णिमा संवत् १९७९ को उनका जन्म हुआ था। मैं कुछ यहां श्रीमद् राजचन्द्र का जीवन-चरित नहीं लिख रहा हूं। यह कार्य मेरी शक्ति के बाहर है। मेरे पास सामग्री भी नहीं। उनका यदि मुझे जीवन-चरित लिखना हो तो मुझे चाहिए कि मैं उनकी जन्मभूमि ववाणीआ बन्दर में कुछ समय बिताऊं, उनके रहने का मकान देखूं, उनके खेलने-कूदने के स्थान देखूं, उनके बाल-मित्रों से मिलूं, उनकी

पाठशाला में जाऊं, उनके मित्रों, अनुयायियों और सगे-सम्बन्धियों से मिलूं और उनसे जानने योग्य बातें जानकर ही फिर कहीं लिखना आरम्भ करूं। परन्तु इनमें से मुझे किसीभी बात का परिचय नहीं।

इतना ही नहीं, मुझे संस्मरण लिखने की अपनी शक्ति और योग्यता के विषय में भी शंका है। मुझे याद है, मैंने कई बार ये विचार प्रकट किये हैं कि अवकाश मिलने पर उनके संस्मरण लिखूंगा। एक शिष्य ने जिनके लिए मुझे बहुत मान है, ये विचार सुने और मुख्य रूप से यहां उन्हींके संतोष के लिए यह लिखा है। श्रीमद् राजचन्द्र को मैं 'रायचन्दभाई' अथवा 'कवि' कहकर प्रेम और मानपूर्वक सम्बोधन करता था। उनके संस्मरण लिखकर उनका रहस्य मुमुक्षुओं के समक्ष रखना मुझे अच्छा लगता है। इस समय तो मेरा प्रयास केवल मित्रों के संतोष के लिए है। उनके संस्मरणों के साथ न्याय करने के लिए मुझे जैन-मार्ग का अच्छा परिचय होना चाहिए। मैं स्वीकार करता हूं कि वह मुझे नहीं है। इसलिए मैं अपना दृष्टि-बिन्दु अत्यन्त संकुचित रखूंगा। उनके जिन संस्मरणों की मेरे जीवन पर छाप पड़ी है, उनके नोट्स और उनसे जो मुझे शिक्षा मिली है, इस समय उसे ही लिखकर मैं संतोष मानूंगा। मुझे आशा है कि उनसे जो लाभ मुझे मिला है वह या वैसा ही लाभ उन संस्मरणों के पाठक मुमुक्षुओं को भी मिलेगा।

मुमुक्षु शब्द का मैंने यहां जान-बूझकर प्रयोग किया है। सब प्रकार के पाठकों के लिए यह प्रयास नहीं।

मेरे ऊपर तीन पुरुषों ने गहरी छाप डाली है: टॉल्स्टाय, रस्किन और रायचन्दभाई। टाल्स्टाय ने अपनी पुस्तकों द्वारा और उनके साथ थोड़े पत्र-व्यवहार से, रस्किन ने अपनी एक ही पुस्तक 'अनटु दिस लास्ट' से, जिसका गुजराती नाम मैंने 'सर्वोदय' रखा है और रायचन्दभाई ने अपने साथ गाढ़ परिचय से। जब मुझे हिन्दू-धर्म में शंका पैदा हुई उस समय उसके निवारण करने में मदद करनेवाले रायचन्दभाई थे। सन १८९३ में दक्षिण अफ्रीका में मैं क्रिश्चियन सज्जनों के विशेष सम्पर्क में आया। उनका जीवन स्वच्छ था। वे चुस्त धर्मात्मा थे। अन्य धर्मियों को क्रिश्चियन होने के लिए समझाना उनका मुख्य व्यवसाय था। यद्यपि मेरा और उनका सम्बन्ध व्याव-[illegible] उन्होंने मेरी आत्मा के कल्याण के

लिए चिन्ता करना शुरू कर दिया। उस समय मैं अपना एक ही कर्त्तव्य समझ सका कि जबतक मैं हिन्दू-धर्म के रहस्य को पूरी तौर से न जान लूं और उससे मेरी आत्मा को असंतोष न हो जाय तबतक मुझे अपना कुल-धर्म कभी न छोड़ना चाहिए। इसलिए मैंने हिन्दू-धर्म और अन्य धर्मों की पुस्तकें पढ़ना शुरू कर दीं। क्रिश्चियन और मुसलमानी पुस्तकें पढ़ीं। विलायत के अंग्रेज मित्रों के साथ पत्र-व्यवहार किया। उनके समक्ष अपनी शंकाएं रखीं तथा हिन्दुस्तान में जिनके ऊपर मुझे कुछ भी श्रद्धा थी उनसे पत्र-व्यवहार किया। उनमें रायचन्दभाई मुख्य थे। उनके साथ तो मेरा अच्छा सम्बन्ध हो चुका था। उनके प्रति मान भी था। इसलिए जो मिल सके उनसे लेने का मैंने विचार किया। उसका फल यह हुआ कि मुझे शांति मिली। हिन्दू-धर्म में मुझे जो चाहिए वह मिल सकता है, ऐसा मन को विश्वास हुआ। मेरी इस स्थिति के जवाबदार रायचन्दभाई हुए। इससे मेरा उनके प्रति कितना अधिक मान होना चाहिए, इसका पाठक लोग कुछ अनुमान कर सकते हैं।

इतना होने पर भी मैंने उन्हें धर्म-गुरु नहीं माना। धर्म-गुरु की तो मैं खोज किया ही करता हूं। और अबतक मुझे सबके विषय में यही जवाब मिला है कि ये नहीं। ऐसा सम्पूर्ण गुरु प्राप्त करने के लिए तो अधिकार चाहिए। वह मैं कहां से लाऊं?

... ...

रायचन्दभाई के साथ मेरी भेंट जुलाई सन् १८९१ में उस दिन हुई जब मैं विलायत से बम्बई वापस आया। इन दिनों समुद्र में तूफान आया करता है, इस कारण जहाज रात को देरी में पहुंचा। मैं डाक्टर—बैरिस्टर—और अब रंगून के प्रख्यात झवेरी प्राण जीवनदास मेहता के घर उतरा था। राय-चन्दभाई उनके बड़े भाई के जमाई होते थे। डाक्टरसाहब ने ही परिचय कराया। उनके दूसरे बड़े भाई झवेरी रेवाशंकर जगजीवनदास की पहचान भी उसी दिन हुई। डाक्टरसाहब ने रायचन्दभाई का 'कवि' कहकर परि-चय कराया और कहा, "कवि होते हुए भी आप हमारे साथ व्यापार में हैं। आप ज्ञानी और शतावधानी हैं।" किसीने सूचना की कि मैं उन्हें कुछ शब्द सुनाऊं और वे शब्द चाहे किसीभी भाषा के हों, जिस क्रम से मैं बोलूंगा

उसी क्रम से वह दुहरा जायंगे। मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ। मैं तो उस समय जवान और विलायत से लौटा था। मुझे भाषा-ज्ञान का भी अभिमान था। मुझे विलायत की हवा भी कुछ कम न लगी थी। उन दिनों विलायत से आया मानों आकाश से उतरा। मैंने अपना समस्त ज्ञान उलट दिया। और अलग-अलग भाषाओं के शब्द पहले तो मैंने लिख लिये; क्योंकि मुझे वह क्रम कहां याद रहनेवाला था और बाद में उन शब्दों को मैं बांच गया। उसी क्रम से रायचन्दभाई ने धीरे-से एक के बाद एक सब शब्द कह-सुनाये। मैं राजी हुआ, चकित हुआ और कवि की स्मरण-शक्ति के विषय में मेरा उच्च विचार हुआ। विलायत की हवा कम पड़ने के लिए कहा जा सकता है कि यह सुन्दर अनुभव हुआ।

कवि को अंग्रेजी ज्ञान बिल्कुल न था। उस समय उनकी उम्र पच्चीस से अधिक न थी। गुजराती पाठशाला में भी उन्होंने थोड़ा ही अभ्यास किया था। फिर भी इतनी शक्ति, इतना ज्ञान और आस-पास से इतना उनका मान! इससे मैं मोहित हुआ। स्मरण-शक्ति पाठशाला में नहीं बिकती और ज्ञान भी पाठशाला के बाहर, यदि इच्छा हो—जिज्ञासा हो—तो मिलता तथा मान पाने को विलायत अथवा कहीं भी नहीं जाना पड़ता परन्तु गुण को मान चाहिए तो मिलता है—यह पदार्थ-पाठ मुझे बम्बई उतरते ही मिला।

कवि के साथ यह परिचय बहुत आगे बढ़ा। स्मरण-शक्ति बहुत लोगों की तीव्र होती है, इसमें आश्चर्य की कुछ बात नहीं। शास्त्रज्ञान भी बहुतों में पाया जाता है; परन्तु यदि वे लोग संस्कारी न हों तो उनके पास फूटी कौड़ी भी नहीं मिलती। जहां संस्कार अच्छे होते हैं वहीं स्मरण-शक्ति और शास्त्रज्ञान सम्बन्ध शोभित होता है और जगत को शोभित करता है। कवि संस्कारी ज्ञानी थे।

... ...

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे, क्यारे थईशुं बाह्यांतर निर्ग्रंथ जो,
सर्व संबंधनुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने, विचरशुं कव महत्पूरुष ने पंथ जो ?
सर्व भाव थी औदासीन्य वृत्ति करी, मात्र देश ते संयमहेतु होय जो,
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहि, देहे पण किंचित् मूर्छा नव जोय जो...
अपूर्व०

रायचंदभाई की १८ वर्ष की उमर के निकले हुए अपूर्व उद्गारों की ये पहली दो कड़ियां हैं।

जो वैराग्य इन कड़ियों में झलक रहा है, वह मैंने उनके दो वर्ष के गाढ़ परिचय से प्रत्येक क्षण में देखा है। उनके लेखों की एक असाधारणता यह है कि उन्होंने स्वयं जो अनुभव किया वही लिखा है। उसमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं। दूसरे के ऊपर छाप डालने के लिए उन्होंने एक लाइन भी लिखी हो, वह मैंने नहीं देखा। उनके पास हमेशा कोई-न-कोई धर्मपुस्तक और एक कोरी कापी पड़ी ही रहती थी। इस कापी में वह अपने मन में जो विचार आते उन्हें लिख लेते थे। ये विचार कभी गद्य में और कभी पद्य में होते थे। इसी तरह 'अपूर्व अवसर' आदि पद भी लिखा हुआ होना चाहिए।

खाते, बैठते, सोते और प्रत्येक क्रिया करते हुए उनमें वैराग्य तो होता ही था। किसी समय उन्हें इस जगत् के किसी भी वैभव पर मोह हुआ हो, यह मैंने नहीं देखा।

उनका रहन-सहन मैं आदरपूर्वक परंतु सूक्ष्मता से देखता था। भोजन में जो मिले वह उसीसे संतुष्ट रहते थे। उनकी पोशाक सादी थी। कुर्ता, अंगरखा, खेस, सिल्क का दुपट्टा और धोती यही उनकी पोशाक थी तथा ये भी कुछ-बहुत साफ या इस्तरी किये हुए रहते हों, यह मुझे याद नहीं। जमीन पर बैठना और कुरसी पर बैठना उन्हें दोनों ही समान थे। सामान्य रीति से दुकान में वह गद्दी पर बैठते थे।

उनकी चाल धीमी थी और देखनेवाला समझ सकता था कि चलते हुए भी वह अपने विचार में मग्न हैं। आंखों में उनके चमत्कार था। वह अत्यन्त तेजस्वी थे। विह्वलता ज़रा भी न थी। आंखों में एकाग्रता चित्रित थी। चेहरा गोलाकार, होंठ पतले, नाक न नोकदार न चपटी, शरीर दुर्बल, कद मध्यम, वर्ण श्याम और देखने में वह शांतिमूर्ति थे। उनके कंठ में इतना अधिक माधुर्य था कि उन्हें सुननेवाले थकते न थे। उनका चेहरा हँसमुख और प्रफुल्लित था। उसके ऊपर अंतरानंद की छाया थी। भाषा उनकी इतनी परिपूर्ण थी कि उन्हें अपने विचार प्रकट करते समय कभी कोई शब्द ढूंढना पड़ा हो, यह मुझे याद नहीं। पत्र लिखने बैठते तो शायद ही शब्द बदलते हुए मैंने उन्हे देखा होगा। फिर भी पढ़नेवाले को यह न

मालूम होता था कि कहीं विचार अपूर्ण हैं अथवा वाक्य-रचना त्रुटिपूर्ण है, अथवा शब्दों के चुनाव में कमी है।

यह वर्णन संयमी के विषय में संभव है। बाह्याडंबर से मनुष्य वीत-रागी नहीं हो सकता। वीतरागता आत्मा की प्रसादी है। यह अनेक जन्मों के प्रयत्न से मिल सकती है, ऐसा हर मनुष्य अनुभव कर सकता है। रोगों को निकालने का प्रयत्न करनेवाला जानता है कि राग-रहित होना कितना कठिन है। यह राग-रहित दशा कवि की स्वाभाविक थी, ऐसी मेरे ऊपर छाप पड़ी थी।

मोक्ष की प्रथम सीढ़ी वीतरागता है। जबतक जगत की एक भी वस्तु में मन रमा है तबतक मोक्ष की बात कैसे अच्छी लग सकती है। अथवा अच्छी लगती भी हो तो केवल कानों को ही, ठीक वैसे ही जैसे कि हमें अर्थ के समझे बिना किसी संगीत का केवल स्वर ही अच्छा लगता है। ऐसी केवल कर्णप्रिय क्रीड़ा में से मोक्ष का अनुसरण करनेवाले आचरण के आने में बहुत समय बीत जाता है। आन्तर वैराग्य के विना मोक्ष की लगन नहीं होती। ऐसी वैराग्य की लगन कवि में थी।

... ...

वणिक तेहनुं नाम जेह जूठूं नव बोले,
वणिक तेहनु नाम, तोल ओछुं नव तोले,
वणिक तेहनुं नाम बापे बोल्युं तपाले,
वणिक तेहनुं नाम व्याजसहित धन वाले,
विवेक तोल ए वणिकनुं, सुलतान तोल ए शाव छे,
वेपार चूके जो वाणीओ, दु:ख दावानल थाय छे।

——सामल भट्ट

समान्य मान्यता ऐसी है कि व्यवहार अथवा व्यापार और परमार्थ अथवा धर्म ये दोनों अलग-अलग विरोधी वस्तुएं हैं। व्यापार में धर्म को घुसेड़ना पागलपन है। ऐसा करने से दोनों बिगड़ जाते हैं। यह मान्यता यदि मिथ्या न हो तो अपने भाग्य में केवल निराशा ही लिखी है, क्योंकि ऐसी एक भी वस्तु नहीं, ऐसा एक भी व्यवहार नहीं जिससे हम धर्म को अलग रख सकें।

धार्मिक मनुष्य का धर्म उसके प्रत्येक कार्य में झलकना ही चाहिए, यह रायचन्दभाई ने अपने जीवन में बताया था। धर्म कुछ एकादशी के दिन ही, पर्यूषण में ही, ईद के दिन ही, या रविवार के दिन ही पालना चाहिए, अथवा उसका पालन मंदिरों में, देरासरों में और मस्जिदों में ही होता है और दूकान या दरबार में नहीं होता, ऐसा कोई नियम नहीं। इतना ही नहीं, परन्तु यह कहना धर्म को न समझने के बराबर है, यह रायचन्दभाई कहते, मानते और अपने आचार में बताते थे।

उनका व्यापार हीरे-जवाहरात का था। वह श्री रेवाशंकर जगजीवन झवेरी के साझी थे। साथ में वह कपड़े की दूकान भी चलाते थे। अपने व्यवहार में सम्पूर्ण प्रकार से वह प्रामाणिकता बताते थे, ऐसी उन्होंने मेरे ऊपर छाप डाली थी। वह जब सौदा करते तो मैं कभी अनायास ही उपस्थित रहता। उनकी बात स्पष्ट और एक ही होती थी। चालाकी सरीखी कोई वस्तु उनमें न देखता था। दूसरे की चालाकी वह तुरन्त ताड़ जाते थे। वह उन्हें असह्य मालूम होती थी। ऐसे समय उनकी भ्रकुटि भी चढ़ जाती और आंखों में लाली आ जाती, यह मैं देखता था।

धर्मकुशल लोग व्यवहारकुशल नहीं होते, इस वहम को रायचन्दभाई ने मिथ्या सिद्ध करके बताया था। अपने व्यापार में वह पूरी सावधानी और होशियारी बताते थे। हीरे-जवाहरात की परीक्षा वह बहुत बारीकी से कर सकते थे। यद्यपि अंग्रेजी का ज्ञान उन्हें न था, फिर भी पेरिस वगैरह के अपने आड़तियों की चिट्ठियों और तारों के मर्म को वह फौरन समझ जाते थे और उनकी कला समझने में उन्हें देर न लगती। उनके जो तर्क होते थे, वे अधिकांश सच्चे ही निकलते थे।

इतनी सावधानी और होशियारी होने पर भी वह व्यापार की उद्विग्नता अथवा चिन्ता न रखते थे। दुकान में बैठे हुए भी जब अपना काम समाप्त हो जाता तो उनके पास पड़ी हुई धार्मिक पुस्तक अथवा कापी, जिसमें वह अपने उद्गार लिखते थे, खुल जाती थी। मेरे जैसे जिज्ञासु तो उनके पास रोज आते ही रहते थे और उनके साथ धर्म चर्चा करने में हिचकते न थे। 'व्यापार के समय में व्यापार और धर्म के समय में धर्म' अर्थात् एक समय में एक ही काम होना चाहिए, इस सामान्य लोगों के सुन्दर नियम का कवि

पालन न करते थे। वह शतावधानी होकर इसका पालन न करें तो यह हो सकता है, परन्तु यदि और लोग उसका उल्लंघन करने लगें तो जैसे दो घोड़ों पर सवारी करनेवाला गिरता है, वैसे ही वह भी अवश्य गिरते। सम्पूर्ण धार्मिक और वीतरागी पुरुष भी जिस क्रिया को जिस समय करता हो, उसमें ही लीन हो जाय, यह योग्य है। इतना ही नहीं, बल्कि उसे यही शोभा देता है। यह उसके योग की निशानी है। इसमें धर्म है। व्यापार अथवा इसी तरह की जो कोई अन्य क्रिया करना हो तो उसमें भी पूर्ण एकाग्रता होनी ही चाहिए। अन्तरंग में आत्मचिन्तन तो मुमुक्षु में उसके श्वास की तरह सतत चलना ही चाहिए। उससे वह एक क्षण भी वंचित नहीं रहता। परन्तु इस तरह आत्मचिन्तन करते हुए भी जो कुछ वह बाह्य कार्य करता हो वह उसमें ही तन्मय रहता है।

मैं यह नहीं कहना चाहता कि कवि ऐसा न करते थे। ऊपर मैं कह चुका हूं कि अपने व्यापार में वह पूरी सावधानी रखते थे। ऐसा होने पर भी मेरे ऊपर ऐसी छाप पड़ी है कि कवि ने अपने शरीर से आवश्यकता से अधिक काम लिया है। यह योग की अपूर्णता तो नहीं हो सकती। यद्यपि कर्तव्य करते हुए शरीर तक भी समर्पण कर देना यह नीति है, परन्तु शक्ति से अधिक बोझ उठाकर उसे कर्तव्य समझना यह राग है। ऐसा अत्यन्त सूक्ष्म राग कवि में था, यह मुझे अनुभव हुआ है।

बहुत बार परमार्थ दृष्टि से मनुष्य शक्ति से अधिक काम लेता है और बाद में उसे पूरा करने में उसे कष्ट सहना पड़ता है। इसे हम गुण समझते हैं और इसकी प्रसंशा करते हैं। परन्तु परमार्थ अथवा धर्म-दृष्टि से देखने से इस तरह किये हुए काम में सूक्ष्म मूर्छा का होना बहुत सम्भव है।

यदि हम इस जगत में केवल निमित्त-मात्र ही हैं, यदि यह शरीर हमें भाड़े मिला है, और उस मार्ग से हमें तुरन्त मोक्ष साधन करना चाहिए, यही परम कर्तव्य है तो इस मार्ग में जो विघ्न आते हों उनका त्याग अवश्य ही करना चाहिए। यही परमार्थिक दृष्टि है, दूसरी नहीं।

जो दलीलें मैंने ऊपर दी हैं, उन्हें ही किसी दूसरे प्रकार से रायचन्द-भाई अपनी चमत्कारिक भाषा में मुझे सुना गये थे। ऐसा होने पर भी उन्होंने ऐसी कैसी उपाधियां उठाईं कि जिसके फलस्वरूप उन्हें सख्त बीमारी

भोगनी पड़ी।

रायचन्दभाई को परोपकार के कारण मोह ने क्षण भर के लिए घेर लिया था, यदि मेरी यह मान्यता ठीक हो तो 'प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति' यह श्लोकार्थ यहां ठीक बैठता है और इसका अर्थ भी इतना ही है। कोई इच्छापूर्वक बर्ताव करने के लिए उपर्युक्त कृष्ण था वचन का उपयोग करते हैं; परन्तु वह तो सर्वथा दुरुपयोग है। रायचन्दभाई की प्रकृति उन्हें बलात्कार गहरे पानी में ले गई। ऐसे कार्य को दोष रूप से भी लगभग सम्पूर्ण आत्माओं में ही माना जा सकता है। हम सामान्य पुरुष तो परोपकारी कार्य के पीछे अवश्य पागल बन जाते हैं, तभी उसे कदाचित पूरा कर पाते हैं।

यह भी मान्यता देखी जाती है कि धार्मिक मनुष्य इतने भोले होते हैं कि उन्हें सब कोई ठग सकता है। उन्हें दुनिया की बातों की कुछ भी खबर नहीं पड़ती। यदि यह बात ठीक है तो कृष्णचन्द्र और रामचन्द्र दोनों अवतारों को केवल संसारी मनुष्यों में ही गिनना चाहिए। कवि कहते थे कि जिसे शुद्ध ज्ञान है उसका ठगा जाना असम्भव होना चाहिए। मनुष्य धार्मिक अर्थात् नीतिमान होने पर भी कदाचित ज्ञानी न हो, परन्तु मोक्ष के लिए नीति और अनुभव ज्ञान का सुसंगम होना चाहिए। जिसे अनुभव-ज्ञान हो गया है, उसके पास पाखण्ड निभ ही नहीं सकता। सत्य के पास असत्य नहीं निभ सकता। अहिंसा के सान्निध्य में हिंसा बन्द हो जाती है। जहां सरलता प्रकाशित होती है वहां छल-रूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है। ज्ञानवान और धर्मवान यदि कपटी को देखे तो उसे फौरन पहचान लेता है और उसका हृदय दया से आर्द्र हो जाता है। जिसने आत्मा को प्रत्यक्ष देख लिया है वह दूसरे को पहचाने बिना कैसे रह सकता है। कोई-कोई धर्म के नाम पर उन्हें ठग भी लेते थे। ऐसे उदाहरण नियम की अपूर्णता सिद्ध नहीं करते, परन्तु ये शुद्ध ज्ञान ही दुर्लभता सिद्ध करते हैं।

इस तरह के अपवाद होते हुए भी व्यवहार-कुशलता और धर्मपरायणता का सुन्दर मेल जितना मैंने कवि में देखा है उतना किसी दूसरे में देखने में नहीं आया।

रायचंदभाई के धर्म का विचार करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि धर्म का उन्होंने क्या स्वरूप समझाया था।

धर्म का अर्थ मतमतांतर नहीं। धर्म का अर्थ शास्त्रों के नाम से कही जानेवाली पुस्तकों को पढ़ जाना, कंठस्थ कर लेना अथवा उनमें जो कुछ कहा है, उसे मानना भी नहीं है।

धर्म आत्मा का गुण है और वह मनुष्य-जाति में दृश्य अथवा अदृश्य रूप से मौजूद है। धर्म से हम मनुष्य-जीवन का कर्तव्य समझ सकते हैं। धर्म द्वारा हम दूसरे जीवों के साथ अपना सच्चा संबंध पहचान सकते हैं। यह स्पष्ट है कि जबतक हम अपनेको न पहचान लें तबतक यह सब कभी भी नहीं हो सकता। इसलिए धर्म वह साधन है, जिसके द्वारा हम अपने-आपको स्वयं पहचान सकते हैं।

यह साधन हमें जहां कहीं मिले, वहीं से प्राप्त करना चाहिए। फिर भले ही वे भारतवर्ष में मिले, चाहे यूरोप से आये या अरबस्तान से आये। इन साधनों का सामान्य स्वरूप समस्त धर्मशास्त्रों में एक ही-सा है। इस बात को वह कह सकता है जिसने भिन्न-भिन्न शास्त्रों का अभ्यास किया है। ऐसा कोई भी शास्त्र नहीं कहता कि असत्य बोलना चाहिए, अथवा असत्य आचरण करना चाहिए। हिंसा करना किसी भी शास्त्र में नहीं बताया। समस्त शास्त्रों का दोहन करते हुए शंकराचार्य ने कहा है, "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।" उसी बात को कुरानशरीफ में दूसरी तरह कहा है कि ईश्वर एक ही है और वही है, उसके बिना और दूसरा कुछ नहीं। बाइबिल में कहा है कि मैं और मेरा पिता एक ही हैं। ये सब एक ही वस्तु के रूपांतर हैं। परंतु इस एक ही सत्य के स्पष्ट करने में अपूर्ण मनुष्यों ने अपने भिन्न-भिन्न दृष्टि-बिंदुओं को काम में लाकर हमारे लिए मोहजाल रच दिया है। उसमें से हमें बाहर निकलना है। हम अपूर्ण हैं और अपने से कम अपूर्ण की मदद लेकर आगे बढ़ते हैं और अंत में न जाने अमुक हद तक जाकर ऐसा मान लेते हैं कि आगे रास्ता ही नहीं है, परंतु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। अमुक हद के बाद शास्त्र मदद नहीं करते, परंतु अनुभव मदद करता है। इसलिए रायचंदभाई ने कहा है।

"ए पद श्रीसर्वज्ञे दीठुं ध्यानमां, कहीं शक्या नहीं ते पद श्रीभगवंत जो

एह परम पद प्राप्तिनुं कर्यु ध्यान में, गजावयर पण हाल मनोरथ रूप जो...''

इसलिए अंत में तो आत्मा को मोक्ष देनेवाली आत्मा ही है।

इस शुद्ध सत्य का निरूपण रायचंदभाई ने अनेक प्रकारों से अपने लेखों में किया है। रायचंदभाई ने बहुत-सी धर्म-पुस्तकों का अच्छा अभ्यास किया था। उन्हें संस्कृत और मागधी भाषा को समझने में ज़रा भी मुश्किल न पड़ती थी। उन्होंने वेदांत का अभ्यास किया था। इसी प्रकार भागवत और गीताजी का भी उन्होंने अभ्यास किया था। जैन पुस्तकें तो जितनी भी उनके हाथ में आतीं, वह बांच जाते थे। उनके बांचने और ग्रहण करने की शक्ति अगाध थी। पुस्तक का एक बार का बांचना उन पुस्तकों के रहस्य जानने के लिए उन्हें काफी था। कुरान, जंदेअवस्ता आदि पुस्तकें भी वह अनुवाद के जरिए पढ़ गये थे।

वह मुझसे कहते थे कि उनका पक्षपात जैन-धर्म की ओर था। उनकी मान्यता थी कि जिनागम में आत्मज्ञान की पराकाष्ठा है, मुझे उनका यह विचार बता देना आवश्यक है। इस विषय में अपना मत देने के लिए मैं अपनेको बिल्कुल अनधिकारी समझता हूं।

परंतु रायचंदभाई का दूसरे धर्मों के प्रति अनादर न था, बल्कि वेदांत के प्रति पक्षपात भी था। वेदांती को तो कवि वेदांती ही मालूम पड़ते थे। मेरे साथ चर्चा करते समय मुझे उन्होंने कभी भी यह नहीं कहा कि मुझे मोक्ष प्राप्ति के लिए किसी खास धर्म का अवलंबन लेना चाहिए। मुझे अपना ही आचार-विचार पालने के लिए उन्होंने कहा। मुझे कौन-सी पुस्तकें बांचनी चाहिए, यह प्रश्न उठने पर उन्होंने मेरी वृत्ति और मेरे बचपन के संस्कार देखकर मुझे गीताजी बांचने के लिए उत्तेजित किया और दूसरी पुस्तकों में पंचीकरण, मणिरत्नमाला, योगवासिष्ठ का वैराग्य प्रकरण, काव्य दोहन पहला भाग, और अपनी मोक्षमाला बांचने के लिए कहा।

रायचन्दभाई बहुत बार कहा करते थे कि भिन्न-भिन्न धर्म तो एक तरह के बाड़े हैं और उनमें मनुष्य घिर जाता है। जिसने मोक्ष-प्राप्ति ही पुरुषार्थ मान लिया है, उसे अपने माथे पर किसी भी धर्म का तिलक लगाने की आवश्यकता नहीं।

सूरत आवे त्यम तुं रहे, ज्यम त्यम करिने हरीने लहे'[1]...

जैसे अखा का यह सूत्र था वैसे ही रायचन्दभाई का भी था। धार्मिक झगड़ों से वह हमेशा ऊबे रहते थे। उनमें वह शायद ही कभी पड़ते थे। वह समस्त धर्मों की खूबियां पूरी तरह से देखते और उन्हें उन धर्मावलम्बियों के सामने रखते थे। दक्षिण अफ्रीका के पत्र-व्यवहार में भी मैंने यही वस्तु उनसे प्राप्त की।

मैं स्वयं तो यह माननेवाला हूं कि धर्म उस धर्म के भक्तों की दृष्टि से सम्पूर्ण है और दूसरों की दृष्टि से अपूर्ण है। स्वतन्त्र रूप से विचार करने से सब धर्म पूर्णापूर्ण हैं। अमुक हद के बाद सब शास्त्र-बन्धन रूप मालूम पड़ते हैं। परन्तु यह तो गुणातीत की अवस्था हुई। रायचन्दभाई की दृष्टि से विचार करते हैं तो किसीको अपना धर्म छोड़ने की आवश्यकता नहीं। सब अपने-अपने धर्म में रहकर अपनी स्वतन्त्रता-मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं; क्योंकि मोक्ष प्राप्त करने का अर्थ सर्वांश से राग-द्वेषरहित होना ही है।

('श्रीमद् राजचन्द्र')

: १८९ :

आल्लुरी श्रीराम राजू

आन्ध्र-यात्रा के दिनों में मुझे एक आन्ध्र-युवक की तसवीर भेंट की गई थी। वह आल्लुरी श्रीराम राजू की थी। उस समय मुझे उनके जीवन से कोई जानकारी न थी। पूछने पर मुझे उनकी बहादुरी की कई अत्यन्त दिलचस्प और बोधप्रद कहानियां कही गईं। यद्यपि उनकी तमाम प्रतिभा और वीरता मुझे पथभ्रष्ट-सी मालूम हुई, तथापि मैं उसपर मुग्ध हो गया, और उनके जीवन की प्रामाणिक कथा जानना चाही। 'कांग्रेस' नामक तेलुगु समाचार-पत्र के अधिपति श्री अन्नपूर्णया ने उनकी जीवन-कथा अभी-मेरे पास भेजी है। सशस्त्र विद्रोह का मैं समर्थन नहीं कर सकता, उससे मुझे सहानुभूति भी नहीं हो सकती। फिर भी मैं श्रीराम राजू जैसे युवक रत्न को, उनकी वीरता, आत्मत्याग कुलीनता और जीवन की सादगी के लिए वन्दन

[1] जैसे सूत निकलता है वैसे ही तू रह। जैसे बने तैसे हरि को प्राप्त कर।

किये बिना नहीं रह सकता। अगर उनकी जीवन-कथा में कही गई बातें सच हों, तो वह फितूरी नहीं कहे जा सकते हैं। हमारे देश के नवयुवक श्रीराम राजू के समान हिम्मत, उत्साह, देशभक्ति और कार्यदक्षता पाकर स्वराज्य के लिए शुद्ध सत्याग्रह की लड़ाई में इन गुणों का उपयोग करें तो क्या ही अच्छा हो ! मुझे तो दिन-दिन यह बात अधिकाधिक स्पष्ट होती जा रही है कि हमारे शिक्षित मध्यम वर्ग ने अपने स्वार्थ के कारण साधारण वर्ग की जिस विशाल जनता को दबी हुई हालत में रखा है और उसका सच्चा उद्धार करना इष्ट समझते हैं तो उसके लिए सत्य और अहिंसा ही एकमात्र साधन है। हमारे जैसी करोड़ों की जनसंख्यावाली प्रजा के लिए और किसी उपाय की जरूरत ही नहीं। (हि० न०, २५.७.२६)

: १६० :

आचार्य रामदेव

पहाड़-जैसे दीखनेवाले महात्मा मुंशीराम के दर्शन करने और उनके गुरुकुल को देखने जब मैं गया तब मुझे बहुत शान्ति मिली। हरद्वार के कोलाहल और गुरुकुल की शान्ति का भेद स्पष्ट दिखाई देता था। महात्मा जी ने मुझपर भरपूर प्रेम की वृष्टि की। ब्रह्मचारी लोग मेरे पास से हटते ही नहीं थे। रामदेवजी से भी उसी समय मुलाकात हुई और उनकी कार्य-शक्ति को मैं तुरन्त पहचान सका था। यद्यपि हमारी मत-भिन्नता हमें उसी समय दिखाई पड़ गई थी, फिर भी हमारी आपस में स्नेह-गांठ बंध गई। गुरुकुल में औद्योगिक शिक्षण का प्रवेश करने की आवश्यकता के सम्बन्ध में रामदेवजी तथा दूसरे शिक्षकों के साथ में, मेरा ठीक-ठीक वार्तालाप भी नहीं हुआ। इससे जल्दी ही गुरुकुल को छोड़ते हुए मुझे दुःख हुआ।

(आ० क०, १९२७)

... ...

आचार्य रामदेव चल बसे। आप आर्यसमाज के एक प्रसिद्ध नेता और कार्यकर्त्ता थे। स्वामी श्रद्धानन्द के बाद वह ही कांगड़ी-गुरुकुल के निर्माता थे। जहांतक मैं जानता हूं, वह स्वामीजी के दाहिने हाथ थे। शिक्षण-शास्त्री

के तौर पर वह बड़े लोकप्रिय थे। पिछले कुछ समय से वह अपने स्वाभाविक जोश के साथ देहरादून के कन्या-गुरुकुल के संचालक-कार्य में पड़ गये थे और कुमारी विद्यावती के पथ-प्रदर्शन और सहारा बन गये थे। जबतक जिये, वह ही इनके लिए रुपया इकट्ठा करके लाते थे। इनको संस्था के आर्थिक पहलू की कुछ भी चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। मैं जानता हूं कि उनकी मृत्यु से इन्हें और इनकी संस्था को कितनी असह्य हानि पहुंची है। जो लोग स्वर्गीय आचार्यजी को जानते हैं, जो स्त्री-शिक्षा का महत्व समझते हैं और जिन्हें कुमारी विद्यावती और उनकी संस्था की कद्र मालूम है उन्हें अब चाहिए कि गुरुकुल को सदा के लिए आर्थिक कष्ट से मुक्त कर दें। परलोक-वासी आचार्यजी के लिए इस तरह का धन-संग्रह अत्यन्त उपयुक्त स्मारक होगा। (ह० से०, ३०.१२.३६)

: १६१ :

रामसुन्दर

बहुत-कुछ यत्न करने पर भी जब एशियाटिक आफिस को ५०० से अधिक नाम नहीं मिल सके तब अधिकारीगण इस निश्चय पर पहुंचे कि अब किसीको पकड़ना चाहिए। पाठक जर्मिस्टन नाम से परिचित हैं। वहां पर बहुत-से भारतीय रहते थे। उनमें रामसुन्दर नामक एक मनुष्य भी था। यह बड़ा वाचाल और बहादुर दीखता था। कुछ-कुछ श्लोक भी जानता था। उत्तरी भारत का रहनेवाला था अर्थात् थोड़े-बहुत दोहे-चौपाई तो अवश्य ही उसे याद होने ही चाहिए। और तिसपर पण्डित कहा जाता था। इसलिए वहां के लोगों में उसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। उसने कई जगह भाषण भी दिये थे। भाषण काफी जोशीले थे। वहां के कितने ही विघ्न-सन्तोषी भारतीयों ने एशियाटिक आफिस में यह खबर पहुंचाई कि अगर रामसुन्दर पण्डित को गिरफ्तार कर लिया गया तो जर्मिस्टन के बहुत-से भारतीय परवाना ले लेंगे। अधिकारीगण इस लालच को कदापि रोक नहीं सकते थे। रामसुन्दर पण्डित गिरफ्तार हुए। अपने ढंग का यह पहला ही मामला था। इसलिए सरकार और भारतीयों में भी बड़ी हलचल मच गई। जिस

रामसुन्दर पण्डित को केवल जर्मिस्टन के लोग ही जानते थे, उसे अब क्षण-भर में सारे दक्षिण अफ्रीका के लोग जानने लग गये। एक महान् पुरुष का मामला चलते समय जिस प्रकार सबकी नज़र वहीं दौड़ती है ठीक उसी तरह रामसुन्दर पण्डित की ओर सबका ध्यान आकृष्ट हुआ। शान्ति-रक्षा के लिए किसी प्रकार की तैयारी करने की आवश्यकता नहीं थी, तथापि सरकार ने अपनी ओर से वह इन्तजाम भी कर लिया था। अदालत में रामसुन्दर का वैसा ही आदर-सत्कार किया गया जैसा कि कौम के प्रतिनिधि और एक असामान्य अपराधी का होना चाहिए था। अदालत उत्सुक भारतीयों से खचाखच भर गई थी। रामसुन्दर को एक महीने की सादी कैद की सजा हुई। उसे जोहान्सबर्ग की जेल में रखा गया। उसको यूरोपियन वार्ड में अलग एक कमरा दिया गया था। उससे मिलने-जुलने में ज़रा भी कठिनाई नहीं होती थी। उसका खाना बाहर से भेजा जाता था और भारतीय उसके लिए नित्य नये अच्छे-अच्छे पकवान पकाकर भेजते थे। वह जिस बात की इच्छा करता, वह फौरन ही पूरी कर दी जाती। कौम ने उसका जेल-दिन बड़ी धूम-धाम से मनाया। कोई हताश नहीं हुआ। उत्साह और भी बढ़ गया। सैकड़ों जेल जाने के लिए तैयार थे। एशियाटिक आफिस की आशा सफल न हुई। जर्मिस्टन के भारतीय भी परवाना लेने के लिए नहीं गये। इस सजा का फायदा कौम को ही हुआ। महीना खत्म हुआ। रामसुन्दर छूटे और उन्हें बड़ी धूम-धाम से गाजे-बाजे के साथ जुलूस बनाकर सभा-स्थान पर ले गये। कई उत्साहप्रद भाषण हुए। रामसुन्दर को फूलों से ढंक दिया। स्वयं-सेवकों ने उनके सत्कार में उनकी दावत की। सैकड़ों भारतीय अपने मन में कहने लगे, "अरे हम भी गिरफ्तार हो जाते तो कितना आनन्द आता!" और रामसुन्दर पण्डित से मधुर ईर्ष्या करने लगे।

पर रामसुन्दर कड़वी बादाम साबित हुए। उनका जोश झूठी सती का-सा था। एक महीने के पहले तो जेल से निकल ही नहीं सकते थे, क्योंकि वह अनायास पकड़े गये थे। जेल में उन्होंने इतना ऐशोआराम किया कि बाहर से भी अधिक। फिर भी स्वच्छन्दी और व्यसनी आदमी जेल के एकांतवास को और अनेक प्रकार के खान-पान के होते हुए भी वहां के संयम

को कदापि बर्दाश्त नहीं कर सकता। यही हाल रामसुन्दर पण्डित का हुआ। कौम और अधिकारियों से मनमानी सेवा लेने पर भी उन्हें जेल कड़वी मालूम हुई और उन्होंने ट्रान्सवाल और युद्ध दोनों को अन्तिम नमस्कार करके अपना रास्ता लिया। हरेक कौम में खिलाड़ी तो रहते ही हैं। वही हाल युद्धों का भी होता है। लोग रामसुन्दर को अच्छी तरह जानते थे, तथापि ऐसे भी आदमी कभी-कभी काम देते हैं, यह समझकर उन्होंने रामसुन्दर का छिपा हुआ इतिहास उसकी पोल खुलने पर भी कई दिनों तक नहीं सुनाया था। पीछे से मुझे मालूम हुआ कि रामसुन्दर तो अपना गिरमिट पूरा किये बिना ही भागा हुआ गिरमिटिया था। उसके गिरमिटिया होने की बात को मैं घृणा से नहीं लिख रहा हूं। गिरमिटिया होना कोई ऐब नहीं है।...युद्ध की सच्ची शोभा बढ़ानेवाले तो गिरमिटिये ही थे। युद्ध की जीत में भी उन्हीं-का सबसे बड़ा हिस्सा था। पर गिरमिट से भाग निकलना अवश्य ही एक दोष है।

रामसुन्दर का यह इतिहास मैंने उसका ऐब बताने के हेतु से नहीं, बल्कि उसमें जो रहस्य है वह दिखाने के हेतु से लिखा है। हरेक पवित्र आंदोलन या युद्ध के संचालकों को चाहिए कि वह शुद्ध मनुष्यों को ही उसमें शामिल करें। तथापि आदमी कितना ही सावधान क्यों न हों, अशुद्ध मनुष्य को बिल्कुल रोक देना असम्भव है। फिर भी यदि संचालक निडर और सच्चे हों तो अज्ञानतः अशुद्ध आदमियों के घुस आने पर युद्ध को अन्त में नुकसान नहीं पहुंच सकता। रामसुन्दर पण्डित की पोल खुलते ही उसकी कोई कीमत नहीं रही। वह तो बेचारा अब रामसुन्दर पण्डित नहीं, कोरा रामसुन्दर ही रह गया। कौम उसे भूल गई। पर युद्ध को तो उससे शक्ति ही मिली। युद्ध के लिए मिली हुई जेल बट्टे-खाते नहीं गई। उसके जेल जाने से कौम में जो नवीन शक्ति आई वह तो कायम ही रही; बल्कि उसके उदाहरण का भी यही असर हुआ कि अन्य कितने ही कमजोर आदमी अपने आप युद्ध से अलग हो गये। और भी कितने ही ऐसे उदाहरण हुए।...कौम की मजबूती या कमजोरी पाठकों से छिपी नहीं रह सकती। इसलिए यहां-पर मैं यह भी कह देना चाहता हूं कि रामसुन्दर जैसे केवल वह ही नहीं थे। पर मैंने तो यह देखा कि सभी रामसुन्दरों ने आंदोलन की सेवा ही की।

पाठक रामसुन्दर को दोष न दें। इस संसार में मनुष्यमात्र अपूर्ण है। जब हम किसी मनुष्य में अधिक अपूर्णता देखते हैं तब हम उसकी ओर अंगुली दिखाते हैं। पर सच पूछा जाय तो यह भूल है। रामसुन्दर जान-बूझकर दुर्बल नहीं बना था। मनुष्य अपने स्वभाव की स्थिति को बदल सकता है, उसको अपने वश में कुछ हद तक कर सकता है; पर उसे जड़ से कौन बदल सकता है ? जगत्कर्ता ने मनुष्य को यह स्वतंत्रता नहीं दे रखी है। शेर अगर अपने चमड़े की विचित्रता को बदल सकता हो तो मनुष्य भी अपने स्वभाव की विचित्रता को बदल सकता है। हमें यह कैसे मालूम हो सकता है कि भाग निकलने के बाद रामसुन्दर को कितना पश्चात्ताप हुआ। अथवा क्या उसका भाग निकलना ही पश्चात्ताप का एक दृढ़ प्रमाण नहीं माना जा सकता ? अगर वह बेशर्म होता तो उसे भागने की क्या पड़ी थी ? परवाना लेकर खूनी कानून के अनुसार वह हमेशा जेल-मुक्त रह सकता था। यही नहीं, बल्कि वह चाहता तो एशियाटिक आफिस का दलाल बनकर दूसरों को धोखा दे सकता था और सरकार का प्रिय बन सकता था। यह सब न करते हुए अपनी कमजोरी कौम को बताने में वह शरमाया और उसने अपना मुंह छिपा लिया। अपने इस कार्य के द्वारा भी उसने कौम की सेवा ही की, ऐसा उदार अर्थ हम क्यों न लगावें ? (द० अ० स०, १९२४)

: १९२ :

कालीनाथ राय

आज मुस्लिम परिषद् पर एक सुन्दर लेख 'ट्रिब्यून' में आया। वह पढ़कर सुनाया गया तो बापू कहने लगे :

Long live Kalinath Roy (चिरंजीवी हों कालीनाथ राय) ! कौमी सवाल और अछूतों के लिए संयुक्त मताधिकार जैसे सवालों पर आजकल इस आदमी के लेख बहुत अनुभव और ज्ञानपूर्ण आते हैं।

(म० डा०, भाग १, पृष्ठ ४७)

: १६३ :

दिलीपकुमार राय

'मन-मन्दिर में प्रीति बसा ले'—श्री दिलीपकुमार राय के, जिन्होंने इस भजन को आज की प्रार्थना-सभा में गाया है, कंठ में जो माधुर्य है और उनके गाने में जो कला है, वह मुझको मीठे लगे। वैसे तो यह मामूली चीज है, लेकिन उसे जिस ढंग से सुन्दर बनाया गया, उसीका नाम कला है। (प्रा० प्र०, २८.१०.४७)

... ...

आपने आज का बहुत मीठा भजन सुना। जिन्होंने हमको यह मीठा भजन सुनाया उन्हें आप लोग सब जानते तो होंगे नहीं। उनका नाम दिलीपकुमार राय है। उन्होंने हर जगह का भ्रमण किया है। उनके कंठ का माधुर्य जैसा है वैसा हिन्दुस्तान में तो कम लोगों के पास है। मैं तो कहता हूं कि शायद सारी दुनिया में भी बहुत कम लोगों के पास है। मेरे पास ये दोपहर को आ गये थे। तब कोई अधिक समय तो मेरे पास था नहीं, सिर्फ दस मिनट थे। उस वक्त उन्होंने 'वन्देमातरम्' सुनाया, जिसको उन्होंने अपने मधुर स्वर में बिठाया। क्योंकि वह बंगाली हैं, इसलिए तो उन्हें जानना ही चाहिए। चूंकि वह मुझको सुनाना चाहते थे, इसलिए सुन लिया। लेकिन मैं कोई संगीत-शास्त्री तो हूं नहीं। उनको मुझसे मुहब्बत है, जो एक-दूसरे के साथ बन जाती है। पीछे उन्होंने इकबाल का 'सारे जहां से अच्छा' भजन सुनाया। उसको भी उन्होंने एक नये स्वर में विठाया है। मुझको यह बड़ा अच्छा लगा। वह ऋषि अरविन्द के आश्रम में, जो पाण्डुचेरी में हैं, कई वर्षों से रहते हैं। वहां कोई तालीम तो उन्होंने ली नहीं। जब वहां गये तब भी वह संगीत-शास्त्री थे। पीछे से अपनी कला को बढ़ाते रहते हैं।

(प्रा० प्र०, २६.१०.४७)

: १६४ :

के० हनुमन्तराव

आंध्र देश का एक सर्वश्रेष्ठ मूक कार्यकर्ता छिन गया। के० हनुमन्तराव ने मछलीपट्टम की महान शिक्षण-संस्था की सेवा में अपनेको खपाया, जिसपर आंध्र देश गर्व कर सकता है। वह उसीके लिए जिये और मरे। डा० पट्टाभि सीतारमैया ने निम्न हृदयस्पर्शी पत्र लिखा है--

"मैं १० ता० को श्री वेंकटपय्या के नाम सन्देश लेकर लौटा, उसके बाद मैं यह अनुभव करता रहा कि मुझे आपको पत्र लिखना है। मछलीपट्टम सीधा आने के बजाय गन्तूर जाकर मैं खुद वह सन्देश देना चाहता था। किन्तु बम्बई १६ ता० की रात को मुझे तार मिला कि कलाशालावाले मेरे मित्र के० हनुमन्तराव सख्त बीमार हैं। बेजवाड़ा में १६ ता० को उनका कोई समाचार नहीं मिलने के कारण मैं खुद गन्तूर नहीं जा सका। इसलिए मैंने एक भाई के हाथ सन्देश के० वेंकटपय्या के पास भेज दिया और मैं मछलीपट्टम आ गया। यहां मालूम हुआ कि के० हनुमन्तराव की हालत नाजुक है। मुझे कुछ समय से पता था कि उनका जीवन अब लम्बा नहीं चलेगा। मैंने आपको एक-दो मर्तबा कहा था कि वह बीमार है। मुझे १७ ता० को इस घरेलू परेशानी का आपसे जिक्र करने का मौका नहीं मिला। मैं भारी मन के साथ बम्बई से रवाना हुआ और मुझे यह निश्चय नहीं था कि मैं अपने मित्र को देख पाऊंगा। किन्तु मैं उनसे मिला और कल एक बजे दोपहर को मेरे हाथों में उन्होंने शरीर त्यागा। मुझे सन्तोष है कि अन्तिम समय मैं उनकी सेवा-चिकित्सा कर पाया। स्वभाव से मैं कठोर हृदय हूं और मेरा पेशा भी कठोर ही है, किन्तु मैं अपने इस मित्र, तत्ववेत्ता और मार्ग-दर्शक, सोलह वर्ष के जीवन-साथी और सबसे अधिक राष्ट्रीय महाविद्यालय के संस्थापक और स्तम्भ के वियोग को इतना अधिक अनुभव कर रहा हूं कि जिसका शब्दों में वर्णन नहीं कर सकता। मेरा हृदय शोक से इतना भरा हुआ है कि मैं इस समय इसके अलावा और कुछ नहीं कह सकता कि हनुमन्तराव के प्रति जनता का आदर उस संस्था को जीवित रखेगा, जिसके लिए उन्होंने अपना सर्वश्रेष्ठ समय

और शक्ति खर्च की और अन्त में मां के चरणों में अपने जीवन की सर्वश्रेष्ठ भेंट चढ़ा दी। यह विशेष सन्तोष की बात है कि जिन आदर्शों के लिए उन्होंने अपने सहयोगियों के साथ सोलह वर्ष तक काम किया, उनको अन्त में सब लोगों ने स्वीकार कर लिया है। मेरे अनुरोध पर सन् १९०७ में सूरत कांग्रेस के अवसर पर उन्होंने अपनी सनद फाड़कर फेंक दी थी। सन् १९०८ से हमने पांचसौ रुपये वार्षिक की आय को ठोकर मार दी जो कालेज की जमीन पर खड़े ताड़ और खजूर के पेड़ों के रस से हो सकती थी। फरवरी १९१० से आज तक पंचम जातियों के लड़के ब्राह्मण लड़कों के साथ घुल-मिलकर बैठ रहे हैं और शरीर-श्रम करते हैं। सन् १९१२ से कुटीर-उद्योगों और दस्तकारियों को पुनर्जीवित करने और जीवन में मशीनों का उपयोग सीमित करने का प्रयत्न कर रहे हैं। आज कला-शाला में एकसौ दस हाथ करघे काम कर रहे हैं। आंध्र-आन्दोलन का यह उद्देश्य रहा है कि प्रान्तों में और भारत में संस्कृतियों का संगम हो और हनुमन्तराव ने इस आन्दोलन को ऊंचा उठाया है और उसे वस्तुतः भव्य बना दिया है। मैं आज अपने मित्र को एक ऐसे राष्ट्र-निर्माता के रूप में याद करता हूं जिनमें कल्पना-शक्ति, साहस और यह दृष्टि थी कि राष्ट्रीयता की नींव सचमुच राष्ट्रीय शिक्षा के द्वारा ही डाली जा सकती है।"

स्वर्गस्थ देशभक्त के मित्रों ने उनके स्मारक के लिए एक लाख रुपये की अपील जारी करने में तनिक भी विलम्ब नहीं किया है। यह रुपया व्यर्थ के दिखावे पर खर्च नहीं किया जायगा, बल्कि उस संस्था की आर्थिक स्थिति को मजबूत बनाने में खर्च होगा, जिसके लिए हनुमन्तराव ने दिन-रात श्रम किया था। मैं इस अपील का हृदय से समर्थन करता हूं, केवल आंध्र के देशभक्तों से ही नहीं, बल्कि उन सबसे जो हनुमन्तराव को जानते थे अथवा जिन्होंने उनकी महान संस्था को देखा था। (यं० इं०, १६.२.२२)

: १६५ :

प्रफुल्लचन्द्र राय

बंगाली लोग दीवाने हैं। जिस तरह दास दीवाने हैं उसी तरह प्रफुल्लचन्द्र राय भी दीवाने हैं। जब वह मंच पर व्याख्यान देते हैं तब मानों नाचते हैं। कोई नहीं मान सकता कि वह ज्ञानी हैं। हाथ पछाड़ते हैं। पैर पछाड़ते हैं। जैसा जी चाहता है अपनी बंगला में अंग्रेजी भी घुसेड़ते हैं। जब बोलते हैं तो अपनेको भूल जाते हैं। अपने विचार के आवेश में ही मग्न होते हैं। इस बात की शायद ही परवा हो कि लोग हँसेंगे, या क्या कहेंगे। जबतक उनकी बातें न सुनें, उनकी आंख से अपनी आंख मिलावें तबतक उनकी महत्ता का कुछ भी पता हमें नहीं लग सकता। मुझे याद है कि जब मैं कलकत्ते में गोखले के साथ रहता था और आचार्य राय उनके पड़ोसी थे तब एक समय हम तीनों स्टेशन पर गये थे। मेरे पास तो अपने तीसरे दर्जे का टिकट था। ये दोनों मुझे पहुंचाने आये थे। तीसरे दर्जे के मुसाफिरों को पहुंचानेवाले तो भिखारी ही हो सकते हैं; पर गोखले का भरा हुआ चेहरा, रेशमी पगड़ी, रेशमी किनारे की धोती, उनके लिए टिकटबाबू की दृष्टि में काफी थे। परन्तु यह दुबला ब्रह्मचारी, मैला-सा कुरता पहना हुआ, भिखारी जैसा दिखाई देनेवाला, इसे बिना टिकट कौन अन्दर जाने देने लगा। मेरी याद के अनुसार वह बिना दुःख के बाहर खड़े रहे और मेरे खचाखच भरे डब्बे में किसी तरह घुसने पर भी हठधर्मी की टीका करते हुए गोखले अपने साथी से जा मिले। आचार्य राय क्यों बहुसंख्य विद्यार्थियों के हृदय में साम्राज्य करते हैं ? वह भी त्यागी हैं और अब तो हो गये हैं खादी-दीवाने। शिक्षा-विभाग की एक बंगालिन अधिष्ठात्री से यह कहते हुए उन्हें ज़रा संकोच न हुआ—"आप खादी न पहनें तो किस काम की ?" ऐसा न कहें तो उनके खुलना के भिखारियों की बनाई खादी को कौन खरीदेगा ? (हि० न०)

: १९६ :

रिच

इंग्लेंड में कांग्रेस की ब्रिटिश कमेटी तो हमारी अवश्य ही बहुत सहायता कर रही थी, तथापि वहां के रीति-रिवाज के मुआफिक उसमें तो खास-खास मत और पक्ष के मनुष्य ही आ सकते थे। इसके अतिरिक्त ऐसे कितने ही लोग थे जो उसमें नहीं आये थे; पर फिर भी हमें पूरी सहायता करते थे। हमें यह मालूम हुआ कि यदि इन सबको एकत्र करके इस काम में उन्हें लगा दिया जाय तो बहुत काम हो सकता है। इसलिए इस उपदेश से हमने एक स्वायी समिति की स्थापना करने का निश्चय किया। यह बात तमाम पक्ष के लोगों को बहुत पसन्द आई।

हरेक संस्था का उत्कर्ष या अपकर्ष प्रायः उसके मन्त्री के ऊपर ही निर्भर रहता है। मन्त्री ऐसा होना चाहिए जिसका उस संस्था के हेतु पर न केवल पूरा-पूरा विश्वास हो, बल्कि उसमें इतनी शक्ति भी होनी चाहिए कि वह उसकी सफलता के लिए अपना बहुत-सा समय दे सके और उसका काम करने की उसमें पूरी योग्यता हो। मि० रिच जो दक्षिण अफ्रीका में थे और जो मेरे आफिस में गुमाश्ते का काम कर चुके थे तथा जो लंदन में उस समय बैरिस्टरी का अभ्यास कर रहे थे, ऐसे ही योग्य पुरुष थे। उनमें ये सब गुण थे। वह वहीं इंग्लैंड में थे और यह काम भी करना चाहते थे। इसलिए एक कमेटी बनाने की हम लोग हिम्मत भी कर सके। (द० अ० स०)

: १९७ :

आचार्य सुशील रुद्र

आचार्य सुशील रुद्र का देहान्त ३० जून को हो गया। वह मेरे एक आदरणीय मित्र और खामोश समाज-सेवी थे। उनकी मृत्यु से मुझे जो दुःख हुआ है उसमें पाठक मेरा साथ दें। भारत की मुख्य बीमारी है राजनैतिक ग़ुलामी। इसलिए वह उन्हींको मानता है जो उसे दूर करने के लिए खुले आम सरकार से लड़ाई लड़ते हैं, जिसने कि अपनी जल और थल सेना तथा

धन-बल और क़ूट-नीति के द्वारा अपनी मजबूत मोर्चाबन्दी कर ली है। इससे स्वभावतः उसे उन कार्यकर्ताओं का पता नहीं रहता जो निःस्वार्थ होते हैं और जो जीवन के दूसरे विभागों में, जो कि राजनीति से कम उपयोगी नहीं होते हैं, अपनेको खपा देते हैं। सेंट स्टीफन्स कालेज, दिल्ली के प्रिंसिपल सुशीलकुमार रुद्र ऐसे ही विनीत कार्यकर्ता थे। वह पहले दरजे के शिक्षा-शास्त्री थे। प्रिंसिपल के नाते वह चारों ओर लोकप्रिय हो गये थे। उनके और उनके विद्यार्थियों के बीच एक प्रकार का आध्यात्मिक सम्बन्ध था। यद्यपि वह ईसाई थे, तथापि वह अपने हृदय में हिन्दूधर्म और इस्लाम के लिए भी जगह रखते थे। इन्हें वह बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। उनका ईसाई धर्म औरों से फटककर, अलग रहनेवाला न था। जो अकेले ईसा मसीह को दुनिया का तारनहार न मानता हो उसके सर्वनाश की दुहाई देनेवाला न था। अपने धर्म पर दृढ़ रहते हुए भी वह औरों को सहन करते थे। वह राजनीति के बड़े तेज और चिन्ताशील स्वाध्यायी थे। अग्रगामी कहे जानेवाले लोगों के प्रति अपनी सहानुभूति की कवायद जहां वह न दिखाते थे तहां वह छिपाते न थे। जब से, १९१५, से मैं अफ्रीका से लौटा मैं जब कभी दिल्ली जाता उन्हींका अतिथि होता। रौलट कानून के सिलसिले में जबतक मैंने सत्याग्रह नही छेड़ा तबतक यह कार्य निर्विघ्न जारी रहा। ऊंचे हल्कों में उनके कितने ही अंग्रेज मित्र थे। एक पूरे अंग्रेजी मिशन से उनका सम्बन्ध था। अपने कालेज के वह पहले ही हिन्दुस्तानी प्रिंसिपल थे। इसलिए मेरे दिल ने कहा कि मेरा उनके साथ समागम रहने और उनके घर में ठहरने से शायद लोगों को यह गलत खयाल हो कि मेरा उनका मतैक्य है और उनके साथियों को अनावश्यक संकट का सामना करना पड़े। इसलिए मैंने दूसरी जगह ठहरना चाहा। उनका जवाब अपने ढंग का था—मेरा धर्म लोगों के अनुमान से अधिक गहरा है। मेरे कुछ मत तो मेरे जीवन के घनिष्ठ अंग हैं। वह गहरे और दीर्घकाल के मनन और प्रार्थना के बाद निश्चित हुए हैं। मेरे अंग्रेज मित्र उन्हें जानते हैं। यदि अपने सम्माननीय मित्र और अतिथि के रूप में आपको अपने घर में रखूं तो वह इसका गलत अर्थ नहीं कर सकते। और यदि कभी मुझे इन दो बातों में से कि अंग्रेजों के अन्दर जो कुछ मेरा प्रभाव है वह चला जाय या आप किसी एक को

चुनना पड़े तो मैं जानता हूं कि मैं किस चीज को पसन्द करूंगा। आप मेरे घर को नहीं छोड़ सकते। तब मैंने कहा—"लेकिन मुझसे तो हर किस्म के लोग मिलने के लिए आते हैं। आप अपने मकान को सराय तो बना नहीं सकते।" उन्होंने उत्तर दिया—"सच पूछो तो मुझे यह सब अच्छा मालूम होता है। आपके मित्रों का आना-जाना मुझे पसन्द है। यह देखकर मुझे आनन्द होता है कि आपको अपने मकान में ठहराकर मेरे हाथों कुछ देश-सेवा हो रही है।" पाठकों को शायद मालूम न हो कि खिलाफत के दावे को प्रत्यक्ष रूप देने के लिए जो पत्र मैंने वाइसराय को लिखा था उसका विचार और मसविदा प्रिंसिपल रुद्र के मकान में तैयार हुआ था। वह तथा चार्ली एंड्रूज उसमें सुधार सुझानेवाले थे। उन्हींके घर की छांह में बैठकर असहयोग की कल्पना उत्पन्न और प्रवर्तित हुई। मौलानाओं, दूसरे मुसलमानों तथा अन्य मित्रों और मेरे बीच जो निजी मंत्रणा हुई उसकी कार्रवाई को वह बड़ी दिलचस्पी के साथ चुपचाप देखते थे। उनके तमाम कार्य धर्म-भाव से प्रेरित होते थे। ऐसी हालत में दुनियावी सत्ता छिन जाने का कोई डर न था—तथापि वही धर्म-भाव उन्हें सांसारिक सत्ता के अस्तित्व और उपयोग तथा मित्रता के मूल्य को समझने में सहायक होता था। जिस धार्मिक भाव से मनुष्य को विचार और आचार के सुन्दर मेल का यथार्थ ज्ञान होता है, उसकी सत्यता को उन्होंने अपने जीवन में चरितार्थ कर दिखाया था। आचार्य रुद्र ने अपनी ओर इतने उच्च-चरित्र लोगों को आकर्षित किया था, जिनके सहवास की इच्छा किसीको हो सकती है। बहुत लोग जानते हैं कि श्री सी० एफ० एंड्रूज हमें प्रिंसिपल रुद्र के ही कारण प्राप्त हुए हैं। वह जुड़े भाई जैसे थे। उनका स्नेह आदर्श मित्रता के अध्ययन का विषय था। प्रिंसिपल रुद्र अपने पीछे दो लड़के और एक लड़की को छोड़ गये हैं। सब वयस्क हैं और अपने काम में लगे हुए हैं। वह जानते हैं कि उनके शोक में उनके उच्च हृदय पिता के कितने ही मित्र शरीक हैं। (हि० न०, ९.७.२५)

: १६८ :

पारसी रुस्तमजी

पारसी रुस्तमजी के नाम से पाठक भली-भांति परिचित हैं। पारसी रुस्तमजी मेरे मवक्किल और सार्वजनिक कार्य में साथी, एक ही साथ बने; बल्कि यह कहना चाहिए कि पहले साथी बने और बाद को मवक्किल। उनका विश्वास तो मैंने इस हद तक प्राप्त कर लिया था कि वह अपनी घरू और खानगी बातों में भी मेरी सलाह मांगते और उनका पालन करते। उन्हें यदि कोई बीमारी भी हो तो वह मेरी सलाह की जरूरत समझते और उनके और मेरे रहन-सहन में बहुत-कुछ भेद होने पर भी वह खुद मेरा उपचार करते।

मेरे इस साथी पर एक बार बड़ी भारी विपत्ति आ गई थी। हालांकि वह अपनी व्यापार-सम्बन्धी भी बहुत-सी बातें मुझसे किया करते थे, फिर भी एक बात मुझसे छिपा रखी थी। वह चुंगी चुरा लिया करते थे। बम्बई-कलकत्ते से जो माल मंगाते उसकी चुंगी में चोरी कर लिया करते थे। तमाम अधिकारियों से उनका राह्-रसूख अच्छा था। इसलिए किसी-को उनपर शक नहीं होता था। जो बीजक वह पेश करते उसीपर से चुंगी की रकम जोड़ ली जाती। शायद कुछ कर्मचारी ऐसे भी होंगे, जो उनकी चोरी की ओर से आंख मूंद लेते हों।

परन्तु आखा भगत की यह वाणी कहीं झूठी हो सकती है?

"काचो पारो खावो अन्न, तेवुं छे चोरी नुं धन धन।"[1]

एक बार पारसी रुस्तमजी की चोरी पकड़ी गई। तब वह मेरे पास दौड़े आये। उनकी आंखों से आंसू निकल रहे थे। मुझसे कहा:

"भाई मैंने तुमको धोखा दिया है। मेरा पाप आज प्रकट हो गया है। मैं चुंगी की चोरी करता रहा हूं। अब तो मुझे जेल भोगने के सिवाय दूसरी गति नहीं है। बस, अब मैं बरबाद हो गया। इस आफत में से तो आप ही मुझे बचा सकते हैं। मैंने वैसे आपसे कोई बात छिपा नहीं रखी है; परन्तु यह समझकर कि यह व्यापार की चोरी है, इसका जिक्र आपसे

[1] कच्चा पारा खाना और चोरी का धन खाना बराबर है।

क्या करूं यह बात मैंने आपसे छिपाई थी। अब इसके लिए पछताता हूं।"

मैंने उन्हें धीरज और दिलासा देकर कहा—"मेरा तरीका तो आप जानते ही हैं। छुड़ाना-न-छुड़ाना तो खुदा के हाथ है। मैं तो आपको उसी हालत में छुड़ा सकता हूं जब आप अपना गुनाह कबूल कर लें।"

यह सुनकर उस भले आदमी का चेहरा उतर गया।

"परन्तु मैंने आपके सामने कबूल कर लिया, इतना ही क्या काफी नहीं है?" रुस्तमजी सेठ ने पूछा।

"आपने कसूर तो सरकार का किया है, तो मेरे सामने कबूल करने से क्या होगा?" मैंने धीरे-से उत्तर दिया।

"अन्त को तो मैं वही करूंगा, जो आप बतावेंगे; परन्तु मेरे पुराने वकील की भी तो सलाह ले लें, वह मेरे मित्र भी हैं।" पारसी रुस्तमजी ने कहा।

अधिक पूछ-ताछ करने से मालूम हुआ कि यह चोरी बहुत दिनों से होती आ रही थी। जो चोरी पकड़ी गई थी वह तो थोड़ी ही थी। पुराने वकील के पास हम लोग गये। उन्होंने सारी बात सुनकर कहा:

"यह मामला जूरी के पास जायगा। यहां के जूरी हिन्दुस्तानी को क्यों छोड़ने लगे? पर मैं निराश होना नहीं चाहता।"

इन वकील के साथ मेरा गाढ़ा परिचय न था। इसलिए पारसी रुस्तमजी ने ही जवाब दिया:

"इसके लिए आपको धन्यवाद है। परन्तु इस मुकदमे में मि० गांधी की सलाह के अनुसार काम करना है। वह मेरी बातों को अधिक जानते हैं। आप जो कुछ सलाह देना मुनासिब समझें हमें देते रहियेगा।"

इस तरह थोड़े में समेटकर हम रुस्तमजी सेठ की दूकान पर गये। मैंने इन्हें समझाया—"मुझे यह मामला अदालत में जाने लायक नहीं दिखाई देता। मुकदमा चलाना-न-चलाना चुंगी अफसर के हाथ में है। उसे भी सरकार के प्रधान वकील की सलाह से काम करना होगा। मैं इन दोनों के लिए तैयार हूं, परन्तु मुझे तो उनके सामने यह चोरी की बात कबूल करनी पड़ेगी, जो कि वह अभी तक नहीं जानते हैं। मैं तो यह सोचता हूं कि जो जुरमाना वह तजवीज कर दें उसे मंजूर कर लेना चाहिए। बहुत

मुमकिन है कि वह मान जायंगे। परन्तु यदि न मानें तो फिर आपको जेल जाने के लिए तैयार रहना होगा। मेरी राय तो यह है कि लज्जा जेल जाने में नहीं, बल्कि चोरी करने में है। अब लज्जा का काम तो हो चुका। यदि जेल जाना पड़े तो उसे प्रायश्चित्त ही समझना चाहिए। सच्चा प्रायश्चित्त तो यह है कि अब आगे से ऐसी चोरी न करने की प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिए।" मैं यह नहीं कह सकता कि रुस्तमजी सेठ इन सब बातों को ठीक-ठीक समझ गये हों। वह बहादुर आदमी थे। पर इस समय हिम्मत हार गये थे। उनकी इज्जत बिगड़ जाने का मौका आ गया था और उन्हें भी डर था कि खुद मेहनत करके जो यह इमारत खड़ी की थी वह कहीं सारी-की-सारी ढह न जाय।

उन्होंने कहा :

"मैं तो आपसे कह चुका हूं कि मेरी गर्दन आपके हाथ में है। जैसा आप मुनासिब समझें वैसा करें।"

मैंने इस मामले में अपनी सारी कला और सौजन्य खर्च कर डाला। चुंगी के अफसर से मिला, चोरी की सारी बात मैंने निःशंक होकर उनसे कह दी। यह भी कह दिया कि "आप चाहें तो सब कागज पत्र देख लीजिये। पारसी रुस्तमजी को इस घटना पर बड़ा पश्चात्ताप हो रहा है।"

अफसर ने कहा :

"मैं इस पुराने पारसी को चाहता हूं। उसने की तो यह बेवकूफी है; पर इस मामले में मेरा फर्ज क्या है, सो आप जानते हैं। मुझे तो प्रधान वकील की आज्ञा के अनुसार करना होगा। इसलिए आप अपनी समझाने की कला का जितना उपयोग कर सकें वहां करें।"

"यदि पारसी रुस्तमजी को अदालत में घसीट ले जाने पर ज़ोर न दिया जाय तो मेरे लिए बस है।"

इस अफसर से अभय दान प्राप्त करके मैंने सरकारी वकील के साथ पत्र-व्यवहार शुरू किया और उनसे मिला भी। मुझे कहना चाहिए कि मेरी सत्यप्रियता को उन्होंने देख लिया और उनके सामने मैं यह सिद्ध कर सका कि मैं कोई बात उनसे छिपाता नहीं था। इस अथवा किसी दूसरे मामले में उनसे साबका पड़ा तो उन्होंने मुझे यह प्रमाण-पत्र दिया था—"देखता हूं

कि आप जवाब में 'ना' तो लेना ही नहीं जानते ।"

रुस्तमजी पर मुकदमा नहीं चलाया गया। हुक्म हुआ कि जितनी चोरी पारसी रुस्तमजी ने कबूल की है उसके दूने रुपये उनसे ले लिये जायं और उनपर मुकदमा न चलाया जाय।

रुस्तमजी ने अपनी इस चुंगी-चोरी का किस्सा लिखकर कांच में जड़ाकर अपने दफ्तर में टांग दिया और अपने वारिसों तथा साथी व्यापारियों को ऐसा न करने के लिए खबरदार कर दिया। रुस्तमजी सेठ के व्यापारी मित्रों ने मुझे सावधान किया कि यह सच्चा वैराग्य नहीं, श्मशान वैराग्य है।

पर मैं नहीं कह सकता कि इस बात में कितनी सत्यता होगी। जब मैंने यह बात रुस्तमजी सेठ से कही तो उन्होंने जवाब दिया कि आपको धोका देकर मैं कहां जाऊंगा। (आ० क०, १९२७)

... ...

बी-अम्मा की मृत्यु होने पर मौ० शौकतअली ने कहा था—हिन्दुस्तान का एक सच्चा सिपाही कम हो गया। पारसी रुस्तमजी की मृत्यु से भी एक सच्चा सिपाही कम हो गया है। यही नहीं, मेरा तो एक परम मित्र ही कम हो गया है। पारसी रुस्तमजी जैसे आदमी मैंने बहुत थोड़े देखे हैं। शिक्षा उन्होंने नाममात्र के ही लिए प्राप्त की थी। अंग्रेजी भी थोड़ी ही जानते थे। गुजराती का ज्ञान भी मामूली था। पढ़ने का बहुत शौक न था। जवानी में ही व्यापार में पड़ गये थे। केवल अपने परिश्रम के बल पर एक मामूली गुमाश्ते की हालत से एक बड़े व्यापारी की सीढ़ी पर जा पहुंचे थे। फिर भी उनकी व्यवहार-बुद्धि तीव्र थी, उनकी उदारता हातिम के जैसी थी, उनकी सहिष्णुता तो इतनी बढ़ी हुई थी कि खुद कट्टर पारसी होते हुए भी हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि के प्रति एक-सा प्रेम रखते थे। किसी भी चन्दा चाहनेवाले या हाथ फैलानेवाले को उनके घर से खाली हाथ जाते हुए मैंने नहीं देखा। अपने मित्रों के प्रति उनकी वफादारी इतनी सूक्ष्म थी कि कितने ही लोग उन्हींको अपना मुख्तारनामा दे जाते थे। मैंने देखा है कि बड़े-बड़े मुसलमान व्यापारी अपने नाते-रिश्तेदारों को छोड़कर पारसी रुस्तमजी को अपना एलची बनाते थे। कोई भी गरीब पारसी रुस्तमजी की दुकान से

खाली नहीं लौटता था। पारसी रुस्तमजी अपने लोगों के प्रति जितने उदार थे खुद अपने प्रति उतने ही कंजूस थे। आमोद-प्रमोद का तो नाम भी न जानते थे। अपने या स्वजनों के लिए विचारपूर्वक खर्च करते थे। घर में अन्त तक बहुत सादगी कायम रखी थी। गोखले, एंड्रूज, सरोजिनीदेवी आदि पारसी रुस्तमजी के ही यहां ठहरते थे। छोटी-सी-छोटी बात पारसी रुस्तमजी के ध्यान से दूर न रहती। गोखले के असंख्य अभिनन्दन-पत्र इत्यादि के बड़े-बड़े पैंतालीस अदद को पैक कराना, उन्हें जहाज पर चढ़ाना, आदि सारा भार पारसी रुस्तमजी पर न हो तो किसपर हो।

अपनी प्रिय धर्मपत्नी की मृत्यु पर उनके नाम का जेरबाई ट्रस्ट करके अपनी संपत्ति का बड़ा भाग उन्होंने धर्म-कार्य के निमित्त रख छोड़ा था। अपनी सन्तान को उन्होंने कभी भी चटक-मटक की हवा न लगने दी। उन्हें सादी रहन-सहन सिखाई और उनके लिए इतनी ही विरासत रख छोड़ी है, जिससे वे भूखों न मर सकें। अपने वसीयतनामे में उन्होंने अपने तमाम रिश्तेदारों को याद किया है।

पूर्वोक्त प्रकार की ही सावधानी और दृढ़ता के साथ उन्होंने सार्वजनिक हलचलों में योग दिया था। सत्याग्रह के समय में अपना सर्वस्व स्वाहा कर देने के लिए तैयार व्यापारियों में पारसी रुस्तमजी सबसे आगे थे।

अंगीकृत कार्य को हर तरह का संकट उपस्थित होने पर भी उसे न छोड़ने की टेब उन्हें थी। अपेक्षाकृत अधिक दिनों तक जेल में रहना पड़ा, तो भी वह हिम्मत न हारे। लड़ाई आठ साल तक चली, कितने ही मजबूत लड़वैया गिर गये, पर पारसी रुस्तमजी अटल बने रहे। अपने पुत्र सोराबजी को भी उन्होंने लड़ाई में स्वाहा कर दिया।

इन हिन्दुस्तानी सज्जन की मुलाकात मुझसे १८९३ में हुई। पर ज्यों-ज्यों मैं सार्वजनिक कामों में पड़ता गया त्यों-त्यों पारसी रुस्तमजी में रहे जवाहरात की कदर करना मैं सीखता गया। वह मेरे मवक्किल थे। सार्वजनिक कामों में मेरे साथी थे और अन्त को मेरे मित्र हो गये। वह अपने दोषों का वर्णन भी मेरे सामने बालक की तरह आकर कर देते। वह मेरे प्रति अपने विश्वास के द्वारा मुझे चकित कर देते थे। १८९७ में जब गोरों ने मुझपर हमला किया तब मेरे और मेरे बाल-बच्चों का आश्रय-स्थान

रुस्तमजी का मकान था। गोरों ने उनके मकान, असबाब आदि में आग लगा देने की धमकी दी। पर उससे पारसी रुस्तमजी का रूवां तक खड़ा न हुआ। दक्षिण अफ्रीका में जो नाता उन्होंने जोड़ा सो ठेठ मृत्यु-दिन तक कायम रखा। यहां भी वह सार्वजनिक कामों के लिए रुपया-पैसा भेजते रहते थे। दिसम्बर में महासभा के समय उनके यहां आने की सम्भावना थी। पर ईश्वर को कुछ और ही करना था। रुस्तमजी सेठ की मृत्यु से दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों की बड़ी हानि हुई है। सोराबजी अडाजणिया गये, फिर अहमद महमद काछलिया गये, अभी-अभी पी० के० नायडू गये और अब पारसी रुस्तमजी भी चले गये। अब दक्षिण अफ्रीका में इन सेवकों की कोटि के भारतवासी शायद ही रहे हों। ईश्वर निराधारों का रखवाला है। वह दक्षिण अफ्रीका के भारतवासियों की रक्षा करेगा। परन्तु पारसी रुस्तमजी की जगह तो हमेशा खाली ही रहेगी। (हि० न०, ३०.११.२४)

: १९९ :

सोराबजी रुस्तमजी

एक प्रसंग उल्लेखनीय है। वेरूलम में कई मजदूर निकल पड़े थे। वह किसी प्रकार लौटकर जाना नहीं चाहते थे। जनरल ल्यूकिन अपने सिपाहियों को लेकर वहां खड़ा था। लोगों पर गोली चलाने का हुक्म वह देने को ही था कि स्वर्गीय पारसी रुस्तमजी का छोटा लड़का बहादुर सोराबजी, जिसकी उम्र उस समय शायद ही अठारह वर्ष की होगी—डरबन से यहां आ पहुंचा। जनरल के घोड़े की लगाम थामकर उसने कहा, "आप गोलियां चलाने का हुक्म न दें, मैं अपने लोगों को शांतिपूर्वक अपने-अपने काम पर लौटा देने की जिम्मेदारी लेता हूं।" जनरल ल्यूकिन इस नौजवान की बहादुरी पर मुग्ध हो गया और उसने सोराबजी को अपना प्रेम-बल आजमा लेने की मुहलत दे दी। सोराबजी ने लोगों को समझाया। वे समझ गये और अपने-अपने काम पर चले गये। इस तरह एक नौजवान के प्रसंगावधान, निर्भयता और प्रेम के कारण खून की नदी बहते-बहते रुक गई।

(द० अ० स०)

: २०० :

जोसेफ रॉयपेन बैरिस्टर

जोसेफ रॉयपेन बैरिस्टर, केम्ब्रिज के ग्रेजुएट थे। नेटाल के गिरमिटिया माता-पिता से जन्म ग्रहण करने पर भी 'साहब लोग' बन गये थे। वह तो घर में भी बिना बूट के नहीं चल सकते थे। इमामसाहब को तो वजू करते वक्त पांव धोने पड़ते और खुले पैर से नमाज पढ़नी पड़ती। बेचारे रॉयपेन को तो इतना भी नहीं करना पड़ता था; पर उन्होंने बैरिस्टरी को छोड़ दिया, बगल में साग-तरकारी की टोकरी लटकाये और फेरी करते हुए गिरफ्तार हुए। उन्होंने भी जेल भुगती। एक दिन रॉयपेन ने मुझसे पूछा :

"क्या मैं सफर भी तीसरे दर्जे में ही करूं ?"

मैंने उत्तर दिया, "यदि आप पहले और दूसरे दर्जे में सफर करेंगे तो मुझे तीसरे दर्जे में किससे सफर कराना चाहिए ? जेल में आपको बैरिस्टर कौन कहेगा ?"

जोसेफ रॉयपेन के लिए यह उत्तर काफी था। वह भी जेल में सिधारे।

(द० अ० स०)

... ...

वह बैरिस्टर थे; पर उन्हें इस बात का अहंकार नहीं था। वह अतिशय कठिन परिश्रम नहीं कर सकते थे। ट्रेन से अपना असबाब उतारकर उसे बाहर गाड़ी पर रख देना भी उनके लिए कठिन था। परन्तु यहां तो वह भी मेहनत पर चढ़ गये। उन्होंने वह सब यथाशक्ति कर लिया। टाल्स्टाय फार्म पर कमजोर सशक्त हो गये और सभी परिश्रम के आदी हो गये। (द० अ० स०)

: २०१ :

लाला लाजपतराय

लाला लाजपतराय को गिरफ्तार क्या किया, सरकार ने हमारे एक बड़े-से-बड़े मुखिया को पकड़ लिया है। उनका नाम भारत के बच्चे-बच्चे की जवान पर है। अपने स्वार्थ-त्याग के कारण वह अपने देश-भाइयों के हृदय में उच्च स्थान प्राप्त कर चुके हैं। अहिंसा के प्रचार के लिए और उसके साथ ही लोकमत को संगठित और प्रकट करने के लिए उन्होंने जितना परिश्रम किया है उतना बहुत ही थोड़े लोगों ने किया है। उनकी गिरफ्तारी से सरकार की नीति या वृत्ति का जितना सच्चा पता चलता है उतना दूसरी किसी बात से नहीं।

पंजाब ने तुरन्त ही उनकी जगह पर अपना दूसरा नेता चुन लिया। उन्होंने आगा सफदर को अपना अगुवा बनाया है। पंजाबी भाइयों को उनसे अच्छा नेता नहीं मिल सकता था। वह एक सच्चे मुसलमान और एक वीर हिन्दुस्तानी हैं। उन्होंने जितनी सेवाएं की हैं वे सब अज्ञात रूप से की हैं। मुझे इस बात में ज़रा भी सन्देह नहीं है कि लोग लालाजी की तरह ही सच्चे हृदय से उनका साथ देंगे। पंजाबी भाई लालाजी को बड़े-से-बड़ा गौरव जो दे सकते हैं वह यह है कि वे यही समझकर कि लालाजी हमारे साथ ही हैं, उनका काम बराबर आगे बढ़ाते रहें। (हि० न०, ११.१२.२१)

... ...

आखिरकार लाजपतराय, पंडित संतानम, मलिक लालखान और डाक्टर गोपीचन्द के मुकदमे का फैसला हो गया। लालाजी तथा पंडित संतानम को अठारह-अठारह महीने की कैद की सजा दी गई। अभियुक्तों के बहुतेरा विरोध करने पर भी सरकार ने जबरदस्ती उनके बचाव के लिए एक वकील नियुक्त किया था। इस तमाशे के होते हुए भी उनको सजा दी जाना तो निश्चित ही था। सजा का हुक्म सुनाये जाने के ज़रा पहले ही लालाजी ने मुझे एक पत्र लिखा। उसमें उनके चित्त की प्रसन्नता टपकी पड़ती है। वह इस प्रकार है :

"आपने जो स्नेहपूर्ण टिप्पणी लिखी है तथा रामप्रसादजी और पुरुषो-

समलाल के द्वारा जो सन्देश भेजा उनके लिए आपको बहुत-बहुत धन्यवाद। मैं बहुत मजे में हूं। मैंने अन्न-त्याग नहीं किया था। मैं अपने आराम के लिए शोरोगुल मचाने के खिलाफ हूं। हम यहां इसलिए नहीं आये हैं कि किसी तरह की सुविधाएं या रिआयतें चाहें। सच्चा हाल अखबारों में जाहिर हुआ है और आशा है कि वह अब आपतक पहुंच गया होगा। हम सब लोगों का चित्त बहुत प्रसन्न है और मैं राष्ट्रीय पाठशालाओं तथा धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन में अपने समय का खूब सदुपयोग कर रहा हूं। अहमदाबाद में जो कुछ हुआ है उसके तथा सर्वपक्षीय परिषद् (राउंड टेबल कान्फ्रेन्स) के हालात मुझे मालूम हो गये हैं। हमारी तकलीफों की वजह से हमारे सिद्धान्तों के निर्णय में बाधा न होने दीजियेगा। आप यकीन मानिये, हम अपने मनोरथ को पूरा करने के लिए जबतक चाहिए तबतक और जितनी चाहिए, उतनी तकलीफें बरदाश्त करने को हर तरह से तैयार हैं। और अब जबकि उसीके लिए हम यहां आये हुए हैं तो हमें उसे अखीर-तक निबाहना चाहिए।"

हमें आशा करनी चाहिए कि लालाजी और पंडित सन्तानम को उनका अध्ययन जारी रखने दिया जायगा। मैं उन्हें तथा उनके साथियों को यह भी सूचित करने का साहस करूंगा कि वह मौलाना शौकतअली और श्री राजगोपालाचारी तथा उनके साथियों का अनुकरण करें, अर्थात् वह साहित्य-सम्बन्धी उद्योगों के साथ-ही-साथ चरखा कातने पर भी ध्यान देंगे। मैं अभिवचन देता हूं कि बीच-बीच में चरखा कातते रहने से लालाजी के इतिहास-लेखन तथा पंडित संतानम के संस्कृत-अध्ययन में हानि न होगी।

सर्वपक्षीय परिषद् के सम्बन्ध में लालाजी ने जो उद्गार प्रकट किये हैं उनकी ओर मैं उन देश-सेवकों का ध्यान दिलाता हूं, जो मनुष्य की सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक प्रेरणा से प्रेरित होकर, अपने देश के साथ प्रेम करने तथा अपनी अंतरात्मा की पुकार के अनुसार आचरण करने के अपराध के कारण जेलों में चले जानेवाले कैदियों को छुड़ाने के उद्देश्य से कोई निपटारा जल्दी करने का प्रयत्न कर रहे हैं। हमारी प्रतिष्ठा के अनुकूल कोई निपटारा होता हो तो उसके रास्ते में हमें कांटे न बखेरना चाहिए, पर यदि हम अपने जेल

जानेवाले देश-भक्तों के शरीर-सुख के खयाल से कोई असंतोषजनक संधि कर बैठेंगे तो ऐसा करना उनके प्रति अन्याय करना होगा। यदि हम अपनी ही इच्छा से निमंत्रित किये गए कष्ट-सहन को कम करने के लिए ज़रा भी अनुचित रीति से झुक गये तो ऐसा करना देश की हार्दिक अभिलाषा को ठीक-ठीक न जानना होगा। (हिं० न०, २५.१.२२)

... ...

दूसरे व्यक्ति जिनपर अविश्वास किया जाता है लालाजी हैं। मैंने तो लालाजी को एक बच्चे के समान खुले दिलवाला पाया है। उनके त्याग की जोड़ लगभग हुई नहीं। मेरी उनसे हिन्दू मुसलमानों के बारे में एक बार नहीं अनेक बार बातें हुई हैं। वह मुसलमानों के साथ तनिक भी दुश्मनी नहीं रखते; लेकिन उन्हें जल्दी एकता हो जाने में शक है। वह ईश्वर से प्रकाश पाने के लिए प्रार्थना कर रहे हैं। खुद शंकित रहते हुए भी वह हिन्दू मुसलमानों की एकता के कायल हैं; क्योंकि जैसा कि उन्होंने मुझसे कहा है वह स्वराज्य के कायल हैं। वह मानते हैं कि ऐसी एकता के बिना स्वराज्य स्थापित नहीं हो सकता। तो भी वह यह नहीं जानते कि यह एकता किस तरह और कब होगी। मेरा उपाय उन्हें पसन्द है, परन्तु इस बात में शक है कि हिन्दू लोग उसका मर्म समझ पावेंगे या नहीं और अगर समझ पावेंगे तो उसकी शराफत की कदर करेंगे या नहीं। यहां मैं इतना कहे देता हूं कि मैं अपनी तदबीर को उदात्त शरीफाना नहीं कहता। मेरे खयाल में तो यह बिल्कुल ठीक और हो सकने लायक तदबीर है। (हिं० न०, १.६.२४)

... ...

मैं खयाल करता हूं कि बहुत-से व्याख्यान-दाताओं की तरह मेरा भी यह दुर्भाग्य है कि संवाददाता-गण मेरे व्याख्यानों की अक्सर गलत रिपोर्ट भेज देते हैं, यद्यपि वह जान-बूझकर ऐसा नहीं करते। मुझे याद है कि १८९६ ई० में स्वर्गीय सर फीरोजशाह मेहता ने, जबकि मैं पहले-पहल भारतवर्ष में व्याख्यान देने के लिए खड़ा हुआ था, मुझसे कहा था कि यदि आप चाहते हों कि लोग आपके व्याख्यान को सुनें और उसकी सही रिपोर्ट भेजी जाय तो आपको अपना व्याख्यान लिख लेना चाहिए। उनकी इस अच्छी सलाह के लिए मैंने उन्हें हमेशा धन्यवाद दिया है। मैं यह जानता हूं

कि यदि उस दिन की सभा के लिए मैंने उनकी सलाह के अनुसार काम न किया होता तो वहां मेरी बड़ी फजीहत होती; लेकिन जब-जब मेरे व्याख्यानों की रिपोर्ट गलत भेजी गई है तब-तब बम्बई के उस बिना ताज के राजा की सलाह को याद करने का मुझे अवसर मिला है। कहा जाता है कि किसीने यह संवाद भेजा है कि अमृतसर की खिलाफत-परिषद में मैंने लाला लाजपतराय को भीरु कहा है। लालाजी जो कुछ भी हों, वह भीरु नहीं हैं। मेरे व्याख्यान का पूर्वापर सम्बन्ध देखने से प्रतीत होगा कि मैं उनका इस आक्षेप से कि वह मुसलमानों के विरोधी हैं बचाव कर रहा था। उस समय मैंने जो कुछ कहा था वह यह है : लालाजी सदा शंकित चित्त रहते हैं और उन्हें मुसलमानों के उद्देश्य के बारे में बड़ी शंका रहती है। लेकिन वह मुसलमानों की दोस्ती सच्चे दिल से चाहते हैं। लालाजी के प्रति मेरा बड़ा आदर भाव है। मैं उन्हें बहादुर आत्मत्यागी, उदार सत्यनिष्ठ और ईश्वरसे डरनेवाला मानता हूं। उनका स्वदेश-प्रेम बड़ा ही शुद्ध है। देश की जितनी और जैसी सेवा उन्होंने की है उसमें उनकी बराबरी करनेवाले बहुत कम हैं। और यदि ऐसे शख्सों पर सन्देह किया जा सके कि उनके उद्देश्य हीन हैं तो हमें हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य से उसी प्रकार निराश होना पड़ेगा जिस प्रकार हमें अलीभाइयों पर हीन उद्देश्य रखने का सन्देह करने पर निराश होना पड़े। हम सब अपूर्ण हैं, हमारा मत एक-दूसरे के खिलाफ दूषित हो गया है। हम, हिन्दू और मुसलमान जैसे हैं, वैसे ही समझ जाने चाहिए। जो हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य को अपना धर्म मानते हैं उन्हें तो जो साधन हमारे पास है उसीके द्वारा उसे संपादन करने का प्रयत्न करना चाहिए। अपने औजारों को बुरा कहनेवाला कारीगर आप ही बुरा है। कर्नल मैडक ने मुझसे कहा था कि एक मरतबा एक साधारण चाकू से ही मैंने एक बड़ा गम्भीर आपरेशन किया था; क्योंकि उस समय मेरे पास कोई औजार न था और खौलते हुए पानी के सिवा दूसरी कोई जीव-जन्तु-विनाशक औषधि भी न थी। उन्होंने हिम्मत से काम लिया और उनका रोगी भी बच गया। हम भी एक-दूसरे का विश्वास करें और हम सही-सलामत रहेंगे। एक-दूसरे का विश्वास करने के यह मानी कभी नहीं हो सकते कि जबानी तो हम एक दूसरे के प्रति विश्वास जाहिर करें और हृदय में अविश्वास को ही स्थान दें।

यह सचमुच भीरुता ही है, और भीरु भीरु में या भीरु और बहादुरों में मित्रता हो ही नहीं सकती। (हि० न०, १४.१२.२४)

... ...

हिन्दू महासभा के एक उत्साही सदस्य ने मुझे 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' में उत्तर देने के लिए कोई पन्द्रह प्रश्न भेजे हैं। एक दूसरे महाशय ने इन्हीं प्रश्नों के तरीके पर मेरे साथ इसी बारे में बहस की है। मैं उन सब प्रश्नों का उत्तर देना नहीं चाहता हूं; लेकिन उनमें कुछको तो मैं छोड़ देने की भी हिम्मत नहीं कर सकता हूं; क्योंकि उन प्रश्नों से तो पंडित मदनमोहन मालवीयजी और लालाजी पर वर्तमान पत्रों में जो आक्रमण हो रहा है उस ओर मेरा ध्यान खींचा गया है। मुझसे यह प्रश्न पूछे गये हैं:

"क्या आपको उनके भले उद्देश्य के बारे में शंका है? क्या आप उन्हें सीधी तौर पर या और किसी दूसरे तरीके पर हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के विरोधी मानते हैं? आप मानते हैं कि क्या वह देश को जानबूझकर किसी भी प्रकार की हानि पहुंचा सकते हैं?"

मैं अक्सर यह देखता हूं इन स्वदेश-भक्त वीरों पर इस प्रकार आक्रमण होता है। मैं यह भी जानता हूं कि मेरे बहुत-से मुसलमान मित्रों को इन दोनों प्रसिद्ध सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं के प्रति संपूर्ण अविश्वास है। लेकिन मैं बहुतेरी बातों में उनसे कितना भी मतभेद क्यों न रखूं, उनमें से किसी एक पर भी कभी भी अविस्सास नहीं ला सकता हूं। जिस प्रकार मैंने मुसलमानों को मालवीयजी और लालाजी पर इस प्रकार आक्षेप करते हुए देखा है, उसी प्रकार हिन्दुओं को भी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध मुसलमानों पर ऐसे आक्षेप करते हुए देखा है; लेकिन मैं उनमें से किसी भी पक्ष के आक्षेपों पर विश्वास नहीं ला सका हूं और मैं अपना मंतव्य भी किसी भी पक्ष को नहीं समझा सका हूं। मालवीयजी और लालाजी दोनों ही देश के कसे हुए सेवक हैं। दोनों बहुत दिनों से देश की बराबर प्रशंसनीय सेवा कर रहे हैं। उनके साथ दिल खोलकर बातचीत करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है; लेकिन मुझे एक भी ऐसा अवसर याद नहीं जब मैंने उन्हें मुसलमानों का विरोधी पाया हो। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि उन्हें मुसलमान नेताओं के प्रति अविश्वास नहीं है और इस बड़े कठिन और नाजुक प्रश्न

के उपाय के सम्बन्ध में हम लोग एक राय हैं। उन्हें ऐक्य की आवश्यकता के बारे में कुछ भी सन्देह नहीं है और उन्होंने अपने विचारों के अनुसार उसके लिए प्रयत्न भी किया है। मेरी राय में तो इन नेताओं के उद्देश्य के सम्बन्ध में शंका करना ही ऐक्य के होने के सम्बन्ध में शंका प्रकट करना है। जब हम लोग संधि करेंगे—किसी-न-किसी दिन हमें यह करना ही होगा—उस समय उनकी बातों का हिन्दू-समाज पर ठीक वैसा ही असर पड़ेगा जैसा कि मुसलमानों में मौलाना अबुल कलाम आजाद और हकीम-साहब की बातों का असर पड़ता है। (हि० न०, १७.१२.२५)

... ...

"आपके तार के लिए आभार मानता हूं। लोगों की ओर से पुलिस को हमला करने के लिए कोई कारण नहीं मिला है। यह मामला इरादा-पूर्वक किया गया था। दो सख्त चोटें लगी हैं, मगर गम्भीर नहीं। एक बाईं छाती पर और एक कन्धे पर लगी है। दूसरी चोटें सत्यपाल, गोपीचन्द, हंसराज, मुहम्मद आलम आदि मित्रों ने संभाल लीं। दूसरों पर भी मार पड़ी है और चोटें लगी हैं; किन्तु चिन्ता का कोई कारण नहीं है।"[1]

—लाजपतराय

मैंने लाला लाजपतराय को तार से धन्यवाद दिया था और हालत पूछी थी। उसके जवाब में तुरन्त ही लालाजी ने ऊपर का तार भेजा। आज के लोगों में से, जबकि अधिकांश की अभी रेखें भी नहीं भीगी थीं, लालाजी ने 'पंजाब केशरी' का नाम पाया था। अबतक उनका यह इल्काब जैसा-का-तैसा कायम है, क्योंकि चाहे उनके पक्ष और विपक्ष में कुछ भी क्यों न कहा जाय, वह अब भी पंजाब के सबसे बड़े निर्विवाद नेता हैं और सारे भारतवर्ष में सबसे अधिक लोकप्रिय और प्रतिष्ठित नेताओं में से हैं। वह महासभा के सभापति हो चुके हैं, यूरोप में उनका नाम है और वह उन गिने-चुने नेताओं में से हैं, जो दिल की बात तुरन्त ही कह देते हैं, गो कोई भले ही गलतफहमी करे या उससे भी अधिक उन्हें अवसर पहचाननेवाला

---

[1]साइमन कमीशन के लाहौर आने पर जो जलूस उसके प्रति विरोध प्रकट करने के लिए निकाला गया था, लालाजी ने उसका नेतृत्व किया था। पुलिस ने उस जलूस पर लाठियां चलाई थीं।

मर्ख समझे। मगर लालाजी अपनी आदत से लाचार हैं; क्योंकि वह अपने दिल में कोई बात छिपाकर रख ही नहीं सकते। जो बात सोची, वह वह कहेंगे ही। इसलिए जब मैंने यह शीर्षक पढ़ा 'लालाजी पर मार' और मार के ब्यौरे पढ़े तभी मेरे मुंह से निकल गया—'शाबाश!' अब हमें स्वराज पाने में बहुत देर नहीं लगेगी; क्योंकि चाहे हमारी क्रान्ति हिंसक हो या अहिंसक, स्वतन्त्र होने के पहले हमें देश के नाम पर मरने की कला सीखनी होगी। इसके अलावा जबतक महान प्रयत्न न किया जाय, अहिंसक दबाव के लिए भी शासक झुकेंगे नहीं। आदर्श और सम्पूर्ण अहिंसा के सामने मैं यह कल्पना कर सकता हूं कि शासकों की वृत्ति बिल्कुल ही बदल जानी सम्भव है। मगर गोकि आदर्श और सम्पूर्ण कार्यक्रम बनाना सम्भव है, तथापि उनका सम्पूर्ण और आदर्श अमल कभी सम्भव नहीं है। इसलिए सबसे सस्ती बात यही है कि नेताओं पर मार पड़े या गोली चले। अबतक अनजान आदमियों पर मार पड़ी है या वे मारे गये हैं। थोड़े-से आदमियों को गोली मारने से भी देश का ध्यान जितना आकर्षित नहीं होता उससे कहीं अधिक लालाजी पर हमला करने से हुआ है। लालाजी तथा दूसरे नेताओं पर हमले से हिन्दुस्तान के राजनीतिज्ञ विचार में पड़ गये हैं और सरकार की शान्ति तो जरूर ही भंग हो गई होगी।

(हि० न०, ८.११.२८)

... ...

लाला लाजपतराय का देहान्त हो गया। लालाजी चिरंजीवी होवें। जबतक हिन्दुस्तान के आकाश में सूर्य चमकता है तबतक लालाजी मर नहीं सकते। लालाजी तो एक संस्था थे। अपनी जवानी के ही समय से उन्होंने देश-भक्ति को अपना धर्म बना लिया था और उनके देश-प्रेम में संकीर्णता न थी। वह अपने देश से इसलिए प्रेम करते थे कि वह संसार से प्रेम करते थे। उनकी राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता से भरपूर थी। इसलिए यूरोपियन लोगों पर भी उनका इतना अधिक प्रभाव था। यूरोप और अमरीका में उनके अनेक मित्र थे। वह मित्र लालजी को जानते थे और इसलिए उनसे प्रेम करते थे।

उनकी सेवाएं विविध थीं। वह बड़े ही उत्साही समाज और धर्म

सुधारक थे। हममें से बहुत-से लोगों के समान वह भी इसीलिए राजनीतिज्ञ बने थे कि समाज और धर्म-सुधार की उनकी लगन राजनीति में शामिल हुए बिना पूरी होती ही नहीं थी। सार्वजनिक जीवन शुरू करने के कुछ ही समय बाद उन्होंने देख लिया था कि विदेशी गुलामी से देश के स्वतन्त्र हुए बिना हमारे इच्छित सुधारों में से बहुत से नहीं हो सकेंगे। जैसा कि हममें से बहुतों को जान पड़ता है, उन्हें भी जान पड़ा था कि विदेशी परतन्त्रता का जहर देश की नस-नस में घुस गया है।

ऐसे एक भी सार्वजनिक आन्दोलन का नाम लेना असम्भव है, जिसमें लालाजी शामिल न थे। सेवा करने की उनकी भूख सदा अतृप्त ही रहती थी। उन्होंने शिक्षण संस्थाएं खोलीं, वह दलितों के मित्र बने, जहां कहीं दुःख दारिद्रय हो, वहीं वह दौड़ते थे। नवयुवकों को वह असाधारण प्रेम से अपने पास जमा करते थे। सहायता के लिए किसी नवजवान की प्रार्थना उनके पास बेकार न गई। राजनैतिक क्षेत्र में वह ऐसे थे कि उनके बिना चल ही नहीं सकता था। अपने विचार प्रकट करने में वह कभी भयभीत न हुए। उस समय भी जबकि कष्ट सहना रोजमर्रा की बात नहीं हो गई थी, अपने विचार निर्भीकता से प्रकाशित करने के लिए उन्होंने कष्ट सहा था। उनके जीवन में कोई छिपा हुआ रहस्य नहीं था। उनकी अत्यन्त अधिक स्पष्टवादिता से मित्रों को, अगर प्रायः घबराहट में पड़ना होता तो, उनके आलोचक भी चक्कर में पड़ जाते थे। मगर उनकी यह आदत छूटनेवाली नहीं थी।

मुसलमान मित्रों का लिहाज रखता हुआ भी मैं दावे के साथ यह कहता हूं कि लालाजी इस्लाम के दुश्मन नहीं थे। हिन्दूधर्म को सबल बनाने तथा शुद्ध करने की उनकी प्रबल इच्छा को भूल से मुसलमानों या इस्लाम के प्रति घृणा नहीं समझना चाहिए। हिन्दू-मुसलमानों में एकता स्थापित करने की उनकी हार्दिक इच्छा थी। वह हिन्दू राज की चाहना नहीं करते थे, किन्तु वह हिन्दुस्तानी राज की इच्छा करते थे। अपने-आपको हिन्दुस्तानी कहनेवाले सभी लोगों में वह सम्पूर्ण समानता स्थापित करना चाहते थे। लालाजी की मृत्यु से भी हम परस्पर एक दूसरे पर विश्वास करना सीखें और अगर निर्भय बन जायं तो यह तुरन्त ही सम्भव है।

उनके लिए एक राष्ट्रीय स्मारक की मांग अवश्य ही होनी चाहिए और वह होगी भी। मेरी विनम्र सम्मति में कोई स्मारक तबतक सम्पूर्ण नहीं हो सकता जबतक कि स्वतन्त्रता जरूर प्राप्त करनी है, यह दृढ़ विश्वास न हो, और स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए वह जीते थे, इसीके लिए उनकी ऐसी गौरवमयी मृत्यु भी हुई। ज़रा हम याद करें कि उनकी अन्तिम इच्छा क्या थी। उन्होंने नई पीढ़ी को हिन्दुस्तान की स्वतन्त्रता प्राप्त करने तथा उसके गौरव की रक्षा करने का भार सौंपा है। नई पीढ़ी में उन्होंने जो विश्वास दिखलाया वह क्या उसके योग्य अपने-आपको साबित करेगी? और हम बूढ़ों में से, जो भारतवर्ष को स्वतन्त्र देखने के लालाजी तथा दूसरे अनेक स्वर्गीय देश-भक्तों के स्वप्न को सही बनाने के लिए अभी तक बचे हुए हैं, एक बार सभी मिलकर महान् प्रयत्न कर अपनेको लालाजी के जैसे देशबन्धु पाने का अधिकारी सिद्ध करेंगे।

इसके अलावा हम जन-सेवक-संघ को भी नहीं भूल सकते। इस संघ को उन्होंने अपने विविध कामों की उन्नति के लिए स्थापित किया था और वह सब काम देशोन्नति के लिए थे। संघ के सम्बन्ध में उनकी उच्चाभिलाषाएं बहुत बड़ी थीं। उनकी इच्छा यह थी कि सारे भारतवर्ष में से कुछ नवयुवक मिलकर, एक कार्य में लगकर, एक दिल से काम करें। यह संघ अभी बच्चा ही है। इसे स्थापित हुए बहुत साल नहीं हुए हैं। अपने इस महान काम को मजबूत पाये पर रखने का समय उन्हें नहीं मिला था। यह भार राष्ट्र के ऊपर है और राष्ट्र को इसकी फिक्र करनी चाहिए।

(हि० न०, २२.११.२८)

... ...

लालाजी का अन्त समय तक मुझपर विश्वास रहा। यह मेरा सौभाग्य था। उनके अनेक गुणों में से जो हमारे लिए आज अधिक-से-अधिक मूल्यवान हो सकता है वह था उनका हरिजन-प्रेम, अस्पृश्यता के विरुद्ध उनका अखंड युद्ध। जिस समय हिन्दू भारत के हृदय में हरिजनों के प्रति अपने कर्तव्य-पालन करने की भावना उदय नहीं हुई थी, उस समय उन्होंने यह युद्ध किया था। वह अपनी जोरदार भाषा में बराबर कहते थे कि अछूतपन हिन्दूधर्म का कलंक है। यदि लालाजी ने इस युद्ध के सिवाय और कुछ

काम न भी किया होता तो भी हिन्दुओं के दिलों में लालाजी की पवित्र स्मृति सदा बनी रहती। परन्तु लालाजी के देशव्यापी गुणों को, उनकी अखिल भारतीय सेवाओं को कौन नहीं जानता ? उन्हें 'पंजाब केसरी' की उपाधि यूं ही तो नहीं मिली थी। (२७.१२.२३ को एलोर में लालाजी के चित्र का उद्‌घाटन करते समय का भाषण)

... ...

जब राजनीति को लोग भूल जायंगे, जब जनता का ध्यान खींच लेनेवाली अनेक क्षणभंगुर वस्तुएं भी विस्मृत हो जायंगी, तब भी लालाजी के गंभीर और विशाल हरिजन-प्रेम को और उनकी तज्जनिक महान् सेवाओं को करोड़ों हिन्दू ही नहीं, बल्कि कोटिशः सवर्ण हिन्दू भी––और हिन्दू ही क्यों, समस्त भारतवर्ष बड़ी श्रद्धा-भक्ति से याद किया करेगा। लालाजी एक महान् मानव-प्रेमी थे और उनका वह मानव-प्रेम विश्वव्यापी था। उनकी प्रत्येक बरसी के अवसर पर हमें अपने जीवन में लालाजी को उनकी प्रत्येक विगत बरसी अपेक्षा, अधिकाधिक सजीव करते जाना चाहिए। लाजाजी जैसे समाज-सुधारकों का जब निधन होता है तब केवल उनकी देह का ही नाश होता है। उनका कार्य और उनके विचारों का देह के साथ अन्त नहीं होता। उनकी शक्ति तो उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। हमें उसका अनुभव तब और अधिक होता है जब हम देखते हैं कि ज्यों-ज्यों समयबीतता है त्यों-त्यों इस जीर्ण चोले के बाहर इसका प्रभाव स्वतः प्रकट होता जाता है। मनुष्य के अन्दर जो क्षणजीवी अंश है वह देह के साथ नाश को प्राप्त हो जाता है; किन्तु मनुष्य का जो शाश्वत अविनाशी अंश है, वह तो देह के भस्मीभूत होने पर भी जीवित रहता है और देह का बन्धन दूर हो जाने से वह और भी अधिक प्रकाशमान हो जाता है। इस विचार को सामने रखकर हमें लालाजी की स्मृति को चिरजीवी रखना चाहिए। हरिजन हिन्दू तथा सवर्ण हिन्दू दोनों ही स्व० लालाजी का पुण्य स्मरण करके हिन्दू-समाज में से यह अस्पृश्यता का पाप-कलंक धो डालने का नये सिरे से संकल्प करें। हरिजन तो उन त्रुटियों को दूर करें जो अत्याचार बर्दाश्त करते-करते लोगों में पैदा हो जाती हैं और सवर्ण अपने उस पाप को पखारकर शुद्ध हो जायं, जो उन्होंने हरिजनों को जन्मना अस्पृश्य और अपनेको जन्मना उच्च

मानकर किया है। (ह० से०, २३.११.३४)

... ...

लाला लाजपतरायजी तो पंजाब के शेर माने जाते थे। वह तो चले गये। मैं तो उनका मित्र था और उनके साथ मजाक भी करता था कि हिन्दी में बोलना कब सीखोगे। वह कहते थे, यह नहीं होने का। याद रखो, वह समाजी थे और यह भी याद रखो कि वह हवन इत्यादि भी करवाते थे। चूंकि मैं उन्हींके घर में ठहरता था, इसलिए मैं यह सब देखता था। हवन में तो संस्कृत ही काम में आती है और अजीब बात थी कि यह सब होते हुए भी वह थोड़ा-थोड़ा पढ़ तो लेते थे देवनागरी में, लेकिन उनकी मादरी जबान उर्दू ही थी। वह कहते थे कि उर्दू में तो मुझसे कहो तो घंटों बोल लेता हूं और बोलते थे, और उर्दू के तो मैं आपको क्या बताऊं, वह बड़े भारी विद्वान् थे और शीघ्रता से लिख सकते थे। अंग्रेजी में भी वह घंटों बोल सकते थे, लेकिन संस्कृतमय हिन्दी तो उनकी समझ में भी नहीं आती थी। जब मैं चुन-चुनकर अरबी-फारसी के शब्द लाता तब वह मेरी बात समझ सकते थे। (प्रा० प्र०, १८.११.४७)

: २०२ :

लाटन

मि० लाटन डर्बन के बहुत पुराने और बड़े ख्यातनामा वकील थे। मैं भारत गया, उसके पहले ही उनके साथ मेरा बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध हो चुका था। अपने महत्वपूर्ण मुकदमों में मैं उन्हींकी सहायता लेता था और कई बार उनको अपने मामलों में बड़ा वकील भी बनाता था। वह बड़े बहादुर आदमी थे। शरीर के ऊंचे-पूरे थे। (द० अ० स०)

: २०३ :

लाहोरी

सेठ जमनालाल बजाज ने मुझे अभी-अभी एक बहादुर सिंधी कार्यकर्ता की मृत्यु की खबर दी है। वह लरकाना में काम करते थे और वीरता एवं त्याग के लिए प्रसिद्ध थे। पाठकों को मालूम है कि सिंध के अनेक भागों में और लरकाना में भी हैजा फूट पड़ा है। श्री लाहोरी—यही उनका नाम है, उस समय वहां काम करते थे। उन्होंने अपने घरवालों को तो वहां से भेज दिया, किन्तु खुद अपने मित्रों के अनुरोध के बावजूद वहीं बने रहे। हैजे की देवी ने, जो व्यक्ति व्यक्ति में कोई भेद नहीं करती, श्री लाहोरी को अपने पंजे में फंसा लिया और अब वह लरकाना और अपने परिचितों को शोक-मग्न छोड़कर चल बसे हैं। उनके लिए यहां भी शाबाशी है और जहां वह गये हैं, वहां भी उनको शाबाशी ही मिलेगी। संतप्त परिवार के प्रति मैं शोक-सन्देश नहीं भेजता। मैं उसे और लरकाना के लोगों को भी बधाई देता हूं कि उन्होंने विशुद्ध वीरता का ऐसा महान नमूना भारत सरकार को भेंट किया। भारत के युवक और युवतियों को साधारणतः और सिन्ध के लोगों को खास तौर से मैं कहता हूं कि वह श्री लाहोरी के उदाहरण का अनुकरण करें। संकट के समय हम मृत्यु से डरना छोड़ दें और त्याग का पाठ सीखें, जिससे प्रेरित होकर श्री लाहोरी अन्त तक अपने कर्त्तव्य के मोर्चे पर डटे रहे। (यं० इं०, १२.६.२६)

: २०४ :

लुटावन

उत्तर हिन्दुस्तान से गिरमिट में आया हुआ लुटावन नामक एक बूढ़ा मवक्किल था। अवस्था ७० वर्ष से भी अधिक होगी। उसे बड़ी पुरानी दमे और खांसी की व्याधि थी। अनेक वैद्यों के क्वाथ-पुड़ियों और कई डाक्टरों की बोतलों को वह आजमा चुका था। उस समय मुझे अपने इन उपचारों में असीम विश्वास था। मैंने उससे कहा कि यदि तुम

मेरी तमाम शर्तों का पालन करो और फार्म पर ही रहो तो मैं अपने उपचारों का प्रयोग तुमपर कर सकूंगा। उसका इलाज करने की बात तो मैं कैसे कह सकता था? उसने मेरी शर्तों को कबूल किया। लुटावन को तम्बाखू का बहुत भारी व्यसन था। मेरी शर्तों में एक यह भी थी कि वह तम्बाखू छोड़ दे। लुटावन को एक दिन का उपवास कराया। प्रतिदिन बारह बजे धूप में 'कूने बाथ' देना शुरू किया। उस समय की ऋतु भी धूप में बैठने लायक थी। उसे थोड़ा भात, कुछ जेतून का तेल, शहद और कभी-कभी शहद के साथ-साथ खीर, मीठी नारंगी, अंगूर और भुने हुए गेहूं की कॉफी आदि भोजन के लिए दिया जाता था। नमक और तमाम मसाले बन्द कर दिये गए थे। जिस मकान में मैं सोता था उसी मकान में ज़रा अन्दर की तरफ, लुटावन का भी बिस्तर लगा दिया जाता था। सबके बिस्तर में दो कम्बल रहते थे, एक बिछाने का और एक ओढ़ने का। लकड़ी का तकिया भी रहता था।

एक सप्ताह बीता, लुटावन के शरीर में तेज प्रवेश करने लगा, दमा कम हुआ, खांसी भी घट गई। पर रात को दमा और खांसी दोनों सताते। मुझे तम्बाखू का शक हुआ। मैंने उससे पूछा। लुटावन ने कहा, "मैं नहीं पीता।" फिर एक-दो दिन गये। पर खांसी में कोई फर्क नहीं हुआ। अब छिपकर लुटावन पर नज़र रखने का निश्चय किया। सब जमीन पर ही सोते थे। सर्पादि का भय तो था ही। इसलिए मि० कैलनबेक ने मुझे बिजली की एक जेबीबत्ती दे रखी थी। वह भी एक रखते थे। इस बत्ती को लेकर मैं सोता था। मैंने निश्चय किया कि एक रात बिस्तर ही में पड़े-पड़े जागूं। दरवाजे के अन्दर नजदीक ही लुटावन लेट रहा था। करीब आधी रात को लुटावन को खांसी आई। दियासलाई सुलगाकर उसने बीड़ी पीना शुरू किया। मैं भी धीरे-से चुपचाप उसके बिस्तर के पास जा खड़ा हुआ और बत्ती की कल को दबाया। लुटावन घबड़ाया। वह समझ गया। बीड़ी बुझाकर उठ खड़ा हुआ और मेरे पैर पकड़कर बोला, "मैंने बड़ा गुनाह किया, अब मैं कभी तम्बाखू नहीं पिऊंगा। आपको मैंने धोखा दिया। मुझे आप माफ करें।" यह कहकर वह गिड़गिड़ाने लगा। मैंने उसे आश्वासनपूर्वक कहा कि बीड़ी छोड़ने में उसीका हित था। मेरे अनुमान के अनुसार

खांसी जरूर मिट जानी चाहिए थी। वह मिटी नहीं, इसलिए मुझे शक हुआ। लुटावन की बीड़ी छूटी और उसके साथ-ही-साथ दो-तीन दिन में दमा और खांसी की शिकायत भी कम हो गई। इसके बाद एक मास में लुटावन बिल्कुल नीरोग हो गया। उसके चेहरे पर खूब रौनक आ गई और वह विदा होने के लिए तैयार हुआ। (द० अ० स०)

: २०५ :

लाजरस

पहले मैं यह बतला चुका हूं कि ट्रांसवाल से जो बहनें आई थीं, वह द्राविड़ प्रान्त की थीं। वह एक द्रविड़ कुटुंब के यहां ठहरी थीं, जो ईसाई था। यह कुटुंब मझोले दर्जे का था। उसके एक छोटा-सा जमीन का टुकड़ा और दो-तीन कमरेवाला एक छोटा-सा मकान था। इन्हींके यहां ठहरने का मैंने भी निश्चय किया। मालिक-मकान का नाम लाजरस था। गरीब को किसका डर हो सकता है? ये सब मूलतः गिरमिटिया माता-पिता की प्रजा थे। इसलिए उनको और उनके सम्बन्धियों को भी तीन पौंडवाला कर देना पड़ता था। गिरमिटियाओं के दुःखों से तो वह पूरी तरह परिचित थे। इसलिए उनके साथ उनकी सहानुभूति होना भी स्वाभाविक ही था। इस कुटुंब ने मेरा सहर्ष स्वागत किया। मेरा स्वागत करना मित्रों के लिए आसान काम तो कभी रहा ही नहीं है; परन्तु इस बार तो वह और भी मुश्किल था। मेरा स्वागत करना मानों प्रत्यक्ष निर्धनता का स्वागत करना और शायद जेल को भी निमन्त्रण देना था। इस स्थिति में शायद ही कोई धनिक व्यापारी अपनेको इस खतरे में डालने के लिए तैयार होता। अपनी तथा उनकी परिस्थिति को इस तरह समझ लेने पर भी उन्हें ऐसी विकट परिस्थिति में डालना मेरे लिए सर्वथा अनुचित था। बेचारे लाजरस को थोड़ा-सा वेतन ही खाने का डर था और वह उसे बरदाशत भी कर सकता था। उसे कोई कैद करना चाहे तो भले ही करे, पर अपने से गरीब गिरमिटियाओं के दुःखों को कैसे चुपचाप सह सकता था? उसने अपने यहां इन गिरमिटियाओं की सहायता के लिए आई हुई बहनों को अपनी आंखों

जेल में जाते देखा था। उसे मालूम हुआ कि उनके प्रति उसका भी कुछ कर्तव्य है, इसीलिए उसने मुझे भी स्वीकार किया। स्वीकार किया; पर अपना सर्वस्व भी अर्पित कर दिया; क्योंकि उसके यहां मेरे जाने के बाद उसका घर एक धर्मशाला बन गया। सैकड़ों आदमी और हर तरह के आदमी आते-जाते थे। उसके मकान के आसपास की जमीन आदमियों से खचाखच भर गई। चौबीसों घन्टे उसके मकान पर रसोई होती रहती थी, जिसमें उसकी धर्मपत्नी ने जी तोड़ मेहनत की। इतने पर भी जब कभी देखिये, तब वह दोनों हँसमुख ही नज़र आते थे। उनकी मुखाकृति में मैंने अप्रसन्नता नहीं देखी। (द० अ० स०)

: २०६ :

टी० एम० वर्धीस और जी० रामचन्द्रन्

अगर श्री टी० एम० वर्धीस और श्री जी० रामचन्द्रन विश्वास के लायक नहीं हैं तो भी मुझे इस बात का यकीन दिलाने के लिए हमारा[१] मिलना जरूरी है। मुझे स्वीकार करना होगा कि मेरे मन में उनकी हिम्मत आत्म-बलिदान, कार्यक्षमता और प्रामाणिकता के लिए बहुत मान है। श्री जी० रामचन्द्रन साबरमती के एक पुराने आश्रमवासी हैं। उन्होंने मुझे कभी अविश्वास का कारण नहीं दिया। (ह० से०, २७.७.४०)

: २०७ :

ए० एस० वाडिया

पूना के श्री ए० एस० वाडिया का निम्नलिखित पत्र मुझे मिला है। जैसा कि उससे मालूम पड़ेगा, वह उन गरीबों के सच्चे हमदर्द हैं, जो गर्मियों में महाबलेश्वर जानेवालों के लिए नीचे के मैदानों से लकड़ियों की झोलिया ले जाकर जैसे-तैसे अपना निर्वाह करते हैं। श्री वाडिया लिखते हैं :

"मैं महाबलेश्वर इसलिए गया था कि दक्षिणी रोडेशिया पर अपनी

[१] गांधीजी तथा त्रावणकोर के दीवान।

नई किताब लिखने के लिए जो एकांत और शांति मैं चाहता था वह मिल जाय। लेकिन वहां मेरा ध्यान और शक्तियां अचानक उन देहातियों की तकलीफों पर चली गईं, जो नीचे की घाटियों से घास और लकड़ियों के भारी-भारी बोझ लेकर महाबलेश्वर आते और नाममात्र के दामों पर हमारे बाजार में बेचते थे। जिन पहाड़ी पगडण्डियों से वे आम तौर पर आते, उन्हींके बीच वह जंगली स्थान थे, जहां बैठकर मैं अपनी 'रोडेशिया के चमत्कार' पुस्तक लिखता था। जब कभी मैं उनसे बात करता, वे जरूर उन रास्तों की भयंकर हालत की शिकायत करते जिनसे होकर वे आते थे, क्योंकि नुकीले पत्थरों से उनके पैरों में चोट लगती और फफोले पड़ जाते थे। उन्होंने मुझसे अनुरोध किया कि मैं खुद जाकर नीचे के रास्तों की हालत देखूं और उन्हें सुधारने के लिए कुछ करूं। उनकी इच्छा पूरी करने के लिए मैं खुद नीचे घाटियों में गया और उन रास्तों को देखा। वे पथरीले, ढालू और बीच-बीच में खतरनाक तौर से तंग थे। पूछताछ करने पर मुझे पता लगा कि सौ साल पहले जब जनरल लाडनिक ने महाबलेश्वर का पता लगाया था तबसे अबतक कभी किसी आदमी का हाथ इन रास्तों पर नहीं लगा, बल्कि लोगों के बराबर आते-जाते रहने से ही ये बन गये हैं।

मुझे लगा कि गांववालों की शिकायतें ठीक हैं और इसपर तत्काल ध्यान देने की जरूरत है। अतः मैंने 'रोडेशिया पर' किताब लिखना बन्द करके मजदूरों को काम पर लगाया और रास्तों को साफ व चौड़ा करने, अवरोधक पत्थरों को हटाने तथा लकड़ी की मोलियां लाने में दरख्तों की जो डालियां रुकावट डालती थीं उन्हें कटवाने का काम व्यवस्थित रूप से शुरू कर दिया। आठ सप्ताह तक यह काम जारी रहा, जिस बीच मैंने कुल मिलाकर कोई एक हजार मजूरों को काम पर लगाया होगा। छोटे-बड़े मिलाकर एक दर्जन रास्ते उन्होंने बनाये और ठीक व दुरुस्त किये होंगे। इनमें से चार रास्ते कोंकण के दूरवर्ती गांवों से शुरू होकर कोंकण के पहाड़ी नाकों व दक्षिण की पहाड़ियों पर होते हुए महाबलेश्वर तक आते हैं। डबील टोंक और बावली टोंक नामक कोंकण के पहाड़ की दो चाकू की धार जैसी नुकीली चोटियों को तो मैंने इतना सकड़ा और खतरनाक पाया कि पहाड़ की चोटियों पर चलनेवाली तेज हवा से सिर पर बोझा उठाते हुए स्त्रियों,

बच्चों को नीचे लुढ़कने का खतरा होने पर सचमुच मुंह के बल लेटकर अपने हाथ-पैरों के सहारे रेंगना ही पड़ता है। इन दोनों पहाड़ी चोटियों को, जो हरेक आध मील के करीब थी, मैंने बिल्कुल तुड़वा दिया है, हालांकि उनके कुछ हिस्से बड़े मजबूत पत्थर के थे और पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़ों के तीन से चार फुट तक चौड़े रास्ते सुरक्षित स्थानों पर बनवा दिये हैं।

"अब मैं उस मुख्य बात पर आता हूं, जिसके लिए कि मैं आपको यह सब लिख रहा हूं। मैं आपसे पूछता हूं कि क्या सरकार इस बात के लिए बाध्य नहीं है कि जैसे सवारी गाड़ियों के आने-जाने के लिए सड़कों को ठीक हालत में रखती है उसी तरह गांववालों के उपयोग के लिए मैंने जो रास्ते बनाये हैं उन्हें वह अच्छी हालत में रखे? जांच करने पर मुझे पता लगा है कि मौसम के दरमियान महाबलेश्वर जाने के लिए कोंकण के कोई पचास-साठ गांव इन नये बने हुए रास्तों का उपयोग करेंगे। मैंने यह भी पता लगाया है कि ये गांव भूमि-कर के रूप में हर साल पचास से दोसौ रुपये तक देते हैं, बल्कि एक तो तीनसौ रुपये देता है। इन गांवों की गाढ़ी कमाई से जो कुछ हजार रुपया सरकार हर साल भूमि कर के रूप में वसूल करती है उसके बदले में इनके लिए वह क्या करती है, यह मैं नहीं जानता। आपको यह याद रखना चाहिए कि कोंकण और दक्षिण के इन साठ गांवों के लिए महाबलेश्वर ही एक और अकेला ऐसा जरिया है कि जिसके द्वारा वह अपना सरकारी पावना अदा करने के लिए हर साल कुछ रुपये कमा सकते हैं। इसमें से अधिकांश के पास अपने जमीन के थोड़े-से हिस्से से जो कुछ मिल जाये, बशर्ते कि बरसात ठीक हो जाये, उसके सिवा और कोई जरिया नहीं है और हरेक के पास जमीन का जो थोड़ा-सा टुकड़ा है उसमें पैदा होनेवाला अनाज खुद उसके तथा उसके कुटुम्ब के लिए मुश्किल से ही पूरा होता है। नतीजा यह होता है कि जो-कुछ रुपया उन्हें चाहिए उसके लिए घास और लकड़ी के भारे लेकर उन्हें महाबलेश्वर जाना पड़ता है। और कुटुम्ब की परवरिश के लिए खाली पुरुषों के जाने से ही काम नहीं चलता, बल्कि उनकी स्त्रियों और माताओं तथा दस-बारह साल के बच्चों तक को उनके साथ भारे लेकर जाना पड़ता है। आप मुझपर विश्वास नहीं करेंगे, लेकिन मैंने ऐसे दर्जनों पुरुषों, स्त्रियों व बच्चों से खुद बातचीत की है, जो मंगल-

वार के सवेरे लगनेवाले साप्ताहिक बाजार के लिए महाबलेश्वर पहुंचने को रविवार के तीसरे पहर कोंकण के अपने गांवों से रवाना होते हैं और दो दिन की सारी मेहनत व तकलीफ के बाद हरेक कमाता है, कुल चार आने या अधिक-से-अधिक पांच आने !

"इन गांववालों से बातें कर-करके मैंने कुछ और हालात भी मालूम किये हैं, जो शायद आपके लिए उपयोगी होंगे :

१. इन सबने इस बात की शिकायत की कि उनके खेतों की जमीन साल-ब-साल अनुत्पादक होती जा रही है, जिससे दस साल पहले जितनी उपज हुआ करती थी अब उससे आधी के करीब होने लगी है।

२. इनका कहना है कि कांग्रेस-सरकार ने हरेक मवेशी पीछे चार आने कर फिर लगा दिया है, जिससे पिछले दो सालों से वे मुक्त थे।

३. गांवों के आसपास जो जमीनें पड़ती पड़ी हुई हैं उन्हें काश्त के लिए दे दिया जाय और जो छोटे-छोटे जंगली इलाके सुरक्षित रखे गये हैं उन्हें उनके मवेशियों के लिए खोल दिया जाय।

"महात्माजी, मैं चाहता हूं कि इन आदिजनों की, जैसा कि महाबलेश्वर के आसपास की घाटियों के इन गरीब ग्रामीणों को मैं कहता हूं और जिनकी भलाई व बहबूदी के लिए मेरी दिलचस्पी है, मदद के लिए आप जरूर कुछ करें।"

मैंने यह पत्र बम्बई के मन्त्रियों के पास भेज दिया था और पाठकों को यह बतलाते हुए मुझे खुशी होती है कि उन्होंने इस बारे में कार्रवाई करने का निश्चय कर लिया है। जिन पगडंडियों को श्री वाडिया ने पहले से कहीं ज्यादा साफ-सुथरा और सुरक्षित बना दिया है, बम्बई सरकार उन्हें मरम्मत कराकर अच्छी हालत में रखा करेगी। साथ ही, दूसरी जिन बातों का श्री वाडिया ने जिक्र किया है उनकी भी वह व्यवस्था करेगी। श्री वाडिया ने जो कुछ किया उसका विस्तृत विवरण भेजने के लिए मैंने उन्हें लिखा था। ऐसा मालूम पड़ता है कि पगडंडियां बनाने में मजदूरों के साथ खुद उन्होंने भी काम किया और उनके रोड-इंजीनियर खुद वही बने। अपनी जेब से उन्होंने दोसौ रुपये से ज्यादा रुपया खर्च किये और एक सौ पच्चीस रुपया उनके दो मित्रों ने दिये। मुझे इस बात का पक्का भरोसा है कि अपनी

किताब लिखना स्थगित करके श्री वाडिया ने कुछ खोया नहीं है, क्योंकि बहुत संभवत: अब उसमें उनकी बिल्कुल असली उदारता का फल भी मिल जायगा। अपने पास बची हुई रकम में से दानस्वरूप कुछ देने का तो फैशन बन गया है, लेकिन रुपये की तरह अपना परिश्रम लोग नहीं देते। जो ऐसा करते हैं, वे अपने दान का यथासंभव सर्वोत्तम उपयोग करते हैं। आशा है कि पहाड़ों पर जानेवाले दूसरे लोग भी श्री वाडिया के सुन्दर उदाहरण का अनुकरण कर उन गरीबों की हालत का अध्ययन करके सुधारने की कोशिश करेंगे, जो बिना कोई शिकायत किये अक्सर किसी तरह पेट भरने लायक मजूरी पर ही काम करते हैं। (ह० से०, २६. ७. ३६)

: २०८ :

वालीअम्मा आर० मनुस्वामी मुदिलायर

एक दूसरी बहन भयंकर बुखार लेकर (जेल से) बाहर निकली, जिसने थोड़े ही दिन बाद उसे परमात्मा के घर पहुंचा दिया। उसे मैं कैसे भूल सकता हूं? वालीअम्मा आर० मनुस्वामी मुदिलायर अठारह वर्ष की बालिका थी। मैं उसके पास गया तब वह बिस्तर से उठ भी नहीं सकती थी। कद ऊंचा था। उसका लकड़ी के जैसा शरीर डरावना मालूम होता था।

मैंने पूछा—"वालीअम्मा, जेल जाने पर पश्चाताप तो नहीं है?"

"पश्चाताप क्यों होने! अगर मुझे फिर गिरफ्तार करें तो मैं पुनः इसी क्षण जेल जाने को तैयार हूं।"

"पर इसमें यदि मौत आ जाय तो?"

"भले ही आवे न! देश के लिए मरना किसे न अच्छा लगेगा?"

इस बातचीत के कुछ दिन बाद वालीअम्मा की मृत्यु हो गई। देह चला गया, पर वह बाला तो अपना नाम अमर कर गई। इसकी मृत्यु पर शोक प्रकट करने के लिए स्थान-स्थान पर शोक-सभाएं हुईं और कौम ने इस पवित्र देवी का स्मारक बनाने के लिए एक 'वालीअम्मा हॉल' नामक भवन बनवाने का निश्चय किया। पर कौम ने इस हॉल को बनवाकर अपने धर्म का पालन अभी तक नहीं किया! उसमें कई विघ्न उपस्थित हो गये। कौम

में फूट हो गई। मुख्य कार्यकर्ता एक के बाद एक वहां से चले गये। पर वह ईंट-पत्थर का स्मारक बने, या न भी बने, वालीअम्मा की सेवा का नाश नहीं हो सकता। इस सेवा का हॉल तो उसने स्वयं अपने हाथों से बना रखा है। आज भी उसकी वह मूर्ति कितने ही हृदयों में विराज रही है। जहांतक भारतवर्ष का नाम रहेगा वहांतक दक्षिण अफ्रीका के इतिहास में वाली-अम्मा का नाम भी अमर रहेगा। (द० अ० स०)

... ...

इन बहनों का बलिदान विशुद्ध था। उनका जेल जाना उनका आर्तनाद था, शुद्ध यज्ञ था। ऐसी शुद्ध हार्दिक प्रार्थना को ही प्रभु सुनते हैं। यज्ञ की शुद्धि ही में उसकी सफलता है। भगवान तो भावना के भूखे हैं। भक्ति-पूर्वक अर्थात् निःस्वार्थ भाव से अर्पित किया हुआ पत्र, पुष्प और जल भी पर-मात्मा को प्रिय है। उसे वह सप्रेम अंगीकार करके करोड़ों गुना फल देते हैं। सुदामा के मुट्ठीभर चावल के बदले में उसकी वर्षों की भूख भाग गई। अनेक के जेल जाने से चाहे कोई फल न निकले, मगर एक शुद्धात्मा का भक्तिपूर्ण समर्पण किसी समय निष्फल नहीं हो सकता। कौन कहता है कि दक्षिण अफ्रीका में किस-किस का यज्ञ सफल हुआ, पर इतना हम जरूर जानते हैं कि वालीअम्मा का बलिदान अवश्य ही सफल हुआ। (आ० क०, १९२७)

: २०९ :

वासन्तीदेवी

बेगम मुहम्मदअली ने अंगोरा फण्ड के लिए जहां-जहां से रुपया प्राप्त किया है वहां से शायद मौलानासाहब भी न ले पाते। यह बात मैं पहले ही कह चुका हूं कि उनका भाषण तो मौलानासाहब से भी बढ़िया होता है। अब मैं पाठकों को एक रहस्य और सुनाता हूं। बंगाल में आज यह आग किसने सुलगाई? श्रीमती वासन्तीदेवी और उर्मिलादेवी ने। वे खुद गली-गली खादी बेचती फिरीं। यह उनकी गिरफ्तारी का प्रभाव है जो बंगाल का ध्यान इस तरफ गया। देशबन्धुदास के प्रचंड आत्मत्याग ने भी ऐसा चमत्कार नहीं दिखाया। मेरे पास एक पत्र वहां से आया है। उससे यही

मालूम होता है। यह बात गलत नहीं हो सकती; क्योंकि स्त्री क्या है ? वह साक्षात त्यागमूर्ति है। जब कोई स्त्री किसी काम में जी-जान से लग जाती है तो वह पहाड़ को भी हिला देती है।

(हि० न०, २५.१२.२१)

... ...

कुछ वर्ष पूर्व मैंने स्वर्गीया रमाबाई रानडे के दर्शन का वर्णन किया था। मैंने आदर्श विधवा के रूप में उनका परिचय दिया था।

इस समय मेरे भाग्य में एक महान् वीर की विधवा के वैधव्य के आरंभ का चित्र उपस्थित करना बदा है।

वासंतीदेवी के साथ मेरा परिचय १९१९ में हुआ है। गाढ़ परिचय १९२१ में हुआ। उनकी सरलता, चातुरी और उनके अतिथि-सत्कार की बहुतेरी बातें मैंने सुनी थीं। उनका अनुभव भी ठीक-ठीक हुआ था। जिस प्रकार दार्जिलिंग में देशबन्धु के साथ मेरा सम्बन्ध घनिष्ठ हुआ उसी तरह वासन्तीदेवी के साथ भी हुआ। उनके वैधव्य में तो परिचय बहुत ही बढ़ गया है। जबसे वह दार्जिलिंग से शव को लेकर कलकत्ते आई हैं तबसे मैं कह सकता हूं कि उनके साथ ही रहा हूं। वैधव्य के बाद पहली मुलाकात उनके दामाद के घर हुई। उनके आसपास बहुतेरी बहनें बैठी थीं। पूर्वाश्रम में तो जब मैं उनके कमरे में जाता तो खुद वही सामने आतीं और मुझे बुलातीं। वैधव्य में मुझे क्या बुलातीं ? पुतली की तरह स्तम्भित बैठी अनेक बहनों में से मुझे उन्हें पहचानना था। एक मिनट तक तो मैं खोजता ही रहा। मांग में सिंदूर, ललाट पर कुंकुम, मुंह में पान, हाथ में चूड़ियां और साड़ी पर लैस, हँसमुख चेहरा—इनमें से एक भी चिह्न मैं न देखूं तो वासंती-देवी को किस तरह पहचानूं ? जहां मैंने अनुमान किया था कि वह होंगी वहां जाकर बैठ गया और गौर से मुख-मुद्रा देखी। देखना असह्य हो गया। चेहरा तो पहचान में आया। रुदन रोकना असम्भव हो गया। छाती को पत्थर बनाकर आश्वासन देना तो दूर ही रहा।

उनके मुख पर सदा-शोभित हास्य आज कहां था ? मैंने उन्हें सांत्वना देने, रिझाने और बातचीत कराने की अनेक कोशिशें कीं। बहुत समय के बाद मुझे कुछ सफलता मिली।

देवी ज़रा हँसी।

मुझे हिम्मत हुई और मैं बोला।

"आप रो नहीं सकतीं। आप रोओगी तो सब लोग रोयेंगे। मोना (बड़ी लड़की) को बड़ी मुश्किल से चुपकी रखा है। बेबी (छोटी लड़की) की हालत तो आप जानती ही हैं। सुजाता (पुत्रबधू) फूट-फूटकर रोती थी सो बड़े प्रयास से शांत हुई है। आप दया रखियेगा। आपसे अब बहुत काम लेना है।"

वीरांगना ने दृढ़तापूर्वक जवाब दिया :

"मैं नहीं रोऊंगी। मुझे रोना आता ही नहीं।"

मैं इसका मर्म समझा, मुझे संतोष हुआ।

रोने से दुःख का भार हल्का हो जाता है। इस विधवा बहन को तो भार हलका नहीं करना था, उठाना था। फिर रोती कैसे?

अब मैं कैसे कह सकता हूं—"लो, चलो हम भाई-बहन पेट भर रो लें और दुःख कम कर लें?"

हिन्दू विधवा दुःख की प्रतिमा है। उसने संसार के दुःख का भार अपने सिर ले लिया है। उसने दुःख को सुख बना डाला है। दुःख को धर्म बना डाला है।

वासन्तीदेवी सब तरह के भोजन करती थीं। १६२० तक के समय में उनके यहां छप्पन भोग होते थे और सैकड़ों लोग भोजन करते थे। पान के बिना वह एक मिनिट नहीं रह सकती थीं। पान की डिबिया पास ही पड़ी रहती थी।

अब शृंगार-भाव का त्याग, पान का त्याग, मिष्ठानों का त्याग, मांस-मत्स्य का त्याग, केवल पति का ध्यान, परमात्मा का ध्यान।...

इस दुःख को सहन करना धर्म है या अधर्म? और धर्मों में तो ऐसा नहीं देखा जाता। हिन्दू-धर्म शास्त्रियों ने भूल तो न की हो? वासन्तीदेवी को देखकर मुझे इसमें भूल नहीं दिखाई देती, बल्कि धर्म की शुद्ध भावना दिखाई देती है। वैधव्य हिन्दू-धर्म का शृंगार है। धर्म का भूषण वैराग्य है, वैभव नहीं। दुनिया भले ही और कुछ कहे तो कहती रहे।

परन्तु हिन्दू-शास्त्र किस वैधव्य की स्तुति और स्वागत करता है?

पन्द्रह वर्ष की मुग्धा के वैधव्य का नहीं जो कि विवाह का अर्थ भी नहीं जानती। बाल-विधवाओं के लिए वैधव्य धर्म नहीं, अधर्म है। वासन्तीदेवी को मदन खुद आकर ललचावे तो वह भस्म हो जाय। वासन्तीदेवी के शिव की तरह तीसरी आंख है। परन्तु पन्द्रह वर्ष की बालिका वैधव्य की शोभा को क्या समझ सकती है? उसके लिए तो वह अत्याचार ही है। बाल-विधवाओं की वृद्धि में मुझे हिन्दू-धर्म की अवनति दिखाई देती है। वासंती-देवी जैसी के वैधव्य में मैं शुद्ध धर्म का पोषण देखता हूं। वैधव्य सब तरह, सब जगह, सब समय, अनिवार्य सिद्धांत नहीं है। वह उस स्त्री के लिए धर्म है जो उसकी रक्षा करती है।

रिवाज के कुएं में तैरना अच्छा है। उसमें डूबना आत्महत्या है।

जो बात स्त्री के सम्बन्ध में वही बात पुरुष के सम्बन्ध में होनी चाहिए। राम ने यह कर दिखाया। सती सीता का त्याग भी वह सह सके। अपने ही किये त्याग से खुद ही जले। जबसे सीता गई तबसे रामचन्द्र का तेज घट गया। सीता के देह का तो त्याग उन्होंने किया पर उसे अपने हृदय की स्वामिनी बना लिया। उस दिन से उन्हें न तो शृंगार भाया, न दूसरा वैभव। कर्तव्य समझकर तटस्थता के साथ राज्य-कार्य करते हुए शान्त रहे।

जिन बातों को आज वासंतीदेवी सह रही हैं, जिनमें से वह अपने विलास को हटा सकती हैं, वे बातें जबतक पुरुष न करेंगे तबतक हिन्दू-धर्म अधूरा है। 'एक को गुड़ और दूसरे को थूहर' यह उलटा न्याय ईश्वर के दरबार में नहीं हो सकता। परन्तु आज हिन्दू पुरुषों ने इस ईश्वरीय कानून को उलट दिया है। स्त्री के लिए वैधव्य कायम रखा है, और अपने लिए श्मशान भूमि में ही दूसरे विवाह की योजना करने का अधिकार!

वासन्तीदेवी ने अबतक किसीके देखते, आंसू की एक बूंद तक नहीं गिराई है। फिर भी उनके चेहरे पर तेज तो आ ही नहीं रहा है। उनकी मुखाकृति ऐसी हो गई है कि मानों भारी बीमारी से उठी हों। यह हालत देखकर मैंने उनसे निवेदन किया कि थोड़ा समय बाहर निकलकर हवा खाने चलिये। मेरे साथ मोटर में तो बैठीं; पर बोलने क्यों लगीं? मैंने कितनी ही बातें चलाईं—वह सुनती रहीं। पर खुद उसमें बराय नाम शरीक

हुईं। हवाखोरी की तो, पर पछताईं। सारी रात नींद न आई। "जो बात मेरे पति को अतिशय प्रिय थी वह आज इस अभागिनी ने की। यह क्या शोक है?" ऐसे विचारों में रात गई। भोंबल (उनका लड़का) मुझे यह खबर दे गया! आज मेरा मौनवार है। मैंने कागज पर लिखा है—"यह पागलपन हमें माताजी के सिर से निकालना होगा। हमारे प्रियतम को प्रिय लगनेवाली बहुतेरी बातें हमें उसके वियोग के बाद करनी पड़ती हैं। माताजी विलास के लिए मोटर में नहीं बैठी थीं, केवल आरोग्य के लिए बैठी थीं। उन्हें स्वच्छ हवा की बहुत जरूरत थी। हमें उनका बल बढ़ाकर उनके शरीर की रक्षा करनी होगी। पिताजी के काम को चमकाने और बढ़ाने के लिए हमें उनकी शरीर की आवश्यकता है। यह माताजी से कहना।"

"माताजी ने तो मुझसे कहा था कि यह बात ही आपसे न कही जाय। पर मुझसे न रहा गया। अभी तो यही उचित मालूम होता है कि आप उन्हें मोटर में बैठने के लिए न कहें।"—भोंबल ने कहा।

बेचारा भोंबल! किसीका लौटाया न लौटनेवाला लड़का आज बकरी जैसा बनकर बैठा है। उसका कल्याण हो!

पर इस साध्वी विधवा का क्या? वैधव्य प्यारा लगता है, फिर भी असह्य मालूम होता है। सुधन्वा खौलते हुए तेल के कड़ाह में भटकता था और मुझ जैसे दूर रहकर देखनेवाले उसके दुःख की कल्पना करके कांपते थे। सती स्त्रियों, अपने दुःख को तुम संभाल कर रखना! वह दुःख नहीं, सुख है। तुम्हारा नाम लेकर बहुतेरे पार उतर गये हैं और उतरेंगे।

वासन्ती देवी की जय हो! (हि० न०, २.७.२५)

: २१० :

कुमारी फ्लोरेंस विण्टरबोटम

कुमारी फ्लोरेंस विण्टरबोटम की मृत्यु का समाचार अभी-अभी एक मित्र के द्वारा इंग्लैंड से प्राप्त हुआ है। भारत में उन थोड़े-से लोगों के अलावा, जो उनके व्यक्तिगत सम्पर्क में आये और कोई उनको नहीं जानते।

वह उन दुर्लभ स्त्री-पुरुषों में से एक थीं जो सेवा को ही मेवा मानते हैं और वह ऐसे अंग्रेजों के वर्ग में थी जो निन्दा, व्यंग्य और विरोध का सामना करते हुए परित्यक्त लोगों के साथ दोस्ती जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। वह नैतिक आन्दोलन की प्रमुख थी और नैतिक संस्थाओं के संघ की अध्यक्षा थीं। वह इमर्सन क्लब की मंत्री थी। मैं जब सन १९०६ में दक्षिण अफ्रीकी भारतीयों के प्रथम-प्रतिनिधि मण्डल के नेता के रूप में इंग्लैंड गया था, तब उनसे मिलने का सुअवसर प्राप्त हुआ। मैं उनके बारे में कुछ भी नहीं जानता था, किन्तु लन्दन के प्रमुख दैनिक पत्रों के कोनों में प्रतिनिधि-मण्डल की गतिविधियों का हाल पढ़कर वह हमसे मिलने आईं, सभाओं में मेरे भाषण कराये, दक्षिण अफ्रीकी प्रश्न का अध्ययन किया और विविध रूपों में उस काम में मदद पहुंचाई, जिसके लिए उस समय इंग्लैंड में कुछ चुने हुए ही मित्र थे। तबसे वह दक्षिण अफ्रीकी भारतीयों के काम की सतत और कष्टसाधक समर्थक बन गईं। जो भी उनके सम्पर्क में आया, उसे यह अनुभव हुए बिना नहीं रहा कि वह निडर हैं, ईमानदारी को ईमानदारी की खातिर पसन्द करती है, केवल उसे अच्छी नीति नहीं मानतीं और प्रश्नों पर तटस्थ दृष्टि से विचार कर सकतीं हैं। वह हृदय से अंग्रेज थीं तो उतनी ही तीव्रता से अन्तर्राष्ट्रीय भी थीं। उनकी देश-भक्ति ऐसी नहीं थी कि वह अंग्रेजों की हर भली-बुरी बात का समर्थन करने लगतीं। जब लोग मुझसे कहते हैं कि जहांतक अंग्रेजों का सम्बन्ध है, अहिंसा कारगर नहीं हो सकती, मैं कुमारी फ्लोरेंस विण्टरबोटम जैसे उदाहरणों पर विचार करता हूं, अहिंसा में अंग्रेज स्वभाव में और यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि मानव स्वभाव में मेरी श्रद्धा परिपुष्ट होती है। उनकी आत्मा को शांति मिले।

(यं० इं०, २७.१.२७)

: २११ :

गणेशशंकर विद्यार्थी

गणेशशंकर विद्यार्थी की मृत्यु हम सबकी स्पर्धा के योग्य थी। उनका रक्त वह सीमेण्ट है, जो अन्ततोगत्वा दोनों जातियों को जोड़ेगा। कोई पैक्ट

या समझौता हमारे दिलों को नहीं जोड़ेगा; पर जैसी वीरता गणेशशंकर विद्यार्थी ने बताई है, आखिरकार वह अवश्य ही पाषाण-से-पाषाण हृदयों को पिघलावेगी, और पिघलाकर एक करेगी। पर यह जहर, किसी तरह क्यों न हो, इतना गहरा फैल गया है कि गणेशशंकर विद्यार्थी के समान महान, आत्मत्यागी और नितान्त वीरपुरुष का रक्त भी, आज तो इसे धो बहाने के लिए शायद काफी न हो। अगर भविष्य में ऐसा मौका फिर आवे तो इस भव्य बलिदान से हम वैसा ही प्रयत्न करने की प्रेरणा प्राप्त करें। मैं उनकी दुखिनी विधवा और उनके बच्चों के साथ अपनी आन्तरिक समवेदना प्रकट नहीं करता, पर गणेशशंकर विद्यार्थी की योग्य पत्नी और सन्तान के नाते उन्हें बधाई देता हूं। वह मरे नहीं हैं। आज वह तबसे कहीं अधिक सच्चे रूप में जी रहे हैं, जब हम उन्हें भौतिक शरीर में जीवित देखते और पहचानते थे। (हि० न०, ६.४.३१)

... ...

तीन कार्यकर्ता—दो हिन्दू और एक मुसलमान—दंगा मिटाने के खयाल से गये और उसी कोशिश में काम आये। मुझे उनकी मौत का दुःख नहीं होता। रुलाई नहीं आती। इसी तरह श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ने कानपुर के दंगे में अपनी जान कुरबान की थी। दोस्तों ने उनको रोका और कहा था, "दंगे की जगह न जाइये। वहां लोग पागल होगये हैं। वे आपको मार डालेंगे।" लेकिन गणेशशंकर विद्यार्थी इस तरह डरनेवाले नहीं थे। उन्हें यकीन था कि उनके जाने से दंगा जरूर मिटेगा। वह वहां पहुंचे और दंगे के जोश में पागल बने लोगों के हाथों मारे गये। उनकी मौत के समाचार सुनकर मुझे खुशी ही हुई थी। यह सब मैं आपको भड़काने के लिए नहीं कहता। मैं तो आपको यह समझाना चाहता हूं कि आप मरने का पाठ सीख लें तो सब खैर-ही-खैर है। अगर गणेशशंकर विद्यार्थी, बसन्तराव और रज्जबअली-जैसे कई नौजवान निकल पड़ें तो दंगे हमेशा के लिए मिट जायं। (ह० से०, १४.७.३६)

: २१२ :

विनोबा भावे

श्री विनोबा भावे कौन हैं ? मैंने उन्हें ही सत्याग्रह के लिए क्यों चुना? और किसीको क्यों नहीं ? मेरे हिन्दुस्तान लौटने पर सन् १९१६ में उन्होंने कालिज छोड़ा था। वह संस्कृत के पंडित हैं। उन्होंने आश्रम में शुरू से ही प्रवेश किया था। आश्रम के सबसे पहले सदस्यों में से वह एक हैं। अपने संस्कृत के अध्ययन को बढ़ाने के लिए वह एक वर्ष की छुट्टी लेकर चले गये। एक वर्ष के बाद ठीक उसी घड़ी, जबकि उन्होंने एक वर्ष पहले आश्रम छोड़ा था, चुपचाप आश्रम में आ पहुंचे। मैं तो भूल ही गया था कि उन्हें उस दिन आश्रम में वापस पहुंचना था। वह आश्रम में सब प्रकार की सेवा प्रवृत्तियों—रसोई से लगाकर पाखाना सफाई तक—में हिस्सा ले चुके हैं। उनकी स्मरणशक्ति आश्चर्यजनक है। वह स्वभाव से ही अध्ययनशील हैं। पर अपने समय का ज्यादा-से-ज्यादा हिस्सा वह कातने में ही लगाते हैं और उसमें ऐसे निष्णात हो गये हैं कि बहुत ही कम लोग उनकी तुलना में रखे जा सकते हैं। उनका विश्वास है कि व्यापक कताई को सारे कार्यक्रम का केन्द्र बनाने से ही गांवों की गरीबी दूर हो सकती है। स्वभाव से ही शिक्षक होने के कारण उन्होंने श्रीमती आशादेवी को दस्तकारी के द्वारा बुनियादी तालीम की योजना को विकास करने में बहुत योग दिया है। श्री विनोबा ने कताई को बुनियादी दस्तकारी मानकर एक पुस्तक भी लिखी है। वह बिल्कुल मौलिक चीज है। उन्होंने हँसी उड़ानेवालों को भी यह सिद्ध करके दिखा दिया है कि कताई एक ऐसी अच्छी दस्तकारी है जिसका उपयोग बुनियादी तालीम में बखूबी किया जा सकता है। तकली कातने में तो उन्होंने क्रान्ति ही ला दी है और उसके अन्दर छिपी हुई तमाम शक्तियों को खोज निकाला है। हिन्दुस्तास में हाथ-कताई में इतनी संपूर्णता किसीने प्राप्त नहीं की जितनी कि उन्होंने की है।

उनके हृदय में छुआछूत की गंध तक नहीं है। साम्प्रदायिक एकता में उनका उतना ही विश्वास है जितना कि मेरा। इस्लाम धर्म की खूबियों को समझने के लिए उन्होंने एक वर्ष तक कुरानशरीफ का मूल अरबी में अध्ययन

किया। इसके लिए उन्होंने अरबी भी सीखी। अपने पड़ोसी मुसलमान भाइयों से अपना सजीव सम्पर्क बनाये रखने के लिए उन्होंने इसे आवश्यक समझा।

उनके पास उनके शिष्यों और कार्यकर्ताओं का एक ऐसा दल है जो उनके इशारे पर हर तरह का बलिदान करने को तैयार है। एक युवक ने अपना जीवन कोढ़ियों की सेवा में लगा दिया है। उसे इस काम के लिए तैयार करने का श्रेय श्री विनोबा को ही है। औषधियों का कुछ भी ज्ञान न होने पर भी अपने कार्य में अटल श्रद्धा होने के कारण उसने कुष्ठ रोग की चिकित्सा को पूरी तरह समझ लिया है। उसने उनकी सेवा के लिए कई चिकित्साघर खुलवा दिये हैं। उसके परिश्रम से सैकड़ों कोढ़ी अच्छे हो गये हैं। हाल ही में उसने कुष्ठ-रोगियों के इलाज के सम्बन्ध में एक पुस्तिका मराठी में लिखी है।

विनोबा कई वर्षों तक वर्धा के महिला-आश्रम के संचालक भी रहे हैं। दरिद्रनारायण की सेवा का प्रेम उन्हें वर्धा के पास के एक गांव में खींच ले गया। अब तो वह वर्धा से पांच मील दूर पौनार नामक गांव में जा बसे हैं और वहां से उन्होंने अपने तैयार किये हुए शिष्यों के द्वारा गांववालों के साथ सम्पर्क स्थापित कर लिया है। वह मानते हैं कि हिंदुस्तान के लिए राजनैतिक स्वतन्त्रता आवश्यक है। वह इतिहास के निष्पक्ष विद्वान हैं। उनका विश्वास है कि गांववालों को रचनात्मक कार्यक्रम के बगैर सच्ची आजादी नहीं मिल सकती और रचनात्मक कार्यक्रम का केन्द्र है खादी। उनका विश्वास है कि चरखा अहिंसा का बहुत ही उपयुक्त बाह्य चिह्न है। उनके जीवन का तो वह एक अंग बन गया है। उन्होंने पिछली सत्याग्रह की लड़ाइयों में सक्रिय भाग लिया था। वह राजनीति के मंच पर कभी लोगों के सामने आये ही नहीं। कई साथियों की तरह उनका यह विश्वास है कि सविनय आज्ञा-भंग के अनुसंधान में शान्त रचनात्मक काम कहीं ज्यादा प्रभावकारी होता है, इसकी अपेक्षा कि जहां आगे ही राजनैतिक भाषणों का अखण्ड प्रवाह चल रहा है वहां जाकर और भाषण दिये जायं। उनका पूर्ण विश्वास है कि चरखे में हार्दिक श्रद्धा रखे बिना, रचनात्मक कार्य में सक्रिय भाग लिये बगैर अहिंसक प्रतिकार सम्भव नहीं।

श्री विनोबा युद्ध मात्र के विरोधी हैं। परन्तु वह अपनी अन्तरात्मा की तरह उन दूसरों की अन्तरात्मा का भी उतना ही आदर करते हैं जो युद्ध-मात्र के विरोधी तो नहीं हैं, परन्तु जिनकी अन्तरात्मा इस वर्तमान युद्ध में शरीक होने की अनुमति नहीं देती। अगरचे श्री विनोबा दोनों दलों के प्रतिनिधि के तौर पर हैं, यह हो सकता है कि सिर्फ हाल के इस युद्ध में विरोध करनेवाले दल का खास एक और प्रतिनिधि चुनने की मुझे आवश्यकता अनुभव हो। (ह० से)

... ...

विनोबा लिख सकते हैं मगर वह कभी न लिखेंगे। शास्त्र-रचना के लिए समय निकालना उनकी दृष्टि में अधर्म होगा। मैं भी उसे अधर्म समझूंगा। संसार को शास्त्र की भूख नहीं, सच्चे कर्म की है और हमेशा रहेगी। जो इस भूख को मिटा सकता है, वह शास्त्र-रचना में न पड़े।

(ह० से०, ३.३.४६)

: २१३ :

रशब्रुक विलियम्स

एक पत्र-लेखक ने 'बांबे क्रॉनिकल' पत्र से काटकर यह कतरन भेजी है :

"मि० रशब्रुक विलियम्स ने 'मांचेस्टर गार्जिअन' में एक पत्र लिखकर यह जाहिर किया है कि गये वर्ष के आखिरी महीनों के दरमियान कांग्रेस के दक्षिण पक्षीय नेता एक ऐसा निश्चित रुख अख्तियार करते जा रहे थे कि जिससे प्रांतीय सरकारों से मिलते-जुलते किसी-न-किसी समझौते पर केन्द्रीय सरकार के सम्बन्ध में भी पहुंचने की बात सरकार को सुझा सकते थे। इसलिए कांग्रेस को अपनी ताकत का हिसाब लगाना पड़ा। लीग के प्रताप से, मुसलमानों का समर्थन तो उन्हें प्राप्त ही नहीं और बगैर ऐसे समर्थन के, जबतक कुछ नये मित्र न मिल जायं तबतक केन्द्रीय सरकार बनाना नामुमकिन है। इसी वजह से देशी राज्यों पर सारा ध्यान केन्द्रित करना कांग्रेस के लिए जरूरी हो गया, जिससे देशी राज्यों से ऐसे अनुकूल प्रतिनिधि प्राप्त किये जा सकें, जो कि कांग्रेस के कार्यक्रम से सहानुभूति रखते हों।"

मि० रशब्रुक विलियम्स भारत के पुराने 'शत्रु' हैं। असहयोग के दिनों में हिन्दुस्तान की सरकारी वार्षिक पुस्तक इंडियन ईयर बुक का उन्होंने सम्पादन किया था, जिसमें अपनी दिमागी उपज की उन्होंने कितनी ही बातें लिखी थीं और जिन हकीकतों का उल्लेख वह छोड़ नहीं सके, उनको उन्होंने अपने रंग में रंग दिया था। अखबारों में प्रकाशित रिपोर्ट अगर सही है तो कहना चाहिए कि उन्होंने फिर अपना वही पुराना भेष 'मांचेस्टर गार्जिअन' में दिखाया है। (ह० से०, ११.३.३६)

: २१४ :

स्वामी विवेकानन्द

रामकृष्ण और विवेकानन्द के बारे में रोलांकी पुस्तकें ध्यान और दिलचस्पी के साथ पढ़ ली हैं। रामकृष्ण के बारे में हमेशा पूज्यभाव तो रहा ही था। उनके बारे में पढ़ा तो थोड़ा ही था, मगर कई चीजें भक्तों से सुनी थी। उनपर से भाव पैदा हुआ था। यह नहीं कह सकता कि रोलां की पुस्तकें पढ़ने से उसमें वृद्धि हुई है। असल में रोलां की दोनों पुस्तकें पश्चिम के लिए लिखी गई हैं। यह तो नहीं कहूंगा कि हमें उनसे कुछ नहीं मिल सकता। मगर मुझे बहुत कम मिला है। जिन बातों का मुझपर प्रभाव पड़ा था, वह भी रोलां की पुस्तकों में हैं। उसके सिवा जो नई बातें हैं उनसे प्रभाव में कोई वृद्धि नहीं हुई। मुझे यह नहीं लगा कि जितने भक्त रामकृष्ण थे, उतने विवेकानन्द भी थे। विवेकानन्द का प्रेम विस्तृत था, वह भावना से भरपूर थे और भावना में बह भी जाते थे। यह भावना उनके ज्ञान के लिए हिरण्यमय पात्र थी। धर्म और राजनीति में उन्होंने जो भेद किया था, वह ठीक नहीं था। मगर इतने महान व्यक्ति की आलोचना कैसी ? और आलोचना करने बैठ जायं तो कैसी भी आलोचना की जा सकती है। हमारा धर्म तो यह है कि ऐसे व्यक्तियों से जो कुछ लिया जा सके वह ले लें। तुलसीदास का जड़-चेतनवाला दोहा मेरे जीवन में अच्छी तरह रम गया है, इसलिए आलोचना करना मुझे पसन्द ही नहीं आता। मगर मैं जनता हूं कि मेरे मन में भी कोई आलोचना रह गई हो तो उसे

जानने की तुम्हें इच्छा हो सकती है। इसीलिए मैंने इतना लिख दिया है। मेरे मन में शंका नहीं है कि विवेकानन्द महान सेवक थे। यह हमने प्रत्यक्ष देख लिया कि जिसे उन्होंने सत्य मान लिया, उसके लिए अपना शरीर गला डाला। सन् १६०१ में जब मैं बेलूर मठ देखने गया था, तब विवेकानन्द के भी दर्शन करने की बड़ी इच्छा थी। मगर मठ में रहनेवाले स्वामी ने बताया कि वह तो बीमार हैं। शहर में हैं और उनसे कोई मिल नहीं सकता। इसलिए निराशा हुई थी। मुझमें जो पूज्य भाव रहा है, उसके कारण मैं बहुत-सी आपत्तियों से बच गया हूं। उस समय कोई ऐसा प्रसिद्ध व्यक्ति नहीं था, जिससे मैं भावना के साथ मिलने दौड़ न जाता था। और ज्यादा-तर जगहों पर मैं भी, कलकत्ते के लम्बे रास्तों में, पैदल ही जाता था। इसमें भक्ति-भाव था, रुपया बचाने की वृत्ति न थी। वैसे मेरे स्वभाव में यह चीज भी हमेशा रही तो है ही। (म० डा०, १.७.३२)

: २१५ :

वेरस्टेन्ट

'प्रिटोरिया न्यूज' के सम्पादक वेरस्टेन्ट भी खुले दिल से भारतीयों की सहायता करते थे। एक बार प्रिटोरिया के टाउन हाल में वहां के मेयर की अध्यक्षता में गोरों की एक विराट सभा हुई थी। उसका हेतु था एशिया-निवासियों की बुराई और खूनी कानून की हिमायत करना। अकेले वेरस्टेन्ट ने इसका विरोध किया। अध्यक्ष ने उन्हें बैठ जाने की आज्ञा दी, पर उन्होंने बैठने से साफ इन्कार कर दिया। इसपर गोरों ने उनके बदन पर हाथ डालने की धमकी भी दी, तथापि वह टाउनहाल में उसी प्रकार नरसिंह की तरह गरजते रहे। आखिर सभा को अपना प्रस्ताव बिना पास किये ही उठना पड़ा। (द० अ० स०, १६२५)

: २१६ :

अल्बर्ट वेस्ट

सबसे पहले अल्बर्ट वेस्ट का नाम उल्लेखनीय है। कौम के साथ तो उनका सम्बन्ध युद्ध के पहले ही से हो गया; पर मुझसे इससे भी पहले उनका परिचय हुआ था। जब मैंने जोहांसबर्ग में अपना दफ्तर खोला उस समय मेरे साथ में बाल-बच्चे नहीं थे। पाठकों को याद होगा कि दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों का तार मिलते ही मैं एकदम रवाना हो गया था और सो भी एक साल में लौट आने के विचार से। जोहांसबर्ग में एक निरामिष भोजन-गृह था। उसमें मैं नियम से सुबह-शाम भोजन के लिए जाता था। वेस्ट भी वहीं आते थे। वहीं मेरा उनका परिचय हुआ। वह एक दूसरे गोरे के भागीदार बनकर एक छापाखाना चला रहे थे। सन् १६०४ में जोहांसबर्ग के भारतीयों में भीषण प्लेग का प्रकोप हुआ था। मैं रोगियों की सेवा-शुश्रूषा में लगा और उसके कारण उस भोजन-गृह का मेरा जाना अनियमित हो गया। जब कभी जाता तो इस खयाल से कि मेरे संसर्ग का भय दूसरे गोरे को न हो, मैं सबके पहले ही भोजन कर लेता था। जब लगातार दो दिन तक उन्होंने मुझे नहीं देखा तो वह घबड़ा गये। तीसरे दिन सुबह जब मैं हाथ-मुंह धो रहा था वेस्ट ने मेरे कमरे का दरवाजा खटखटाया। दरवाजा खोलते ही मैंने वेस्ट का प्रसन्न चेहरा देखा।

उन्होंने हँसकर कहा—**"आपको देखते ही मेरे दिल को तसल्ली हुई। आपको भोजन-गृह में न देखकर मैं घबरा गया था। अगर मुझसे आपको कोई सहायता हो सकती हो तो जरूर कहें।"**

मैंने हँसते हुए उत्तर दिया—"रोगियों की शुश्रूषा करोगे ?"

"क्यों नहीं ? जरूर, मैं तैयार हूं।"

इस विनोद के बीच मैंने कुछ सोच लिया। मैंने कहा—"आपसे मैं दूसरे प्रकार के उत्तर की अपेक्षा ही नहीं करता था। पर इस काम के लिए तो मेरे पास बहुत-से सहायक हैं। आपसे तो मैं इससे भी कठिन काम लेना चाहता हूं। मदनजीत यहींपर रुका हुआ है। 'इंडियन ओपीनियन' और प्रेस निराधार हैं। मदनजीत को मैंने प्लेग के काम के लिए रख छोड़ा है। आप अगर

डर्बन जाकर उस काम को संभाल लें तो सचमुच यह बड़ी भारी सहायता होगी। पर मैं आपको अधिक नहीं दे सकूंगा। सिर्फ १० पौंड मासिक वेतन। हां, अगर प्रेस में कुछ लाभ हो तो उसमें आपका आधा हिस्सा रहेगा।"

"काम अवश्य जरा कठिन है। मुझे अपने भागीदार की आज्ञा लेनी होगी। कुछ उगाही भी बाकी है। पर कोई चिंता की बात नहीं। आज शाम तक की मोहलत आप मुझे दे सकते हैं ?"

"अवश्य, हम लोग छः बजे शाम को पार्क में मिलेंगे।"

"जरूर, मैं भी आ पहुंचूंगा।"

छः बजे शाम को हम मिले। भागीदार की आज्ञा भी मिल गई। उगाही काम को मेरे जिम्मे करके दूसरे दिन शाम की ट्रेन से मि० वेस्ट रवाना हो गये। एक महीने के अंदर उनकी यह रिपोर्ट आई—

"इस छापेखाने में नफा तो नाम को भी नहीं है। नुकसान-ही-नुकसान है। उगाही बहुत बाकी है; लेकिन हिसाब का कोई ठिकाना नहीं है। ग्राहकों के नाम भी पूरे नहीं लिखे गये हैं। मैं यह शिकायत करने के खयाल से नहीं लिखता। आप विश्वास रखिये, मैं लाभ के लालच से यहां नहीं आया हूं। अतः इस काम को भी नहीं छोड़ूंगा। पर मैं आपको यह तो सूचित किये ही देता हूं कि बहुत दिन तक आपको क्षति-पूर्ति करनी होगी।"

ग्राहकों को बढ़ाने तथा मेरे साथ कुछ बातचीत करने के लिए मदनजीत जोहांसबर्ग आये थे। मैं हर महीने थोड़े-बहुत पैसे देकर घाटे की पूर्ति किया ही करता था। इसलिए मैं निश्चित रूप से यह जानना चाहता हूं कि और कितना गहरा इस काम में मुझे उतरना होगा ? पाठकों से मैं यह तो पहले ही कह चुका हूं कि मदनजीत को छापेखाने का कोई अनुभव नहीं था। इसलिए मैं इस बात के विचार ही में था कि किसी अनुभवी आदमी को उनके साथ में रख दिया जाय तो बड़ा अच्छा हो। यह विचार मैं कर रहा था कि इधर प्लेग का प्रकोप शुरू हो गया। इस काम में तो मदनजीत बड़े कुशल और निर्भय आदमी थे, इसलिए मैंने उनको यहीं रख लिया। इसलिए वेस्ट के स्वाभाविक प्रश्न का उपयोग मैंने कर लिया और उन्हें समझा दिया कि प्लेग के कारण ही नहीं; बल्कि स्थायी रूप से उन्हें यहां रखना होगा। इसलिए उन्होंने उपर्युक्त रिपोर्ट भेजी। पाठक जानते ही हैं इसलिए कि

छापेखाने को तथा पत्र को भी फिनिक्स ले जाना पड़ा। वेस्ट के १० पौंड मासिक वेतन के बदले फिनिक्स में तीन पौंड हो गये। पर इन परिवर्तनों में वेस्ट की पूरी सम्मति थी। मुझे तो एक दिन भी ऐसा अनुभव नहीं हुआ कि उन्हें यह विचार भी पैदा हुआ हो कि मेरी आजीविका कैसे चलेगी। धर्म का अभ्यास न होने पर भी वह एक अत्यन्त धार्मिक मनुष्य हैं। वह बड़े ही स्वतंत्र स्वभाव के मनुष्य हैं। जो वस्तु उन्हें जैसी दीखे उसे वैसी ही कहनेवाले हैं। काले को कृष्णवर्णी नहीं, काला ही कहेंगे। उनकी रहन-सहन बड़ी सीधी-सादी थी। हमारे परिचय के समय वह ब्रह्मचारी थे। मैं जानता हूं कि वह ब्रह्मचर्य का पालन भी करते थे। कितने ही साल बाद वह इंग्लैंड गये और अपने माता-पिता का क्रिया-कर्म करके अपनी शादी भी कर लाये। मेरी सलाह से अपने साथ में स्त्री, सास और कुंवारी बहन को भी ले आये। वे सब फिनिक्स में ही बड़ी सादगी के साथ रहते थे और हर प्रकार से भारतीयों में मिल जाते थे। मिस वेस्ट अब ३५ वर्ष की हुई होंगी। पर अब भी कुमारी हैं। वह अपना जीवन बड़ी पवित्रता के साथ व्यतीत कर रही हैं। उन्होंने कोई कम सेवा नहीं की। फिनिक्स में रहने-वाले शिष्यों को रखना, उन्हें अंग्रेजी पढ़ाना, सार्वजनिक पाकशाला में रसोई करना, मकानों को साफ रखना, किताबें संभालना, छापाखाने में टाइप जमाना (कम्पोज करना) तथा छापेखाने का अन्य काम करना आदि सब काम वह करती थीं। इन कामों में से कभी एक काम के लिए भी इस महिला ने आनाकानी नहीं की। आजकल वह फिनिक्स में नहीं हैं; पर इसका कारण यह है कि मेरे भारतवर्ष लौट आने पर उनका हल्का-सा भार भी छापाखाना नहीं उठा सकता था। वेस्ट की सास की अवस्था इस समय ८० वर्ष से भी अधिक की होगी। वह सिलाई का काम बहुत अच्छा जानती हैं और ऐसे काम में इतनी वयोवृद्धा महिला भी पूरी सहायता करती थी। फिनिक्स में उन्हें सब दादी (ग्रैनी) कहते थे और उनका बड़ा सम्मान करते थे। मिसेज वेस्ट के विषय में तो कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है। जब फिनिक्स में से बहुत-से आदमी जेल चले गये तब वेस्ट-कुटुंब ने मगनलाल गांधी के साथ मिलकर फिनिक्स का सब कामकाज संभाल लिया था। पत्र और छापेखाने का बहुत-सा काम वेस्ट करते थे। मेरी तथा अन्य लोगों की

अनुपस्थिति में गोखले को तार वगैरह भेजना होता तो वेस्ट ही भेजते। अंत में वेस्ट भी पकड़े गये (पर वह फौरन ही छोड़ दिये गए थे) तब गोखले घबराये और एंड्रूज तथा पियर्सन को उन्होंने भेजा।

(द० अ० स०, १९२५)

... ...

वेस्ट का जन्म विलायत के लाउथ नामक गांव में एक किसान-कुटुंब में हुआ था। पाठशाला में उन्होंने बहुत मामूली शिक्षा प्राप्त की थी। वह अपने ही परिश्रम से अनुभव की पाठशाला में पढ़कर और तालीम पाकर होशियार हुए थे। मेरी दृष्टि में वह एक शुद्ध, संयमी, ईश्वर-भीरु साहसी और परोपकारी अंग्रेज थे। (आ० क०, १९२७)

... ...

अब वेस्ट का विवाह भी यहीं क्यों न मना लूं ? उस समय ब्रह्मचर्य-विषयक मेरे विचार परिपक्व नहीं हुए थे। इसलिए कुंवारे मित्रों का विवाह करा देना उन दिनों मेरा एक पेशा हो बैठा था। वेस्ट जब अपनी जन्मभूमि में माता-पिता से मिलने के लिए गये तो मैंने उन्हें सलाह दी थी कि जहां-तक हो सके विवाह करके ही लौटना; क्योंकि फिनिक्स हम सबका घर हो गया था और हम सब किसान बन बैठे थे, इसलिए विवाह या वंशवृद्धि हमारे लिए भय का विषय नहीं था।

वेस्ट लेस्टर की एक सुंदरी विवाह लाये। इस कुमारिका के परिवार के लोग लेस्टर के जूते के एक बड़े कारखाने में काम करते थे। श्रीमती वेस्ट भी कुछ समय तक उस जूते के कारखाने में काम कर चुकी थीं। उसे मैंने सुंदरी कहा है, क्योंकि मैं उसके गुणों का पुजारी हूं और सच्चा सौंदर्य तो मनुष्य का गुण ही होता है। वेस्ट अपनी सास को भी साथ लाये थे। यह भली बुढ़िया अभी जिंदा है। अपनी उद्यमशीलता और हँसमुख स्वभाव से वह हम सबको शर्माया करती थी। (आ० क०, १९२७)

: २१७ :

स्वामी श्रद्धानन्द

पहाड़-जैसे दीखनेवाले महात्मा मुंशीराम के दर्शन करने और उनके गुरुकुल को देखने जब मैं गया तब मुझे बहुत शांति मिली। हरिद्वार के कोलाहल और गुरुकुल की शांति का भेद स्पष्ट दिखाई देता था। महात्माजी ने मुझपर भरपूर प्रेम की वृष्टि की। (आ० क०)

... ...

स्वामी श्रद्धानन्दजी पर भी लोग विश्वास नहीं करते हैं। मैं जानता हूं कि उनकी तकरीरें ऐसी होती हैं, जिनपर कई बार बहुतों को गुस्सा आ जाता है। परन्तु वह भी हिन्दू-मुस्लिम एकता को जरूर चाहते हैं; पर दुर्भाग्य से वह यह मानते हैं कि हरेक मुसलमान आर्यसमाजी बनाया जा सकता है, जैसे कि शायद बहुतेरे मुसलमान मानते हैं कि हरेक गैर-मुस्लिम किसी-न-किसी दिन इस्लाम को कबूल कर लेगा। श्रद्धानन्दजी निडर और बहादुर आदमी हैं। अकेले हाथों उन्होंने गंगाजी के किनारे पर तराई के जंगल को एक जगमगाते गुरुकुल के रूप में बदल दिया। उन्हें अपने तथा अपने काम पर श्रद्धा है; पर वह जल्दबाज हैं और थोड़ी-सी बात पर जोश में आ जाते हैं। पर इन तमाम दोषों के होते हुए मैं उन्हें ऐसा नहीं मानता जो समझाये न समझें। स्वामीजी को तो मैं उन्हीं दिनों से चाहने लगा हूं जब मैं दक्षिण अफ्रीका में था। हां, अब मैं उन्हें ज्यादा अच्छी तरह पहचानने लगा हूं, पर इससे मेरा प्रेम उनके प्रति कम नहीं हो पाया। मेरा प्रेम ही मुझसे यह कहला रहा है। (हि० न०, १.६.२४)

... ...

जिसकी उम्मीद थी वह हो गुजरा। कोई छः महीने हुए स्वामी श्रद्धानन्दजी सत्याग्रहाश्रम में आकर दो-एक दिन ठहरे थे। बातचीत में उन्होंने मुझसे कहा था कि उनके पास जब-तब ऐसे पत्र आया करते थे जिनमें उन्हें मार डालने की धमकी दी जाती थी। किस सुधारक के सिर पर बोली नहीं बोली गई है? इसलिए उन के ऐसे पत्र पाने में अचम्भे की कोई बात नहीं थी। उनका मारा जाना कुछ अनोखी बात नहीं है।

स्वामीजी सुधारक थे। वह कर्मवीर थे, वचनवीर नहीं। जिसमें उनका विश्वास था, उसका वह पालन करते थे। उन विश्वासों के लिए उन्हें कष्ट झेलने पड़े। वह वीरता के अवतार थे। भय के सामने उन्होंने कभी सिर नहीं झुकाया। वह योद्धा थे और योद्धा रोग-शैय्या पर मरना नहीं चाहता। वह तो युद्धभूमि का मरण चाहता है।

कोई एक महीना हुआ कि स्वामी श्रद्धानन्दजी बहुत बीमार पड़े। डाक्टर अंसारी उनकी चिकित्सा करते थे। जितने अनुराग से उनसे संभव था, डाक्टर अंसारी उनकी सेवा करते थे। इस महीने के शुरू में मेरे पूछने पर उनके पुत्र प्रो० इन्द्र ने तार दिया था कि स्वामीजी अब अच्छे हैं और मेरा प्रेम और दुआ मांगते हैं। मैं उनके बिना मांगे ही उनपर प्रेम और उनके लिए भगवान से प्रार्थना करता ही रहता था।

भगवान को उन्हें शहीद की मौत देनी थी। इसलिए जब वह बीमार ही थे तभी उस हत्यारे के हाथ मारे गये, जो इस्लाम पर धार्मिक चर्चा के नाम पर उनसे मिलना चाहता था, जो स्वामीजी की प्रेरणा से आने दिया गया, जिसने प्यास मिटाने को पानी मांगने के बहाने स्वामीजी के ईमानदार नौकर धर्मसिंह को पानी लेने को बाहर हटा दिया और जिसने नौकर की गैरहाजिरी में बिस्तर पर पड़े हुए रोगी की छाती में दो प्राणघातक चोटें कीं। स्वामीजी के अन्तिम शब्दों की हमें खबर नहीं। लेकिन अगर मैं उन्हें कुछ भी पहचानता था तो मुझे बिल्कुल सन्देह नहीं है कि उन्होंने अपने परमात्मा से उसके लिए क्षमायाचना की होगी जो यह नहीं जानता था कि वह पाप कर रहा है। इसलिए गीता की भाषा में वह योद्धा धन्य है जिसे ऐसी मृत्यु प्राप्त होती है।

मृत्यु तो हमेशा ही धन्य होती है, मगर उस योद्धा के लिए तो और भी अधिक जो अपने धर्म के लिए,यानी सत्य के लिए मरता है। मृत्यु कोई शैतान नहीं है। वह तो सबसे बड़ी मित्र है। वह हमें कष्टों से मुक्ति देती है। हमारी इच्छा के विरुद्ध भी हमें छुटकारा देती है। हमें बराबर ही नई आशाएं, नये रूप देती है। वह नींद के समान मीठी है; किन्तु तो भी किसी मित्र के मरने पर शोक करने की चाल है। अगर कोई शहीद मरता है तो यह रिवाज नहीं रहता। अतएव इस मृत्यु पर मैं शोक नहीं कर सकता।

स्वामीजी और उनके सम्बन्धी ईर्ष्या के पात्र हैं; क्योंकि श्रद्धानन्दजी मर जाने पर भी अभी जीते हैं। उससे भी अधिक सच्चे रूप में वह जीते हैं, जब वह हमारे बीच अपने विशाल शरीर को लेकर घूमा करते थे। ऐसी महिमामय मृत्यु पर जिस कुल में उनका जन्म हुआ था, जिस जाति के वह थे, वे सभी धन्यता के पात्र हैं। वह वीर पुरुष थे। उन्होंने वीरगति पाई।

(हि० न०, २३.१२.२६)

... ...

मेरे पास अखबारवाला आया था और कुछ जाहिर करने का आग्रह उसने दो बार किया। मैंने उसे कह दिया कि मुझसे कुछ कहना पार लगे मेरी ऐसी हालत नहीं है। श्रीमती नायडू ने भी मुझे यही कहा कि कुछ संदेशा दो। उनसे मैंने इन्कार कर दिया। अब फिर मुझे यही आज्ञा होती है। इसलिए अपने उद्गार प्रकट करने की कोशिश करता हूं, किन्तु मेरी ऐसी दशा नहीं है कि मैं कुछ कह सकूं। हां, तत्काल मेरे मन पर कैसा असर हुआ यह मैं कह सकता हूं सही। लालाजी का तार मेरे पास पहुंचते ही तुरन्त मैंने मालवीयजी आदि को खबर भेजी और लालाजी और स्वामीजी के सुपुत्र इन्द्र को तार भेजा। इस तार में दुःख या शोक प्रकट न करके मैंने तो जनाया कि यह सामान्य मृत्यु नहीं है। इस मृत्यु पर मैं रो नहीं सकता। अगर्चे यह मृत्यु असह्य है तो भी मेरा दिल शोक करने को नहीं कहता। वह तो कहता है कि यह मृत्यु हम सबको मिले तो क्या ही अच्छा हो?

स्वामी श्रद्धानंद की दृष्टि से इस प्रसंग को धर्म प्रसंग कहेंगे। वह बीमार थे। मुझे तो कुछ खबर न थी; किन्तु एक मित्र ने खबर दी कि स्वामीजी भाग्य से ही बच जायं तो बच जायं। पीछे से मेरे तार के उत्तर में उनके लड़के का तार मिला कि उन्हें धीरे-धीरे आराम हो रहा है। यह भी मालूम हुआ कि डाक्टर अंसारी बहुत अच्छी तरह सेवा-शुश्रूषा कर रहे हैं। इस प्रकार का गम्भीर बीमारी में वह बिछौने पर पड़े थे और उस बिछौने पर ही उनके प्राण लिये गए। मरना तो सबको है, किन्तु यों मरना किस काम का! सारे हिन्दुस्तान में और पृथ्वी पर जहां-जहां हिन्दुस्तानी लोग होंगे, वहां-वहां स्वामीजी के, स्वाभाविक बीमारी से, मरने से जो असर होता उसकी अपेक्षा इस अपूर्व मरण से अजीब ही असर होगा। मैंने भाई इन्द्र को सम-

वेदना का एक भी तार या पत्र नहीं लिखा है। उन्हें और कुछ दूसरा कह ही नहीं सकता। इतना ही कह सकता हूं कि तुम्हारे पिता को जो मृत्यु मिली है वह धन्य मृत्यु है।

किन्तु यह सब बात तो मैंने स्वामीजी की दृष्टि से, मेरी अपनी दृष्टि से की है। मैं अनेक बार कह चुका हूं कि मेरे लेखे हिन्दू और मुसलमान दोनों ही एक हैं। मैं जन्म से हिन्दू हूं और हिन्दूधर्म में मुझे शांति मिलती है। जब-जब मुझे अशान्ति हुई, हिन्दूधर्म में से ही मुझे शान्ति मिली है। मैंने दूसरे धर्मों का भी निरीक्षण किया है और इसमें चाहे कितनी कमियां और त्रुटियां होवें तो भी मेरे लिए यही धर्म उत्तम है। मुझे ऐसा लगता है और इसीसे मैं अपनेको सनातनी हिन्दू मानता हूं। कितने सनातनियों को मेरे इस दावे से दुःख होता है कि विलायत से आकर यह सुधरा हुआ आदमी हिन्दू कैसा! किन्तु मेरा हिन्दू होने का दावा इससे कुछ कम नहीं होता और यह धर्म मुझे कहता है कि मैं सबके साथ मित्रता से रहूं। इसीसे मुझे मुसलमानों की दृष्टि भी देखनी है।

मुसलमान की दृष्टि से जब इस बात का विचार करता हूं तो मुझे दूसरी ही बात मालूम पड़ती है। यह कांड मुसलमान के हाथ बन पड़ा। धर्म-चर्चा के बहाने घर में प्रवेश करके उसने यह कृत्य किया। नौकर ने तो कहा, "स्वामीजी बीमार हैं। आज नहीं मिल सकते।" दरवाजे पर हुज्जत हुई। स्वामीजी ने सुनकर कहा, "अच्छा है, आ जाने दो।" और स्वामीजी में उससे बात करने की शक्ति न रहने पर भी उन्होंने बातें कीं। बात करने की तो उनमें ताकत ही नहीं थी। स्वामीजी को तो उसे समझाकर बिदा कर देना था, इसीलिए बुलाकर कहा, "अच्छे हो जाने पर तुम्हें जितनी बहस करनी हो कर लेना; किन्तु आज तो बिछौने पर पड़ा हूं।" इसपर उसने पानी मांगा। धर्मसिंह को स्वामीजी ने आज्ञा दी, "इनको पानी पिला दो।" आज्ञाकारी नौकर पानी लेने जाता है तबतक तो यहां उसने रिवाल्वर निकाल ली। एक से सन्तोष न हुआ तो दो गोली मारीं। स्वामीजी ने उसी समय प्राण खोये। धर्मसिंह आवाज सुनकर अपने मालिक को बचाने दौड़ा; किन्तु बचावे कौन! ईश्वर को स्वामीजी के शरीर की रक्षा नहीं करनी थी। धर्मसिंह के ऊपर भी वार हुआ। उसे चोट लगी। वह अस्पताल में है।

मारनेवाला अब्दुल रशीद हिरासत में है। ऐसे संयोगों के बीच किये गए इस खून से मुसलमानों के लिए हिन्दुओं में कैसा भाव पैदा होगा, इसका मुझे बहुत दुःख है और इसमें भी शंका नहीं है कि हिन्दू जनता का मुसलमानों के प्रति उलटा खयाल होगा; क्योंकि आज दोनों जातियों में प्रेम नहीं है, विश्वास नहीं है।...

हमारे लिए यह एक अच्छा शिक्षा-पाठ बनना चाहिए कि स्वामीजी का खून अब्दुल रशीद के हाथों हो। इससे हम एक-दूसरे को समझ लें।...

श्रद्धानन्दजी और मेरे बीच कैसा सम्बन्ध था, वह तो आज मैं यहां नहीं कहूंगा। मेरे सामने वह अपने दिल की बातें कहा करते थे। कोई छः महीने हुए जब वह आश्रम में आये थे तब कहते थे, "मेरे पास धमकी के कितने पत्र आते हैं। लोग धमकी देते हैं कि तुम्हारी जान ले ली जायगी; पर मुझे उनकी कुछ परवा नहीं।" वह तो बहादुर आदमी थे। उनसे बढ़कर बहादुर आदमी मैंने संसार में नहीं देखा। मरने का उन्हें डर नहीं था; क्योंकि वह सच्चे आस्तिक, ईश्वरवादी आदमी थे। इसीसे उन्होंने कहा मेरी जान अगर ले ही ली जाय तो उसमें होना ही क्या है। (हि० न०, ६. १. २७)

... ...

यह उचित ही है कि हिन्दू महासभा की ओर से स्वामी श्रद्धानन्द के स्मरण के लिए धन की सहायता मांगी जाय। स्वामीजी सन्यास-धारण के बाद जिन कामों के लिए जीते थे, उनके लिए चन्दा इकट्ठा करने का हिन्दू महासभा ने निश्चय किया है। इस निश्चय के लिए मैं उसे साधुवाद देता हूं। वे काम हैं, अस्पृश्यता-निवारण, शुद्धि और संगठन। पांच लाख की अपील की गई है। 'अस्पृश्यता' के लिए और शुद्धि और संगठन के लिए भी उतने की ही।...जिनका शुद्धि में विश्वास है उन्हें इस अपील पर सहायता देने का पूरा अधिकार है।

...मेरे लिए अछूतोद्धार के ही कोष की कीमत है। इसकी अपनी निराली ही शक्ति है। हिन्दू-धर्म के सुधार और इसकी सच्ची रक्षा के लिए अछूतोद्धार सबसे बड़ी वस्तु है। इसमें सब कुछ शामिल है और इसलिए हिन्दूधर्म का यह सबसे काला दाग है। अगर यह मिट जाय तो शुद्धि और संगठन से जो कुछ मिल सकेगा, वह सब हमें इससे अपने-आप ही मिल जायगा। और

मैं यह इसलिए नहीं कहता कि अछूतों की, जिन्हें हरेक हिन्दू को गले लगाना चाहिए, बहुत बड़ी संख्या है; किन्तु इसलिए कि एक पुराने और असभ्य रिवाज को तोड़ डालने के ज्ञान और उससे होनेवाली शुद्धि से इतनी ताकत मिलेगी जो रोकी न जा सकेगी। इसलिए अस्पृश्यता-निवारण एक आध्यात्मिक क्रिया है। स्वामीजी उस सुधार के जीवित मूर्ति थे; क्योंकि वह इसमें आधासाझा सुधार नहीं चाहते थे। वह समझौता नहीं कर सकते, दब नहीं सकते थे। अगर उनकी चलती तो वह बात-की-बात में हिन्दूधर्म से 'अस्पृश्यता' को निकाल बाहर करते। वह हरेक मन्दिर को, हरेक कुएं को, सबकी बराबरी के हक के साथ अछूतों के लिए खोल देते और इसका फल भुगत लेते। स्वामी श्रद्धानन्दजी के लिए मैं इससे अच्छा कोई स्मारक नहीं सोच सकता कि हरेक हिन्दू आज से अपने दिलों से 'अस्पृश्यता' की अपवित्रता निकाल दे और उनके साथ सगों के समान बर्ताव करे। उस आदमी की पैसा की सहायता तो, मेरी समझ में, अस्पृश्यता को हिन्दूधर्म से सदा के लिए निकाल डालने की उसके दृढ़ निश्चय का चिह्न भर होगी।

स्वामीजी को सामुदायिक और धार्मिक रूप से सम्मान प्रदर्शन करने के लिए जनवरी, सोमवार का दिन, निश्चय किया गया है। मुझे आशा है कि हर शहर-गांव में यह होगा। मगर इस प्रदर्शन का असल मतलब ही गायब हो जायगा, अगर उसमें भाग लेनेवाले अपने में से उसीके साथ 'अस्पृश्यता' की अपवित्रता को दूर न करें। हरेक अछूत को उसमें शामिल होना चाहिए और क्या ही अच्छी बात होती अगर उसी दिन अछूतों के लिए सभी मन्दिर खोल दिये जाते। अगर संगठित रूप से उद्योग किया जाय तो उस दिन सूर्यास्त के पहले ही कोष भरा जा सकता है।

स्वामीजी से मेरा पहला परिचय तब हुआ जब वह महात्मा मुंशीराम के नाम से प्रसिद्ध थे। वह परिचय भी पत्रों से हुआ। उस समय वह कांगड़ी गुरुकुल के प्रधान थे जो कि उनका सबसे पहला और बड़ा शिक्षा-क्षेत्र का काम है। वह सिर्फ पश्चिमी शिक्षापद्धति से ही सन्तुष्ट न थे। लड़कों में वह वेद-शिक्षा का प्रचार करना चाहते थे और वह पढ़ाते थे हिन्दी के जरिये, अंग्रेजी के नहीं। शिक्षा-काल में वह उन्हें ब्रह्मचारी रखना चाहते थे। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रहियों के लिए उस समय जो धन इकट्ठा किया जा रहा

था, उसमें चन्दा देने के लिए लड़कों को उन्होंने उत्साहित किया था। वह चाहते थे कि लड़के खुद कुली बनकर, मजदूरी करके चन्दा दें; क्योंकि वह युद्ध क्या कुलियों का नहीं था ? लड़कों ने यह सब पूरा कर दिखाया और पूरी मजदूरी कमा कर मेरे पास भेजी। इस विषय में स्वामीजी ने मुझे जो पत्र भेजा था, वह हिन्दी में था। उन्होंने मुझे 'मेरे प्रिय भाई' कहकर लिखा था। इसने मुझे महात्मा मुंशीराम का प्रिय बना दिया। इससे पहले हम दोनों कभी मिले नहीं थे।

हम लोगों के बीच के सूत्र एन्ड्र ूज थे। उनकी इच्छा थी कि जब कभी मैं देश लौटूं, उनके तीनों मित्रों, कवि ठाकुर, प्रिंसिपल रुद्र और महात्मा मुंशीराम से परिचय प्राप्त करूं।

वह पत्र पाने के बाद से हम दोनों एक ही सेना के सैनिक बन गये। उनके प्रिय गुरुकुल में हम १९१५ में मिले और उसके बाद से हरेक मुलाकात में हम दोनों परस्पर निकट आते गये और एक दूसरे को ज्यादा अच्छी तरह समझने लगे। प्राचीन भारत, संस्कृत और हिन्दी के प्रति उनका प्रेम असीम था। बेशक, असहयोग के पैदा होने के बहुत पहले से ही वह असहयोगी थे। स्वराज के लिए वह अधीर थे। अस्पृश्यता से वह नफरत करते थे और अस्पृश्यों की स्थिति ऊंची करना चाहते थे। उनकी स्वाधीनता पर कोई बन्धन लगाना वह नहीं सह सकते थे।

जब 'रौलट ऐक्ट' का आन्दोलन शुरू हुआ तो उसे सबसे पहले शुरू करनेवालों में से वह थे। उन्होंने मुझे बहुत ही प्रेम से भरा हुआ एक पत्र भेजा। किन्तु वीरमगाम और अमृतसर-काण्ड के बाद सत्याग्रह को स्थगित किया जाना वह नहीं समझ सके। उस समय से हमारे बीच मतभेद शुरू हुए; किन्तु उससे हम लोगों के भाई-भाई के सम्बन्ध में कभी कोई अन्तर नहीं पड़ा। उस मतभेद से मुझपर उनका बाल-सुलभ स्वभाव प्रकट हुआ। परिणाम का विचार किये बिना ही, उन्हें जैसा मालूम था मुझसे सच्ची बात कह दी। वह अतिसाहसिक थे। समय बीतने के साथ-साथ हम दोनों में जो स्वभाव का अन्तर था, उसे मैं देखता गया; किन्तु उससे तो उनकी आत्मा की शुद्धता ही सिद्ध हुई। सबको सुनाकर विचार करना कुछ पाप नहीं है। यह तो एक गुण है। यह सत्यप्रियता का सर्वप्रधान लक्षण है। स्वामीजी ने अपने विचार

गुप्त रखे ही नहीं।

बारडोली के निश्चय से उनका दिल टूट गया। मुझसे वह निराश हो गये। उनका प्रकट विरोध बहुत जबर्दस्त था। मेरे नाम उनके निजी पत्रों में और भी विरोध होता था; किंतु हमारे मतभेद पर जितना वह ज़ोर देते थे, प्रेम पर भी उतना ही। प्रेम का विश्वास केवल पत्रों में ही दिला देने से वह संतुष्ट न थे। मौका मिलने पर उन्होंने मुझे ढूंढ़ निकाला और मुझे अपनी स्थिति समझाई और मेरी समझने की कोशिश की। मगर मुझे मालूम होता है कि मुझे ढूंढ़ने का असल कारण यह था कि अगर जरूरत हो तो मुझे वह विश्वास दिला सकें कि एक छोटे भाई के समान मुझ पर उनकी प्रीति जैसी-की-तैसी बनी हुई है।

आर्य समाज और उसके संस्थापक पर मेरे मतों से और उनके नाम का उल्लेख करने से उन्हें बहुत कष्ट हुआ; परन्तु इस धक्के को सह लेने की शक्ति हमारी मित्रता में थी। वह यह नहीं समझ सकते थे कि महर्षि के विषय में मेरे मतों और अपने व्यक्तिगत शत्रुओं के प्रति ऋषि की असीम क्षमा का एक साथ कैसे मेल बैठ सकता है। महर्षि में उनकी इतनी अधिक श्रद्धा थी कि उनपर या उनकी शिक्षाओं पर कोई भी टीका वह सह नहीं सकते थे।

शुद्धि-आन्दोलन के लिए मुसलमान पत्रों में उनकी बड़ी-बड़ी आलोचनाएं और निन्दा की गई हैं। मैं स्वयं उनके दृष्टि-विन्दु को स्वीकार नहीं कर सका था। अब भी मैं उसे नहीं मानता। किन्तु मेरी नजर में, अपने दृष्टि-विन्दु से, वह अपनी स्थिति का पूरा बचाव करते थे; जबतक शुद्धि और तबलीग मर्यादा के भीतर रहें, तबतक दोनों ही बराबर छूट के अधिकारी हैं।

...अगर हम हिन्दू और मुसलमान दोनों शुद्धि का आन्तरिक अर्थ समझ सकते तो स्वामीजी की मृत्यु से भी लाभ उठाया जा सकता था।

एक महान सुधारक के जीवन के स्मरणों को मैं सत्याग्रहाश्रम में, उनके कुछ महीनों पहले के आखिरी आगमन की बात के बिना खत्म नहीं कर सकता। मुसलमान मित्रों को मैं विश्वास दिलाता हूं कि वह मुसलमानों के दुश्मन नहीं थे। कुछ मुसलमानों का विश्वास वह बेशक नहीं करते थे;

किन्तु उन लोगों से उनका कुछ द्वेष नहीं था। उनका खयाल था कि हिन्दू दबा दिये गए हैं और उन्हें बहादुर बनकर अपनी और अपनी इज्जत की रक्षा करने योग्य बनना चाहिए। इस बारे में उन्होंने मुझसे कहा था कि "मेरे विषय में बड़ी गलतफहमी फैली हुई है। मेरे विरुद्ध कही जानेवाली कई बातों में मैं बिल्कुल निर्दोष हूं। मेरे पास धमकी के कितने-एक पत्र आया करते हैं।" मित्रगण उन्हें अकेले चलने से मना करते थे। मगर यह परम आस्तिक पुरुष उनका जवाब दिया करता था, "ईश्वर की रक्षा के सिवाय और किसी रक्षा का मैं भरोसा करूं? उसकी आज्ञा के बिना एक तिनका भी नहीं हिलता। मैं जानता हूं कि जबतक वह मुझसे इस देह के द्वारा सेवा लेना चाहता है, मेरा बाल बांका नहीं हो सकता।"

आश्रम में रहते समय उन्होंने आश्रम पाठशाला के लड़के-लड़कियों से बातें कीं। उनका कहना था कि हिन्दू-धर्म की सबसे बड़ी रक्षा आत्मशुद्धि से ही होगी, भीतर से ही होगी। चारित्र्य और शरीर के गठन के लिए, ब्रह्मचर्य पर वह बहुत ज़ोर देते थे। (हि० न०, ६.१.२७)

... ...

स्वामी श्रद्धानन्द के स्वर्गवास के विषय में महासभा के सामने निम्न-लिखित आशय का प्रस्ताव पेश किया गया था :

"स्वामी श्रद्धानंदजी का नामर्दी और दगाबाजी से खून किया गया है, इसके लिए महासभा अपना तीव्र तिरस्कार प्रकट करती है और स्वदेश तथा स्वधर्म की सेवा में अपना जीवन और शक्ति अर्पण करनेवाले, अंत्यजों और वैसे ही पतितों और निर्बलों की सहायता को निडर होकर दौड़नेवाले इस वीर और महानुभाव की करुणाजनक मृत्यु से उसकी सम्मति में देश की न पूरी होनेवाली हानि हुई है।"

यह प्रस्ताव पेश करने का भार पहले मौलाना मुहम्मदअली पर दिया गया था, किंतु अंत में सभापति महोदय ने गांधीजी से वह प्रस्ताव पेश करने को कहा। गांधीजी को लम्बा भाषण न करना था, किन्तु अनायास ही, अनिच्छा से, अथवा ईश्वरेच्छा से कहिये उन्हें लम्बा भाषण करना पड़ा। ...उस भाषण से सारी सभा के हृदय का तार मानों झनझना रहा था। भाषण में के बहुत-से उद्गार तो महासमिति के भाषणवाले ही थे। किन्तु एक-दो

बातें ऐसी थीं जो उस भाषण में अप्रकट थीं। इस भाषण में उनपर विस्तार से विवेचन किया गया। महासमिति में उन्होंने कहा था—"इस खून के लिए शोक करना भला नहीं मालूम होता। ऐसा खून तो हरेक वीर पुरुष चाहता है।" इस वाक्य को जरा सुधार करके उन्होंने कहा।

वीर पुरुष को जब ऐसी मृत्यु मिलती है तो वह उसे मित्र के समान गले लगाता है। किन्तु इससे कोई यह नहीं चाहता कि उसका कोई खून करे। कोई भी अपने साथ अन्याय करे, गुनहगार बने, कोई भी मनुष्य दुष्कृत्य करे, ऐसी इच्छा ही करना अनुचित है।

स्वामीजी वीरों के अग्रणी थे। अपनी वीरता से उन्होंने भारत को आश्चर्य-चकित कर दिया था। इसका साक्षी मैं हूं कि देश के लिए अपना शरीर कुर्बान करने की उन्होंने प्रतिज्ञा ली थी। वह अनाथ-बन्धु थे। अछूतों के लिए उन्होंने जितना किया उससे अधिक हिन्दुस्तान में दूसरे किसीने नहीं किया है। उनकी दूसरी सेवाओं का वर्णन मैं यहां करना नहीं चाहता। स्वामीजी के जैसे वीर, देशभक्त, ईश्वर के अनन्य भक्त और सेवक का खून देश के लिए जैसा लाभदायक है, वैसा ही उसे दुःख होना भी स्वाभाविक है; क्योंकि हम लोग अपूर्ण मनुष्य हैं।

...हमारे यहां दो जातियां हैं। बदनसीबी से वे एक-दूसरे को जहरीली नजरों से देखती हैं। एक-दूसरे को दुश्मन मानती हैं। इसी कारण यह हत्या हो सकी है। मुसलमान मानते हैं कि स्वामीजी, लालाजी और मालवीयजी मुसलमानों के दुश्मन हैं। उधर हिन्दू समझते हैं कि सर अब्दुर्रहीम तथा दूसरे मुसलमान हिन्दुओं के शत्रु हैं। दोनों के ख्याल निहायत खोटे हैं। स्वामीजी इस्लाम के दुश्मन न थे, मालवीयजी और लालाजी नहीं हैं। लालाजी और मालवीयजी को अपने विचार प्रकट करने का पूरा अधिकार है और उनके विचार जिन्हें मालूम हों, उन लोगों को उन्हें गाली देने का अधिकार नहीं है। हिन्दुस्तान के नम्र सेवक की हैसियत से मेरी यह सम्मति है। जब कभी हम अखबार देखें, भाग्य से ही ऐसा कोई मुसलमान अखबार मिलता हो जिसमें इन देश-सेवकों को गाली न दी गई हो। उन्होंने क्या गुनाह किया है? वह जिस रीति से काम करना चाहते हैं, उसमें हम भले ही शामिल न हों; किन्तु मेरा मत है कि मालवीयजी अपनी सेवाओं

से भारत-भूषण बने हुए हैं। (तालियां)। तालियों से आप देश-सेवा नहीं कर सकते। मैं आज जो कुछ बोल रहा हूं वह ईश्वर को सामने रखकर। मेरे हृदय के भीतर आग जल रही है। उसकी दो-चार चिनगारियां ही मैं आपको दे रहा हूं, जिसमें हम उनकी आत्मबलि से पूरा लाभ उठायें और उनके पवित्र रुधिर से अपना दिल शुद्ध करें। सच्ची दृष्टि से मैं आज वही शुद्धि चाहता हूं जो श्रद्धानन्दजी चाहते थे। मालवीयजी को मैंने भारत-भूषण कहा है; किन्तु लालाजी भी जो मानते हैं उसे ही कहनेवाले हैं। उनको भी देश-सेवा कुछ कम नहीं है। सर अब्दुर्रहीम मानते हैं कि मुसलमानों को बंगाल में अधिक नौकरियां मिलनी चाहिए। उनकी राय हमें भले ही न रुचे मगर इसके लिए हम क्या उन्हें गाली देंगे? मुहम्मदअली कहते हैं कि गांधी के लिए मुझे मान है, आदर है मगर जो मुसलमान कुरानशरीफ पर ईमान लाता है, उसका ईमान गांधी के ईमान से कहीं अच्छा है। इसपर हम बुरा क्यों मानें?...स्वामीजी आत्म-बलिदान से दूसरा ही धर्म बतला गये हैं। उन्होंने एक बार मुझसे पूछा था कि आर्य-समाज उदार कैसे नहीं? आप क्या जानते हैं कि महर्षि दयानन्द ने अपने को जहर देनेवाले के साथ क्या किया था। मैंने जवाब दिया कि मैं महर्षि की क्षमाशीलता को जानता हूं। मगर स्वामीजी तो महर्षि के भक्त थे। उन्होंने सारी कथा कह-सुनाई। महर्षि क्षमाशील थे; क्योंकि उनके आगे युधिष्ठिर का उज्ज्वल उदाहरण था। वह उपनिषदों के भक्त थे। श्रद्धानन्दजी भी वैसे ही क्षमाशील थे। शुद्धि पर बातें करते समय उन्होंने एक बार कहा था कि 'मैं मुसलमानों को हिन्दुओं का दुश्मन नहीं मानता।" 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धान्त का उपदेश करनेवाले और गीता के भक्त श्रद्धानन्दजी किसीको दुश्मन क्योंकर मान सकते थे? उन्होंने कहा, "मैं मुसलमान को भाई मानता हूं, मित्र मानता हूं; किन्तु हिन्दू को भी भाई मानता हूं और उसकी सेवा करना चाहता हूं।"

मेरा धर्म मुझे बतलाता है कि कोई मुसलमान मेरे मुंह पर थूके तो भी मैं उसे भाई और मित्र समझूं। मैं बतलाता हूं कि इन तीनों में से कोई मुसलमानों का दुश्मन नहीं। वैसे ही सर अब्दुर्रहीम या मियां फजलीहुसैन हिन्दुओं के शत्रु नहीं। मियां फजलीहुसैन ने मुझसे कहा था कि मैं कांग्रेस-

वाला हूं और मुझे हिन्दुओं से मुहब्बत है, मगर इससे मुसलमानों की सेवा क्यों न करूं ? वह कहते हैं कि आधी नौकरियां मुसलमानों को मिलनी चाहिए । इसपर तुम कहो कि एक भी नहीं देनी चाहिए । मगर इसपर से हिन्दुओं का दुश्मन उन्हें क्योंकर माना जायगा ? हम अपनी कल्पना-शक्ति का दुरुपयोग करके काल्पनिक दुश्मन बना लेते हैं। मैं फिर कहता हूं कि सर अब्दुर्रहीम, जिन्ना, अलीभाई हिन्दुओं के शत्रु नहीं और मालवीयजी तथा लालाजी मुसलमानों के दुश्मन नहीं हैं।...मुसलमान भी आज इकरार करते हैं कि श्रद्धानन्दजी में बुराई न थी, वह मैले दिल के आदमी न थे, उनके वह दुश्मन न थे।

रशीद को मैंने भाई क्यों कहा है, यह आप अब समझ सके होंगे। मैं तो उसे गुनहगार भी नहीं मानता। गुनहगार तो मैं हूं, लालाजी हैं, मालवीयजी हैं, अलीभाई हैं। गीता में कहा है 'समत्वं योग उच्यते'। इन्सान इन्सान के बीच में फर्क न करो। ब्राह्मण और चांडाल, हाथी और गाय के बीच अन्तर न रखो। इससे मैंने कहा कि रशीद मेरा भाई है और वह गुनहगार भी नहीं है।

आज श्रद्धानन्दजी के लिए आंसू बहाने का समय नहीं है। आज तो क्षत्रियता बताने का अवसर है। क्षत्रियता क्षत्रिय का खास गुण भले ही हो मगर ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र सभी उसे दिखा सकते हैं। खासकर आज का 'स्वराज युग' हम सबके लिए क्षत्रियता का युग है। इसलिए रोने की बात छोड़ दें और श्रद्धानन्द के बलिदान से, रशीद के किये खून से जो पाठ मिले उसे हृदय में धरें। (हि० न०, १३.१.२७)

... ...

स्वामीजी का देहान्त हुआ ही नहीं है। देहान्त तो तब होगा जब हम उनकी सच्ची देह को मिटाने की कोशिश करेंगे, अगर्चे कि सच्ची बात तो यह है कि हमारी कोशिश से भी उनकी देह का नाश होने को नहीं है। जबतक यह गुरुकुल कायम है, जबतक एक भी स्नातक गुरुकुल की सेवा करता है तबतक स्वामीजी जीते ही हैं। स्वामीजी का शरीर तो किसी दिन गिरने को था ही। पर स्वामीजी का सबसे बड़ा काम तो गुरुकुल है। उन्होंने अपनी सारी शक्ति इसमें लगा दी थी, इसे पैदा करने में उन्होंने अधिक-से-अधिक

तपश्चर्या की थी। तुमने सत्य की प्रतिज्ञा ली है। अगर तुम अपने वचन का पालन करोगे तो किसीकी शक्ति नहीं कि वह गुरुकुल को मिटा दे।

पर गुरुकुल को चिरस्थायी रखने के लिए उस वीरता, ब्रह्मचर्य और क्षमा की जरूरत है, जो हमने उनके जीवन में देखी। वीरता का लक्षण क्षमा, और ब्रह्मचर्य और वीर्य का संयम है। वीरता और वीर्य की रक्षा से तुम देश और धर्म की पूरी-पूरी रक्षा कर सकोगे। मैं जानता हूं कि यह काम मुश्किल है। तुम्हारे यहां के वहुत-से विद्यार्थियों के पत्र मेरे पास पड़े हुए हैं। कोई मेरी स्तुति करता है तो कोई गाली देते हैं। स्तुति तो नाकाम चीज है। उसका असर मेरे ऊपर नहीं होता। परन्तु जब विद्यार्थी चिढ़कर गाली देते हैं तो मुझे चिंता होती है, क्योंकि क्रोध से वीर्य का नाश होता है। स्वामीजी के सामने मैंने ब्रह्मचर्य की अपनी व्याख्या रखी थी और वह मेरे साथ सम्मत थे। किसी स्त्री का मलिन स्पर्श न करने में ही ब्रह्मचर्य नहीं होता। हां, ब्रह्मचर्य वहां से शुरू जरूर होता है। पर क्षमा की पराकाष्ठा ब्रह्मचर्य का लक्षण है। पिछले साल स्वामीजी जब टंकारिया से पीछे लौटते समय मुझसे मिलने गये थे तो उन्होंने मुझसे कहा कि 'हिन्दू-धर्म की रक्षा नीति से ही सम्भव है।' अगर तुम वैदिक आचार और विचार की रक्षा करना चाहते हो तो तुम यह वस्तु याद रखो कि तुम्हें पग-पग पर रुपये मिल जायंगे, मगर ब्रह्मचर्य का, नीति का पाया यहांपर न होगा तो तुम्हारा गुरुकुल मिट्टी में मिल जायगा। इस भूमि के तो आत्मा नहीं है। इसकी आत्मा तुम्हीं हो। अगर तुम आत्म-बल खो दोगे और 'उदरनिमित्तं बहुकृतवेषः' जैसे बन जाओगे तो तुम्हारी सारी शिक्षा बेकार जायगी।

मैं आज तुम्हारे आगे चर्खा और खादी की बात करने नहीं आया हूं। तुम्हारा पहला काम ब्रह्मचर्य और वीरता का—क्षमा का है। उसे भूल जाओगे तो स्वामीजी का काम कायम नहीं रहेगा। रशीद की गोली से स्वामीजी का क्या हुआ? वह तो उस गोली से ही अमर हुए।

स्वामीजी का दूसरा काम अछूतोद्धार था। जिन शब्दों में मालवीयजी ने खादी की वकालत की, मैं नहीं कर सकता। पर इतना जरूर कहूंगा कि अगर हम हमेशा गरीबों और अछूतों की फिक्र रखेंगे तो खादी से अलग नहीं रह सकते।

ईश्वर तुम सबके ब्रह्मचर्य, सत्य और तुम्हारी प्रतिज्ञाओं की रक्षा करे, गुरुकुल का कल्याण करे और स्वामीजी का हरेक काम परमात्मा चालू रखे ! (हि० न०, ३१.३.२७)

... ...

एक महान वीर और देशभक्त स्वामी श्रद्धानन्दजी ने हरिजनों के खातिर अपने प्राण न्यौछावर कर दिये। वह हरिजनों को अपने प्राणों के समान प्यार करते थे। वह हरिजनों को अपने बालक ही समझते थे और यदि उनका वश चलता तो वह उसे भारत के समुद्री तटों से निर्वासित कर देते। इस निर्वासन का अर्थ क्या ? उसका अर्थ होता है विश्वव्यापी प्रेम। उसका अर्थ है भगवद्गीता के महान सन्देश को कार्यान्वित करना। वह यह कि अगर तुम ईश्वर को जानना चाहते हो तो ब्राह्मण और भंगी के साथ समान व्यवहार करो, किन्तु वे दोनों कैसे समान हैं ? ब्राह्मण सदा विद्वत्ता में भंगी से श्रेष्ठ होगा और मैं दोनों के साथ समान बर्ताव कैसे करूंगा ? भगवद्गीता का कहना है कि तुम उनके साथ वैसा ही व्यवहार करोगे जैसा कि तुम उनसे अपेक्षा करते हो अथवा जैसा कि तुम स्वयं अपने साथ व्यवहार करोगे।

आत्मवत् सर्वभूतेषु: यः पश्यति स पश्यति।

यही भगवद्गीता की शिक्षा है। उस वीर और शहीद ने अपने खुद के जीवन में इस शिक्षा को कार्यान्वित किया, उसे पावन किया और उसपर अपने रक्त की मुहर लगाई। वह रक्त हमको पावन करे और अपने भाइयों के प्रति, जिनको हम अपने अहंकारवश अछूत कहते हैं हमारे दिलों में अलगाव अथवा पृथकता की जो भी बची-खुची भावना हो, वह नष्ट हो जाय।

(यं० इं०, १३.१.२७)

... ...

हिन्दू समाज में ऐसा कौन होगा, जो दिवंगत स्वामी श्रद्धानन्दजी का नाम न जानता हो ? श्रद्धानन्दजी के हृदय में हरिजनों के लिए जो दया, जो प्रेम था, उससे अधिक किसी दूसरे व्यक्ति के हृदय में नहीं है। हिन्दूजाति ने ही घमंड में आकर अस्पृश्य जातियों का बनाया है। श्रद्धानन्दजी को इसका भारी दुःख था। (ह० से०, २६.१२.३३)

अगर कोई मुझे 'महात्मा' के नाम से पुकारते भी थे तो मैं यही सोच लेता था कि महात्मा मुंशीरामजी के बदले भूल से मुझे किसीने पुकार लिया होगा। उनकी कीर्ति तो मैंने दक्षिण अफ्रीका में ही सुन ली थी। हिन्दुस्तान से धन्यवाद और सहानुभूति का सन्देश भेजनेवालों में एक वह भी थे और मैं जानता था कि हिन्दुस्तान की जनता ने उन्हें उनकी देश-सेवाओं के लिए महात्मा की उपाधि दी थी। (२१.१.४२)

: २१८ :

कुमारी श्लेजीन

अब एक पवित्र बाला का परिचय देता हूं। गोखले ने उसे जो प्रमाण-दिया उसको पाठकों के सामने रखे बिना मैं नहीं रह सकता। इस बाला का नाम मिस श्लेजीन है। मनुष्यों को पहचानने की गोखले की शक्ति अद्भुत थी। डेलागोआबे से जंजीबार तक बातचीत करने के लिए हमें अच्छा शांत समय मिल गया था। दक्षिण अफ्रीका के भारतीय तथा अंग्रेज नेताओं से उनका अच्छा परिचय हो गया था। इनमें से मुख्य पात्रों का आपने सूक्ष्म चरित्र-चित्रण कर बताया और मुझे बराबर याद है कि उन्होंने मिस श्लेजीन को भारतीय तथा गोरों में भी सबसे पहला स्थान दिया।

"इसका जैसा निर्मल अंतःकरण, काम के वक्त एकाग्रता, दृढ़ता मैंने बहुत थोड़े लोगों में देखी है। और बिना किसी आशा-प्रलोभन के इसे भारतीय आन्दोलन में इस तरह सर्वार्पण करते हुए देखकर तो मैं आश्चर्यचकित हो गया हूं। इन सभी गुणों के साथ-साथ उसकी होशियारी और फुर्तीलापन उसे इस युद्ध में एक अमूल्य सेविका बना रहा है। मेरे कहने की आवश्यकता तो नहीं, पर फिर भी कहे देता हूं कि तुम इसे मत छोड़ना।"

मेरे पास एक स्काचकुमारी शार्टहैंड और टाइपिस्ट का काम करती थी। उसकी भी प्रामाणिकता और नीतिशीलता बेहद थी। मुझे अपने जीवन में यों तो कई कटु अनुभव हुए हैं, पर इतने सुन्दर चारित्र्यवान् अंग्रेज तथा भारतीयों से मेरा सम्बन्ध हुआ है कि मैं तो उसे सदा अपना अहोभाग्य ही मानता आया हूं। इस स्काच कुमारी मिस डिक के विवाह का अवसर

आया और उसका वियोग हुआ। मि० कैलनबेन मिस श्लेजीन को लाये और मुझे कहने लगे :

"इस बाला को उसकी मां ने मुझे सौंपा है। यह चतुर है, प्रामाणिक है, पर इसमें मजाक की आदत और स्वाधीनता हद से ज्यादा है। शायद इसे उद्धत भी कह सकते हैं। आप संभाल सकें तो उसे आप अपने पास रखें। मैं इसे आपके पास तनखाह के लिए नहीं रखता।"

मैं तो अच्छे शार्टहैंड टाइपिस्ट को २० पौंड मासिक वेतन तक देने के लिए तैयार था। मिस श्लेजीन की योग्यता और शक्ति का मुझे कुछ पता नहीं था। मि० कैलनबेक ने कहा :

"अभी तो इसे महीने के छः पौंड दीजियेगा।"

मैंने फौरन मंजूर कर लिया। शीघ्र ही मुझे उसके विनोदी स्वभाव का अनुभव हुआ। पर एक महीने के अन्दर तो मुझे उसने अपने वश में कर लिया। रात और दिन जिस समय चाहो काम देती। उसके लिए कोई बात असंभव या मुश्किल तो थी ही नहीं। इस समय उसकी उम्र १६ वर्ष की थी। मवक्किल तथा सत्याग्रहियों को भी उसने अपनी निस्पृहता तथा सेवाभाव से वश में कर लिया था। यह कुमारी आफिस और युद्ध की एक चौकीदार बन गई। किसी भी कार्य की नीति के विषय में उसके हृदय में शंका उत्पन्न होते ही वह स्वतंत्रता-पूर्वक मुझसे वाद-विवाद करती और जबतक मैं उसकी नीति के विषय में उसे कायल न कर देता तबतक उसे कभी सन्तोष नहीं होता था। जब हम लोग गिरफ्तार हो गये और अगुआओं में से लगभग अकेले काछलिया बाहर रह गये तब इस कुमारिका ने लाखों का हिसाब संभाला था। भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्यों से काम लिया था। काछलिया भी उसीका आश्रय लेते, उसीकी सलाह लेते थे। हम लोगों के जेल में चले जाने पर डोक ने 'इंडियन ओपीनियन' की जिम्मेदारी अपने हाथों में ली; पर वह वृद्ध पुरुष भी 'इंडियन ओपीनियन' के लिए लिखे हुए लेख मिस श्लेजीन से पहले पास करा लेते! और मुझसे उन्होंने कहा:

"अगर मिस श्लेजीन नहीं होती तो मैं कह नहीं सकता कि अपने काम से मुझे खुद भी संतोष होता या नहीं। उसकी सहायता और सूचनाओं की

सच्ची कीमत आंकना बहुत मुश्किल है।"

और कई बार उसकी सूचनाएं उचित ही होंगी, यह समझकर मैं उन्हें मंजूर भी कर लिया करता। पठान, पटेल, गिरमिटिया, आदि सब जाति के और सभी उम्र के भारतीयों से वह सदा घिरी हुई रहती थी। वह उसकी सलाह लेते और वह जैसा कहती वैसा ही करते। दक्षिण अफ्रीका में अक्सर गोरे लोग भारतीयों के साथ एक ही डिब्बे में नहीं बैठते। ट्रान्सवाल में तो उनको एक जगह बैठने की मनाही भी करते हैं। वहां तो यह भी कानून था कि सत्याग्रही तीसरे ही दर्जे में सफर करें। इतना होते हुए भी मिस श्लेजीन जान-बूझकर भारतीयो के डिब्बे में बैठती और गार्ड के साथ झगड़ा भी करती। मुझे भय था और श्लेजीन को भी इस बात की शंका थी कि वह कहीं गिरफ्तार न हो जाय। पर यद्यपि सरकार की उसकी शक्ति, उसका बुद्धि-विषयक ज्ञान और सत्याग्रहियों के हृदय पर उसने जो अधिकार प्राप्त कर लिया था उसका पता था, तथापि उसने मिस श्लेजीन को गिरफ्तार नहीं किया। और इसमें उसने सचमुच बुद्धि और विवेक से ही काम लिया। मिस श्लेजीन ने कभी अपने छः पौंड के सवा छः पौण्ड होने की न तो इच्छा ही की और न कुछ कहा ही। उनकी कितनी आवश्यकताओं का जब मुझे पता लगा तब मैंने उनके दस पौंड कर दिये। उन्होंने बड़ी हिचकिचाहट के साथ उसको स्वीकार किया; पर उससे आगे बढ़ाने से तो उन्होंने साफ इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा :

"इससे अधिक की मुझे आवश्यकता ही नहीं और यदि इतने पर भी ले लूं तो जिस उद्देश्य से आपके पास आई हूं वही व्यर्थ हो जाय।"

इस उत्तर के आगे मैं चुप हो गया। पाठक शायद यह जानने के लिए उत्सुक हो रहे होंगे कि मिस श्लेजीन ने कहां तक शिक्षा पाई थी? वह केप यूनिवर्सिटी की इन्टरमीजिएट परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुकी थीं। शार्टहैंड वगैरा में पहले दर्जे के प्रमाणपत्र प्राप्त किये थे। युद्ध से मुक्त होने पर वह उसी यूनिवर्सिटी की ग्रेजुएट हुईं और इस समय ट्रान्सवाल की किसी कन्या पाठशाला में प्रधानाध्यापिका हैं। (द० अ० स०, १९२५)

... ...

...यह बहन आज ट्रान्सवाल में किसी हाईस्कूल में शिक्षिका का काम

करती है। जब मेरे पास यह आई थी तब उसकी उम्र १७ वर्ष की होगी। उसकी कितनी ही विचित्रताओं के आगे मैं और मि० कैलनबेक हार खा जाते। वह नौकरी करने नहीं आई थी। उसे तो अनुभव प्राप्त करना था। उसके रगो-रेशे में कहीं रंग-द्वेष का नाम न था। न उसे किसीकी परवा ही थी। वह किसीका अपमान करने से भी नहीं हिचकती थी। अपने मन में जिसके सम्बन्ध में जो विचार आते हों वह कह डालने में ज़रा संकोच न करती थी। अपने इस स्वभाव के कारण वह कई बार मुझे कठिनाइयों में डाल देती थी; परन्तु उसका हृदय शुद्ध था, इससे कठिनाइयां दूर भी हो जाती थीं। उसका अंग्रेजी ज्ञान मैंने अपने से हमेशा अच्छा माना था, फिर उसकी वफादारी पर भी मेरा पूर्ण विश्वास था। इससे उसके टाइप किये हुए कितने ही पत्रों पर बिना दोहराये दस्तखत कर दिया करता था।

उसके त्याग-भाव की सीमा न थी। बहुत समय तक तो उसने मुझसे सिर्फ ६ पौंड महीना ही लिया और अन्त में जाकर १० पौंड से अधिक लेने से साफ इन्कार कर दिया। यदि मैं कहता कि ज्यादा ले लो तो मुझे डांट देती और कहती :

"मैं यहां वेतन लेने नहीं आई हूं। मुझे तो आपके आदर्श प्रिय हैं। इस कारण मैं आपके साथ रह रही हूं।"

एक बार आवश्यकता पड़ने पर मुझसे उसने ४० पौंड उधार लिये थे और पिछले साल सारी रकम उसने मुझे लौटा दी।

त्याग-भाव उसका जैसा तीव्र था वैसी ही उसकी हिम्मत भी जबरदस्त थी। मुझे स्फटिक की तरह पवित्र और वीरता में क्षत्रिय को भी लज्जित करनेवाली जिन महिलाओं से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है उनमें मैं इस बालिका की गिनती करता हूं। आज तो वह प्रौढ़ कुमारिका है। उसकी वर्तमान मानसिक स्थिति से मैं परिचित नहीं हूं; परन्तु इस बालिका का अनुभव मेरे लिए सदा एक पुण्य-स्मरण रहेगा और यदि मैं उसके संबंध में अपना अनुभव न प्रकाशित करूं तो मैं सत्य का द्रोही बनूंगा।

काम करने में वह न दिन देखती थी, और न रात। रात में जब भी कभी हो, अकेली चली जाती और यदि मैं किसीको साथ भेजना चाहता तो लाल-पीली आंखें दिखाती। हजारों जवांमर्द भारतीय उसे आदर की

दृष्टि से देखते थे और उसकी बात मानते थे। जब हम सब जेल में थे, जबकि जिम्मेदार आदमी शायद ही कोई बाहर रहा था, तब उस अकेली ने सारी लड़ाई का काम सम्हाल लिया था। लाखों का हिसाब उसके हाथ में, सारा पत्र-व्यवहार उसके हाथ में और 'इंडियन ओपीनियन' भी उसी हाथ में—ऐसी स्थिति आ पहुंची थी; पर वह थकना नहीं जानती थी।

मिस श्लेजीन के बारे में लिखते हुए मैं थक नहीं सकता; पर यहां तो सिर्फ गोखले का प्रमाणपत्र देकर समाप्त करता हूं। गोखले ने मेरे तमाम साथियों से परिचय कर लिया और इस परिचय से उन्हें बहुतों से बहुत संतोष हुआ था। उन्हें सबके चरित्र के बारे में अंदाज लगाने का शौक था। मेरे तमाम भारतीय और यूरोपीय साथियों में उन्होंने मिस श्लेजीन को पहला नम्बर दिया था :

"इतना त्याग, इतनी पवित्रता, इतनी निर्भयता और इतनी कुशलता मैंने बहुत कम लोगों में देखी है। मेरी नजर में तो मिस श्लेजीन का नंबर तुम्हारे सब साथियों में पहला है।" (आ० क०, १९२७)

: २१९ :

आईनर

मेरा तो खयाल है कि संसार में ऐसा एक भी स्थान और जाति नहीं, जिससे यथासमय और संस्कृति मिलने पर बढ़िया-से-बढ़िया मनुष्य-पुष्प न पैदा होते हों। दक्षिण अफ्रीका में सभी स्थानों पर मैं इसके उदाहरण सौभाग्यवश देख चुका हूं। पर केपकालोनी में मुझे इसके उदाहरण अधिक संख्या में मिले। उनमें सबसे अधिक विद्वान् और विख्यात हैं श्री मेरीमैन। इन्हें लोग दक्षिण अफ्रीका के ग्लैडस्टन कहते। केपकालोनी में आप अध्यक्ष भी रह चुके हैं। यदि श्री० मेरीमैन के जैसे श्रेष्ठ नहीं तो उनसे दूसरे नंबर में वहां के आईनर और मोल्टोनो के परिवार हैं। कानून के विख्यात हिमायती श्री, डब्ल्यू० पी, आईनर इसी आईनर-परिवार में हो गये हैं। केपकालोनी के प्रधान-मण्डल में भी वह रह चुके हैं। श्री मेरीमैन और ये दोनों परिवार हमेशा हबशियों का पक्ष लेते और जब-जब उनके हकों पर हमला

होता तब-तब उसके लिए वे झगड़ते। और यद्यपि वे सब भारतीयों और हबशी लोगों को भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखते तथापि उनकी प्रेमधारा भारतीयों की ओर भी अवश्य बहती। उनकी दलील यह थी कि हबशी लोग गोरों के पहले से यहां रह रहे हैं और उनकी यह मातृभूमि है। इसलिए उनका स्वाभाविक अधिकार गोरों से नहीं छीना जा सकता। किन्तु प्रतिस्पर्धा के भय से बचने के लिए यदि भारतीयों के खिलाफ कुछ कानून बनाये जायं तो वह बिल्कुल अन्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता। पर इतने पर भी उनका हृदय तो हमेशा भारतीयों की ओर ही झुकता। स्वर्गीय गोपालकृष्ण गोखले जब दक्षिण अफ्रीका पधारे थे तब उनके सम्मान में केपटाउन हाल में जो सभा बुलाई गई थी उसके अध्यक्ष श्री श्राईनर ही थे। श्री मेरीमैन ने भी उनसे बड़े प्रेम और विनयपूर्वक बातचीत की और भारतीयों के प्रति अपना प्रेम-भाव दर्शाया। केपटाउन के समाचार-पत्रों में भी पक्षपात की मात्रा इधर-उधर समाचार-पत्रों की अपेक्षा सदा कम रहती।

(द० अ० स०, १९२५)

: २२० :

ओलिव श्राईनर

दूसरी महिला हैं ओलिव श्राईनर। दक्षिण अफ्रीका के विख्यात श्राईनर कुटुम्ब में उनका जन्म हुआ था। वह बड़ी विदुषी थीं। श्राईनर नाम इतना विख्यात है कि जब उनकी शादी हुई तब उनके पति को श्राईनर नाम ग्रहण करना पड़ा, जिससे ओलिव का श्राईनर-कुटुम्ब के साथ सम्बन्ध दक्षिण अफ्रीका के गोरों से लुप्त न हो जाय। यह कोई उनका वृथाभिमान नहीं था। मेरा विश्वास है कि उन महिला के साथ मेरा अच्छा परिचय था। उनकी सादगी और नम्रता उनकी विद्वत्ता के समान ही उनका आभूषण थी। कभी एक दिन भी उनके दिमाग में यह खयाल नहीं आया कि उनके हबशी नौकर और स्वयं उनके बीच कोई अन्तर है। जहां-जहां अंग्रेजी भाषा बोली जाती है, तहां-तहां उनकी 'ड्रीम्स' नामक पुस्तक आदर के साथ पढ़ी जाती है। वह गद्य है, पर काव्य की पंक्ति में रखने योग्य है। और भी

उन्होंने बहुत-कुछ लिखा है। इतनी विदुषी, इतनी बड़ी लेखिका होने पर भी अपने घर में रसोई करना, घर साफ-सुथरा रखना तथा बर्तन आदि साफ करना आदि कामों से न तो वह कभी शर्मातीं और न कभी परहेज करती थीं। उनका यह खयाल था कि वह उपयोगी मेहनत उनकी लेखन-शक्ति को मन्द करने के बदले उत्तेजित ही करती थी और उसके प्रभाव से भाषा में एक प्रकार की मर्यादा और व्यवस्थितता आ जाती थी। इस महिला ने भी दक्षिण अफ्रीका के गोरों में उनका जो कुछ भी वजन था, उसका उपयोग भारतीयों के पक्ष में किया था। (द० अ० स०)

... ...

ओलिव श्राईनर दक्षिण अफ्रीका में बड़ी लोकप्रिय महिला हैं। जहां-जहांतक अंग्रेजी भाषा बोली जाती है वहां-वहांतक उनका नाम विख्यात है। मनुष्यमात्र पर उनका असीम प्रेम था। जब देखिये तब यही मालूम होता कि उनकी आंखों से अविरल प्रेम की धारा बह रही है। इसी देवी ने 'ड्रीम्स' नामक पुस्तक लिखी है। 'ड्रीम्स' की लेखिका के नाम से उनकी कीर्ति चारों ओर तभी से है। उनका स्वभाव इतना सरस और सीधा-सादा था कि इतने बड़े खानदान में पैदा होकर और इतनी बड़ी विदुषी होने पर भी घर पर वह अपने बर्तन खुद ही साफ करतीं। (द० अ० स०)

: २२१ :

सुल्तान शहरियार

शहरियार साधारण आदमी नहीं है। वह काफी बड़ा आदमी है। लेकिन उसकी भी नज़र आप लोगों पर यानी हिन्दुस्तान पर ही है।

(प्रा० प्र०, ३.५.४७)

: २२२ :

जॉर्ज बर्नार्ड शॉ

बर्नार्ड शॉ अंग्रेजों को ऊंचा समझते हैं। अंग्रेज समझते हैं कि उनके-जैसा खूबसूरत कौन है। वह बहुत अच्छा मजाक करते हैं। कहते हैं कि अंग्रेज

कुछ गलती नहीं करते। वह धर्म के लिए ही सब-कुछ करते हैं। वह कहते हैं कि अंग्रेज धर्म के लिए लड़ाई करता है। लूट करता है तो भी वह धर्म के नाम पर, क्योंकि किसीके पास अधिक पैसा क्यों रहे। हमें गुलाम बनाता है तो भी धर्म के नाम पर---अच्छा बनाने के लिए। राजा का खून करता है तो वह भी धर्म के लिए अर्थात् जनमत के लिए। वह सब काम धर्म के नाम पर करते हैं! (प्रा० प्र०, ८.७.४७)

: २२३ :

श्रीनिवास शास्त्री

मेरे लिए वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री सदृश सच्चे आदमी बहुत कम हैं, पर उनके आचरणों से मुझे विस्मय होता है। उनका विश्वास है कि मैं भारतवर्ष को अन्धकारपूर्ण गढ़े में लिये चला जा रहा हूं, पर इससे मेरे प्रति उनका अनुराग कम नहीं हो गया होगा। मुझे पूर्ण आशा है कि इस असहयोग-आन्दोलन ने हजारों व्यक्तियों को यह बात सुझा दी होगी कि हम लोग व्यक्ति-विशेष की अप्रतिष्ठा और अनादर न करके भी उसके आचरण, कार्यवाही और कार्यप्रणाली की आलोचना और विरोध कर सकते हैं। मनुष्य सदा अपूर्ण होता है, इससे हमें दूसरों की ओर सदा नर्म रहना चाहिए और जहांतक हो एकाएक किसी तरह का दोषारोपण नहीं करना चाहिए।

(यं० इं०, २५.५.२१)

... ...

दक्षिण अफ्रीका निवासी भारतीयों को यह सुनकर बड़ी तसल्ली होगी कि माननीय शास्त्री ने पहला भारतीय राजदूत बनकर अफ्रीका में रहना स्वीकार कर लिया है, बशर्ते कि सरकार वह स्थान ग्रहण करने के प्रस्ताव को आखिरी बार उनके सामने रखे। भारत सेवक-समिति और शास्त्रीजी ने यह बड़ा ही त्याग किया है, जो वह इस निर्णय पर पहुंचे हैं। यह तो एक प्रकट रहस्य है कि यदि यह प्रस्ताव नहीं किया जाता तो वह भारत में अपना काम छोड़कर इस जिम्मेदारी को अपने सिर पर लेने के जरा भी इच्छुक नहीं थे। परंतु जब उनसे साग्रह यह अनुरोध किया गया कि वह ही

एक ऐसे आदमी हैं, जो उस समझौते के अनुसार कार्य शुरू कर सकते हैं, जिसके स्वीकृत कराने में उनका बहुत भारी हाथ रहा है तो उन्हें इस प्रार्थना और आग्रह को मंजूर करना ही पड़ा। दक्षिण अफ्रीका से समय-समय पर जो तार भेजे गये थे उनसे हमें पता चलता है कि वहां के अंग्रेज भी इस बात के लिए कितने उत्सुक थे कि शास्त्रीजी ही इस सम्माननीय पद को ग्रहण करें। शास्त्रीजी की वक्तृत्व-शक्ति, निस्पृहता, मधुर विवेकशीलता और असीम सचाई ने यूनियन सरकार और वहां के यूरोपीय लोगों के हृदय में उनके लिए चाह और आदर उत्पन्न कर दिया,जब वह हबीबुल्ला शिष्ट-मंडल के साथ कुछ दिन के लिए दक्षिण अफ्रीका गये थे। मैं खुद जानता हूं कि हमारे दक्षिण अफ्रीका-निवासी भाई इस बात के लिए कैसे असीम चिंतातुर थे कि किसी प्रकार शास्त्रीजी ही वहां भारत के पहले राजदूत बनकर जायं। और श्रीयुत श्रीनिवास शास्त्रीजी के लिए भी तो, जिन्हें परमात्मा ने ऐसे उदार हृदय से भूषित किया है, ऐसे सर्वसम्मत अनुरोध को अस्वीकार करना असंभव था। अब यह प्राय: निश्चित है कि शीघ्र ही उनकी बाकायदा नियुक्ति होकर, उसकी खबर प्रकाशित कर दी जायगी।

इन पहले राजदूत का काम भी उनके लिए निश्चित कर दिया जायगा। नि:संदेह, यूनियन सरकार और हमारे दक्षिण अफ्रीका के भारतीय भाई भी भारत के इस पहले राजदूत से बड़ी-बड़ी आशाएं तो करते ही होंगे। चूंकि शास्त्रीजी स्वयं भारतीय और एक विख्यात पुरुष हैं, नि:संदेह यूनियन सरकार जरूर यह सोचती होगी कि जहांतक भारतीयों से संबंध है, उन्हें समझा-बुझाकर शास्त्रीजी सरकार के प्रस्तावों आदि का काम सरल कर देंगे। दूसरे शब्दों में यों कहिये कि यूनियन सरकार उनसे आशा करती है कि शास्त्रीजी उसकी बातों को भारतीय समाज तथा भारत सरकार के सामने सहानुभूतिपूर्वक रखेंगे। इधर भारतीय समाज भी आशा करता है कि शास्त्रीजी इस बात का जरूर आग्रह करेंगे कि समझौते का सम्मान-युक्त, बल्कि उदारता-पूर्वक पालन हो। दो प्रतिस्पर्धी उम्मीदवारों को संतुष्ट करना यों कठिन तो है ही; पर दक्षिण अफ्रीका में, जहां कि जातियों और दलों के स्वार्थों में आश्चर्यजनक पारस्परिक विरोध है, यह काम कहीं अधिक मुश्किल है। किंतु मैं जानता हूं कि अगर इस सूक्ष्म तराजू को अपने

हाथ में कोई उठा सकता है और दक्षिण अफ़्रीका से संबंध रखनेवाले सभी दलों को संतुष्ट कर सकता है तो अकेले शास्त्रीजी ही एक ऐसे आदमी हैं। मेरा खयाल है कि यूनियन सरकार के मंत्री यह तो अपेक्षा नहीं रखते होंगे कि भारतीय समाज को उसके न्याय्य स्वत्वों को दिलाने में शास्त्रीजी एक इंचभर भी पीछे हट जायं। हां, अधिक-से-अधिक शास्त्रीजी यह कर सकते हैं कि वे भारतीयों को १९१४ के समझौते का उल्लंघन करके आगे बढ़ने से रोकें, कम-से-कम तबतक तो जरूर रोकें, जबतक कि वहां के भारतीय अनुकरणीय आत्मसंयम और अपने अन्य व्यवहार द्वारा १९१४ में प्राप्त किये समझौते से आगे बढ़ने की अपनी पात्रता को सिद्ध नहीं कर देते। अतः यदि हमारे दक्षिण अफ्रीका के भारतीय भाई इस भारत के प्रतिनिधि के काम को सरल और अपनी परिस्थिति को सुरक्षित कर लेना चाहें तो वे उनसे बड़े-बड़े चमत्कारों की आशाएं करना छोड़ दें। उनका यह अनुमान गलत होगा कि 'चूंकि हम अभी एक सम्माननीय समझौता करा चुके हैं और उसपर अमल कराने के लिए भारत का एक महान पुरुष हमारे यहां आ रहा है, इसलिए अब तो हमारी परिस्थिति में एकदम कायापलट हो जायगा।' उन्हें याद रखना चाहिए कि माननीय शास्त्रीजी वहां उनके वकील बनकर, उनके प्रत्येक व्यक्तिगत शिकायत के लिए लड़ने को नहीं आ रहे हैं। उनको मामूली व्यक्तिगत शिकायतें सुना-सुनाकर परेशान करना उस सोने के अंडे देनेवाले पक्षी की हत्या करने के समान है। वह तो वहां भारतीय सम्मान के रक्षक बनकर जा रहे हैं। सर्वसाधारण भारतीय समाज के स्वत्व और स्वाधीनता की रक्षा के लिए वह वहां जा रहे हैं। शास्त्रीजी वहां यह देखने के लिए जा रहे हैं कि यूनियन सरकार कहीं कोई नवीन रुकावटी कानून न बनाने पाये। अलावा इसके वह देखेंगे कि वर्तमान कानूनों का पालन उदारतापूर्वक तो हो रहा है। उनके पालन में भारतीयों के स्वत्वों को कोई हानि तो नहीं हो रही है, आदि। अतः यदि उनसे कोई व्यक्तिगत शिकायत की भी जाय तो वह किसी व्यापक सर्वसाधारण नियम का उदाहरण-स्वरूप हो। इसलिए यदि व्यक्तिगत मामलों में शास्त्रीजी की सहायता मांगने में दक्षिण अफ्रीका का भारतीय समाज दूरदर्शी संयम से काम न लेगा तो वह उनकी परिस्थिति को असह्य और उस महान् उद्देश्य के लिए उन्हें असमर्थ

बना देगा जिसके लिए वह वहां विशेष रूप से भेजे गये हैं। और सचमुच एक राजदूत की उपयोगिता केवल यहीं समाप्त नहीं हो जाती कि वह केवल सरकारी पद से संबंध रखनेवाले अपने कर्तव्य का पालन भर कर ले; बल्कि उसकी वह अप्रत्यक्ष सेवा कहीं अधिक उपयोगी है जो सरकारी तथा गैर-सरकारी कामों को लेकर उससे मिलने-जुलनेवाले लोगों पर उसके मिलनसार स्वभाव और सच्चरित्र के प्रभाव द्वारा होती है। अतः यदि हमारे देशभाई शास्त्रीजी की दिमागी और हृदय के महान् गुणों का उपयोग करना चाहें तो वे मेरी बताई उपर्युक्त मर्यादाओं का जरूर खयाल रखें।

मैं समझता हूं कि यदि श्री शास्त्रीजी जायंगे तो श्रीमती शास्त्री भी उनके साथ दक्षिण अफ्रीका जायंगी। दक्षिण अफ्रीका में रहनेवाले भारतीयों के लिए यह बड़े ही लाभ की बात है। भारतीय बहनें प्रेम से श्रीमती शास्त्री को वहां घेर लें। उन्हें वे समाज-सेवा का एक अमूल्य साधन पावेंगी; क्योंकि दक्षिण अफ्रीका में फैली हुई हजारों बहनों का जीवन ऊंचा उठाने में वह बहुत सहायक होंगी। (हि० न०, २८.४.२७)

... ...

इस सप्ताह में मिले एक पत्र में एक सज्जन ने क्लर्कस्ड्रोप की प्रसिद्ध घटना का, जिसके बारे में दक्षिण अफ्रीका के अखबारों के पन्ने-के-पन्ने भरे रहते हैं, आंखों देखा सच्चा वर्णन किया है। यूनियन सरकार के निःसंकोच पूरी और स्पष्ट माफी मांग लेने से यद्यपि इस घटना पर राजनैतिक दृष्टि से अब कुछ भी कहना बाकी नहीं रह जाता है और न कुछ कहने की जरूरत ही है तो भी इस षड्यंत्र के सामने जिसका कि परिणाम श्री शास्त्री के लिए प्राणांतक भी हो सकता था, उन्होंने जो उदारता और हिम्मत का व्यवहार किया है उसकी प्रशंसा कितनी ही क्यों न की जाय वह कम ही होगी। मेरे सामने जो पत्र है उससे मालूम होता है कि जिस सभा में वह व्याख्यान दे रहे थे, उसको तोड़ देने के लिए डेप्युटिमेयर के नेतृत्व में जो दल आया था उसने बत्तियां बुझा दीं, फिर भी वह भारतमाता का सच्चा सपूत और प्रतिनिधि अपने स्थान पर यत्किंचित भी घबड़ाये बिना डटा रहा, ज़रा भी न हटा और जब भड़ाका होने के कारण सभा के हाल में श्रोताओं को सांस लेना भी मुश्किल हो गया तब वह बाहर गये और वहां जैसे कोई बात

ही नहीं हुई हो, इस घटना के प्रति इशारा तक न करते हुए उन्होंने अपना व्याख्यान पूरा किया। यों तो इस घटना के पहले ही दक्षिण अफ्रीका के यूरोपियनों में वह प्रिय हो गये थे; परंतु शास्त्रीजी के इस धीर, हिम्मतभरे और उदार आचरण ने वहां के यूरोपियनों के विचार में उन्हें और भी अधिक गौरवान्वित कर दिया है। और क्योंकि उन्हें अपने लिए यश नहीं चाहिए था (शास्त्रीजी से अधिक कीर्त्ति से लजानेवाले मनुष्य कदाचित ही मिल सकेंगे) उन्होंने जिस काम के वह प्रतिनिधि थे, उसके लाभ में अपनी लोकप्रियता का बड़ी योग्यता और सफलतापूर्वक उपयोग किया। दक्षिण अफ्रीका में उनके बहुत ही थोड़े समय के निवास में उन्होंने अपने देशवासियों का गौरव बहुत बढ़ा दिया है। हम यह आशा करें कि वहां के भारतीय अपने आदर्श व्यवहार से अपनेको उस गौरव के योग्य प्रमाणित करेंगे।

परन्तु दक्षिण अफ्रीका के मुश्किल और नाजुक प्रश्न को हल करने में उनके कार्य का महत्त्व केवल इसीपर, जो एक घटना-मात्र है, निर्भर नहीं है। हम उनके दफ्तर की भीतरी कार्यवाही के विषय में, सिवा उनके परिणामों के कुछ नहीं जानते। पर इसमें उन्हें उस सारी राजनीति कला का उपयोग करना पड़ता था जो अपने पक्ष के सत्य होने के विश्वास से प्राप्त होती है तथा जो झूठ, कपट तथा नीचता को कभी बरदाश्त नहीं कर सकती। परन्तु हम यह जरूर जानते हैं कि संस्कृत और अंग्रेजी की अपार विद्वत्ता और जुदा-जुदा विषयों का ज्ञान, वाक्पटुता इत्यादि कुदरत से प्रचुरता में मिली हुई बख्शिशों को अपने कार्य के लिए उपयोग करने में, उन्होंने कोई कसर नहीं की है। चुनंदा यूरोपियनों के बड़े श्रोतृ-समूह के आगे वह भारतीय तत्त्वज्ञान और संस्कृति पर व्याख्यान देते थे, जिससे उनके दिलों पर बड़ा असर होता था और उस पक्षपात के परदे को, जिसके कारण यूरोपियनों का बड़ा समूह अबतक भारतीयों में कोई गुण ही नहीं देख सकता था, उन्होंने पतला कर दिया है। दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के प्रश्न में, ये व्याख्यान ही शायद उनका सबसे बड़ा और अधिक स्थायी हिस्सा है।

शास्त्रीजी की जगह के लिए योग्य व्यक्ति चुनना भारत सरकार के

लिए एक बड़ा गम्भीर प्रश्न होना चाहिए। दक्षिण अफ्रीका में और भी अधिक ठहरने के लिए उनपर जितना भी दबाव डाला गया उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया है। दक्षिण अफ्रीका से आये पात्रों से मालूम होता है कि वहां के भारतीय श्री शास्त्री के आने की तैयारी के कारण कितने चिंतित हैं। श्री शास्त्री ने जिस कार्य को सफलतापूर्वक आरम्भ किया है और जिसके वह प्रतिनिधि रहे हैं उसको जारी रखने के लिए यदि कोई लायक व्यक्ति न मिला तो यह बड़े ही दुःख की बात होगी। मुझे आशा है कि दक्षिण अफ्रीका में भारत के एजेन्ट के पद को सरकार और प्रजाकीय दल, दोनों ही के लिए खुला रखने का अब वायसराय के आफिस में रिवाज पड़ गया है। यह आशा की जाती है कि इसके लिए जो कोई भी चुना जाय वह सरकार और प्रजा दोनों को समान रूप से मान्य होगा और जो केवल भारत सरकार का ही नहीं, किंतु भारत के लोगों का भी प्रतिनिधि होगा।

(हि० न०, १८.१०.२८)

... ...

श्री श्रीनिवास शास्त्री भारत के एक सर्वश्रेष्ठ विद्वान हैं। शिक्षक के रूप में उनकी तभी से ख्याति रही है, जब कि इनमें से बहुतेरे विद्यार्थी या तो पैदा ही नहीं हुए थे या अपनी किशोरावस्था में ही थे। उनकी महान् विद्वत्ता और उनके चरित्र की श्रेष्ठता दोनों ही ऐसी चीजें हैं, जिनके कारण संसार की कोई भी यूनिवर्सिटी उन्हें अपना वाइस चांसलर बनाने में गौरव ही अनुभव करेगी। ('विद्यार्थियों से')

... ...

मौत ने सिर्फ हमारे बीच से, बल्कि समूची दुनिया के बीच से भारत-माता के एक बड़े-से-बड़े सपूत को उठा लिया है। उनके परिचय में आने-वाला हरकोई देख सकता था कि वह हिंदुस्तान को बहुत ही प्यार करते थे। पिछले दिनों जब मैं उनसे मद्रास में मिला था, उन्होंने सिवा हिंदुस्तान और उसकी संस्कृति के, जिनके लिए वह जीये और मरे, दूसरी किसी बात की चर्चा ही नहीं की। जब वह मृत्युशय्या पर पड़े दीखते थे, तब भी मुझे विश्वास है कि उनको अपनी कोई चिंता नहीं थी। उनका संस्कृत-ज्ञान अंग्रेजी के उनके अगाध ज्ञान से ज्यादा नहीं तो कम भी न था। मुझे एक

ही बात और कहनी है और वह यह कि अगरचे राजनीति में हमारे खयाल एक-दूसरे से मिलते नहीं थे तो भी हमारे दिल एक ही थे और मैं यह कभी सोच नहीं सकता कि उनकी देशभक्ति हमारे किसी बड़े-से-बड़े देशभक्त से कम थी। शास्त्रीजी जिंदा हैं, यद्यपि उनका नामधारी शरीर भस्म हो चुका है। (ह० से०, २१.४.४६)

: २२४ :

खुशालशाह

ब्रिटेन और भारत के परस्पर के देन राष्ट्रीय ऋण के सम्बन्ध में जांच करने के लिए कांग्रेस महासमिति ने जो समिति नियत की थी, उसकी रिपोर्ट विशेषकर वर्तमान अवसर पर एक अत्यन्त महत्त्व का लेख है। राष्ट्रीय महासभा का कोई भी सेवक उसकी एक प्रति रखे बिना न रहेगा। श्री बहादुरजी, भूलाभाई देसाई, खुशालशाह और श्री कुमारप्पा अपने इस प्रेम के परिश्रम के लिए राष्ट्र के साभार अभिनन्दन के अधिकारी हैं। 'यंग इंडिया' के विदेशी पाठक जानते हैं कि श्री बहादुरजी और उसी तरह श्री भूलाभाई देसाई, दोनों ही एक बार एडवोकेट जनरल थे। खुशालशाह भारत-प्रख्यात अर्थशास्त्री हैं, कितनी ही बहुमूल्य पुस्तकों के लेखक हैं और बहुत वर्ष तक (आज अभी तक) बम्बई यूनिवर्सिटी के अर्थशास्त्र के अध्यापक थे। ये तीनों सज्जन सदैव काम में घिरे रहते हैं, इसलिए राष्ट्रीय महासभा के सौंपे हुए इस उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य के लिए समय देना उनके लिए कुछ ऐसा-वैसा साधारण त्याग नहीं था। रिपोर्ट के लेखकों का यह परिचय मैंने इसलिए दिया है कि विदेशी पाठक जान सकें कि यह रिपोर्ट उथले राजनीतिज्ञों का लिखा हुआ लेख नहीं, वरन् जो लोग प्रचुर प्रतिष्ठावाले हैं, और जो वाक्पटु उपदेशक नहीं वरन् स्वयं जिस विषय के ज्ञाता हैं, उसीपर लिखनेवाले और अपने शब्दों को तौल-तौलकर व्यवहार में लानेवालों की यह कृति है। (हि० न०, ६.८.३१)

: २२५ :

पीर महबूबशाह

पीर महबूबशाह गिरफ्तार हो गये । वह बड़े ही बहादुर आदमी थे। मुझे उनके दोष तथा निर्दोषिता के बारे में कुछ नहीं कहना है। पर जो अभियोग उनपर चलाया गया था यदि वह ठीक है तो वह स्वीकार करना पड़ेगा कि उनकी भाषा में उत्तेजना फैलाने और शांति भंग करने के भाव थे और इस अवस्था में उन्हें जो दंड दिया गया है अर्थात् दो वर्ष के लिए साधारण कारावास, बहुत ही हलका है। यदि अपराध साबित हो गया तो कोई भी दंड से बच नहीं सकता, चाहे वह कितना ही बड़ा आदमी क्यों न हो और चाहे वह कितना ही बड़ा सरकारी पदाधिकारी क्यों न हो। जिस बात के लिए मैं उनकी प्रशंसा करने बैठा हूं वह उनकी वीरता, धीरता और उदासीनता है। उन्होंने वीरता तथा धीरता के साथ अपने मुकदमे की पैरवी करने तथा सफाई देने से इन्कार कर दिया और उदासीनता के साथ कानून-नियुक्त अदालत के निर्णय को स्वीकार करना तय किया। इससे मुझे विदित होता है कि उन्हें इस असहयोग-संग्राम का तत्त्व मिल गया है। उनके अनुयायियों ने उनकी इस दंडाज्ञा को जिस प्रकार सहन किया है उससे भी अतिशय संतोष होता है।

बाद को समाचार मिला कि पीरसाहब ने माफी मांग ली और वह रिहा कर दिये गए। इससे तो हमारी प्रत्यक्ष दुर्बलता प्रकट होती है। दासता की कमजोर हवा में पालित तथा पोषित होने के कारण कभी-कभी हम लोगों में से बड़े लोग भी साधारण झंझावात से कांप उठते हैं और उसके सामने सिर झुका देते हैं। हम लोगों ने पश्चिमी सभ्यता का अनुकरण अवश्य किया; पर उसके अन्तर्गत जो शिक्षा लेनी पड़ती है उसके अभ्यस्त न होकर हमने अपनी अवस्था इतनी खराब कर डाली है कि सादी सजा की साधारण कठिनाइयां भी हमसे नहीं झेली जातीं। पर पीर महबूबशाह की माफी से हमें हताश नहीं होना चाहिए। मान लीजिये कि एक आदमी कई घोड़ों पर असबाब लादे चला जा रहा है। मार्ग में एक घोड़ा थक गया। तो क्या अन्य घोड़ों का यह कर्तव्य नहीं है कि वे अपने साथी के भार को

आपस में बांट लें ? इसी तरह हमें थोड़ा और प्रयास करके यह बोझ अपने ऊपर ले लेना चाहिए। हम लोग मनुष्य हैं, समझदार जीव हैं, यह समझ लिया जा सकता है कि जब हमारा एक साथी फिसल पड़ता है तो उसका बोझ सम्भालने के लिए हमें कितना प्रयास करना चाहिए।

(यं० इं०, १२.६.२०)

: २२६ :

जनरल शाहनवाज

जनरल शाहनवाज आज आये थे। बिहार से मेरे चले जाने पर भी वह वहांपर काम करते हैं। वेतन नहीं लेते। फिर भी बाकायदा पन्द्रह दिन की छुट्टी लेकर घर जा रहे हैं। उन्होंने बताया कि बिहार में जो मुसलमान लौटकर नहीं आते थे और जिन्हें हिंदू पहले डराते थे वे अब लौट आये हैं; क्योंकि समझाने पर हिंदू अपना धर्म समझ गये और उन्होंने मुसलमानों के स्वागत के लिए लगातार दो दिन तक परिश्रम करके उनका रास्ता साफ किया और जो झोपड़ियां ढह गई थीं उनके बनाने में भी योग दिया। दूसरे देहातों में भी ऐसा ही अच्छा काम हुआ है।

(प्रा० प्र०, ५.५.४७)

: २२७ :

राजकुमार शुक्ल

राजकुमार शुक्ल नाम के एक किसान चंपारन में रहते थे। उनपर नील की खेती के सिलसिले में बड़ी बुरी बीती थी। वह दुःख उन्हें खल रहा था और उसीके फलस्वरूप सबके लिए इस नील के दाग को धो डालने का उत्साह उनमें पैदा हुआ था।

जब मैं कांग्रेस में लखनऊ गया था तब इस किसान ने मेरा पल्ला पकड़ा।

"वकीलबाबू आपको सब हाल बतायेंगे।"

कहते हुए चम्पारन चलने का निमंत्रण मुझे देते जाते थे।

यह वकीलबाबू और कोई नहीं, मेरे चम्पारन के प्रिय साथी, बिहार के सेवा-जीवन के प्राण, बृजकिशोरबाबू ही थे। उन्हें राजकुमार शुक्ल मेरे डेरे में लाये। वह काले अलपके का अचकन, पतलून वगैरा पहने हुए थे। मेरे दिल पर उनकी कोई अच्छी छाप नहीं पड़ी। मैंने समझा कि ये इस भोले किसान को लूटनेवाले कोई वकील होंगे।

मैंने उनसे चंपारन की थोड़ी-सी कथा सुन ली और अपने रिवाज के मुताबिक जवाब दिया, "जबतक मैं खुद जाकर सब हाल न देख लूं तबतक मैं कोई राय नहीं दे सकता। आप कांग्रेस में इस विषय पर बोलें; किन्तु मुझे तो अभी छोड़ ही दीजिये।" राजकुमार शुक्ल तो चाहते थे कि कांग्रेस की मदद मिले। चंपारन के विषय में कांग्रेस में बृजकिशोर बाबू बोले और सहानुभूति का एक प्रस्ताव पास हुआ।

राजकुमार शुक्ल को इससे खुशी हुई; परन्तु इतने ही से उन्हें सन्तोष न हुआ। वह तो खुद चंपारन के किसानों के दुःख दिखाना चाहते थे। मैंने कहा, "मैं अपने भ्रमण में चंपारन को भी ले लूंगा और एक-दो दिन वहां के लिए दे दूंगा।" उन्होंने कहा, "एक दिन काफी होगा, अपनी नजरों से देखिये तो सही।"

लखनऊ से मैं कानपुर गया था। वहां भी देखा तो राजकुमार शुक्ल मौजूद।

"यहां से चंपारन बहुत नजदीक है। एक दिन दे दीजिये।"

"अभी तो मुझे माफ कीजिये; पर मैं यह वचन देता हूं कि मैं आऊंगा जरूर।" यह कहकर वहां जाने के लिए मैं और भी बंध गया।

मैं आश्रम में पहुंचा तो वहां भी राजकुमार शुक्ल मेरे पीछे-पीछे मौजूद।

"अब तो दिन मुकर्रर कर दीजिये।"

मैंने कहा, "अच्छा, अमुक तारीख को मुझे कलकत्ते जाना है, वहां आकर मुझे ले जाना।" कहां जाना, क्या करना, क्या देखना, मुझे इसका कुछ पता न था। कलकत्ते में भूपेनबाबू के यहां मेरे पहुंचने के पहले ही राजकुमार शुक्ल का पड़ाव पड़ चुका था। अब तो इस अपढ़-अनघड़ परन्तु निश्चयी किसान ने मुझे जीत लिया।

१९१७ के आरम्भ में कलकत्ते से हम दोनों रवाना हुए। हम दोनों की एक-सी जोड़ी—दोनों किसान-से दीखते थे। राजकुमार शुक्ल और मैं—हम दोनों एक ही गाड़ी में बैठे। सुबह पटना उतरे।

पटने की यह मेरी पहली यात्रा थी। वहां मेरी किसीसे इतनी पहचान नहीं थी कि कहीं ठहर सकूं।

मैंने मन में सोचा था कि राजकुमार शुक्ल हैं तो अनपढ़ किसान, परन्तु यहां उनका कुछ-न-कुछ जरिया जरूर होगा। ट्रेन में उनका मुझे अधिक हाल मालूम हुआ। पटने में जाकर उनकी कलई खुल गई। राजकुमार शुक्ल का भाव तो निर्दोष था, परन्तु जिन वकीलों को उन्होंने मित्र माना था वे मित्र न थे; बल्कि राजकुमार शुक्ल उनके आश्रित की तरह थे। इस किसान मवक्किल और उन वकीलों के बीच उतना ही अन्तर था, जितना कि बरसात में गंगाजी का पाट चौड़ा हो जाता है।

मुझे वह राजेन्द्रबाबू के यहां ले गये। राजेन्द्रबाबू पुरी या और कहीं गये थे। बंगले पर एक-दो नौकर थे। खाने के लिए कुछ तो मेरे साथ था; परन्तु मुझे खजूर की जरूरत थी, सो बेचारे राजकुमार शुक्ल ने बाजार से ला दी।

परन्तु बिहार में छुआछूत का बड़ा सख्त रिवाज था। मेरे डोल के पानी के छींटे से नौकर को छूत लगती थी। नौकर बेचारा क्या जानता कि मैं किस जाति का था? अन्दर के पाखाने का उपयोग करने के लिए राजकुमार ने कहा तो नौकर ने बाहर के पाखाने की तरफ उंगली उठाई। मेरे लिए इसमें असमंजस की या रोष की कोई बात न थी; क्योंकि ऐसे अनुभवों से मैं पक्का हो गया था। नौकर तो बेचारा अपने धर्म का पालन कर रहा था और राजेन्द्रबाबू के प्रति अपना फर्ज अदा करता था। इन मजेदार अनुभवों से राजकुमार शुक्ल के प्रति जहां एक ओर मेरा मान बढ़ा, तहां उनके सम्बन्ध में मेरा ज्ञान भी बढ़ा। अब पटना से लगाम मैंने अपने हाथ में ले ली। (आ० क०)

: २२८ :

स्टोक्स

मिस्टर स्टोक्स ईसाई हैं। वह परमात्मा के प्रकाश के सहारे चलना चाहते हैं। उन्होंने भारतवर्ष को अपना घर बना लिया है। उन्होंने कोटागिरि में अपना निवास-स्थान बनाया है और एकान्त में रहकर पहाड़ी जातियों के उद्धार में ही वह अपनी सारी शक्ति लगा रहे हैं। वहीं से निरपेक्ष होकर वह असहयोग की गति भी देख रहे हैं। उन्होंने कलकत्ता के 'सर्वेन्ट' तथा अन्य पत्रों में असहयोग पर तीन लेख लिखे हैं। जिस समय मैं बंगाल में दौरा कर रहा था मैंने इन लेखों को पढ़ा था। मिस्टर स्टोक्स असहयोग-आन्दोलन के पक्ष में हैं; पर पूर्ण स्वाधीनता के परिणाम को सोचकर वह डर जाते हैं अर्थात् उन्हें इस बात की आशंका है कि यदि अंग्रेज भारत को एकदम छोड़कर चले जायंगे तो यहां अनेक तरह के उपद्रव उठ खड़े होंगे। उन्हें भय लगता है कि तुरन्त ही विदेशियों के आक्रमण होने लगेंगे, जैसे उत्तर-पश्चिम से अफगान और पहाड़ी गुर्खे भारत पर एकसाथ ही टूट पड़ेंगे। पर कार्डिनल न्यूमन के शब्दों में मैं उस भविष्य की बात की चिन्ता नहीं करता। (यं० इं०, २९. १२. २०)

: २२९ :

जनरल स्मट्स

मैंने जनरल स्मट्स को इस आशय का पत्र लिखा कि उनका नवीन वक्तव्य सुलह का भंग करता है। अपने पत्र में मैंने उनके उस भाषण की ओर भी उनका ध्यान आकर्षित किया, जो सुलह के बाद एक सप्ताह के अन्दर ही उन्होंने दिया था। उस भाषण में उन्होंने ये शब्द कहे थे: "ये लोग (एशियावासी) मुझे एशियाटिक कानून रद करने के लिए कह रहे हैं। जबतक ऐच्छिक परवाने वे नहीं ले लेते तबतक उस कानून को रद करने से मैंने इन्कार किया है।" अधिकारी लोग प्रायः ऐसी बातों का जवाब नहीं देते जो उन्हें उलझन में डालती है। अगर देते भी हैं तो गोल-मोल। जन-

रल स्मट्स इस कला में सिद्धहस्त हैं। उन्हें आप चाहे जितना लिखें, उनके विरुद्ध चाहे जितने भाषण करें, पर यदि वह उत्तर देना नहीं चाहेंगे तो उत्तर में उनके मुंह से एक शब्द भी निकलवाना असम्भव है। सभ्यता का यह सामान्य नियम उनके लिए बन्धनकारक नहीं हो सकता था कि प्राप्त पत्रों का उत्तर देना ही चाहिए। इसलिए अपने पत्र के उत्तर में मुझे किसी प्रकार का सन्तोष प्राप्त नहीं हो सका।

अल्बर्ट कार्ट राइट हमारे मध्यस्थ थे। मैं उनसे मिला। वह स्तब्ध हो गये और मुझसे कहने लगे, "सचमुच मैं इस आदमी को समझ ही नहीं सकता। एशियाटिक कानून को रद करनेवाली बात मुझे बिल्कुल ठीक-ठीक तरह से पसद है। मुझसे जो बन पड़ेगा मैं जरूर करूंगा। पर आप जानते हैं कि जहां यह आदमी किसी एक बात को पकड़ लेता है तहां फिर दूसरे की नहीं चलती। अखबारों के लेखों की तो वह ज़रा भी परवा नहीं करता। इसलिए मुझे पूरा डर है कि मेरी सहायता का आपको कोई उपयोग न होगा।" हास्किन वगैरा से भी मैं मिला। उन्होंने जनरल स्मट्स को एक पत्र लिखा। उन्हें भी बड़ा ही असन्तोषकारक उत्तर मिला। मैंने 'इंडियन ओपीनियन' में भी 'विश्वासघात' शीर्षक कई लेख लिखे; पर जनरल स्मट्स क्यों इन बातों की परवा करते? तत्त्ववेत्ता अथवा निष्ठुर मनुष्य के लिए आप चाहे जितने कड़ुवे विशेषणों का प्रयोग करें, उनपर कोई असर न होगा। वे तो अपना निश्चित काम करने में मस्त रहते हैं। मैं नहीं जानता कि जनरल स्मट्स के लिए इन दो विशेषणों में से किस प्रकार का उपयोग ठीक हो सकता है। यह तो मुझे जरूर कबूल करना होगा कि उनकी वृत्ति में एक तरह की 'फिलासफी'—सिद्धान्त-निष्ठा है। मुझे याद है कि जिस समय हमारा पत्र-व्यवहार जारी था, अखबारों में लेख लिखे जा रहे थे, तब तो मैं उन्हें निष्ठुर ही समझता था। पर अभी तो यह युद्ध का पूर्वार्द्ध—केवल दूसरा वर्ष था। युद्ध तो आठ वर्ष तक जारी रहा। इस बीच में मैं उनसे कई-कई बार मिला। बाद की हमारी बातों से मेरा यह खयाल कुछ बदल गया और मैंने महसूस किया कि जनरल स्मट्स की धूर्तता के विषय में दक्षिण अफ्रीका में बनी हुई सामान्य धारणा में कुछ परिवर्तन होना जरूरी है। दो बातें मैं पूरी तरह समझ गया। एक तो यह कि उन्होंने अपनी राज-

नीति के विषय में एक मार्ग निश्चित कर लिया है और वह केवल अनीतिमय तो हरगिज नहीं। पर साथ ही मैंने यह भी देख लिया कि उनके राजनीति-शास्त्र में चालाकी के लिए और मौका पड़ने पर सत्याभास के लिए भी स्थान है।[1] (द० अ० स०, १९२५)

... ...

उसके बाद जनरल स्मट्स का उदाहरण लीजिये। वह अकेला जनरल नहीं है। उसका पेशा तो वकालत का है। वकीलों में अटर्नी जनरल होने के साथ ही यह कुशल किसान भी था। प्रिटोरिया के पास उसकी बहुत बड़ी जमींदारी है। वहां जैसे फल के वृक्ष हैं, वैसे आस-पास के प्रदेशों में कहीं नहीं पाये जाते। ये सब ऐसे लोगों के उदाहरण हैं, जो संसार के विख्यात सेनानायक थे और साथ ही जो रचनात्मक कार्य के महत्त्व को जानते थे। ('विजयी बारडोली' पृष्ठ ३९०)

: २३० :

सापुरजी सकलातवाला

'बन्धु' सकलातवाला की आतुरता का पार नहीं। उनकी बातों में सच्चई झलकती है। उनके त्याग बहुत बड़े हैं। गरीबों के लिए उनके प्रेम का लोहा सभी मानते हैं। इसलिए मेरे नाम उनकी खुली भावुक अपील पर मैंने उतनी ही गंभीरता से विचार किया है, जितनी ऐसे सच्चे देशभक्त और विश्व-प्रेमी के पत्र के लिए चाहिए। अगर मुझे सच्चाई के जवाब में सच्चाई का व्यवहार करना है, या अपने धर्म का सच्चा बने रहना है तो 'हां' कहने की मेरी लाख इच्छा रहने पर भी मुझे 'नहीं' ही कहना होगा। मगर मैं अपने खास ढंग पर उनकी अपील के जवाब में 'हां' कह सकता हूं। उनकी शर्तों पर मैं उनसे सहयोग करूं—इसकी उनकी अतिशय बलवती इच्छा के नीचे यह बड़ी शर्त मानी हुई है ही कि मैं 'हां' तो तभी कहूं जब उनकी दलील से मेरे दिल और दिमाग को सन्तोष हो जाय। सच्चे विश्वास

[1] यह छपते हुए हम यह जान गये कि जनरल स्मट्स की सरदारी का भी अन्त हो सकता है।—मो० क० गांधी।

के कारण 'नहीं' कहना, उस 'हां' से लाख दर्जे अच्छा और बड़ा है, जो किसीको महज खुश करने के लिए या जो उससे भी बुरी बात है, चिन्ता से बचने के लिए कहा जाय।

उनके साथ हार्दिक सहयोग करने की पूरी इच्छा होते हुए भी मैं अपना रास्ता बन्द देखता हूं। उनकी वास्तविकताएं कपोल-कल्पित हैं और उनके आधार पर निकाले गये नतीजे जरूर ही निराधार हैं। जहां कहीं वे वास्तविकताएं सच हैं, मेरी सारी शक्ति उनके जहरीले असर (मेरे प्रति) को ही दूर करने में लग जाती है। मुझे इसका खेद है। मगर हम जरूर दुनिया के दो छोरों पर हैं। मगर खैर, एक बड़ी चीज हम दोनों में समान है। दोनों का ही कहना है कि देश और विश्व का भला ही हमारे एक मात्र उद्देश्य हैं। इसलिए इस समय हम लोग उलटी दिशाओं में जाते हुए भले ही मालूम पड़ते हों, मगर मेरी आशा है कि एक दिन हम मिलेंगे जरूर। मैं वचन देता हूं कि अपनी भूल समझते ही मैं काफी क्षतिपूर्ति करूंगा। इस बीच में मेरी भूल ही, चूंकि मैं उसे भूल नहीं मानता, मेरा अवलम्ब और तसल्ली होगी। (हि० न०, १७.३.२०)

: २३१ :

सत्यपाल

डॉ० सत्यपाल ने सार्वजनिक जीवन से हटने के लिए नाहक ही मेरा उल्लेख किया है। अगर अन्तरात्मा की प्रेरणा से उन्होंने सार्वजनिक जीवन से हटने का निश्चय किया है तब तो उनका निर्णय ठीक है; लेकिन अगर लाला दुनीचन्द को लिखे हुए मेरे निर्दोषपत्र के कारण ऐसा किया है तो उन्होंने बहुत बड़ी गलती की है। अव्वल तो वह पोस्टकार्ड पंजाब के उस सारे वातावरण के सम्बन्ध में था, जिसके फलस्वरूप न केवल इस या उस व्यक्ति के बल्कि खुद मेरे खिलाफ अविश्वास की भावना पैदा हुई है। कोई आलोचक चाहे तो इसे कायरता कह सकता है, लेकिन यह चाहे कायरता हो या आत्मविश्वास का अभाव हो, पर जबतक मुझमें यह चीज मौजूद है तबतक मैं मध्यस्थता के लिए बेकार हूं। इसलिए डॉ० सत्यपाल की प्रेरणा

से जब सरदार मंगलसिंह और लुधियाना के दूसरे मित्र वर्धा आये तो मैंने उनसे कहा कि मैं तो इस काम के लिए बेकार हूं, लेकिन राष्ट्रपति की हैसियत से राजेन्द्रबाबू पंजाब जाने के लिए उपयुक्त व्यक्ति हैं। उन्होंने यह मंजूर भी कर लिया है कि स्वास्थ्य ठीक रहा और दूसरे काम-काज आड़े न आये तो जल्दी-से-जल्दी वह वहां जायंगे। लेकिन मैंने तो इन मित्रों को सुझाया है कि अपने-आप अपनी मदद करने के बराबर कोई मदद नहीं है। अतः उन्हें अपनी खुद की मेहनत से ही अपने घर को व्यवस्थित करना चाहिए। डॉ० सत्यपाल अगर अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा से सार्वजनिक जीवन से नहीं हटे हैं तो बहुत देर तक वह अपनेको उससे बाहर नहीं रख सकेंगे। खुद उनकी प्रकृति ही इस कृत्रिम आत्मसंयम के विरुद्ध विद्रोह करेगी। इसलिए मैं इससे अच्छा एक तरीका सुझाता हूं। वह यह कि वह दलबन्दी से अलग हो जायं। पुराने झगड़े-टंटों को भूल जायं और पंजाब में सच्ची एकता पैदा करने के काम में जुट पड़ें। यह कैसे किया जा सकता है, यह मैं नहीं कह सकता। मेरे पास ऐसी कोई सामग्री भी नहीं है जो इसके लिए कोई कार्यक्रम बना सकूं। अतः खुद उन्हींको यह सोचना चाहिए। मैं तो सिर्फ यही कह सकता हूं कि अगर वह सचमुच चाहते हैं तो ऐसा कर सकते हैं। यह तो हरेक जानता है कि पंजाब में उनके अनुयायी हैं, वह एक अदम्य कार्यकर्ता हैं और उन्होंने काफी कुर्बानी की है, इसलिए पंजाब के कांग्रेसियों में अगर कोई एकता पैदा कर सकता है तो निश्चय ही वह डा० सत्यपाल हैं। लेकिन चाहे वह हों या कोई और, जो कोई ऐसा करे उसे अपने को भूलकर अपने या अपने दल के हित से जनता के हित को तरजीह देनी चाहिए, क्योंकि वही वास्तव में कांग्रेस का भी हित है। मेरी हिचकिचाहट के पीछे मेरी जो यह तीव्र भावना है, उसपर भी ध्यान रखना जरूरी है कि पंजाब के कांग्रेसियों को मन में कोई गांठ रक्खे बगैर आपस में हिलमिल जाना चाहिए और एक होकर काम करना चाहिए। (ह० से०, १६.८.३६)

: २३२ :

तोताराम सनाढ्य

वयोवृद्ध तोतारामजी किसीकी सेवा लिए बगैर गये। वह साबरमती आश्रम के भूषण थे। वह विद्वान् नहीं थे। मगर ज्ञानी थे, भजनों के भंडार होते हुए भी वह गायनाचार्य न थे। वह अपने इकतारे से और भजनों से आश्रम के लोगों को मुग्ध कर देते थे। जैसे वह थे, वैसी ही उनकी पत्नी थीं। वह तो तोतारामजी से पहले ही चली गईं।

जहां बहुत-से आदमी एक साथ रहते हों, वहां कई प्रकार के झगड़े होते ही हैं। मुझे ऐसा एक भी प्रसंग याद नहीं है कि जब तोतारामजी या उनकी पत्नी ने उनमें भाग लिया हो, या किसी झगड़े के कभी कारण बने हों। तोतारामजी को धरती प्यारी थी, खेती उनका प्राण थी। आश्रम वर्षों पहले वह आये और उसे कभी नहीं छोड़ा। छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष उनकी रहनुमाई के भूखे रहते और उनके पास से अचूक आश्वासन पाते।

वह पक्के हिंदू थे। मगर उनके मन में हिंदू, मुसलमान और दूसरे सब धर्म बराबर थे। उनमें छुआछूत की गंध न थी। किसी किस्म का व्यसन न था।

राजनीति में उन्होंने भाग नहीं लिया था, फिर भी उनका देश-प्रेम इतना उज्ज्वल था कि वह किसीके भी मुकाबले खड़ा रह सकता था। त्याग उनमें स्वाभाविक था। उसे वह सुशोभित करते थे।

ये सज्जन फिजी द्वीप में गिरमिटिये मजदूर की तरह गये थे और दीनबंधु एन्ड्रूज उन्हें ढूंढ़ लाये थे। उन्हें आश्रम में लाने का यश श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को है।

उनकी अंतिम घड़ी तक उनकी जो कुछ सेवा हो सकती थी, वह भाई गुलाम रसूल कुरैशी की पत्नी और इमामसाहब की लड़की अमीनाबहन ने की थी।

परोपकाराय सतां विभूतयः (सज्जन पुरुष परोपकार के लिए ही जीते हैं) यह उक्ति तोतारामजी के बारे में अक्षर-अक्षर सच थी।

(ह० से०, १८.१.४८)

: २३३ :

तेजबहादुर सप्रू

आज सप्रू की राय आई। उन्हें वैधानिक प्रश्न के सामने इस सवाल का महत्त्व तुच्छ लगता है। इस निर्णय के देने में उन्हें साफ नीयत और ईमानदारी की कोशिश दिखाई देती है। बापू ने ज़रा-सी आलोचना की :

सप्रू का काम मुंजे से उलटा है। जातीय मांग पूरी हो जाय तो मुंजे को विधान की परवा नहीं, सप्रू को विधान मिल जाय तो कुछ भी हो जाय उसकी परवा नहीं। (म० डा०, १६.८.३२)

... ...

आज सुबह फिर निर्णय पर बातें हुईं। जयकर, सप्रू और चिंतामणि की रायों पर चर्चा हुई। बापू कहने लगे :

यह आशा रख सकते हैं कि जयकर सप्रू से यहां अलग हो जायंगे।

वल्लभभाई—बहुत आशा रखने जैसी बात नहीं है।

बापू : आशा इसलिए रख सकते हैं कि विलायत में भी इस मामले में इनके विचार अलग ही रहे थे। वैसे तो क्या पता ?

वल्लभभाई—चिंतामणि ने इस बार अच्छी तरह शोभा बढ़ाई।

बापू : क्योंकि चिंतामणि हिंदुस्तानी हैं, जबकि सप्रू का मानस यूरोपियन है ! चिंतामणि समझते हैं कि इस निर्णय में ही बहुत-कुछ विधान आ जाता है। सप्रू यह मानते हैं कि विधान मिल गया तो फिर इन बातों की चिंता ही नहीं। (म० डा०, २१.८.३२)

: २३४ :

सम्पूर्णानन्द

श्री जयप्रकाशनारायण और श्री सम्पूर्णानन्दजी ने साफ शब्दों में कह दिया है कि हम २६ जनवरी को ली जानेवाली प्रतिज्ञा में जो भाग जोड़ा गया है उसके खिलाफ हैं। मुझे उनका बड़ा लिहाज है। वे योग्य हैं, वीर हैं और उन्होंने देश के खातिर कष्ट उठाये हैं। लड़ाई में वे मेरे साथी बन सकें

तो इसे मैं अपना सौभाग्य समझूं। मैं उन्हें अपने विचार का बना सकूं तो मुझे कितनी खुशी हो। लड़ाई आनी ही है और मुझे उसका नायक बनना है तो यह काम मैं ऐसे सहायकों के भरोसे नहीं कर सकता, जिनका कि कार्य-क्रम पर अधूरा विश्वास हो या जिनके दिल में उसके बारे में शंकाएं हो।

(ह० से०, २०.१.४०)

: २३५ :

साकरबाई

महासभा-सप्ताह में मुझे बंबई के श्री गोविंदजी वसनजी मिठाईवाला की माता के पत्र मिले थे, पर उसी समय मैं उनका उपयोग 'नवजीवन' में न कर सका। श्री गोविंदजी पर बंबई की अदालत में एक फौजदारी मुकदमा चल रहा है। उसकी बातें बंबई के अखबारों में आ गई हैं। उनकी चर्चा मैं यहां नहीं करना चाहता। इस मुकदमे में श्री गोविंदजी की माता श्रीमती साकरबाई की जो वीरता दिखाई देती है उसीकी तरफ मैं पाठकों का ध्यान दिलाना चाहता हूं। साकरबाई बड़ी हिम्मत के साथ पुलिस के पास गई। अदालत में भी अपने बेटे के पास कैदियों के कटरे के सामने खड़ी रही, जिस-से अपने बेटे के चित्त में किसी तरह की कमजोरी न आने पावे। श्री गोविंद-जी का लालन-पालन बड़े ऐशोआराम में हुआ है। बंबई के दंगे के समय उन्हें जो चोटें आई थीं वे तो अभी ठीक भी नहीं हुई हैं। उन्हें जेल की यातनाएं सहने का कभी अवसर नहीं हुआ। मित्र लोग उनको जमानत पर छुड़वाने का प्रयत्न करते हैं। यह कहकर कि यह मुकदमा तो निजी है, राजनैतिक नहीं, सफाई पेश करने की प्रेरणा करते हैं। इन सब भयों से बचाने के लिए तथा सत्य की रक्षा के लिए साकरबाई अपने बेटे के पिंजड़े के सामने खड़ी रहीं। अपनी उपस्थिति से मानों उसको सुरक्षित कर दिया। साकरबाई की हिम्मत तो देखिये, उन्होंने स्वयं ही श्री गोविंदजी को जमानत पर छुड़ाने से मना कर दिया। वह बहुत जानती थीं कि असहयोग की प्रतिज्ञा करनेवाला मनुष्य अदालत में अपनी सफाई दे ही नहीं सकता, फिर मुकदमा चाहे खानगी हो चाहे सार्वजनिक, सच्चा हो या बनावटी। सो उन्होंने इस प्रतिज्ञा की रक्षा

करने के लिए अदालत में जाने का साहस किया। (हि० न०, ८.१.२२)

: २३६ :

सांडर्स

'स्टेट्समैन' और 'इंग्लिशमैन' दोनों दक्षिण अफ्रीका के प्रश्न का महत्व समझते थे। उन्होंने मेरी लम्बी-लम्बी बातचीत छापी, 'इंग्लिशमैन' के मि० सांडर्स ने मुझे अपनाया। उनका दफ्तर मेरे लिए खुला था, उनका अखबार मेरे लिए खुला था। अपने अग्रलेख में कमी-बेशी करने की भी छूट उन्होंने मुझे दे दी। यह भी कहूं तो अत्युक्ति नहीं कि उनका-मेरा खासा स्नेह हो गया। उन्होंने भरसक मदद देने का वचन दिया। मुझसे कहा कि दक्षिण अफ्रीका जाने के बाद भी मुझे पत्र लिखियेगा और वचन दिया कि मुझसे जो कुछ हो सकेगा करूंगा। मैंने देखा कि उन्होंने अपना यह वचन अक्षरशः पाला और जबतक उनकी तबीयत खराब न हो गई, उन्होंने मेरे साथ चिट्ठी-पत्री जारी रखी। मेरी जिंदगी में ऐसे कल्पित मीठे संबंध अनेक हुए हैं। मि० सांडर्स को मेरे अन्दर जो सबसे अच्छी बात लगी वह थी अत्युक्ति का अभाव और सत्यपरायणता। उन्होंने मुझसे जिरह करने में कोई कसर न रखी थी उसमें उन्होंने अनुभव किया कि दक्षिण अफ्रीका के गोरों के पक्ष को निष्पक्ष होकर पेश करने में तथा उनकी तुलना करने में मैंने कोई कमी नहीं रखी थी। (आ० क०)

: २३७ :

साल्येकर

आप[1] श्री साल्येकर को मेरी अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह से जानते हैं। मुझे कहा गया है कि वह त्याग की मूर्ति थे। उन्होंने जो कहा, उसे करके

[1] छिन्दवाड़ा में जो धन-संग्रह हुआ था, वह स्वर्गीय श्री साल्येकर-स्मारक-हरिजन-कोष के लिए निर्दिष्ट कर दिया गया था और उसका उपयोग स्थानीय हरिजनों के लिए उद्योगों का विकास करने में होना था।

दिखाया। उन्होंने लोकहित के लिए काफी कष्ट सहन किये। लोगों के राजनीतिक और साथ ही सामाजिक जीवन में भी उन्होंने अपना पूरा योग दिया। वह हरिजनों के निःस्वार्थ सेवक थे। वह ऊंच-नीच और मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद नहीं करते थे। वह अपनी कमाई गरीबों और जरूरतमन्दों की सेवा में खर्च करते थे। इसलिए उनका इससे बढ़िया स्मारक नहीं हो सकता कि हरिजन-सेवा-कोष में दान दिया जाय—उन हरिजनों के लिए जिनकी उन्होंने आखिरी दम तक सेवा की। (ह०, ८.१२.३३)

: २३८ :

वी० डी० सावरकर

गांधीजी ने बतलाया कि लोकमान्य की यह जन्मभूमि सारे भारतवर्ष के लिए तीर्थ-भूमि है। यह भी याद दिलाया कि श्री सावरकर भी यहीं रहते हैं और सावरकर के साथ अपने परिचय, इंग्लैंड में उनके साथ वार्तालाप की बात की, उनके स्वार्थ-त्याग और देश-सेवक का उल्लेख करके बतलाया कि उनके साथ जबर्दस्त मतभेद होते हुए भी मित्रता तो पहले ही जैसी बनी हुई है।

"मतभेद चाहे जितना हो, तो भी प्रेमभाव तो चलता रहना चाहिए। अगर ऐसा न हो तो मुझे मेरी पत्नी का भी दुश्मन बनना चाहिए। इस दुनिया में ऐसे दो व्यक्तियों को मैं नहीं जानता जिनमें मतभेद कतई न हो। गीता का समदृष्टि का उपदेश माननेवाला होकर मैंने तो अपनी जिन्दगी में ऐसा प्रयत्न किया है कि जिसके साथ मतभेद हो, उसके साथ भी उतना स्नेह रखना जितना अपने माता, पिता, भाई बहन या पत्नी के साथ।"

सभा में आने से पहले गांधीजी ने, काला पानी से तपश्चर्या करके लौटे हुए भाई सावरकर के घर जाकर उनसे भेंट कर ली थी। पांच-दस मिनट में बहुत बात क्या हो सकती थी? गांधीजी को यहांपर इसका पता चला कि अस्पृश्यता और शुद्धि के सम्बन्ध में उनके विचारों को उलटा स्वरूप दिया जाता है। पर और अधिक चर्चा के लिए उन्होंने सावरकर से पत्र-व्यवहार

करने का आग्रह किया :

आप जानते हैं कि सत्य के प्रेमी के तौर पर, सत्य के लिए मरणपर्यंत लड़नेवाले के तौर पर, मेरे मन में आपका कितना आदर है। आखिर हम दोनों का ध्येय तो एक ही है। इसलिए आप जिस-जिस विषय में मेरे साथ चर्चा करना चाहें उस विषय में खूब पत्र-व्यहार चलाइये और अगर आप-की इच्छा हो तो शुद्धि, खादी वगैरह के विषय में खुलासा कर लेने के लिए मैं दो-तीन दिन निकालकर आपके साथ रत्नागिरि में रहने को तैयार हूं।"

श्री सावरकर ने कहा, "आप जैसे मुक्त को मैं बन्दी बनाना नहीं चाहता।" पत्र लिखने की सलाह उन्होंने खुशी से स्वीकार कर ली।

(हि० न०, १७.३.२७)

: २३९ :

अप्टन सिंक्लेयर

आजकल तो The Wet Parade **(दि वेट परेड) पढ़ रहे हैं और बड़ी दिलचस्पी के साथ। सिंक्लेयर के बारे में कहा :**

यह आदमी तो अद्भुत सेवा कर रहा दीखता है। समाज की एक-एक गन्दगी को लेकर बैठा है और उसका खुले आम भंडाफोड़ करता है।

(म० डा०, १२.३.३२)

... ...

अमरीका के लेखकों के बारे में राजाजी को कुछ भ्रम हो गया है। हार्डी का साहित्य मैंने पढ़ा नहीं है। ज़ोला का भी नहीं पढ़ा है। इसका मुझे हमेशा दुःख रहा है। मगर सिंक्लेयर का बिलकुल तिरस्कार नहीं किया जा सकता। प्रचार की दृष्टि से लिखे हुए उपन्यासों में प्रचार का ही दोष मानकर उन्हें हरगिज हल्का नहीं बनाया जा सकता। प्रचारक के लिए तो उसकी सारी कला उसीमें भर दी जाती है। अपने खयाल को वह छिपाता नहीं और फिर भी कहानी में रस को आंच नहीं आने देता। Uncle Tom's Cabin (टामकाका की कुटिया) साफ तौर पर प्रचार के लिए

लिखी गई चीज है। मगर उसकी कला की बराबरी कौन कर सकता है ? सिंक्लेयर एक जबरदस्त सुधारक है और सुधार के प्रचार के लिए उसने अलग-अलग उपन्यास लिखे हैं और यह कहा जाता है कि सब रस से भरे हैं। समय मिला तो मैं उन्हें पढ़ूंगा। (म० डा०, २९.९.३२)

: २४० :

सिंह

भारतवर्ष के इस सम्मानित सेवक के सम्मान में औरों की अंजलियों के साथ-साथ मैं भी अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करता हूं। जब कभी भारतवर्ष के सेवकों की सेवाओं का मूल्य आंका जायगा, लार्ड सिंह की सेवाएं बहु-मूल्य गिनी जायंगी। सभी राजनैतिक बातों में उनकी सलाह पूछी जाती थी। उसकी कीमत भी बड़ी समझी जाती थी। लार्ड सिंह की मौत से देश गरीब ही हुआ है। (हिं० न०, ८.३.२८)

: २४१ :

श्रीकृष्ण सिन्हा

मुसलमानों को वहां (बिहार में) डरने का क्या कारण है ? दो अच्छे मुसलमान-सेवक उनकी सेवा कर रहे हैं। फिर वहां के मंत्रिमंडल में श्रीकृष्ण सिन्हा हैं, जो पूरे सजग हैं। (प्रा० प्र०, २८.५.४७)

: २४२ :

सिमंडज

मुझे इतना तो जरूर ही कह देना चाहिए कि विलायत में हमने एक क्षण भी बेकाम नहीं जाने दिया। बहुत-से गश्ती-पत्र वगैरा भेजना तथा इसी प्रकार के अन्य सब काम एक आदमी से कभी नहीं बन सकते। उसमें बड़ी मदद की जरूरत होती है। बहुत-सी सहायता तो ऐसी है जो पैसे खर्च

करने पर मिल सकती है; पर मेरा चालीस साल का अनुभव यह है कि यह उतनी गहरी और फलशील नहीं होती जैसी कि शुद्ध स्वयंसेवकों की होता है। सौभाग्यवश हमें वहां ऐसी ही सहायता मिली थी। बहुत-से भारतीय नौजवान, जो वहां अध्ययन कर रहे थे, हमारे आसपास बने रहते और उनमें से कितने ही बिना किसी प्रकार के लोभ के सुबह-शाम हमें हमेशा-सहायता करते रहते। पते लिखना, नकलें करना, टिकट चिपकाना या डाक घर में जाना, आदि। किसी भी काम के लिए मुझे यह याद नहीं आता कि उन्होंने यह कहा हो कि यह काम हमारे दर्जे को शोभा नहीं देता, इसलिए हम नहीं कर सकते। पर इन सबको एक तरफ बैठा देनेवाला और मदद करनेवाला एक अंग्रेज मित्र दक्षिण अफ्रीका में था। वह भारत में रह चुका था। इसका नाम था सिमंडज। अंग्रेजी में एक कहावत है, जिसका अर्थ यह है कि जिन्हें परमात्मा चाहता है उन्हें वह जल्दी उठा लेता है। भरी जवानी में इस पर-दुःखभंजन अंग्रेज को यमदूत ले गये। 'परदुःखभंजन' विशेषण किसी खास उद्देश्य से ही लगाया गया है। यह भला भाई जब बंबई में था, तब, अर्थात् १८९७ में, प्लेग के भारतीय बीमारों के बीच बेधड़क होकर उसने काम किया था और उनकी उसने सहायता की थी। छूत के रोग के रोगियों की सहायता करते समय मृत्यु से जरा भी न डरना यह भाव तो मानों उसके खून में भर दिया गया था। जाति अथवा रंगद्वेष उसे छू तक न गया था। उसका स्वभाव बड़ा ही स्वतन्त्र था। उसने अपना एक सिद्धांत बना रखा था कि माइनॉरिटी अर्थात् अल्पसंख्यकों के साथ ही हमेशा सत्य रहता है। इसी सिद्धान्त के अनुरूप वह जोहान्सबर्ग में मेरी ओर आकर्षित हुआ। वह कई बार विनोद में कहता कि याद रखिये आपका पक्ष बड़ा हुआ नहीं कि मैंने इसे छोड़ा नहीं, क्योंकि मैं यह माननेवाला हूं कि बहुमत के हाथ में सत्य भी असत्य का रूप धारण कर लेता है। उसने बहुत-कुछ पढ़ा था। जोहान्सबर्ग के एक करोड़पति सर जॉर्ज फेरर का वह खास विश्वस्त मंत्री था। शौर्टहैंड लिखने में बांका था। विलायत में हम पहुंचे तब वह अनायास कहीं से आ मिला। मुझे तो उसके घरबार की कोई खबर नहीं थी। पर हम तो जनता के सेवक अर्थात् अखबारों की चर्चा के विषय ठहरे। इसलिए उस भले अंग्रेज ने हमें फौरन ढूंढ़ लिया और जो कुछ सहायता हो सकती थी वह

करने की तैयारी बताई। उसने कहा, "अगर चपरासी का काम भी कहोगे तो जरूर करूंगा। पर यदि शौर्टहैंड की आवश्यकता हो तो आप जानते ही हैं कि मेरे जैसा कुशल लेखक आपको कभी नहीं मिल सकता।" हमें तो दोनों सहायताओं की आवश्यकता थी। और इस अंग्रेज ने रात-दिन एक भी पैसा न लेते हुए हमारा काम कर दिया, यह कहते हुए मैं लेशमात्र भी अतिशयोक्ति नहीं कर रहा हूं। रात के बारह-बारह और एक-एक बजे तक तो वह हमेशा टाइप-रायटर पर ही डटा रहता। समाचार पहुंचाना, डाक-खाने जाना यह सब सिमंडज करता और सब हँसते-हँसते। मुझे याद है कि इसकी मासिक आय पैंतालीस पौंड थी। पर यह सब वह अपने मित्रों वगैरा की सहायता में लगा देता। उसकी उम्र उस समय करीब तीस साल की होगी। पर अबतक अविवाहित ही था और आजीवन वैसे ही रहना भी चाहता था। मैंने इसे कुछ तो लेने के लिए बहुत आग्रह किया; पर उसने साफ इन्कार कर दिया। वह कहता, "यदि मैं इस सेवा के लिए मजदूरी लूं तो अपने धर्म से भ्रष्ट हो जाऊं।" मुझे याद है कि आखिरी रात को हमें अपना काम समेटते, असबाब बांधते सुबह के तीन बज गये थे। पर तबतक भी वह जागता ही रहा। हमें दूसरे दिन स्टीमर पर बैठाकर ही वह हमसे जुदा हुआ। वह वियोग बड़ा दुःखदाई था। मैंने तो यह कई बार अनुभव किया है कि 'परोपकार' केवल गेहुएं रंग के लोगों की ही विरासत नहीं है।

(द० अ० स०)

: २४३ :

वैंकट सुबय्या

मुझे अफसोस के साथ श्री वैंकट सुबय्या के देहान्त का समाचार देना पड़ता है। वह भारत सेवक समिति के पुराने सदस्य थे। वह मद्रास हरिजन सेवक संघ के मंत्री थे। वह एक अत्यन्त निरभिमानी और ईमानदार सेवक थे। जो भी काम वह अपने हाथ में लेते,उसमें अपनी पूरी शक्ति लगा देते थे। वह स्वभाव से शान्तिप्रिय थे। छुआछूत के वह कट्टर विरोधी थे। उनकी मृत्यु से हरिजनों के काम को बड़ा धक्का लगा है। स्वर्गीय सुधारक के प्रति

मैं अपनी समवेदना प्रकट करता हूं। (ह०, १३.१.४०)

: २४४ :

सुखदेव

'अनेकों में से एक' का लिखा हुआ पत्र स्वर्गीय सुखदेव का पत्र है। श्री सुखदेव भगतसिंह के साथी थे। यह पत्र उनकी मृत्यु के बाद मुझे दिया गया था। समयाभाव के कारण मैं इसे जल्दी ही प्रकाशित न कर सका।

लेखक 'अनेकों में से एक' नहीं है। राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए फांसी को गले लगानेवाले अनेक नहीं होते। राजनैतिक खून चाहे जितने निंद्य हों तो भी जिस देश-प्रेम और साहस के कारण ऐसे भयानक काम किये जाते हैं, उनकी कद्र किये बिना रहा नहीं जा सकता। और हम आशा रखें कि राजनैतिक खूनियों का सम्प्रदाय बढ़ नहीं रहा है। यदि भारतवर्ष का प्रयोग सफल हुआ, और होना ही चाहिए, तो राजनैतिक खूनियों का पेशा सदा के लिए बन्द हो जायगा। मैं स्वयं तो इसी श्रद्धा से काम कर रहा हूं।

(हि० न, ३०.४.३१)

: २४५ :

उमर सुभानी

श्री उमर सुभानीजी की बड़ी अचानक और अकाल मृत्यु हो गई। हमारे बीच से एक महान देशभक्त और कार्यकर्ता उठ गया। एक समय बम्बई में श्री उमर सुभानी की तूती बोलती थी। बम्बई का कोई सार्वजनिक कार्य, उमर सुभानी के दिन बिगड़ने से पहले, ऐसा न होता था जिसमें उनका हाथ न हो। फिर भी वह कभी सामने मंच पर नहीं आते थे। मंच को तैयार कर देते थे। बम्बई के सौदागरों में वह बहुत प्रिय थे। उनकी सूझ प्रायः बहुत तीक्ष्ण और बेलाग होती थी। उनकी उदारता दोष की हद तक पहुंच जाती थी। पात्र-कुपात्र सब ही को वह दान दिया करते थे। प्रत्येक सार्वजनिक कार्य के लिए उनकी थैली का मुंह खुला रहता था। जैसा उन्होंने कमाया

वैसा ही खर्च भी किया। उमर सुभानी हर काम की हद कर देते थे। उन्होंने आढ़त के काम में भी हद कर दी और इसीसे उनपर तबाही आ गई। एक महीने में ही उन्होंने अपनी आमदनी को दुगुना कर लिया और दूसरे ही महीने में दिवाला पीट लिया। परन्तु उन्होंने अपनी हानि को तो बहादुरी से सह लिया; परन्तु उनके अभिमान ने उन्हें सार्वजनिक कार्यों से हटा लिया; क्योंकि अब उनपर इन कामों में लाखों रुपया खर्च करने को नहीं था। वह माध्यमिक रास्ते पर चलना जानते ही नहीं थे। यदि चन्दे की फेहरिस्त में सबसे पहले वह नहीं रह सकते तो बस फिर वह उस फेहरिस्त-की तरफ मुंह मोड़कर भी न देखेंगे। इसलिए गरीब होते ही वह सार्वजनिक कार्यों से हाथ खींचकर बैठ गये। जहां कहीं और जब भी कोई सार्वजनिक कार्य होगा उमर सुभानी का नाम बिला याद आये न रहेगा और न उनकी देश की सेवा ही कोई भूल सकता है। उनका जीवन हर अमीर नौजवान के लिए आदर्श और चेतावनी दोनों हैं। उनका जोश-भरा देशभक्ति का कार्य आदर्श योग्य है। उनका जीवन हमें बताता है कि रुपया रखकर भी एक मनुष्य काबिल हो सकता है और उस रुपये को सार्वजनिक कार्यों की भेंट कर सकता है। उनका जीवन अमीर नौजवानों को, जो बड़े-बड़े काम करने की धुन में रहते हैं, चेतावनी भी देता है।

उमर सुभानी कोई निर्बुद्ध सौदागर नहीं थे। जिस समय उनको हानि हुई उस समय और भी बहुत-से सौदागरों को हानि हुई थी। उन्होंने जो बहुत-सी रुई भर ली थी उसको हम मूर्खता नहीं कह सकते। वह बम्बई के सौदागरों में अच्छा स्थान रखते थे, फिर भी उन्होंने इस प्रकार और लाभ के ध्यान से रुपया क्यों लगाया? परन्तु वह तो देशभक्त की हैसियत से हौसला बढ़ाये रखना अपना कर्तव्य समझते थे। उनका जीवन और नाम जनता की जागीर था और उन्हें बहुत सोच-समझकर काम करना चाहिए था। मैं समझता हूं कि काम बिगड़ जाने के बाद सब लोग अक्लमन्दी की बातें बताया करते हैं; परन्तु मैं उनके दोष ढूंढ़ने के अभिप्राय से कुछ नहीं कह रहा हूं। मैं तो चाहता हूं कि हम सब इस देशभक्त के जीवन से शिक्षा लें। आनेवाली सन्तान को किसी काम के बिगड़ जाने से शिक्षा लेनी ही चाहिए। दूसरों की गलतियों से भी हमें कुछ सीखना ही चाहिए। हम सबको

उमर सुभानी की तरह अपने हृदय में देश-प्रेम रखना चाहिए। हम सबको दान देने में उमर सुभानी होना चाहिए। हम सबको उमर सुभानी की तरह धार्मिक द्वेष से दूर रहना चाहिए। परन्तु हम सबको उमर सुभानी की तरह लापरवा और असावधान होने से बचना चाहिए। यही इस देशभक्त ने हम सबके लिए वसीयत छोड़ी है और हम सबको उस वसीयत से लाभ उठाना चाहिए।

मेरी उनके वृद्ध पिता और उनके परिवार के साथ अत्यन्त सहानुभूति है और मैं उनके साथ उनके शोक में सम्मिलित हूं।

(हि० न०, १५.७.२६)

: २४६ :

हसन शहीद सुहरावर्दी

यहांपर मैं कैसे भूल सकता हूं कि शहीदसाहब ने कलकत्ता में बड़ा काम किया। अगर वह नहीं करते तो मैं ठहरनेवाला नहीं था। शहीदसाहब के लिए हम लोगों के दिल में बहुत सन्देह थे। अभी भी हैं। उससे हमको क्या? आज हम सीखें कि कोई भी इन्सान हो, कैसा भी हो, उससे हमको दोस्ताना तौर से काम करना है। हम किसीके साथ किसी हालत में दुश्मनी नहीं करेंगे, दोस्ती ही करेंगे। शहीदसाहब और दूसरे चार करोड़ मुसलमान पड़े हैं। वे सब-के-सब फरिश्ते तो हैं ही नहीं। ऐसे ही सब हिन्दू और सिख भी फरिश्ते थोड़े ही हैं! अच्छे और बुरे हममें हैं; लेकिन बुरे कम हैं।

(प्रा० प्र०, १८.१.४८)

: २४७ :

अब्दुल्ला सेठ

नेटाल का बन्दर यों तो डरबन कहलाता है, पर नेटाल को भी बन्दर कहते हैं। मुझे बन्दर पर लिवाने अब्दुल्ला सेठ आये थे। जहाज धक्के पर आया। नेटाल के जो लोग जहाज पर अपने मित्रों को लेने आये थे, उनके

रंग-ढंग को देखकर मैं समझ गया कि यहां हिन्दुस्तानियों का विशेष आदर नहीं। अब्दुल्ला सेठ की जान-पहचान के लोग उनके साथ जैसा बरताव करते थे उसमें एक प्रकार की क्षुद्रता दिखाई देती थी, और वह मुझे चुभ रही थी। अब्दुल्ला सेठ इस दुर्दशा के आदी हो गये थे। मुझपर जिनकी दृष्टि पड़ती जाती वे मुझे कुतूहल से देखते थे; क्योंकि मेरा लिबास ऐसा था कि मैं दूसरे भारतवासियों से कुछ निराला मालूम होता था। उस समय फ्रांक कोट आदि पहने था और सिर पर बंगाली ढंग की पगड़ी दिये था।

मुझे घर लिवा ले गये। वहां अब्दुल्ला सेठ के कमरे के पास का कमरा मुझे दिया गया। अभी वह मुझे नहीं समझ पाये थे, मैं भी उन्हें नहीं समझ पाया था। उनके भाई की दी हुई चिट्ठी उन्होंने पढ़ी और बेचारे पसोपेश में पड़ गये। उन्होंने तो समझ लिया कि भाई ने तो यह सफेद हाथी घर बंधवा दिया। मेरा साहबी ठाट-बाट उन्हें बड़ा खर्चीला मालूम हुआ; क्योंकि मेरे लिए उस समय उनके यहां कोई खास काम तो था नहीं। मामला उनका चल रहा था ट्रांसवाल में। सो तुरन्त ही वहां भेजकर वह क्या करते? फिर यह भी एक सवाल था कि मेरी योग्यता और ईमानदारी का विश्वास भी किस हद तक किया जाय? और प्रिटोरिया में खुद मेरे साथ वह रह नहीं सकते थे। मुद्दालेह प्रिटोरिया में रहते थे। कहीं उनका बुरा असर मुझपर होने लगे तो? और यदि वह मामले का काम मुझे न दें तो और काम तो उनके कर्मचारी मुझसे भी अच्छा कर सकते थे। फिर कर्मचारी से यदि भूल हो जाय तो कुछ कह-सुन भी सकते थे। मुझसे तो कहने से रहे। काम या तो कारकुनी का था या मुकदमे का—तीसरा था नहीं। ऐसी हालत में यदि मुकदमे का काम मुझे नहीं सौंपते हैं तो घरबैठे मेरा खर्च उठाना पड़ता था।

अब्दुल्ला सेठ पढ़े-लिखे बहुत कम थे। अक्षर-ज्ञान कम था; पर अनुभव-ज्ञान बहुत बड़ा था। उनकी बुद्धि तेज थी और वह खुद भी इस बात को जानते थे। अभ्यास से अंग्रेजी इतनी जान ली कि बोलचाल का काम चला लेते। परन्तु इतनी अंग्रेजी के बल पर वह अपना सारा काम चला लेते थे। बैंक में मैनेजरों से बातें कर लेते। यूरोपियन व्यापारियों से सौदा कर लेते, वकीलों को अपना मामला समझा देते। हिन्दुस्तानियों में उनका काफी

मान था। उनकी पेढ़ी उस समय हिन्दुस्तानियों में सबसे बड़ी नहीं तो, बड़ी पेढ़ियों में अवश्य थी। उनका स्वभाव वहमी था।

वह इस्लाम का बड़ा अभिमान रखते थे। तत्त्वज्ञान की बातों के शौकीन थे। अरबी नहीं जानते थे; फिर भी कुरान-शरीफ तथा आम तौर पर इस्लामी धर्म-साहित्य की वाकफियत उन्हें अच्छी थी। दृष्टान्त तो जबान पर हाजिर रहते थे। उनके सहवास से मुझे इस्लाम का अच्छा व्यावहारिक ज्ञान हुआ। जब हम एक-दूसरे को जान-पहचान गये तब वह मेरे साथ बहुत धर्म-चर्चा किया करते।

दूसरे या तीसरे दिन मुझे डरबन अदालत दिखाने ले गये। वहां कितने ही लोगों से परिचय कराया। अदालत में अपने वकील के पास मुझे बिठाया। मजिस्ट्रेट मेरे मुंह की ओर देखता रहा। उसने कहा—**"अपनी पगड़ी उतार लो।"**

मैंने इन्कार किया और अदालत से बाहर चला आया।

मेरे नसीब में तो यहां भी लड़ाई लिखी थी।

पगड़ी उतरवाने का रहस्य मुझे अब्दुल्ला सेठ ने समझाया। मुसलमानी लिवास पहननेवाला अपनी मुसलमानी पगड़ी यहां पहन सकता है। दूसरे भारतवासियों को अदालत में जाते हुए अपनी पगड़ी उतार लेनी चाहिए।

...पगड़ी उतार देने का अर्थ था मान-भंग सहन करना। सो मैंने तो यह तरकीब सोची कि हिन्दुस्तानी पगड़ी को उतारकर अंग्रेजी टोप पहना करूं, जिससे उसे उतारने में मान-भंग का भी सवाल न रह जाय और मैं इस झगड़े से भी बच जाऊं।

पर अब्दुल्ला सेठ को यह तरकीब पसन्द न आई। उन्होंने कहा—

"यदि आप इस समय ऐसा परिवर्तन करेंगे तो उसका उल्टा अर्थ होगा। जो लोग देशी पगड़ी पहने रहना चाहते होंगे उनकी स्थिति विषम हो जायगी। फिर आपके सिर पर अपने ही देश की पगड़ी शोभा देती है। आप यदि अंग्रेजी टोपी लगावेंगे तो लोग 'वेटर' समझेंगे।"

इन वचनों में दुनियावी समझदारी थी, देशाभिमान था और कुछ संकुचितता भी थी। समझदारी तो स्पष्ट ही है। देशाभिमान के बिना

पगड़ी पहनने का आग्रह नहीं हो सकता था। संकुचितता के बिना 'वेटर' की उपमा न सूझती। गिरमिटिया भारतीयों में हिन्दू, मुसलमान और ईसाई तीन विभाग थे। जो गिरमिटिया ईसाई हो गये, उनकी संतति ईसाई थी। १८९३ ई० में भी उनकी संख्या बड़ी थी। वे सब अंग्रेजी लिबास में रहते। उनका अच्छा हिस्सा होटल में नौकरी करके जीविका उपार्जन करता। इसी समुदाय को लक्ष्य करके अंग्रेजी टोपी पर अब्दुला सेठ ने यह टीका की थी। उसके अन्दर वह भाव था कि होटल में 'वेटर' बनकर रहना हलका काम है। आज भी यह विश्वास बहुतों के मन में कायम है।

कुल मिलाकर अब्दुल्ला सेठ की बात मुझे अच्छी मालूम हुई। मैंने पगड़ीवाली घटना पर पगड़ी का तथा अपने पक्ष का समर्थन अखबारों में किया। अखबारों में उसपर खूब चर्चा चली। 'अनवेलकम विजिटर'—अनचाहा अतिथि—के नाम से मेरा नाम अखबारों में आया और तीन ही चार दिन के अन्दर अनायास ही दक्षिण अफ्रीका में मेरी ख्याति हो गई। किसीने मेरा पक्ष-समर्थन किया, किसीने मेरी गुस्ताखी की भर पेट निन्दा की।

मेरी पगड़ी तो लगभग अन्त तक कायम रही। वह कब उतरी, यह बात हमें अंतिम भाग में मालूम होगी। (आ० क, १९२७)

: २४८ :

रेवरेण्ड आर० ए० ह्यूम

डा० रूथ पी० ह्यूम अहमदनगर से लिखते हैं :

"एक तार मिला है जिसमें लिखा है कि मेरे पिता रेवरेण्ड आर० ए० ह्यूम का २४ जून को देहान्त हो गया।

"मैं यह खबर आपको देना चाहता हूं, कारण मेरे पिताजी और आप व्यक्तिगत मित्र थे। मैंने यह ही सोचा कि आप शायद 'यंग इण्डिया' में इसकी चर्चा करना चाहेंगे। उनके जीवन और कार्य के बारे में आप जानते हैं। उनका जन्म सन् १८४७ में बम्बई में हुआ था। सन् १८७५ में वह

मिशनरी बनकर भारत में अहमदनगर लौटे और १९२६ में अमरीका चले गये। कुछ समय पहले तक वह सक्रिय थे। किन्तु उनका स्वास्थ्य, अच्छा न था। इसलिए हमको खुशी है कि उनको बीमारी से मुक्ति मिल गई और हम ईश्वर को धन्यवाद देते हैं कि उसने उनको सेवा का दीर्घ जीवन प्रदान किया।"

बेशक, मुझे स्वर्गीय मित्र का आनन्ददायक स्मरण है। जब वह यहां थे तब भी और अमरीका चले जाने के बाद भी मेरा उनके साथ लम्बा पत्र-व्यवहार चला। उनके पत्रों में मैंने देखा कि उन्हें भारत से कितना गहरा प्यार है। जब दीनबन्धु एण्ड्रूज इस देश में प्रवास कर रहे थे तो उन्होंने उनकी मदद की थी। मैं उनकी पुत्री की इस खुशी में शामिल हूं कि इस महान आत्मा को भौतिक पीड़ा से मुक्ति मिल गई। ऐसी मौत पर न रंज प्रकट करने की आवश्यकता होती है और न समवेदना की ही। मृत्यु हमेशा ही और विशेषकर ऐसे उदाहरणों में निद्रा और विस्मरण के समान होती है।

(यं० इं० १८.७.२९)

: २४९ :

मौलाना मजहरुल हक

मजहरुल हक एक महान देश-भक्त, अच्छे मुसलमान और दार्शनिक थे। वह आराम और आशायस के शौकीन थे, किन्तु असहयोग-आन्दोलन शुरू हुआ तो उन्होंने सुखोपभोग के साधनों को उसी तरह फेंक दिया, जिस प्रकार कि हम अपनी चमड़ी की बेकार उतरन को फेंक देते हैं। वह सादा जीवन के भी उतने ही प्रेमी बन गये जितने विलासी जीवन के कभी थे। हमारे मतभेदों से ऊबकर वह एकान्त जीवन बिताने लगे थे। जो सेवा बन पड़ती, बिना ढोल पीटे करते रहते और बाकी के लिए खुदा से दुआ मांगते रहते। वचन और कार्य दोनों में ही वह निर्भय थे। पटना के निकट जो सदाकत आश्रम है, वह उन्हींकी रचनात्मक सेवाओं का फल है। वह उसमें उतने समय तक नहीं रह पाये, जितने के लिए उन्होंने सोचा था, किन्तु आश्रम की उनकी कल्पना के कारण बिहार विद्यापीठ को अपने लिए

स्थायी घर मिल गया। वह अब भी हिन्दू मुसलमानों का जोड़नेवाली कड़ी सिद्ध हो सकता है। ऐसे व्यक्ति की हानि हमेशा ही अनुभव की जायगी, देश के इतिहास के वर्तमान क्षण में और भी अधिक! मैं बेगम मजहरुल हक और उनके परिवार के प्रति अपनी समवेदना प्रकट करता हूं।

(यं० इं०, ९.१.३०)

: २५० :

विलियम विल्सन हंटर

दक्षिण अफ्रीका के सवाल के महत्व को भारतीयों से भी पहले समझनेवाले और वैसी ही कीमती सहायता करनेवाले सज्जन सर विलियम विल्सन हंटर थे। वह 'टाइम्स' के भारतीय विभाग के सम्पादक थे। इनके पास ज्योंही पहला पत्र पहुंचा त्योंही उन्होंने उसमें दक्षिण अफ्रीका की स्थिति को यथार्थ स्वरूप में जनता के सामने रख दिया। जहां-जहां उचित मालूम हुआ वहां-वहां उन्होंने खानगी पत्र भी लिखे। अगर कोई महत्वपूर्ण प्रश्न छिड़ जाता तो इनकी डाक बराबर नियम से हर सप्ताह आती। अपने पहले ही पत्र में उन्होंने लिखा था—"आपने वहां की स्थिति का जो हाल लिखा है उसे पढ़कर मैं दु:खित हूं। आप अपना काम नि:सन्देह विनयपूर्वक, शान्ति के साथ और संयम से ले रहे हैं। इस प्रश्न में मैं पूरी तरह से आपके साथ हूं और न्याय प्राप्त करने के लिए मुझसे जो कुछ बन पड़ेगा सब करना चाहता हूं। मुझे तो निश्चय है कि इस विषय में हम एक इंच भर भी पीछे पैर नहीं रख सकते। आपकी मांग तो ऐसी है कि कोई भी निष्पक्ष मनुष्य उसमें तिलमात्र रद्दो-बदल नहीं कर सकता।" करीब-करीब यही शब्द उन्होंने 'टाइम्स' के अपने पहले लेख में लिखे थे और आखिर तक उसी बात पर कायम रहे। लेडी हंटर ने अपने एक पत्र में लिखा था कि जब उनकी मृत्यु का समय आया तब उन दिनों में भी उन्होंने भारतीयों के प्रश्न पर एक लेखमाला लिखने के लिए एक ढांचा तैयार कर रखा था।

(द० अ० स०)

: २५१ :

हरबतसिंह

कुछ दिन तो वाक्सरेस्ट की जेल में हमने सुख-पूर्वक बिताये। यहां हमेशा नये कैदी आते रहते थे, इसलिए नित्य नई खबरें भी मिलती रहती थीं। इन सत्याग्रही कैदियों में हरबतसिंह नाम का एक बूढ़ा था। उसकी अवस्था ७५ वर्ष से भी अधिक होगी। वह कहीं खानों में नौकरी नहीं करता था। उसने तो बरसों पहले अपना गिरमिट पूरा कर दिया था। इसलिए वह हड़तालिया नहीं था। मेरे गिरफ्तार हो जाने पर लोगों में जोश खूब बढ़ गया था और वे नेटाल से ट्रान्सवाल में प्रवेश कर अपनेको गिरफ्तार करा दिया करते थे। हरबतसिंह ने भी इनके साथ-साथ ट्रान्सवाल जाने का निश्चय किया।

एक दिन हरबतसिंह से मैंने पूछा, "आप क्यों जेल में आये ? आप जैसे बूढ़ों को मैंने जेल में आने का निमन्त्रण नहीं दिया है।"

हरबतसिंह ने उत्तर दिया :

"मैं कैसे रह सकता था, जब आप, आपकी धर्मपत्नी और आपके लड़के तक हम लोगों के लिए जेल चले गये ?"

"लेकिन आप जेल के दुःखों को बर्दाश्त नहीं कर सकेंगे। आप जेल छोड़कर चले जायं। क्या मैं आपके छूटने के लिए कोशिश करूं ?"

"मैं जेल हरगिज नहीं छोड़ूंगा। मुझे एक दिन मरना तो हुई है। फिर ऐसा दिन कहां, जो मेरी मौत यहीं हो जाय !"

इस दृढ़ता को मैं कैसे विचलित कर सकता था ? वह तो इतनी विकट थी कि विचलित करने पर भी डिग नहीं सकती थी। हरबतसिंह की जो भावना थी, ठीक वही हुआ। उसने जेल ही में अपनेको मृत्यु के हाथों में सौंप दिया। उसका शव वॉक्सरेस्ट से डरबन मंगवाया गया था। सम्मान-पूर्वक सैकड़ों भारतीयों की उपस्थिति में हरबतसिंह का अग्नि-संस्कार किया गया। पर इस युद्ध में ऐसे एक नहीं, अनेक हरबतसिंह थे। हां, जेल में मरने का सौभाग्य जरूर अकेले हरबतसिंह को ही प्राप्त हुआ और इसी-लिए दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के इतिहास में उसका नाम उल्लेखनीय

भी हो गया। (द० अ० स०, १९२५)

: २५२ :

एमिली हाबहाउस

मिस हाबहाउस लार्ड हाबहाउस की पुत्री हैं। बोअर-युद्ध शुरू हुआ तब यह महिला लार्ड मिल्नर के सामने से होकर ट्रान्सवाल पहुंची थी। जब लार्ड किचनर ने अपनी जगत्प्रसिद्ध कांसेन्ट्रेशन कैम्प ट्रान्सवाल और फ्रीस्टेट में बैठाई उस समय यह महिला अकेली बोअर औरतों में घूमती और उन्हें दृढ़ रहने, धीरज रखने के लिए उपदेश करती और उत्साह देती। वह स्वयं मानती थी कि इस युद्ध में अंग्रेजों की ओर न्याय नहीं है, इसलिए स्वर्गीय स्टेड की तरह परमात्मा से प्रार्थना करती थी कि इस युद्ध में अंग्रेजों का पराभव हो जाय। इस प्रकार बोअरों को सेवा करने पर जब उसने देखा कि जिस अन्याय के खिलाफ बोअर लोग लड़े थे, वैसा ही अन्याय अज्ञान के कारण वे ही अब भारतीयों के प्रति कर रहे हैं तब उससे नहीं रहा गया। बोअर जनता उनका बड़ा सम्मान करती थी और उनपर बहुत प्रेम रखती थी। जनरल बोथा के साथ उसका बहुत निकट सम्बन्ध था। उन्हींके यहां वह ठहरती थी। खूनी कानून रद करवाने के लिए उसने अपनी ओर से कुछ उठा न रखा। (द० अ० स०, १९२५)

... ...

समाचारपत्रों से हमें विदित हुआ है कि कुमारी एमिली हाबहाउस की मृत्यु हो गई है। वह एक बहुत शरीफ और बड़ी बहादुर स्त्री थीं। वह पुरस्कार का कभी न खयाल करते हुए सेवा किया करती थीं। उनकी सेवा ईश्वरार्पण की हुई मानव-समाज की सेवा थी। वह शरीफ अंग्रेजी कुल में उत्पन्न हुई थीं। वह अपने देश के प्रति प्रेम रखती थीं और इसी कारण वह उसके द्वारा किये गए किसी अन्याय को सहन नहीं कर सकती थीं। उन्होंने बोअर-युद्ध के घोर अत्याचार को समझ लिया था। उन्होंने विचार किया कि उस युद्ध के सुलगाने में इंग्लैंड का सरासर कसूर है। उन्होंने ऐसे समय में उस युद्ध की निन्दा अत्यन्त कड़ी भाषा में की थी, जबकि इंग्लैंड उसके

पीछे दीवाना हो रहा था। वह दक्षिण अफ़्रीका गईं और वहां उनकी आत्मा ने उन शिविर-कारागारों के खड़े किये जाने तथा उनमें पराजित वीरों के बाल-बच्चों को जबर्दस्ती लाकर रखने की पशुता का घोर विरोध किया, जिन शिविर-कारागारों को लार्ड किचनर ने युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए आवश्यक ठहराया था। वह उसी समय की बात है जब कि विलियम स्टेड ने, अंग्रेजों की पराजय के लिए, ईश्वर-प्रार्थना करवाई थी। एमिली हाबहाउस, यद्यपि वह दुर्बल थीं, तथापि शारीरिक असुविधाओं का कुछ भी खयाल न करके दक्षिण अफ्रीका फिर गईं और वहां उन्होंने अपने प्रति अपमान तथा उससे गए-गुजरे बर्ताव का आह्वान किया। वह वहां कैद कर ली गईं और वापस लौटा दी गईं। उन्होंने इस सबको एक सच्ची बहादुर स्त्री की भांति सहन किया। उन्होंने बोअर-जातियों के दिल मजबूत किये और उनसे कहा कि आशा को कदापि न त्यागो। उन्होंने उनसे यह भी कहा कि यद्यपि इंगलैंड मद में चूर है, तथापि इंग्लैंड के अनेक पुरुषों तथा स्त्रियों में बोअर लोगों के प्रति सहानुभूति है और किसी-न-किसी दिन उनकी बात सुनी जायगी। और यही हुआ। सर हैनरी कैम्पबेल बैनरमैन जन-साधारण चुनाव में बड़े बहुमत से लिबरल दल के नेता चुने गये और उन बोअर लोगों के नुकसान की पूर्ति यथासम्भव की गई, जिन्होंने युद्ध में क्षति उठाई थी। युद्ध के समाप्त हो जाने पर उस अवसर पर जबकि दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह जारी था मुझे मिस हाबहाउस से परिचित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। जो जान-पहचान हुई थी, वह क्रमशः जीवनपर्यन्त की मैत्री बन गई। हिन्दुस्तानियों तथा दक्षिण अफ्रीका की सरकार के बीच सन् १६१४ ई० वाले समझौते में उनका भाग कोई मामूली भाग न था। वह जनरल बोथा की मेहमान थीं। उस समय जनरल बोथा ने कई बार मुलाकात-विषयक मेरे प्रस्तावों पर टालमटूल की थी, उन्होंने हर मर्तबा 'गृहसचिव' के सामने अपनी बात पेश करने को कहा था, परन्तु मिस हाबहाउस ने जनरल बोथा के साथ यह आग्रह किया कि वह मुझसे अवश्य मिलें। इसलिए उन्होंने 'केप-टाउन' में जनरलसाहब के निवास-स्थान पर जनरल तथा उनकी पत्नी, स्वयं वह तथा मैं इनके बीच में वार्तालाप के निमित्त एकत्रित होने का प्रबन्ध कराया। उनका नाम बोअर-लोगों में एक ऐसा नाम था जिसके लेने-मात्र

से उन लोगों में विश्वास का सिक्का जम जाता था और उन्होंने अपने सारे प्रभाव को हिन्दुस्तानी मामले में लगाकर मेरा मार्ग सरल बना दिया था। जब मैं हिन्दुस्तान में आया और जबकि रौलेट ऐक्ट का आन्दोलन चल रहा था, उन्होंने मुझे यह लिखा कि यदि फांसी के तख्ते पर नहीं तो कारागार में अपना जीवन अन्त करना पड़ेगा, और मैं इस बात से चिन्तित नहीं हूं। उनमें इस त्याग की शक्ति पूर्ण रूप से मौजूद थी। यह तो उनकी अटल धारणा थी ही कि कोई भी आन्दोलन, बिना उसके पोषक के बलिदान के सफल नहीं हुआ करता। अभी पार साल ही उन्होंने मुझे लिखा था कि मैं दक्षिण अफ्रीका-निवासी भारतवासियों के पक्ष में अपने मित्र जनरल हार्टजोग से खूब लिखा-पढ़ी कर रही हूं। उन्होंने मुझे यह भी लिखा था कि आप उनके (जनरल के) प्रति कुपित न हों और उनसे जो आशा रखते हों, उसका खयाल मुझे दें।

हिंदुस्तान की स्त्रियों को चाहिए कि वे इस अंग्रेज महिला को याद रखें। उन्होंने कभी विवाह नहीं किया। उनका जीवन स्फटिक की भांति स्वच्छ था। उन्होंने अपनेको ईश्वर-सेवा के लिए अर्पित कर रखा था। उनका स्वास्थ्य तो बिल्कुल गया-बीता था। उनको लकवे की बीमारी थी। परन्तु उनके उस दुर्बल और रोगग्रसित शरीर में वह आत्मा दीप्यमान थी, जो कि राजाओं और शाहंशाहों के ससैन्य बल को ललकार सकती थी। वह किसी मनुष्य से डरती न थीं, क्योंकि उनको केवल ईश्वर का भय था।

(हि० न०, २२.७.२६)

: २५३ :

हास्किन

वैसे-जैसे आन्दोलन आगे बढ़ता चला वैसे-वैसे अंग्रेज भी उसमें रस लेने लगे। मुझे यह कह देना चाहिए यद्यपि ट्रान्सवाल के अंग्रेजी अखबार अक्सर उस खूनी कानून के पक्ष में ही लिखते और गोरों के विरोध का समर्थन करते थे, तथापि अगर कोई प्रख्यात भारतीय उनमें कोई लेख भेजते तो उसे वे खुशी से छापते थे। सरकार के पास भारतीयों की जो दरख्वास्तें

जाती थीं उन्हें भी वे या तो पूरी छापते थे या उनका सार दे देते थे। बड़ी-बड़ी सभाएं होती थीं। उनमें कभी-कभी वे अपने रिपोर्टर भी भेजते थे। और जहां ऐसा न हो वहां यदि सभा की रिपोर्ट हम लिखकर भेज देते और वह छोटी होती तो उसे भी छाप देते थे।

गोरों का यह विवेक भारतीयों के लिए बहुत उपयोगी साबित हुआ। आन्दोलन के बढ़ते ही कितने ही गोरों का भी मन उसने आकर्षित कर लिया। इस श्रेणी के ऐसे गोरे अगुवा जोहान्सबर्ग के एक लखपति मि० हास्किन थे। उनमें रंगद्वेष का तो पहले ही से अभाव था। पर आन्दोलन शुरू होने पर भारतीयों की हलचल में उन्होंने अधिक दिलचस्पी दिखाई। (द० अ० स०)

: २५४ :

नारायण हेमचन्द्र

लगभग इसी दरमियान स्वर्गीय नारायण हेमचन्द्र विलायत आये थे। मैं सुन चुका था कि वह एक अच्छे लेखक हैं। नेशनल इंडियन एसोसिएशन-वाली मिस मैनिंग के यहां उनसे मिला। मिस मैनिंग जानती थीं कि सबसे हिल-मिल जाना मैं नहीं जानता। जब कभी मैं उनके यहां जाता तब चुप-चाप बैठा रहता। तभी बोलता, जब कोई बातचीत छेड़ता।

उन्होंने नारायण हेमचन्द्र से मेरा परिचय कराया।

नारायण हेमचन्द्र अंग्रेजी नहीं जानते थे। उनका पहनावा विचित्र था। बेढंगी पतलून पहने थे। उसपर था एक बादामी रंग का मैला-कुचैला-सा पारसी काट का बेडौल कोट। न नेकटाई, न कालर। सिर पर ऊन की गुंथी हुई टोपी और नीचे लम्बी दाढ़ी।

बदन इकहरा, कद नाटा कह सकते हैं। चेहरा गोल था, उसपर चेचक के दाग थे। नाक न नोकदार थी, न चपटी। हाथ दाढ़ी पर फिरा करता था।

वहां के लाल-गुलाल के फैशनेबल लोगों में नारायण हेमचन्द्र विचित्र मालूम होते थे। वह औरों से अलग छटक पड़ते थे।

"आपका नाम तो मैंने बहुत सुना है। आपके कुछ लेख भी पढ़े हैं। आप मेरे घर चलिये न?"

नारायण हेमचन्द्र की आवाज ज़रा भर्राई हुई थी। उन्होंने हँसते हुए जवाब दिया—

"आप कहां रहते हैं?"

"स्टोर स्ट्रीट में।"

"तब तो हम पड़ोसी हैं। मुझे अंग्रेजी सीखना है। आप सिखा देंगे?"

मैंने जवाब दिया—"यदि मैं किसी प्रकार भी आपकी सहायता कर सकूं तो मुझे बड़ी खुशी होगी। मैं अपनी शक्ति भर कोशिश करूंगा। यदि आप चाहें तो मैं आपके यहां भी आ सकता हूं।"

"जी नहीं, मैं खुद ही आपके पास आऊंगा। मेरे पास पाठमाला भी है। उसे लेता आऊंगा।"

समय निश्चित हुआ। आगे चलकर हम दोनों में बड़ा स्नेह हो गया।

नारायण हेमचन्द्र व्याकरण ज़रा भी नहीं जानते थे। 'घोड़ा' क्रिया और 'दौड़ना' संज्ञा बन जाती है। ऐसे मजेदार उदाहरण तो मुझे कई याद हैं। परन्तु नारायण हेमचन्द्र ऐसे थे, जो मुझे भी हजम कर जायं। वह मेरे अल्प व्याकरण-ज्ञान से अपनेको भुला देनेवाले जीव न थे। व्याकरण न जानने पर वह किसी प्रकार लज्जित न होते थे।

"मैं आपकी तरह किसी पाठशाला में नहीं पढ़ा हूं। मुझे अपने विचार प्रकट करने में कहीं व्याकरण की सहायता की जरूरत नहीं दिखाई दी। अच्छा, आप बंगला जानते हैं? मैं तो बंगला भी जानता हूं। मैं बंगाल में भी घूमा हूं। महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर की पुस्तकों का अनुवाद तो गुजराती जनता को मैंने ही दिया है। अभी कई भाषाओं के सुन्दर ग्रन्थों के अनुवाद करने हैं। अनुवाद करने में भी शब्दार्थ पर नहीं चिपटा रहता। भाव-मात्र दे देने से मुझे सन्तोष हो जाता है। मेरे बाद दूसरे लोग चाहे भले ही सुन्दर वस्तु दिया करें। मैं तो बिना व्याकरण पढ़े मराठी भी जानता हूं, हिन्दी भी जानता हूं और अब अंग्रेजी भी जानने लग गया हूं। मुझे तो सिर्फ शब्द-भंडार की जरूरत है। आप यह न समझ लें कि अकेली अंग्रेजी जान लेने

भर से मुझे सन्तोष हो जायगा। मुझे तो फ्रान्स जाकर फ्रेंच भी सीख लेनी है। मैं जानता हूं कि फ्रेंच साहित्य बहुत विशाल है। यदि हो सका तो जर्मन जाकर जर्मन भाषा भी सीख लूंगा।"

इस तरह नारायण हेमचन्द्र की वाग्धारा बे-रोक बहती रही। देश-देशान्तरों में जाने व भिन्न-भिन्न भाषा सीखने का उन्हें असीम शौक था।

"तब तो आप अमरीका भी जरूर हो आयंगे?"

"भला इसमें भी कोई सन्देह हो सकता है? इस नवीन दुनिया को देखे बिना कहीं वापस लौट सकता हूं?"

"पर आपके पास इतना धन कहां है?"

"मुझे धन की क्या जरूरत पड़ी है? मुझे आपकी तरह तड़क-भड़क तो रखना है ही नहीं। मेरा खाना कितना और पहनना क्या? मेरी पुस्तकों से कुछ मिल जाता है और थोड़ा-बहुत मित्र लोग दे दिया करते हैं, वह काफी है। मैं तो सर्वत्र तीसरे दर्जे में ही सफर करता हूं। अमरीका तो डेक में जाऊंगा।"

नारायण हेमचन्द्र की सादगी बस उनकी अपनी थी। हृदय भी उनका वैसा ही निर्मल था। अभिमान छू तक नहीं गया था। लेखक के नाते अपनी क्षमता पर उन्हें आवश्यकता से भी अधिक विश्वास था।

हम रोज मिलते। हमारे बीच विचार तथा आचार-साम्य भी काफी था। दोनों अन्नाहारी थे। दोपहर को कई बार साथ ही भोजन करते। यह मेरा वह समय था, जब मैं प्रति सप्ताह सत्रह शिलिंग में ही अपनी गुजर करता और खाना खुद पकाया करता था। कभी मैं उनके मकान पर जाता तो कभी वह मेरे मकान पर आते। मैं अंग्रेजी ढंग का खाना पकाता था, उन्हें देशी ढंग के बिना सन्तोष नहीं होता था। उन्हें दाल जरूरी थी। मैं गाजर इत्यादि का रसा बनाता। इसपर उन्हें मुझपर बड़ी दया आती। कहीं से वह मूंग ढूंढ़ लाये थे। एक दिन मेरे लिए मूंग पकाकर लाये, जो मैंने बड़ी रुचिपूर्वक लाये। फिर तो हमारा इस तरह का देने-लेने का व्यवहार बहुत बढ़ गया। मैं अपनी चीजों का नमूना उन्हें चखाता और वह मुझे चखाते।

इस समय कार्डिनल मैनिंग का नाम सबकी जबान पर था। डाक के

मजदूरों ने हड़ताल कर दी थी। जॉनबर्न्स और कार्डिनल मैनिंग के प्रयत्नों से हड़ताल जल्दी बन्द हो गई। कार्डिनल मैनिंग की सादगी के विषय में जो डिसरैलो ने लिखा था, वह मैंने नारायण हेमचन्द्र को सुनाया।

"तब तो मुझे उस साधु पुरुष से जरूर मिलना चाहिए!"

"वह तो बहुत बड़े आदमी हैं। आपसे क्यों कर मिलेंगे?"

"इसका रास्ता में बता देता हूं। आप उन्हें मेरे नाम से एक पत्र लिखिये कि मैं एक लेखक हूं। आपके परोपकारी कार्यों पर आपको धन्यवाद देने के लिए प्रत्यक्ष मिलना चाहता हूं। इसमें यह भी लिख दीजियेगा कि मैं अंग्रेजी नहीं जानता। इसलिए—अपना नाम लिखिये—बतौर दुभाषिया के मेरे साथ रहेंगे।"

मैंने इस मजमून का पत्र लिख दिया। दो-तीन दिन में कार्डिनल मैनिंग का कार्ड आया। उन्होंने मिलने का समय दे दिया था।

हम दोनों गये। मैंने तो, जैसा कि रिवाज था, मुलाकाती कपड़े पहन लिये। नारायण हेमचन्द्र तो ज्यों-के-त्यों, सनातन! वही कोट और वही पतलून। मैंने जरा मजाक किया, पर उन्होंने उसे साफ हँसी में उड़ा दिया और बोले—

"तुम सब सुधारप्रिय लोग डरपोक हो। महापुरुष किसीकी पोशाक की तरफ नहीं देखते। वे तो उसके हृदय की तरफ देखते हैं।"

कार्डिनल के महल में हमने प्रवेश किया। मकान महल ही था। हम बैठे ही थे कि एक दुबले से ऊंचे कदवाले वृद्ध पुरुष ने प्रवेश किया। हम दोनों से हाथ मिलाया। उन्होंने नारायण हेमचन्द्र का स्वागत किया।

"मैं आपका अधिक समय लेना नहीं चाहता। मैंने आपकी कीर्ति सुन रखी थी। आपने हड़ताल में जो शुभ काम किया है, उसके लिए आपका उपकार मानना था। संसार के साधु पुरुषों के दर्शन करने का मेरा अपना रिवाज है। इसलिए आपको आज यह कष्ट दिया है।"

इन वाक्यों का तरजुमा करके उन्हें सुनाने के लिए हेमचन्द्र ने मुझसे कहा।

"आपके आगमन से मैं बड़ा प्रसन्न हुआ हूं। मैं आशा करता हूं कि आपको यहां का निवास अनुकूल होगा और यहां के लोगों से आप अधिक

परिचय करेंगे। परमात्मा आपका भला करे !" यों कहकर कार्डिनल उठ खड़े हुए।

एक दिन नारायण हेमचन्द्र मेरे यहां धोती और कुरता पहनकर आये। भली मकान-मालकिन ने दरवाजा खोला और देखा तो डर गई। दौड़कर मेरे पास आई (पाठक यह तो जानते ही हैं कि मैं बार-बार मकान बदलता ही रहता था) और बोली, **"एक पागल-सा आदमी आपसे मिलना चाहता है।"** मैं दरवाजे पर गया और नारायण हेमचन्द्र को देखकर दंग रह गया। उनके चेहरे पर वही नित्य का हास्य चमक रहा था।

"पर आपको लड़कों ने नहीं सताया ?"

"हां, मेरे पीछे पड़े जरूर थे, लेकिन मैंने कोई ध्यान नहीं दिया तो वापस लौट गये।"

नारायण हेमचन्द्र कुछ महीने इंग्लैंड में रहकर पेरिस चले गये। यहां फ्रेंच का अध्ययन किया और फ्रेंच पुस्तकों का अनुवाद करना शुरू कर दिया। मैं इतनी फ्रेंच जान गया था कि उनके अनुवादों को जान लूं। मैंने देखा कि वह तरजुमा नहीं, भावार्थ था।

अन्त में उन्होंने अमरीका जाने का अपना निश्चय भी निबाहा। बड़ी मुश्किल से डेक या तीसरे दर्जे का टिकट प्राप्त कर सके थे। अमरीका में जब वह धोती और कुरता पहनकर निकले तो असभ्य पोशाक पहनने का जुर्म लगाकर वह गिरफ्तार कर लिये गए थे। पर जहांतक मुझे याद है, बाद में वह छूट गये। (आ० क०, १९२७)

: २५५ :

थामस विलफ्रेड हेरीज

कुछ समय पहले गम्भीर दिखाई देनेवाले एक अंग्रेज नौजवान शुएब कुरेशी का परिचय-पत्र लेकर मेरे पास आये। उनका नाम हेरीज था। उन्होंने बिना किसी शिष्टाचार के तुरन्त कहा कि वह एक भारतीय साथी के साथ दार्शनिक खोज के उद्देश्य से कुछ समय के लिए भारत आये हैं। उन्होंने तेजी से मेरे साथ चर्चा शुरू कर दी और मैं यह समझने लगा कि

अपना आशय स्पष्ट करने के लिए मुझे विशेष दलील देने की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने तीव्र गति से मेरी जांच-पड़ताल की, किन्तु मैंने समझ लिया कि चन्द मिनटों में मैं उनकी भूख शान्त नहीं कर सकूंगा। मैंने उनसे कहा कि यदि वह चाहें तो फिर मिल सकते हैं। इस प्रस्ताव को उन्होंने बड़ी श्रद्धा के साथ स्वीकार कर लिया। अगली बार वह अपने मित्र वसन्त-कुमार मल्लिक के साथ आये। मैं हेरीज की लगन, बुद्धि और वैचारिक प्रमाणिकता से काफी प्रभावित हुआ। मेरे पास जितना समय था, उसमें वह अपनी जिज्ञासा शान्त नहीं कर पाये। मैंने उन्हें एक और मुलाकात का वचन दिया। मैं उसीकी प्रतीक्षा में था कि मुझे यह दुःखद समाचार मिला कि हेरीज दुनिया में नहीं रहे। उनके साथी वसन्तकुमार मल्लिक ने उनकी मृत्यु और उनके जीवन के सम्बन्ध में यह दर्दनाक विवरण भेजा है :

"थामस विल्फ्रेड हेरीज बालिओल, ऑक्सफोर्ड के एक नौजवान अंग्रेज जून के तीसरे सप्ताह में मेरे पास रहने के लिए आये। किन्तु दुर्भाग्य से जुलाई आधी भी नहीं बीती थी कि वह मलेरिया के शिकार हो गये। उनकी मृत्यु के समय उनकी आयु केवल चौबीस वर्ष की थी और मलेरिया का हमला चार दिन से अधिक नहीं चला। यह प्रहार मेरे मस्तिष्क में अभी भी गूंज रहा है और हमेशा गूंजता रहेगा। हिन्दुस्तान में आने के बाद जो कोई उनसे मिला, वह आज उनकी मृत्यु का शोक मना रहा है।

"यह कहने की आवश्यकता नहीं और न यह संभव ही है कि वह मेरे लिए क्या थे। मैं आज यह नहीं कह सकता हूं कि उनकी मृत्यु से उनके अथवा मेरे देश की कितनी हानि हुई है। देर-सवेर उस बात को लोग अनु-भव करेंगे और स्वीकार भी करेंगे। मैं तो यहां उनके जीवन की कुछ मुख्य विशेषताओं का यथासंभव सीधी-सरल भाषा में उल्लेख करने की कोशिश करूंगा। थामस विल्फ्रेड बालिओल के निवासी थे। यह कहने में कुछ अत्युक्ति नहीं होगी कि हाल के वर्षों में बालिओल के जो अत्यन्त प्रतिभाशाली विद्यार्थी हुए उनमें वह एक थे। ऑक्सफोर्ड की पहली सार्वजनिक परीक्षा के अलावा वह हमेशा प्रथम आये। सन् १९२३ में मोडर्न ग्रेट से परीक्षा में बैठने-वाले चन्द विद्यार्थियों में से एक थे और उसमें वह बड़ी शान के साथ प्रथम आये। इसके बाद वह अर्थशास्त्र, इतिहास और दर्शनशास्त्र पढ़ाने लगे और

एक अत्यन्त लोकप्रिय और आदरणीय शिक्षक बन गये।

"उनके भारत आगमन का उद्देश्य इतना ही सरल था, जितना कि उनका जीवन सादा और स्वच्छ था। वह छुट्टी पर आये थे ताकि उस काम को पूरा किया जा सके जो हमने चार-पांच साल पहले आॅक्सफोर्ड में शुरू किया था। इस काम का भी एक लम्बा इतिहास है और उसके वर्णन करने का यह स्थान नहीं, किन्तु उसके साथ हेरीज का सम्बन्ध कैसे स्थापित हुआ, मुझे उसका उल्लेख करना पड़ेगा। आॅक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के कमल-क्लब के वाद-विवाद में मेरी उनसे भेंट हुई। वह उस क्लब के अध्यक्ष थे। वह और कुछ अन्य व्यक्ति जो सभी मेरे प्रियजन हैं दार्शनिक शोध के कार्य में मेरे साथ शामिल हो गये, जिसे मैं कुछ वर्ष पहले से करता आ रहा था। इस शोध का उद्देश्य एक नई विचारधारा का प्रतिपादन करना था जो इस युग की शंकाशीलता में से पैदा होती है। परम्परा में हमारी श्रद्धा काफी समय पहले ही नष्ट हो चुकी है। हमारे लिए आधुनिक जीवन—सिवाय उस अवस्था के जबकि वह महत्वपूर्ण प्रश्नों को टालता है—उतना ही अर्थहीन हो गया है जितनी कि वर्तमान संस्थाएं उस मंजिल को पार कर गई हैं जब कि वे शान्ति की नई व्यवस्था अथवा जीवन का नया आदर्श देने की क्षमता रखती थीं। प्रकट यही होता है कि जबतक मानव-समाज में ऐसी व्यवस्था उत्पन्न नहीं होती जो अधिक गठित, कम युद्धप्रिय और अधिक कार्यक्षम हो, तबतक वास्तविक शान्ति नहीं होती।"

मैं हेरीज के मित्रों और कुटुम्बी जनों के प्रति समवेदना प्रकट करता हूं। महान् विचार एक बार उत्पन्न होने के बाद कभी नष्ट नहीं होते और हेरीज अपने विचारों के माध्यम से जीवित रहेंगे। हेरीज जैसे अज्ञात और विनम्र शोधक अपने पूर्ववर्ती साथियों के काम को जारी रखते आये हैं। उनको हमारा शतशः प्रणाम। (यं० इं०, ६. ८. २५)

: २५६ :

अकबर हैदरी

स्व० सर अकबर हैदरी अपूर्व गुणों की राशि थे। वह एक बड़े विद्वान्, दार्शनिक और सुधारक थे। वह एक चुस्त मुसलमान थे, परन्तु इस्लाम और हिंदूधर्म में वह परस्पर विरोध नहीं पाते थे। उन्होंने अन्य धर्मों का भी अभ्यास किया था। उनकी मित्र-मंडली की विविधता ही उनकी उदार-वृत्ति की द्योतक थी। दूसरी गोलमेज कान्फ्रेंस से हम इकट्ठे एक ही जहाज में लौटे थे। जहाज पर संध्या की जो हमारी प्रार्थना होती थी उसमें वह नियमित आते थे। गीता के श्लोक और हम जो भजन गाते थे उनमें वह इतना रस लेते थे कि उन्होंने महादेव देसाई से उन सबका अनुवाद अपने लिए करा लिया था। उन्होंने मुझसे प्रतिज्ञा की थी कि हिंदुस्तान पहुंचने पर साम्प्रदायिक ऐक्य के लिए हम दोनों साथ दौरा करेंगे; परन्तु ईश्वर ने कुछ और ही सोच रखा था। स्व० लार्ड विलिंग्डन ने मेरे लिए दूसरा ही कार्यक्रम तैयार कर रखा था। मुझे सत्याग्रह-आंदोलन में कूदना पड़ा और सर अकबर और मेरे बीच तय किया हुआ प्रोग्राम लटकता ही रह गया। वह श्री अरविंद से प्रभावित हुए थे। जिस समय पांडीचेरी के ऋषि श्री अरविंद अपने भक्तों को त्रैमासिक दर्शन देते हैं उस समय वह अचूक तौर पर वहां रहते थे।

सर अकबर की मृत्यु से देश की भारी हानि हुई है। उनके दुःखी कुटुंब के प्रति मेरी हार्दिक समवेदना है। (ह० से०, १८.१.४२)

: २५७ :

सेम्युअल होर

सेम्युअल होर के भाषण के शब्द बापू को फिर से सुनाने पर बाप बोले :

इसकी बात मुझे अच्छी लगती है। इसे एक भी बीच-बचाव करनेवाले की गरज नहीं है, क्योंकि इसका कोई विश्वस्त आदमी नहीं है। ऐसों के

साथ लड़ने में मजा आता है। ऐसे आदमी के हाथ से ही भला होगा। सेंकी से यह आदमी हजार गुना अच्छा है। वह तो सोचे कुछ और कहे कुछ। यह आदमी जो सोचता है, वही कहता है। एक बार मैंने उससे पूछा—आप यह मानते हैं कि यहां जो इतने सारे आदमी हैं, उनमें से किसीकी शक्ति पर आपका विश्वास नहीं है? वह बोला—

"अगर सच्चे दिल से कहा जाय तो मुझे कहना चाहिए कि यह बात सच है, मुझे विश्वास नहीं है।"

मैंने इसी बात पर उसे बधाई दी थी कि मुझे आपकी ईमानदारी बहुत पसन्द है।

प्रीवा ने 'टाइम्स' में होर को जवाब दिया है। बापू कहने लगे :

बड़ा गौरवपूर्ण पत्र कहा जायगा और 'टाइम्स' का इसे छापना यही जाहिर करता है कि खुद 'टाइम्स' को भी सेम्युअल होर का वर्णन पसन्द नहीं आया। यह आदमी बेहया हो गया दीखता है। सच्चा तो था ही, मगर इसकी सच्चाई में भी बेहयाई थी। जब उसने कहा कि उसे किसी भी हिंदुस्तानी की बुद्धि या शक्ति पर विश्वास नहीं है। (म० डा०, ३.५.३२)

... ...

सर सेम्युअल होर से तो बहुत बार मिलता था। इतना मुझे कहना चाहिए कि वह मेरे साथ साफ दिल से बात करता था। यह नहीं था कि मेरे साथ एक बात और दूसरे के साथ दूसरी बात। सबके साथ उसने एक ही बात की। वह साफ कहता था, "सत्ता तो हमारे हाथों में है। तुम लोग मुझे सलाह दे सकते हो। उसपर अमल करना-न-करना हमारे हाथ की बात है। वह तुम्हें हमपर ही छोड़ना होगा।" मैंने कहा, "आजादी तो जब आयेगी तब, मगर आज इतना तो हो कि उस आनेवाली आजादी की कुछ झलक आपके कामों में दिखाई दे। कानून चाहे कुछ भी हो; लेकिन प्रथा तो ऐसी बने कि हमारे कामों में हमारी सलाह से आप चलें। अभी घनश्यामदास और पुरुषोत्तमदास हमारे अर्थशास्त्री हैं। अर्थशास्त्र में वे हमारे नुमाइंदे हैं। हिंद के अर्थशास्त्र के मामलों में आप उनकी सलाह से चलें।" मगर वह कहने लगा" "यह तो हो नहीं सकता।" (का० क०, ३.१२.४२)

: २५८ :

हार्निमैन

इतने में प्रजा को सोता छोड़कर सरकार मि० हार्निमैन को चुरा ले गई। मि० हार्निमैन ने 'बंबई क्रॉनिकल' को एक प्रचंड शक्ति बना दिया था। इस चोरी में जो गंदगी थी उसकी बदबू मुझे अबतक आया करती है। मैं जानता हूं कि मि० हार्निमैन अंधाधुंधी नहीं चाहते थे। मैंने सत्याग्रह कमेटी की सलाह के बिना ही पंजाब सरकार के हुक्म को तोड़ा था सो उन्हें पसंद नहीं था। मैंने सविनय-भंग को जो मुल्तवी किया, उससे वह पूरे सहमत थे। मेरे सत्याग्रह मुल्तवी रखने का इरादा प्रकट करने के पहले ही पत्र द्वारा उन्होंने मुझे मुल्तवी रखने की सलाह दी थी और वह पत्र बंबई और अहमदाबाद के फासले के कारण, मेरा इरादा जाहिर कर चुकने के बाद मुझे मिला था। इसलिए उनके देश-निकाले पर मुझे जितना आश्चर्य हुआ, उतना ही दुःख भी हुआ। (आ० क०, १९२७)

... ...

बंबई सरकार और मेरे खयाल से भारत सरकार भी अपनेको इसलिए बधाई दे सकती है; क्योंकि उन्होंने हिंदुस्तान के और एक बहादुर अंग्रेज के साथ जो अन्याय किया था उसे बड़ी आनाकानी के साथ आज हटाकर दूर किया है। उन्होंने हार्निमैन को भारत में, जिस देश पर उन्हें बड़ा प्रेम है और जिसके लिए वह बड़ा प्रयत्न कर रहे हैं, आने से न रोकने की बड़ी हिम्मत की है। यह कोई भी नहीं जानता है कि हार्निमैन को अकस्मात यहां से देश-निकाला देने का सच्चा कारण क्या था। उनपर कोई मुकदमा न चलाया गया था और न उन्हें उनपर लगाये गए अपराधों से इन्कार करने का अवसर ही दिया गया था।

इस प्रकार अपनी ही इच्छा से जबरदस्ती समुद्र पार भेज देने के ऐसे दृष्टांतों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत सरकार का कैसा अनुत्तरदायी अधिकार है। हार्निमैन के बनिस्बत और किसीने भी ऐसे अधिकार को रोकने के लिए अधिक कोशिश और बहस न की थी और आखिर वह ही उसके बलि हो गये थे। श्री हार्निमैन के स्वागत में मैं भी अपना नम्र हिस्सा

देता हूं। उनके लौट आने से स्वराज्य के लिए जो शक्तियां युद्ध कर रही हैं उनमें सामर्थ्य और उत्साह की वृद्धि होगी और उससे जो लोग ऐसे यशस्वी युद्ध में लगे हुए हैं उनके हृदय में बड़ा ही आनंद होगा। उनके सामने जो कठिन कार्य पड़ा है उसे करने के लिए श्री हार्निमैन को तंदुरुस्ती और दीर्घ आयुष्य प्राप्त हों! (हि० न०, १४.१.२६)

... ...

हार्निमैन अब गधे हांकने लगे हैं। बापू कहने लगे :

यह हार्निमैन का दूसरा पहलू है। (म० डा०, ८.८.३२)

... ...

आज अखबारों में पहले की पूर्ति में और नरम दल के लोगों के जवाब में हुआ होर का भाषण आया।

शाम को इसी भाषण पर हार्निमैन का लेख पढ़ा। बापू को यह लेख बहुत पसंद आया। इसमें हार्निमैन ने होर को राजनैतिक नीति से शून्य और बेशर्म कहा है। बापू ने कहा—यह ठीक है। सारा लेख पढ़कर कहने लगे :

यह आदमी आजकल जोरदार लेख लिख रहा है।—

(म० डा०, भाग २)

... ...

हार्निमैन समझने की शक्ति रखता है, इसलिए सारा लेख बढ़िया लिखा है। (म० डा०, भाग २)